राजर्षि टण्डन जन्मशती विशेषांक

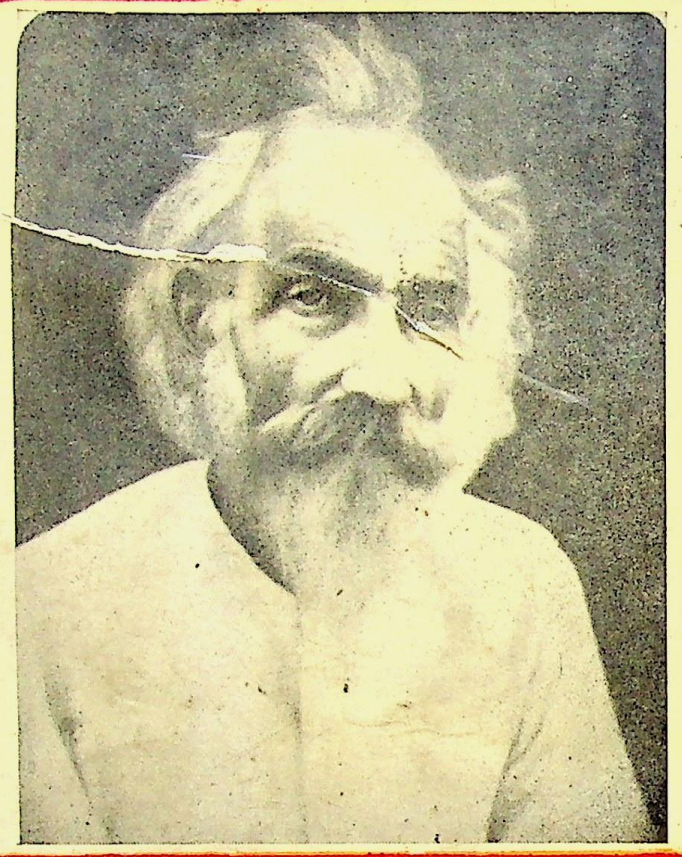

सम्मेलन पत्रिका

भाग ६६, अंक १-४ शक १९०१-२

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सम्मेलन-पत्रिका

(त्रैमासिक)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
जन्मशती विशेषांक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सम्मेलन-पत्रिका

[त्रैमासिक]

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
जन्मशती विशेषांक

भाग ६६ : संख्या १–४
पौष–मार्गशीर्ष : शक १९०१–२

सम्पादक
डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

वार्षिक २०.०० रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

विशेषांक २०.०० रु०

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रकाशक
प्रभात मिश्र शास्त्री
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
©
मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सम्पादकीय

कस्मै देवाय हविषा विधेम?

राजर्षि! आज से सौ वर्ष पूर्व तुम इस धरती में एक ज्योति-पुंज के रूप में अवतरित हुए थे। तुम्हारे जीवन के दिव्य प्रकाश में न केवल जन-जन का अन्तःलोक ही प्रकाशित हुआ, अपितु उसने वाह्यजगत् में भी अपने को आलोकित अनुभव किया। तुम्हारी ज्ञान-गंगा की पावन धारा में अवगाहन करके लोक-जीवन ने केवल अपने अन्तस् के श्रम-अवसाद का परिहार ही नहीं किया, अपितु जीवन-यात्रा की सम्पूर्ति के लिए नव्यशक्ति एवं स्फूर्ति भी प्राप्त की।

"आचारः परमो धर्मः।"—मनु के इस सिद्धान्त-वाक्य को हम तुम्हारे जीवन में चरितार्थ होता हुआ अनुभव करते हैं। तुम अपने सर्वोत्कृष्ट चारित्रिक धरातल पर प्रतिष्ठित होकर आज भी परोक्ष रूप में हमारे प्रेरक बने हुए हो। तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय रहा है। यज्ञ की क्रिया अपनी सोद्देश्यता में स्वार्थ का तिरस्कार करके परार्थ को ही वरण करती है। याज्ञिक मंत्रों के अंत में 'इदमग्नये इदन्न मम' (यह यज्ञ के लिए है, यह मेरा नहीं है) का सतत उच्चारण परार्थ का ही तो बोध कराता है। वस्तुतः तुम सदैव अपने से ही जूझते रहे। तुमने अपने 'स्व' को इतना अधिक दमित किया कि कोई किसी कोने से भी उसे न देख पाया। वह अपनी शक्ति और क्षमता में सुरभि के रूप में इतना अधिक विस्तार पा गया कि 'स्व-पर' भेद की भिन्नता ही नष्ट हो गयी। तुमने अपने जीवन-यज्ञ में अपने शरीर को तपा-तपा कर, सुखा-सुखा कर उसे समिधा बना दिया। तुम्हारे इस जीवन-यज्ञ ने ही देश के समक्ष श्रेयस् का, कल्याण का, अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया।

तुम्हारी साधना का स्वरूप व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत था। तुमने देश-प्रेम का जो व्रत लिया, उसका पालन तुमने अपनी अंतिम श्वास तक किया। तुमने घर-घर देश-भक्ति का अलख जगाकर जन-मानस को उसकी आत्मशक्ति का बोध कराया। यह तुम्हारी ही साधना का प्रतिफल था कि गरीब देश के गरीब किसान अपने श्रम के मूल्य से परिचित हो सके। निराशा की अग्नि में झुलसे हुए कृषक-समुदाय की धमनियों में पुनः स्वस्थ रक्त का संचार हुआ। उनके जीवन में तुम्हीं ने जागरण की लहर दौड़ायी। वे उठे और अपने अधिकार एवं कर्तव्य की सीमाओं का विवेकपूर्ण परिचय प्राप्त कर सके। तुमने ही तो कोटि-कोटि दिग्भ्रान्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ जनों को दिशाबोध कराया और एक ऐसे मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया, जिसका अनुसरण करके वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े।

तुम भी सामान्य जनों की भाँति अपनी ही क्षुधा-तृषा की शान्ति के लिए नाना उपकरणों को जुटा सकते थे। भौतिक उपलब्धियों एवं वैभव की चकाचौंध में भी तुम पड़ सकते

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

थे और पारिवारिक विकास के लिए अपने श्रम की पूँजी प्रदान कर सकते थे। पर नहीं, तुमने एक सच्चे अपरिग्रही संन्यासी के रूप में जो त्याग किया, वह महान् है। तुमने अपने फ़कीराने वेश में जो शाहंशाही पायी, वह अप्रतिम है।

तुम अपनी सैद्धान्तिक निष्ठा और विचारों की स्पष्टता के कारण सदैव अपराजेय रहे। जीवन के बड़े-से-बड़े प्रलोभन तुम्हें कभी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। पदीय गरिमा तुम्हें कभी अपनी ओर आसक्त नहीं कर सकी, इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। देश का सर्वोच्च (राष्ट्रीय कांग्रेस-अध्यक्ष) पद को तुम स्वेच्छा से वैसे ही छोड़ चले, जैसे "राजिव लोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाउ की नाईं।"—इस रूप में तुमने व्यक्ति की अपेक्षा देश को सदैव महत्त्व दिया।

तुम्हारा यह दृढ़ विश्वास था कि देश की आत्मा उसकी भाषा ही होती है। इस आत्मा (हिन्दी भाषा) के विकास एवं समुन्नयन के लिए तुम निर्भय होकर आगे बढ़े। तुम इस तथ्य का सदैव प्रतिपादन करते रहे कि देश की भावात्मक एकता की दृष्टि से, लोक-कल्याण की दृष्टि से, भारतीय संस्कृति और सभ्यता की संवाहिका भाषा की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने की क्षमता से पूर्ण है। इस दिशा में तुमने वैदिक ऋषि की वाणी—"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः—ऋक् ४-३३-११ (बिना परिश्रम किये और बिना थके हुए देवों की मैत्री नहीं मिलती है।)" को चरितार्थता प्रदान की। तुम्हारे ही निष्कपट प्रयास के वशीभूत होकर एक स्वर से हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ।

तुमने तो अपना दायित्व पूर्ण कर दिया। देखना है, हम किस प्रकार हिन्दी को समग्रभावेन समर्थ बनाकर उसके अपेक्षित गौरव की अभिवृद्धि करते हैं।

"भस्मान्तं शरीरम्—यजु० ४०-१५ (यह शरीर एक दिन राख में मिल जाता है)" जीवन के इस सत्य से तुम पूर्णतः परिचित थे। तुमने जीवन के रहस्य को समझ लिया था। इसीलिए मानव-जन्म को सार्थक करने के लिए साहस एवं धैर्य के साथ तुम अपने लक्ष्य की ओर सतत उन्मुख रहे। मार्ग की कठिनाइयों, जटिलताओं तथा जय-पराजय की चिन्ता किये बिना तुम निरन्तर अपने पथ पर गतिमान रहे। तुम्हारे हृदय का अटूट विश्वास था—"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (मेरे दायें हाथ में कर्म, पुरुषार्थ है और बायें हाथ में विजय है)" यह विश्वास ही तुम्हारी अजेय शक्ति थी।

हम तुम पर उक्त समस्त गुणों के आरोपण द्वारा तुम्हें मानवीय धरातल से ऊपर उठाकर देवत्व की कोटि में प्रतिष्ठित करके अपने से बहुत दूर नहीं करना चाहते हैं। हम तो तुम्हारे समीप बैठने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं, तुमसे हँसे-बोले हैं, तुम्हारा हमने दुलार पाया है, तुमसे हम अपने दुःख-सुख कह सके हैं, फिर कैसे कहें कि तुम हमसे भिन्न हो, देवरूप हो। पर इतना अवश्य है कि तुम वह नहीं हो, जो सामान्य जन होते हैं। तुम्हारा व्यक्तित्व आत्मशक्ति-सम्पन्न रहा है। तुम दो-टूक बात करने वाले और अपने सिद्धान्तों में पूर्णतः अडिग रहते हुए भी ऐसे सहृदय, मृदुल एवं संवेदनशील रहे हो कि तुमने कभी भी हमें हमारी लघुता का भान ही नहीं होने दिया। तुम्हारा सम्पर्क पाकर हमारी दुर्बलता शक्तिमत्ता में परिणत हो जाती थी। तुम्हारे स्नेहसिक्त बोल सुनकर हमारे जीवन की नीरसता सरसता

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का रूप ग्रहण कर लेती थी। तुम्हारी मेधा का संस्पर्श पाकर हमारी गोठिल बुद्धि भी अपना मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम हो जाती थी।

सार्वभौम प्रेम ही तुम्हारी परम शक्ति थी। संयम एवं धैर्य तुम्हारे जीवन के सशक्त सम्बल थे। "चरैवेति-चरैवेति" तुम्हारे जीवन का मूलमंत्र था। स्वदेश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करना ही तुम्हारे जीवन का चरम लक्ष्य था, जिसे तुमने एक तेजस्वी एवं मनस्वी के रूप में प्राप्त किया। ऐसी स्थिति में तुम्हीं बताओ, हमारे समक्ष ऐसी कौन-सी अन्य शक्ति है; जिसे हम देवोपम मानकर अपनी श्रद्धा समर्पित करें—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

आज तुम उस लोक में विद्यमान हो, जो क्षयरहित है, श्रमरहित है, जहाँ अविनश्वर ज्योति सतत ज्योतित है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है। तुम अब समस्त पाश-बन्धनों से मुक्त निरावरण हो। तुम्हारी पुनीत स्मृति को शत-शत नमन !

यह विशेषांक

भारत के साथ-साथ भारत-वाणी की स्वाधीनता की चिन्तना में जीवन समर्पित करने वाले अग्रणी क्रान्तद्रष्टा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की जन्मशती के बहुचर्चित प्रसंग में अध्येताओं और मनीषियों के विचारार्थ ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री के संकलन-प्रकाशन की अनिवार्यता को दृष्टिपथ पर रखते हुए 'सम्मेलन-पत्रिका' का यह राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जन्मशती विशेषांक प्रस्तुत है। राजर्षि के जीवन-वृत्त को प्रसिद्ध साहित्यकार श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'प्रतीक पुरुष' के रूप में रेखांकित किया है। विश्वास है, उनके व्यक्तित्व का यह समाकलन एक संघर्षशील जागरूक एवं समर्पित जीवन का परिचय प्रस्तुत करेगा। जहाँ 'प्रतीक पुरुष' खण्ड में टण्डन जी की जीवनी अनुस्यूत है, वहीं रचनावली खण्ड में उनके ज्ञात एवं अल्पज्ञात लेखों को प्रस्तुत किया गया है, जिससे उनकी साहित्य-सेवा का विस्मृत अध्याय जन्मशती-प्रसंग में उजागर हो।

जिन्होंने राजर्षि टण्डन जी का भाषण सुना है, वे जानते हैं कि उनकी वाणी आत्मा को झंकृत करती थी। उनके कुछ ऐतिहासिक अभिभाषणों को भी इस विशेषांक में सम्मिलित किया गया है। ये भाषण युग-प्रवाह में उनकी विचारणा के प्रमाण हैं। इसी प्रकार हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर बहुचर्चित और ऐतिहासिक गांधी-टण्डन पत्राचार को भी अविकल प्रकाशित किया जा रहा है। इस पत्राचार में टण्डन जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी सम्बन्धी मूल प्रश्नों और प्रतिप्रश्नों के सम्बन्ध में सम्यक् अवधारणा का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है।

राजर्षि टण्डन ने सम्मेलन द्वारा प्रवर्तित हिन्दी व्याकरण की योजना के सम्बन्ध में भी प्रयास किया था। प्रायः इस प्रयास का वृत्त काल के आवर्त्त में लुप्त-सा हो गया है। आशा है, इस ऐतिहासिक दस्तावेज का प्रकाशन राजर्षि के उस अज्ञात पक्ष पर प्रकाश डालेगा, जिसके सम्बन्ध में अब प्रायः चर्चा नहीं होती।

विशेषांक में टण्डन-युग के भाषा-साहित्य के अग्रणी मनीषियों के लेखों को विविध स्रोतों से प्राप्त कर के प्रस्तुत किया गया है। उस युग में उनके व्यक्तित्व का समाकलन करते

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हुए किन भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी, इसके लिए जिन दिवंगत विद्वानों के लेखों का प्रकाशन किया गया है; उनमें से श्री माखनलाल चतुर्वेदी, पं० सुमित्रानन्दन पंत, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री जहूर बख्श, श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी, श्री रामचन्द्र वर्मा, श्री अलगूराय शास्त्री तथा पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल के लेख विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन' एवं सुप्रसिद्ध गांधीवादी पं० मोहनलाल भट्ट जी ने जिन रूपों में टण्डन जी को देखा है, उनके वृत्त भी विशिष्ट महत्त्व के हैं।

राजर्षि टण्डन की दृढ़ नैतिकता और जीवन की पवित्रता के साक्षी के रूप में जिन व्यक्तियों को उनकी निकटता प्राप्त हुई थी, उनमें श्री भवानीप्रसाद गुप्त, श्री रामखेलावन मिश्र एवं श्री रामनिधि शर्मा तथा सम्मेलन कार्यालय के पूर्व कोषाध्यक्ष श्री जयनारायण पाण्डेय प्रमुख हैं। इन महानुभावों के आत्मीय प्रसंगों से विशेषांक को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये श्रद्धापूरित एवं सुविचारित लेख भी प्रस्तुत हैं। विश्वास है, यह विशेषांक राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के समग्र व्यक्तित्व के अध्ययन में सहायक होगा। प्रस्तुत सामग्री के सम्बन्ध में निवेदन है कि प्रत्येक लेखक के विचारों को उसी की भावना के अनुरूप प्रकाशित किया गया है। उद्धृत घटनाओं एवं तथ्यों का उत्तरदायित्व लेखक पर ही है।

सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य स्व० पं० कामताप्रसाद गुरु के पुत्र श्री रामेश्वरप्रसाद गुरु (भूतपूर्व मेयर जबलपुर) ने राजर्षि टण्डन द्वारा हस्ताक्षरित व्याकरण समिति सम्बन्धित विवरण की प्रति तथा प्रतिवेदन उपलब्ध करा कर सम्मेलन की संग्रहणीय सामग्री की गरिमामयी अभिवृद्धि की है। सम्मेलन परिवार उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

इस विशेषांक की संरचना में सहायक मंत्री श्री श्यामकृष्ण पाण्डेय ने विविध प्रकार से सहयोग प्रदान किया है।

सम्मेलन के साहित्य-विभाग के अध्यक्ष श्री हरिमोहन मालवीय ने टण्डन जन्मशती से सम्बन्धित सामग्री के आकलन एवं उसे व्यवस्थित करने में अपनी कल्पना-प्रवणता एवं सुरुचि-सम्पन्नता का परिचय दिया है। उनके विभागीय सहयोगी श्री रमेश कुमार उपाध्याय एवं डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल ने तथा अन्य सहकर्मियों ने जिस रूप में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है, वह सराहनीय है। इस दिशा में मुद्रणालय के श्री शिवनारायण झा तथा श्री विजय नारायण मालवीय का सहयोग भी प्रशंसनीय है।

—प्रेमनारायण शुक्ल

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विषय-सूची

सम्पादकीय ५–८

काव्याञ्जलि [अ–ऐ]

पुरुषोत्तम-सप्तकम्—अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र: अ
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन—श्री जनार्दन मुखोपाध्याय आ
पुरुषोत्तम बलिदानी—श्री सिद्धिनाथ मिश्र इ
माँझी से—डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' ई
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के प्रति—डॉ० पारसनाथ सिंह उ
उत्तम पुरुष 'पुरुषोत्तम'—श्री प्रभात शुक्ल ऊ
हे हिन्दी के ऋषिवर!—डॉ० श्यामसुन्दर घोष ऊ
आप ही हिन्दी दिवस हैं...—श्री बृजमोहन श्रीवास्तव 'चंचल' ए
राजर्षि को नमन—कु० आसिया खातून ए
राजर्षि टण्डन के प्रति—श्री राजदेव सिंह कौशल ऐ
जन्मशती पर श्रद्धांजलि—श्री गौरीशंकर गुप्त ऐ

खण्ड १

प्रतीक पुरुष : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

लेखक—श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा [१–३२]

खण्ड २

राजर्षि टण्डन रचनावली [३३-१९२]

भाषा का सवाल ३३–९८

मातृभाषा का स्वरूप ३५
हिन्दी साहित्य-कानन ४०
गौरवशालिनी हिन्दी ४६
हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों? ५१
हिन्दी की ग्राहिका शक्ति ५५
हिन्दी भाषा और व्याकरण ५७

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मातृभाषा की महत्ता ६२
हिन्दुस्तानी या अंग्रेज ६४
भाषा का सवाल ७०
नागरी लिपि और अंक : राष्ट्रीय सन्दर्भ ७७
हिन्दी और उर्दू के प्रश्न पर श्री टण्डन जी ७९
भाषा की उत्पत्ति का रहस्य ८०
आधुनिक हिन्दी के दो निर्माता ९४

साहित्य और दर्शन ९९–१४०

दो शब्द : प्रेमघन सर्वस्व १०१
हास्य क्या है ? १०२
साहित्य की समृद्धि आवश्यक १०४
भारतीय संस्कृति का सन्देश १०८
साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व ११०
कविता ११५
जातीय साहित्य ११८
दर्शन और साहित्य १२०
'जगदालोक' की भूमिका १२३

भारतीय संस्कृति १४१–१७२

देवी वीरा १४३
भारतीय संस्कृति और कुम्भ मेला १४५
वाटिका-गृह-ग्राम-योजना १४८
भारवि कौन थे ? १५०
लोक-कल्याणकारी राज्य १५५
हमारा नया वर्ष १५९
घन और उसका उपयोग १६५
बाल-विवाह और विधवाएँ १७१

महापुरुष १७३–१८१

लौह पुरुष पटेल १७५
स्वामी विवेकानन्द १८०

रचनाएँ १८३–१९२

स्वतन्त्रता १८५
बन्दर सभा महाकाव्य १८८

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड ३

राजर्षि टण्डन के अभिभाषण [१९३-२६२]

अभिभाषण-१ १९५

(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के सभापति के रूप में दिया गया अभिभाषण)

अभिभाषण-२ २१८

(भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नासिक अधिवेशन मे दिया गया अभिभाषण)

अभिभाषण-३ २३८

(भारतीय संविधान सभा में दिये गये भाषण का हिन्दी रूपान्तर)

अभिभाषण-४ २५४

(कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ में दिया गया 'हिन्दी की शक्ति' विषयक अभिभाषण)

खण्ड ४

व्याकरण समिति की रिपोर्ट [२६३-२७२]

व्याकरण समिति की रिपोर्ट २६५

खण्ड ५

गांधी-टण्डन पत्र-व्यवहार [२७३-२८१]

गांधी-टण्डन पत्र-व्यवहार २७५

खण्ड ६

व्यक्ति-दर्शन [२८१-५४५]

टण्डन जी का जीवन-दर्शन—श्री माखनलाल चतुर्वेदी २८२
श्रद्धेय टण्डन जी—श्री सुमित्रानन्दन पंत २९०
बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन : एक संस्मरण—डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन' २९२
अमरकीर्ति टण्डन जी—आचार्य शिवपूजन सहाय २९६
वाणी में सौम्य : चरणों में दृढ़ता—श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी ३०१
त्यागमूर्ति राजर्षि टण्डन—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ३०६
दयानिधान—श्री जहूरबख्श ३०८
तपस्वी और त्यागी महापुरुष : राजर्षि टण्डन—श्री रामचन्द्र वर्मा ३१२
लोक सेवक मण्डल और टण्डन जी—श्री अलगूराय शास्त्री ३१४

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति के उपासक राजर्षि टण्डन जी और हिन्दी
—श्री मोहनलाल भट्ट ३१८
राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की प्रतिमूर्ति : राजर्षि टण्डन
—श्री किशोरीरमण टण्डन ३२७
जवाहरलाल नेहरू और टण्डन जी—श्री भवानीप्रसाद गुप्त ३३१
राजर्षि टण्डन : पुण्य स्मरण—श्री रामखेलावन मिश्र ३४०
बाबूजी के सम्पर्क में—श्री रामनिधि शर्मा ३४३
नैतिकता की मूर्ति : बाबूजी—श्री जयनारायण पाण्डेय ३४६
बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन (संक्षिप्त परिचय)
—पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ३५०
कला का आदर्श—श्री वासुदेव गोस्वामी ३५४
युग-विभूति राजर्षि टण्डन—श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ३५५
सांस्कृतिक एकता के प्रतीक राजर्षि टण्डन जी—डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल ३५९
हिन्दी की अस्मिता और राजर्षि टण्डन जी—डॉ० मदन केवलिया ३६६
प्रण-प्रयास-पुरुषार्थ और प्राणाहुति का एक नाम : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
—डॉ० कुन्तल गोयल ३७०
पुण्यश्लोक टण्डन जी—श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ३७४
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व और कृतित्व की कुछ झाँकियाँ
—डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय ३८५
भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
—श्री पतञ्जजि मिश्र 'हलायुध' शास्त्री ३९३
भारतीय संस्कृति में राजर्षि का स्वरूप एवं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
—डॉ० शिवकुमार शाण्डिल्य ३९६
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : एक समर्पित जीवन
—डॉ० रघुनाथ बिवलकर ४०१
राजर्षि की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना
—डॉ० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस' ४०३
साहित्यकार राजर्षि टण्डन—डॉ० विश्वदेव ४०६
गांधी-टण्डन पत्राचार : सिद्धान्त और व्यवहार का द्वन्द्व
—डॉ० कृष्णचन्द्र गुप्त ४१०
बन्दर-सभा महाकाव्य : राजर्षि टण्डन का रचनात्मक अवदान
—डॉ० अशोक त्रिपाठी ४२३
राजर्षि टण्डन हिन्दी के चिन्तन थे—श्री रञ्जन त्रिवेदी ४२९
वह तेजस्वी सांस्कृतिक व्यक्तित्व—डॉ० श्यामबहादुर वर्मा ४३८
राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रतिष्ठापक : राजर्षि टण्डन—श्री बिशनकुमार शर्मा ४४३

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन की भाषिक मान्यताएँ—डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल ४४८
स्वतंत्रता के पश्चात् राजभाषा नीति और राजर्षि टण्डन
—डॉ० प्रभिला अवस्थी ४५२
शत-शत प्रणाम—डॉ० रामअवध शास्त्री ४५९
सारस्वत अध्येता को शत-शत नमन—डॉ० विद्याबिन्दु सिंह ४६३
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व का पुनर्मूल्यांकन
—डॉ० जयकुमार जलज ४६६
राजर्षि टण्डन जी के सम्पर्क के कुछ संस्मरणात्मक क्षण
—श्री कैलाश कल्पित ४६९
हमारे राजर्षि—डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त ४७३
राजर्षि टण्डन की 'सोरों' सूकर-क्षेत्र यात्रा—डॉ० रामकृष्ण शर्मा ४७५
हिन्दी जिनके जीवन की साँस थी—डॉ० आनन्दनारायण शर्मा ४७७
राजर्षि टण्डन और राष्ट्रभाषा हिन्दी—डॉ० स्वर्णकिरण ४८१
हिन्दी के हितचिन्तक : राजर्षि टण्डन—डॉ० रमाकान्त शर्मा ४८५
हिन्दी-जगत् की एक विभूति : राजर्षि टण्डन—श्री दानबहादुर सिंह ४८९
राजर्षि टण्डन और राष्ट्रभाषा हिन्दी—डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय ४९४
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन—श्री प्रेमलाल ठाकुर ५००
ऐसा था राजर्षि का प्रभाव—श्री रामगोपाल सण्ड ५०५
डबडबाई आँखें—श्री विश्वनाथ 'विबोध' ५०८
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : 'कवि और लेखक के रूप में'
—श्रीमती जयाशिव शुक्ल ५११
हिन्दी के अनन्य प्रेमी—डॉ० नरेश कुमार ५१५
भारतीय संस्कृति की मूर्ति : हिन्दी के अनन्य सेवी राजर्षि टण्डन
—डॉ० रामनारायण सिंह 'मधुर' ५१७
हिन्दी के लिए समर्पित व्यक्तित्व : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
—डॉ० पवनकुमार जैन ५२०
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : सांस्कृतिक विचार बिन्दु
—डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री ५२८
राजर्षि का बहुमुखी व्यक्तित्व : नैतिक या राजनैतिक
—डॉ० सन्तकुमार शर्मा ५३२
राजर्षि टण्डन : एक मनीषी, एक संत—श्री जयंत्री प्रसाद ५३६
आयुर्वेद और टण्डन जी—वैद्यराज पं० मोहनलाल चतुर्वेदी ५४२

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

काव्याञ्जलि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पुरुषोत्तम-सप्तकम्

अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्रः

⊙⊙

(१)

हिन्दीप्रचारकरणेऽर्पितवित्तकायो
जातः कुले महति यामुनगाङ्गदेशे।
सौराज्यरञ्जितमनाः सुमना मनस्वी
भायाच्चिरं स पुरुषोत्तमदासदेवः।

(२)

स्वातन्त्र्यघोरसमरे सह मित्रवर्गै-
र्गान्ध्यादिपुण्यपुरुषैः प्रसृतात्मशौर्यः।
निष्कामकर्मनिरतो ननु मातृभूमेः
पुत्रो जयेत्स पुरुषोत्तमदासदेवः॥

(३)

यन्मंत्रणासु गुरुता तुहिनाचलानां
यद्वाचि मन्द्ररवता सजलाम्बुदानाम्।
यन्निर्णयेषु दृढता ग्रहमण्डलानां
नित्यं स भातु पुरुषोत्तमदासदेवः॥

(४)

अभ्यन्तरे ऋषिमहोऽपि बहिर्नयत्वं
सन्धारयन् युगपदेव विनष्टतृष्णः।
राजर्षिरम्यपदभाग् द्वयसङ्गमेन
केषां प्रियो न पुरुषोत्तमदासदेवः।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

(५)

नेत्राम्बुजेषु करुणा करुणाकरस्य
स्वान्ते द्युलोकतटिनीजलनिर्मलत्वम्।
नित्यं दधच्चरणयोः पटुतां मधोनः
स्थेयान्मनस्सु पुरुषोत्तमदासदेवः॥

(६)

सभायां पाण्डित्यं स्वजनपरिधौ जीवनकथा
जनानां सम्मर्दे कुशलवचनं प्रीतिलसितम्।
विवेको निष्पक्षो महितनयतंत्रे चितिहरे
निकामं यस्यासीज्जयति पुरुषेषूत्तमचरः॥

(७)

शतशतगुणपुञ्जं मञ्जुसेवाव्रतानां
हृदयनिहितभावान् श्रीमतां टण्डनानाम्।
जनसदसि निकामं स्मारयन्ती च सर्वं
जयति मधु वमन्ती वैजयन्ती जयन्ती॥

(८)

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो विश्वविद्यालये रतः
टण्डनं पुरुषश्रेष्ठं प्रीत्या स्तौति गुणाकरम्॥

●

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री जनार्दन मुखोपाध्याय

⊙⊙

स्वर्गेर देवता तुमि साधु नरोत्तम,
मानव समाजे तुमि पूज्य सदाकार।
पुरुष उत्तम तुमि श्री पुरुषोत्तम,
तोमार चरणे सबे करे नमस्कार॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पुरुषोत्तम बलिदानी

श्री सिद्धिनाथ मिश्र

⊙ ⊙

शून्य देश में अलख जगा दी पुरुषोत्तम बलिदानी,
महा 'प्राण' तुम में सतेज था मातृभूमि का 'पानी'।

वाणी में वर्चस्व, दृष्टि में दृढ़ता, प्रतनु कलेवर,
शिरा-शिरा में शौर्य-स्फूर्ति भर, अस्थिशेष अवयव धर।
हे प्रातःस्मरणीय, 'तर्क-ऋषि' कल्प तुम्हारी काया,
पूज्य चरण, तुमने जीवन में रण और मरण निभाया।
सत्साहस संकल्पशक्ति के, हे स्वतंत्र सेनानी!

तुम दक्षिण शुभ-चिन्तन रत थे, वामपन्थ प्रतिवादी,
रहे कबीर सदृश समदर्शी, सुस्पष्टोत्तरवादी।
जो चादर इन 'नर-मुनियों' ने ओढ़ी मैली कर दी,
वह तुमने कुछ और धवलकर, फिर ज्यों-की-त्यों धर दी।
सच्चा बना संत का बाना, गंगाजल-सी बानी।

गोदावरि कृष्णा कावेरी सिन्धु नर्मदा प्यारी,
वेत्रवती, वह शोण, पंचनद, ब्रह्मपुत्र सुखकारी।
यह हिन्दी की सरस्वती यमुना गंगासागर तक,
'भाषा बहता नीर', मातृभू - प्रेम - पुष्करावर्तक।
'जंगम तीर्थराज' तुमने तो सबसे ममता मानी।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

माँझी से

डॉ० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'

⊙ ⊙

[सन् १९५१ में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। विरोध के बावजूद टण्डन जी विजयी हुए। उनके अभिनन्दनार्थ लखनऊ में एक स्वागत-समारोह हुआ, जिसमें पं० गोविन्दवल्लभ पन्त से लेकर प्रदेश के प्रायः सभी मन्त्री, विधायक तथा नगर के गण्यमान महानुभाव उपस्थित थे। उक्त अवसर पर कवि ने राजर्षि टण्डन के स्वागत-सम्मान में निम्नांकित छंद पढ़े थे—सम्पादक]

चकित न होना लहरों की गति देख-देख,
साहस के साथ शक्ति अपनी सँभालना।
होके 'पुरुषोत्तम' न विचलित होना वीर!
सत्य, धैर्य, दृढ़ता का व्रत सदा पालना।
सकुशल जिससे पहुँच जायँ उस पार
ऐसी कोई युक्ति माँझी! सोच के निकालना।
दो क्षणों की बाधा के बवण्डर से जीवन में
देखो, मँझधार में ही लंगर न डालना।

●

प्रतिकूल होगा ही तुम्हारे अनुकूल सदा,
इस कल्पनामय विचार का सहारा कौन?
धारा के प्रवाह में बहा के नाव आँधियों में,
भ्रान्त बने, ऐसे कर्णधार का सहारा कौन?
एक बार भी जो न पहुँच पायी उस पार,
ऐसी क्षीण, करुण पुकार का सहारा कौन?
सबल भुजाओं में तुम्हारे जो रही न शक्ति,
बीच धार में तो पतवार का सहारा कौन?

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के प्रति

डॉ० पारसनाथ सिंह

⊙ ⊙

है आज राष्ट्र-भाषा गर्वित
धरती अंगड़ाई लेती है,
संगम की धारा बार-बार
उस नर को तर्पण देती है।
जिसने हिन्दी के झण्डे को
सम्पूर्ण विश्व में लहराया,
उस पुरुषोत्तम की आत्मा को,
भारत-माँ पल-पल सेती है।

उत्तम पुरुष 'पुरुषोत्तम'

श्री प्रभात शुक्ल

⊙ ⊙

हिन्दी और हिन्द के थे सेवक अनन्य धन्य,
ध्वनि उठती है जन-जन धाम-धाम से,
पावन प्रयाग बना अंक में लगा के जिन्हें,
सिद्ध बने साधक भी साधना अकाम से।
समता करेगा कौन अब देश भारत में,
शेष है न कोई 'राज-ऋषि' उपनाम से,
निज कर्म चेतना से जाने गये नित्य-प्रति,
उत्तम पुरुष 'पुरुषोत्तम' के नाम से।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हे हिन्दी के ऋषिवर !

डॉ० श्यामसुन्दर घोष

⊙ ⊙

तुम भाषा के सूत्रधार थे,
भाषा को अशेष गरिमा दी।
तपःपूत व्यक्तित्ववान् थे,
वाग्मी थे, विशेष महिमा दी।

× × ×

त्याग, सादगी और सहिष्णुता,
सेवा, धैर्य, साधना का पथ।
रहा सामने सदा तुम्हारे,
हुए नहीं तुम कभी तनिक श्लथ।

× × ×

सौम्य भाव से जूझे हिन्दी के हित,
सब कुछ किया निछावर।
तुम दधीचि थे और भगीरथ भी थे,
हे हिन्दी के ऋषिवर!

× × ×

मूल्यों के खातिर ही जीवित,
रहे, किया संघर्ष अनोखा।
आयेगा अवसर जब इसका,
करना होगा लेखा-जोखा।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आप ही हिन्दी दिवस हैं...

श्री बृजमोहन श्रीवास्तव 'चंचल'

⊙ ⊙

आप हिन्दी के लिए चिन्तित रहे, कुछ कर गये,
और हम सब आपकी पाकर विरासत तर गये।
आप ही से राष्ट्र-भाषा पल्लवित - पुष्पित हुई,
मातृ-भाषा रिक्त झोली मोतियों से भर गये।

× × ×

शुभ मुहूर्त्त, पुण्य तिथि, पावन दिवस, हर पर्व पर,
स्मरण सौ-सौ बार करते आपको हम सब निरन्तर।
ज्योति हिन्दी की जलाकर आपने ही पथ दिखाया,
आप ही हिन्दी-दिवस हैं, आप ही चौदह सितम्बर।

●

राजर्षि को नमन

कु० आसिया खातून

⊙ ⊙

धन्य हिन्दी के उपासक, भारती के भाल।
देश के जीवन्त गौरव, सत्य की दृढ़ ढाल।
प्रेरणा के स्रोत अक्षय, निःस्पृही ब्रह्मर्षि।
कोटि हृदयों का नमन स्वीकार हो राजर्षि!

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन के प्रति

श्री राजदेव सिंह कौशल

⊙⊙

ऐसा वह युग-पुरुष हुआ था
कृष्ण नहीं वह पुरुषोत्तम था!
सिद्धान्तों के हित वनवासी,
विजयी बना किन्तु विजय-श्री
दी उतार वासी माला-सी।
अपने सिद्धान्तों का पक्का
तिल भर नहीं खिसकनेवाला,
हिन्दी का अनन्य सेवक था
प्रातिभ पुत्र भारती का था।
वह अनुपम अवतरण हुआ था।
ऐसा वह युग-पुरुष हुआ था।

●

जन्मशती पर श्रद्धाञ्जलि

श्री गौरीशंकर गुप्त

⊙⊙

अतुलनीय हिन्दी-सेवा का
साक्षी है इतिहास!
वन्दनीय राजर्षि हमारे
श्री पुरुषोत्तमदास!!

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड १

प्रतीक पुरुष : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रतीक पुरुष : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा

⊙⊙⊙

१. व्यक्तित्व : एक रेखाचित्र

[१८८२-१९२३]

कुछ लोग होते हैं जो युग को बदलते हैं। वे महापुरुष होते हैं और काल की गति एवं मानव नियति का ऐसा संयोग बैठाते हैं कि एक क्रान्ति पैदा कर देते हैं। कुछ लोग होते हैं जो क्रान्ति तो नहीं करते किन्तु ऐसी व्यवस्था देते हैं कि एक प्रवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है। प्रवर्त्तन में रचना धार्मिक नहीं होती। प्रवर्त्तन देने में कुछ नया जुड़ता नहीं। जो कुछ होता है उसी को नयी तरतीब देने से प्रवर्त्तन अपने आप हो जाता है। यह क्रम देने में पूरी जाति-की-जाति, पूरा समाज-का-समाज नया लगने लगता है। जो क्रान्ति पैदा करते हैं, वह कर्मयोगी होते हैं। जो व्यवस्था की नयी तरतीब देते हैं, वह कालपुरुष होते हैं। यह दोनों ही परिवर्तन करते हैं किन्तु इनके लिए आवश्यक नहीं कि यह स्वप्नद्रष्टा भी हों। स्वप्नद्रष्टा न होकर यह स्वप्न-स्रष्टा होते हैं। इसलिए इनके पास अपनी मानसिकता नहीं होती। देखने में ये बड़े होते हैं किन्तु यह किसी स्वप्नद्रष्टा के वाहक होते हैं। स्वप्न किसी दूसरे का होता है, यह उसका कार्यान्वयन करते हैं।

इन दोनों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो न तो नितान्त कर्म को प्रमाण मानता है और न ही नितान्त काल को ही अनुकरणीय मानता है। वह इन दोनों के साथ-साथ तप को भी जोड़ता है। कालपुरुष और कर्मयोगी, प्रवर्त्तन और प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं किन्तु तपस्वी कीर्तिमान प्रस्तुत करता है। वह स्वयं सिद्ध स्थिति को अपने तप से सिद्ध करता है। वह इस प्रक्रिया में कभी-कभी युग के प्रवाह से भी अलग हो जाता है। तब वह मात्र तपस्वी होता है, किन्तु कीर्तिमान वह तब प्रस्तुत करता है जब वह युग-सन्दर्भ से जुड़कर भविष्य के प्रति आस्थावान् होता है। वह कीर्तिमान स्थापित करने के साथ-साथ स्वप्नद्रष्टा भी होता है। कभी-कभी वह अपने युग से भी आगे होता है। ऐसा भी होता है कि वह अपने युग में उपेक्षित भी होता है किन्तु वह अपने तप से और निश्छलता से ऐसे कीर्तिमान प्रस्तुत कर देता है कि विरोधी को भी उसके सामने नतमस्तक होना पड़ता है। वह अपने युग के आगे होता है और एक ऋषि-द्रष्टा के समान ऐसे स्वप्न दे जाता है जिसे साकार रूप में रूपायित करने में एक पीढ़ी-की-पीढ़ी लग जाती है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गांधी और राजर्षि टण्डन उन्हीं व्यक्तियों में से थे। वह अपने आत्मबल से एक साथ ही कर्मयोगी भी थे, कालपुरुष भी थे और तपस्वी भी थे। गांधी के साथ एक उत्कृष्ट आध्यात्मिकता थी। राजर्षि के पास एक उत्कृष्ट नैतिकता थी। गांधी की सामाजिकता, आध्यात्मिकता से प्रवाहित होती थी। राजर्षि की आध्यात्मिकता, सामाजिकता से प्रवाहित होती थी। दोनों में भेद कुछ नहीं था। एक ही सत्य के दोनों ही पक्ष थे। गांधी उसी आध्यात्मिकता से समाज को देखते और राजर्षि उसी सामाजिकता में अध्यात्म देखते थे। दोनों ही नैतिक थे। कीर्तिमान, तप और नैतिकता के आधार पर ही स्थापित हो सकते हैं। बिना इन दोनों तत्त्वों के प्रतिमान भी स्थापित हो सकते हैं और क्रान्ति भी हो सकती है। किन्तु प्रत्येक क्रान्ति और प्रतिमान सार्थक तभी होता है जब वह नैतिकता की कसौटी पर कसा जाता है। नैतिकता भी खरी तभी होती है जब उसके साथ तप-बल का योग होता है। और जब यह दोनों होते हैं तो कीर्तिमान स्थापित होते हैं तथा तपस्वी उस कीर्तिमान का संस्थापक होता है और तभी उसकी दृष्टि भी ऋषि-तुल्य होती है।

नैतिकता अपने आप में मूल्यवान् रूप में नहीं होती। वह जब कालसापेक्ष, समाजसापेक्ष और इससे भी आगे अचिन्त्य ब्रह्माण्डसापेक्ष होती है तभी मूल्यवान् हो सकती है। यह दृष्टि तप से आती है, नैसर्गिकता से प्राप्त होती है। यह दृष्टि क्षण-प्रतिक्षण उदात्त की अनुभूति से आती है। तभी तप की शक्ति भी आती है। तप भी सार्थक तभी होता है जब वह नैतिकता पर आधारित हो। नैतिकता भी जब पारमार्थिक होती है तब कीर्तिमान प्रस्तुत करती है। राजर्षि के व्यक्तित्व में यह सारे तत्त्व एक साथ समन्वित और गुम्फित थे। वह तपस्वी तो थे ही, साथ ही नैतिक और पारमार्थिक भी थे। उनकी शक्ति यही थी। इसी के आधार पर वह कालसापेक्ष भी थे और काल की गति के द्रष्टा भी थे। वह अपने युग से आगे थे इसीलिए उनके प्रत्येक संकल्प में वर्तमान की अधीरता नहीं, भविष्य की चिन्ता दिखती है। राजर्षि का यह उत्कर्ष एक व्यापक मूल्य से जुड़ा था और यह मूल्य परमार्थ का था। उनके व्यक्तित्व की यही विशिष्टता थी।

देखने में एक अस्थिपञ्जर, किन्तु आँखों में अनन्त ज्योतिराशि, मन में अजस्र आत्म-शक्ति, माथे की चिन्तित रेखाओं में युग का संघर्ष, वाणी में निसंग निष्ठा, संकेतों में विश्वास और अस्त-व्यस्त केशों तथा रूखे-सूखे कलेवर में अनन्त जीवन रस, छेड़िये तो तपस्वी की विभूति मिले। मौन रूप में देखिए तो निर्विकल्प समाधि की परिधि तक चले जाइये। विरोध करिये तो फौलाद के स्पर्श का भाव मिले, स्वीकृति दीजिये तो एक दिव्य आलोक की अनुभूति थे। एक साथ इतने दायरों में जीने, रसने, बसने और प्रतिक्षण उत्सर्गित होने वाले व्यक्तित्व का स्थूल नामकरण था—पुरुषोत्तमदास टण्डन। मर्यादा उनके पीछे-पीछे चलती थी, इसलिए वह मर्यादा पुरुषोत्तम से अधिक पुरुषोत्तम मर्यादा थे। वह मर्यादा से शोभित नहीं थे, मर्यादा उनके जैसे व्यक्तित्व से शोभित थी। राजर्षि हमने उन्हें बनाया था। वह स्वयं रजस्, तमस् और सात्त्विकता के परे निर्गुण थे। उनकी ठनकती हुई वाणी जिसने सुनी है, वह जानता है कि उस साकार सस्वरता में कितना आत्मबल था और कितनी आत्मशक्ति थी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखी देवी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी को एक व्यक्ति की संज्ञा में नहीं बाँधा जा सकता। वह अपने आप में एक संस्था थे। संस्था का अर्थ है, संस्कारों में स्थित होना। टण्डन जी संस्कारों में स्थित थे। वह आपाद-संस्कार थे और ऐसे संस्कार थे, जो रूढ़ियों को तोड़ता था और स्वानुशासन से मर्यादित होता था। वह संस्कारी होने के साथ-साथ अन्धविश्वासी नहीं थे। स्वानुशासित होने में उनका दम्भ नहीं, विनय प्रकट होता था। खान-पान में, वसन में, वेश-भूषा में, आचार-विचार में, व्यवहार-आचार में, प्रत्येक क्षेत्र में उनका एक तरीका था, जो औरों से भिन्न होने के साथ-साथ शील से ओतप्रोत था। उनके पास पद्धति नहीं थी; किन्तु 'रहनी' थी, ऐसी रहनी जिसके विषय में गोस्वामी तुलसीदास ने ललक कर लिखा है—"कबहुँक ऐसो रहनि रहौंगो।" यह 'रहनि' ही उनकी अद्वितीयता थी। नमक वह नहीं खाते थे। कुछ दिनों तक कच्चा अन्न ही खाया है। घी, दूध छूते नहीं थे। तेल का सेवन भी नहीं करते थे। किन्तु कहीं किसी कोने में कोई आडम्बर नहीं था। जो कुछ भी था; सहज था, सरल था। झुकते नहीं थे किन्तु कहीं से टूटते भी नहीं थे। अस्वीकारवादी होने के नाते वह हर विषय पर अपनी राय रखते थे और अपनी दृष्टि के अनुसार कार्य करते थे। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जो कुछ निजी है, व्यक्तिगत है, जो सामूहिक है; उसे आप कहीं से भी छू नहीं सकते थे। यही उनकी नैतिकता का आधार था। इसी अर्थ में वह इस्पाती व्यक्तित्व थे। इसी सन्दर्भ में एक छोर पर वह नितान्त विनयी और अनुशासित व्यक्ति थे, किन्तु इन्हीं सन्दर्भों में वह फौलाद भी थे।...

⊙ ⊙

टण्डन जी जैसे व्यक्ति की जीवनी तिथियों और कैलेण्डर के आधार पर लिखना एक स्वाँग-सा लगता है; क्योंकि टण्डन जी जैसे महापुरुष न तो तिथियों में बँधते हैं और न उनका कोई महत्त्व ही उनके लिए होता है। वह वास्तव में कालजयी होते हैं और कर्म उनकी गति होती है, कीर्तिमान उनकी तिथियाँ होती हैं और निरन्तर संघर्ष एवं उत्कर्ष की दृढ़ता ही उनकी आयु होती है। फिर भी कोई कितना भी गतिशील क्यों न हो, कितना भी कीर्तिमान क्यों न हो, हम जो स्थूल दृष्टि वाले होते हैं; कीर्तिमानों से अधिक इन अंकों, तिथियों में ही उनको बाँध कर देखना चाहते हैं। स्थूल रूप में और संसार की व्यावहारिक भाषा में जिसके हम आदी हैं, राजर्षि जी का जन्म सन् १८८२, तदनुसार संवत् १९३९ विक्रमी अंग्रेजी तिथि से पहली अगस्त और भारतीय पञ्चाङ्ग से अधिक श्रावण मास, कृष्णपक्ष द्वितीया, दिन मंगलवार, सौर ८ कर्क को हुआ था। पुरुषोत्तममास में जन्म होने से ही आपका नाम पुरुषोत्तमदास रखा गया था। टण्डन जी प्रयाग में अहियापुर (खुशहाल पर्वत) मोहल्ले में जन्मे और यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। आपके पिता श्री सालिगराम टण्डन स्थानीय लेखागार कार्यालय में बाबू थे। आपकी एक बड़ी बहन थी, जिनका नाम तुलसा था। पुत्र रूप में जन्म लेने से यह अपनी माता और पिता की नितान्त प्रिय सन्तान थे। बड़ी देख-रेख, लाड़-प्यार में आपका पालन-पोषण भी हुआ। पिता श्री राधास्वामी मत

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में दीक्षित थे। बड़ा होने पर राजर्षि टण्डन भी उसी में दीक्षित हुए। सत्सङ्ग में इनका नाम प्रेमसरन था। दीक्षित होने के बाद आपका नाम दीक्षा गुरु ने 'अगमसरन' रखा। इस नाम से टण्डन जी ने कई निबन्ध और विचारोत्तेजक लेख आदि भी लिखे हैं।

पन्द्रह वर्ष की आयु में (१८९७) आपने हाईस्कूल की परीक्षा पास की। उसी वर्ष आपका विवाह भी हो गया। विवाह राजर्षि के जीवन में बाधा नहीं बन पाया। वह बचपन से जिन शिक्षा और सामाजिक कार्यों में लगे थे, उनमें लगे रहे। १८९९ ई० में प्रथम बार कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के स्वयंसेवक के रूप में गये। १९०० में आपको पहली सन्तान हुई। १९०५ में गोपालकृष्ण गोखले के अंगरक्षक के रूप में काशी के कांग्रेस अधिवेशन में गये। १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस में प्रथम बार कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये। यहीं पर आपका परिचय विपिनपाल दास और लाला लाजपत राय से हुआ। उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के उग्रपंथ के यह लोग नेता थे। राजर्षि भी उनके विचारों से प्रभावित हुए। राष्ट्रीय विचारधारा में उग्र और नितान्त क्रान्तिकारी विचारों का ही यह परिणाम था कि वह उन लोगों से भिन्न विचार वाले हुए, जो स्वतन्त्रता को अंग्रेजी प्रशासन की कृपा द्वारा प्राप्त करना चाहते थे।

१९०६ का वर्ष कई अर्थों में राजर्षि टण्डन के जीवन का महत्त्वपूर्ण वर्ष था। क्योंकि इसी वर्ष आपने वकालत की परीक्षा पास की और प्रयाग की छोटी अदालत में वकालत प्रारम्भ कर दी। राजनीति और अन्य सार्वजनिक कार्यों के साथ अत्यन्त व्यस्तता के कारण वकालत के काम में भी पूरा समय दे पाना सम्भव नहीं था। लोगों का कहना है कि राजर्षि टण्डन बहुत अच्छे और तेज वकीलों में से थे। थोड़े ही दिनों में वकालत भी चमक गयी थी, लेकिन सामाजिक कार्य में व्यस्त रहने के कारण इधर कम अवसर दे पाते थे। १९०९ में जहाँ एक ओर आपको प्रथम सन्तान हुई, वहीं दूसरी ओर इसी वर्ष आपने हाईकोर्ट में वकालत भी पुनः प्रारम्भ कर दी। हाईकोर्ट की वकालत में पूरा समय लगा कर काम करना बाबू जी के लिए अब भी सम्भव नहीं था। क्योंकि १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन से लौटने के बाद बाबू जी बाल, पाल एवं लाल के भक्त हो गये थे। कलकत्ता अधिवेशन में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में विपिनलाल, लाजपत राय उग्र विचारों के पोषक थे। बाबू जी भी उन्हीं के विचारों से प्रभावित थे। नतीजा था कि १९०६ से ही वह कांग्रेस के उग्रवादी दल के सक्रिय सदस्य थे और उसी के कार्य में अधिक समय लगाते थे।

महामना मालवीय जी प्रयाग के थे ही और उसी मोहल्ले में रहते भी थे। महामना के विचारों से टण्डन जी में राष्ट्रीयता की भावना को स्वरूप देने की तत्परता मिली। महामना केवल स्वप्नद्रष्टा ही नहीं थे, वह स्वप्न को साकार रूप देने में भी बड़े निपुण थे। जिस स्वतन्त्रता के लिए राजर्षि बाल, पाल, लाल के साथ थे, उसका एक झीना स्वरूप महामना के मन में था। शिक्षा, भाषा, संस्कृति आदि के माध्यम से महामना उस स्वतन्त्रता की भावना को रूपायित करने में संलग्न थे। हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना बन चुकी थी। हिन्दी भाषा का स्वरूप बनाने का सपना महामना के मन में था। १९१० के अक्टूबर महीने में सम्मेलन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ। राजर्षि टण्डन जी उसके प्रथम महामंत्री नियुक्त हुए। एक ओर कांग्रेस के सदस्य के रूप में उग्रपंथी, दूसरी ओर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का काम। इन दोनों ने बाबू जी की वकालत पर काफी प्रभाव डाला। लगभग चार वर्ष तक टण्डन जी इन दोनों कामों में इतने व्यस्त रहे कि वकालत का काम कुछ भी नहीं कर पाते थे। सन् १९१४ में अंग्रेजों की नीति से परेशान होकर जब राजा नाभा ने श्री मालवीय जी से एक योग्य सचिव के लिये आग्रह किया तो महामना मालवीय ने नाभा रियासत में कानूनी सचिव और काम करने के लिए टण्डन जी को विवश कर दिया। १९१४ में राजर्षि ने नाभा रियासत विदेश मंत्री के पद पर की नौकरी स्वीकार कर ली। कानूनी ज्ञान और चारित्रिक बल बाबू जी का ऐसा था कि थोड़े ही दिनों में वह नाभा राज्य में लोकप्रिय भी हो गये और साथ ही नाभा राज्य के उस समय के राजा के प्रियपात्र भी बन गये।

१९१६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य में नौकरी करने के कारण बड़ी बाधा पहुँचने लगी। नाभा राज्य के राजा को राजर्षि का बार-बार छुट्टी लेकर सम्मेलन के कार्य से इलाहाबाद और वाराणसी आना-जाना अच्छा नहीं लगता था। फलस्वरूप बाबू जी ने १९१६ में उस नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और पुनः इलाहाबाद वापस आ गये। वकालत फिर से शुरू कर दी। साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य इतना बढ़ गया कि हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हो गयी। सार्वजनिक क्षेत्र में भी बाबू जी इतने लोकप्रिय हो गये कि १९१९ में इलाहाबाद म्यूनिसिपेल्टी के चेयरमैन चुन लिये गये।

बाबू जी की म्यूनिसिपल चेयरमैनी इलाहाबाद के नागरिक जीवन का एक कीर्तिस्तम्भ है। उसकी किंवदन्तियाँ आज भी नगर में जन-जन की जबान पर हैं। वह जमाना अंग्रेजों का था और जो भी चेयरमैन होता था वह अंग्रेजों और खासकर फौज छावनी के अंग्रेजों से जल-कर और घर का टैक्स नहीं वसूल करता था। नतीजा था कि इनके यहाँ लम्बी-लम्बी धनराशियाँ पड़ी थीं जो वसूल ही नहीं होती थीं। बाबू जी ने मनोयोग से वह रकम वसूल करवायी। प्रशासक अंग्रेज बहुत कुनमुनाये, उन्हें बुरा भी लगा लेकिन बाबू जी ने पाई-पाई वसूल करवा लिया।

इसी तरह की घटना उस समय के गवर्नर के साथ भी घटित हुई। कहते हैं जब गवर्नर इलाहाबाद में होता था तो उसके लिए स्वच्छ जल, जनता का पेय जल रोक कर दिया जाता था। इससे जनता को तकलीफ होती थी। गर्मियों के दिनों में तो और भी कष्ट होता था। बाबू जी ने उस जल को बन्द करवा दिया। सुनते हैं, बाबू जी के इस आदेश से गवर्नर के समस्त कार्यालय के लोग बड़े नाराज हुए। गवर्नर का सेक्रेटरी जो एक अंग्रेज ही होता था, बाबू जी से मिलने आया लेकिन बाबू जी ने उसकी एक बात नहीं मानी, वह नाराज होकर वापस चला गया, लेकिन पानी उसे नहीं मिला।

इन सारी घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि १९२१ में बाबू जी को कांग्रेस के स्वयं-सेवक आन्दोलन के प्रथम संयोजक के रूप में पकड़ा गया। १८ महीने की कैद की सजा हुई। राजर्षि को सजा मिलने के साथ ही शासन ने १० मार्च, १९२२ को एक राज्याज्ञा द्वारा बाबू

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी को चेयरमैनशिप से हटा दिया। नतीजा यह हुआ कि काफी संख्या में म्यूनिसिपल कमेटी के सदस्यों ने भी त्यागपत्र भेज दिये। ऐसी स्थिति देखकर सरकार ने नगर महापालिका को ही भंग कर दिया, दुबारा जब १९२३ में म्यूनिसिपल बोर्ड का चुनाव हुआ तो फिर राजर्षि टण्डन जी चेयरमैन चुने गये। इस पर उस समय के म्यूनिसिपल बोर्ड के मुस्लिम लीगी सदस्यों ने आपत्ति प्रकट की और कहा कि यद्यपि बाबू जी चुनाव जीत गये हैं फिर भी इस बार किसी मसलमान को चेयरमैन चुनना चाहिए। बाबू जी ने स्वीकार कर लिया। जब सवाल उठा कि किस मुसलमान को चुना जाय उस समय के एक प्रतिष्ठित मुसलमान कमालउद्दीन जाफरी का नाम पेश किया गया तो पहले तो लीग के सदस्यों ने उनके नाम को स्वीकार कर लिया किन्तु बाद में उसका विरोध करने लगे और कहने लगे कि बाबू जी त्यागपत्र न दें। लीग के सदस्यों को जाफरी साहब की अपेक्षा बाबू जी ही पसन्द थे किन्तु बाबू जी ने लीग के सदस्यों की बात नहीं मानी। उनके आग्रह करने पर भी उन्होंने अपना त्यागपत्र नहीं वापस लिया और वह म्यूनिसिपल राजनीति से सदैव के लिए अलग हो गये। किन्तु अपनी जगह पर उन्होंने स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू का नाम प्रस्तावित किया और वह चुन लिये गये। श्री जवाहरलाल नेहरू की चेयरमैनशिप भी इलाहाबाद के इतिहास में अद्वितीय थी। १९२३ में म्यूनिसिपल बोर्ड की चेयरमैनी छोड़ने के बाद ही बाबू जी को प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष चुना गया। यह अधिवेशन उस समय गोरखपुर में बड़े धूमधाम से मनाया गया। बाबू जी ने अपने एक वर्ष के अध्यक्षीय काल में पूरे प्रदेश को संगठित कर दिया। हर जगह कांग्रेस संगठन की इकाइयाँ खुल गयीं। आन्दोलन को संगठन का आधार मिल गया।

इसी वर्ष अर्थात् १९२३ में ही बाबू जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। अध्यक्ष चुने जाने के बाद सम्मेलन का कार्य व्यापक स्तर पर बढ़ा। कचहरियों में हिन्दी को प्रयोग में लाने के लिए प्रचार-प्रसार होने लगे। साथ ही, हिन्दी की परीक्षाओं की भी योजना बनायी गयी। १९२० में वर्तमान सम्मेलन भवन की भूमि म्यूनिसिपेल्टी से मिल गयी थी। १९२३ में अध्यक्ष चुने जाने के बाद राजर्षि ने इस भूमि में कच्ची खपरैल की इमारत बनावाकर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्यालय पुरानी जगह से यहाँ स्थापित किया।

विद्यापीठ की स्थापना तो १९१८ में ही हो चुकी थी और राजर्षि जी उसके प्रथम प्रधानाचार्य थे। इसका मुख्य उद्देश्य था अहिन्दी भाषाभाषियों को हिन्दी पढ़ाना। १९१८ से २३ के काल में ही यहाँ हिन्दी पढ़ने के लिए दक्षिण से विद्यार्थी आते थे। बाबू जी के अध्यक्ष चुने जाने से उस दिशा में भी काफी प्रगति हुई। अपने अध्यक्षीय भाषण में बाबू जी ने उर्दू के प्रति अपनी स्पष्ट धारणा व्यक्त करते हुए कहा था—

"आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यताओं की सूचक भाषाएँ बन गयी हैं। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं और रूपकों और भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है किन्तु भाषा का आधार एक ही है और अभी यह दोनों स्रोत इतनी दूर एक-दूसरे से अलग नहीं हुए हैं कि फिर से मिलकर एक प्रबल धारा में परिणत न हो सकें। भारतवर्ष भर में अपनी शक्ति से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भूमि उर्वरा कर सुसज्जित न कर दें। मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देशभक्तों का यही तत्कालीन कर्त्तव्य जान पड़ता है।"

राजर्षि टण्डन के अध्यक्षीय भाषण का यह भाव आज ५९ वर्ष बाद भी उतना ही जीवन्त और सही है जितना तब था। राजर्षि की जीवन-दृष्टि भारतीय विविधता को एक सूत्र में बाँधने की थी। उस समय बाबू जी का यह भाषण कुछ हिन्दीवालों को भी बुरा लग रहा था और कुछ उर्दूवालों को भी बुरा लगा था। हिन्दीवालों को भय था कि हिन्दी की शुद्धता नष्ट हो जायगी। उर्दूवालों को भय था कि उर्दू हिन्दी के पेट में समा जायगी—किन्तु जितना भय-संकट उस समय लोगों ने दिखाया था, वह सन्दर्भहीन था। भाषा के प्रति इससे अधिक स्पष्ट वक्तव्य आज भी कोई नहीं देता।

⊙⊙

बाबू जी का पारिवारिक जीवन इस राजनैतिक और सामाजिक व्यस्तता के कारण बड़ा अस्त-व्यस्त था। इसी बीच आपके चाचा डाक्टर मूलचन्द के निधन से बाबू जी पर परिवार का एक भारी बोझ आ पड़ा। की आयु में ही हो गयी थी, जिनकी मृत्यु सन् १९१८ में लगभग ४६ वर्ष वकालत भी वह कर नहीं पाते थे, क्योंकि सार्वजनिक कार्यों का छोड़ना उनके लिए बड़ा कठिन था। साथ ही परिवार भी चलाना पड़ता था। स्वयं टण्डन जी की अपनी नौ सन्तानें थीं। सात पुत्र और दो पुत्रियाँ। साथ में छोटे भाई श्री राधानाथ का भी परिवार था। राजर्षि टण्डन जी के लिए उस जमाने में इतना लम्बा परिवार का संचालन करना कठिन था। वह समय भी विचित्र था। वस्तुएँ सस्ती थीं लेकिन पैसा महँगा था। नतीजा यह था कि कभी-कभी उपवास भी करना पड़ जाता था या बच्चों को तो भोजन मिल जाता था किन्तु स्वयं वह, उनकी पत्नी बिना खाये रह जाते थे। आर्थिक विपन्नता का इससे बढ़कर नमूना क्या मिलेगा कि इतने वर्षों की म्यूनिसिपल चेयरमैनी राजर्षि ने काठ की खटपटी पहन कर की और सुना जाता है कि वह पैदल ही घर से रोज वही खटपटी पहन कर जाते थे। यह उनका आत्म-विश्वास था कि वह अपनी इस दशा में भी ईमानदारी के साथ निर्वाह कर ले गये।

परिवार का संगठन भी विचित्र था। बाबू जी स्वयं राधास्वामी मत के मानने वाले थे, किन्तु पत्नी सनातनी थी। सन्तप्रसाद टण्डन ने राजर्षि जी की जीवनी में लिखा है कि अपने-अपने विश्वासों को लेकर कभी भी उनमें कोई विरोध की स्थिति नहीं पैदा होती थी। राजर्षि ने अपने घर में कभी भी अपने धार्मिक विश्वासों को आरोपित नहीं किया। यद्यपि उनकी पत्नी चन्द्रमुखी देवी अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थीं, केवल घरेलू शिक्षा ही उन्हें प्राप्त थी। राजर्षि अपने विचारों और व्यवहारों में प्रगतिशील थे और उदार थे। पत्नी अपेक्षतः अधिक रूढ़िवादी थी। वह समय भी काफी पुराने संस्कारों वाला था, फिर भी बाबू जी ने कभी भी उनके आचार-विचार की न तो टीका-टिप्पणी ही की और न अपने विचारों और विश्वासों को उनके ऊपर आरोपित ही किया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इसी प्रकार पत्नी ने भी राजर्षि के कामों में कभी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। राजर्षि सदैव सार्वजनिक कामों में लगे रहते थे। वह गृहस्थी के कामों में दखल भी नहीं दे पाते थे। बिचारी उन्हीं को अकेले गृहस्थी का भार ढोना पड़ता था, किन्तु उन्होंने कभी भी बाबू जी के सार्वजनिक कार्यों में बाधा नहीं डाली। पुराने जीवन का यह एक विचित्र संयोग था। उस युग की प्रायः सभी पत्नियाँ इसी विचार की होती थीं। इनका सबसे बड़ा विरोधाभास वहाँ देखने को मिलता था जहाँ बाबू जी छुआछूत, जाति-पाँति नहीं मानते थे और पत्नी कट्टर रूप से छुआछूत का पालन करती थीं। किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि कभी इन बातों को लेकर उनमें किसी प्रकार की कहा-सुनी भी नहीं हुई।

१९२५ तक बाबू जी की आर्थिक स्थिति बड़ी विपन्न हो चुकी थी। इसकी सूचना स्व० लाला लाजपत राय को मिली। उन्होंने तत्काल उन्हें लाहौर स्थित पंजाब नेशनल बैंक के संयुक्त सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया। टण्डन जी ने उसे स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों बाद जनरल सेक्रेटरी के पद पर नियुक्ति भी हो गयी किन्तु यह नौकरी भी बाबू जी के बस की बात नहीं थी। १९२८ में इसे भी उन्होंने छोड़ दिया। वृत्ति ऐसी कि अपने पास कुछ न रखना और मन ऐसा कि सब के दुःख में शामिल होना, स्थिति ऐसी कि लगभग १४, १५ मूर्तियों का पालन-पोषण। नौकरी छोड़ी तो करें क्या? लोग बताते हैं कि जब टण्डन जी ने वकालत शुरू की थी तो उनके पास एक टमटम था। जब असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए गये तो टमटम कांग्रेस को दान कर दिया। लोगों ने बहुतेरा समझाया कि इसे बेंच दीजिये कुछ पैसे मिल जायेंगे, किन्तु उन्होंने किसी की बात नहीं मानी। वे बेच देते तो हाथ में कुछ नकद पैसा आ जाता किन्तु वृत्ति तो पैसा-विरोधी थी तो यह होता कैसे?

कुछ लोग कभी-कभी सोचते होंगे कि राजर्षि का संघर्षमय जीवन इस तरह बीता कैसे? लेकिन जीवन बिताने का रहस्य मन का संकल्प है। बाबू जी के पास यह संकल्प-शक्ति अटूट और अदम्य थी। किसी समय जब उनके पास पैसा था तो दो हजार रुपये उन्होंने साँवलदास खन्ना के यहाँ जमा कर दिया था, उससे ३०) रु० मासिक ब्याज मिल जाता था। एक दूसरी जगह भी दो हजार रुपये जमा कर दिये थे। इस तरह दोनों जगह से मिलाकर ५० रुपये आ जाते थे। बड़े लड़के हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक प्रकाशन संस्था साहित्य भवन लिमिटेड में मैनेजर थे और उस जमाने में उन्हें ४० रुपये मासिक मिल जाते थे। कुल मिलाकर ९०) रु० मासिक में परिवार का खर्च चलता था। टण्डन जी से अधिक कुछ नहीं हो पाता था। बड़े लड़के स्वामीप्रसाद को ही इसकी चिन्ता रहती थी। उन्होंने अपने छोटे भाई सन्तप्रसाद टण्डन को १३ वर्ष की अवस्था में कढ़ाई का काम सिखाया। साढ़े चार सौ की कढ़ाई की मशीन भी खरीदी किन्तु इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। एक स्वदेशी कपड़े की दूकान भी उन्होंने खोली लेकिन उसमें भी घाटा ही रहा। परिवार के छोटे बच्चों के साहस प्रशंसनीय हैं किन्तु समस्या उससे भी नहीं सुलझी।

राजर्षि का प्रखर चरित्र निजी काम के लिए किसी की सहायता भी नहीं लेना चाहता था। कई बार ऐसी घटनाएँ घटीं जब मित्रों ने, शुभचिन्तकों ने आर्थिक विपन्नता को दूर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करने के लिए कुछ आर्थिक सहायता देनी चाही लेकिन राजर्षि ने उसे स्वीकार नहीं किया। वास्तव में चरित्र के साथ स्वाभिमान का भी प्रश्न आ जाता है। जो सेवा-भाव से कर्त्तव्य भाव से काम किया जाता है वह पारमार्थिक होता है। पारमार्थिक भाव से किये गये काम मर्यादाओं में बँधे हुए व्यक्ति के लिए भला यह कैसे सह्य होता? उस समय सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी का गठन लिब्रल पार्टी के नेताओं ने किया था। इस सोसाइटी का गठन लिब्रल पार्टी के कार्यकर्त्ताओं को आर्थिक सहायता देना था। यह सहायता वेतन के रूप में मासिक दी जाती थी। किन्तु यह लिब्रल पार्टी द्वारा गठित थी। कांग्रेस के पास कोई ऐसा संगठन नहीं था, वहाँ तो गांधी जी के नेतृत्व में वही लोग जा सकते थे जो घर-फूँक तमाशा देख सकें। बाबू जी वैसे भी इस प्रकार की भी सहायता लेना उचित नहीं समझते थे। उनके इस संकल्प के पीछे जो निष्ठा थी वह ऐसे तप को जन्म देती थी जिसमें सब-कुछ सहा जाता है।

उन दिनों के केवल एक ही व्यक्ति वियोगी हरि ही ऐसे व्यक्ति हैं जो बाबू जी के घरेलू जीवन को निकट से जानते हैं। उन दिनों वह बाबू जी के परिवार के एक सदस्य की तरह ही रह रहे थे। उनके पास कई अद्‌भुत सामग्री है। बाबू जी की इस जिद्द से सभी चिन्तित रहते थे—महामना मालवीय जी, लाला लाजपत राय और सेठ जमनालाल बजाज उनमें से मुख्य हैं। कहते हैं, एक बार स्वयं महामना मालवीय जी टण्डन जी की पत्नी के पास विनम्र आग्रह ले कर गये कि वह कुछ आर्थिक सहायता ले लें और मासिक रूप में एक राशि बाँध दी जाय, किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने परिवार को यह सख्त आदेश दे दिया था कि उनके परिवार के लोग उनके जेल में रहने पर कभी भी किसी से एक पैसे की भी सहायता नहीं लेंगे। टण्डन जी का परिवार भी ऐसा था जो उनके इस कथन का अक्षरशः पालन करता था। वास्तव में यही पारिवारिक अनुशासन है जिसने आज उनके प्रत्येक सदस्य को स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाने के साथ सब को उच्च पदाधिकारी भी बना सका है।

जब गृहस्वामी के तप के साथ पूरा परिवार तप में भाग लेता है तब वह व्यक्ति कातप न होकर सामूहिक यज्ञ हो जाता है। कसौटियाँ जो भी हों—धर्म की, समाज की, अर्थ की, वैयक्तिक मर्यादा की, बाबू जी का चरित्र ऐसा था जो प्रत्येक कसौटी पर खरा उतर जाता था। राजर्षि के व्यक्तित्व का उज्ज्वल पक्ष हमारी संस्कृति की विशेष निधि है जो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

अपने चाचा श्री मूलचन्द टण्डन की मृत्यु के बाद पारिवारिक स्तर पर दूसरी दुःखद घटना बाबू जी की बड़ी लड़की के पति का आकस्मिक बस-दुर्घटना में घायल हो जाना और फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो जाना है। उन्हीं दिनों यह घटना भी घटी। परिणामस्वरूप पुत्री अपने एकमात्र पुत्र के साथ सीतापुर से प्रयाग चली आयी और राजर्षि के साथ यहीं रहने लगी। बाबू जी जैसे तटस्थ और स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लिए भी यह अकालमृत्यु असह्य हो गयी, लेकिन मुँह से उफ तक नहीं निकली।

कांग्रेस के सत्याग्रहियों के घरों की हालत उन दिनों बड़ी खराब हो जाती थी। उनका कोई आधार नहीं रह जाता था। इस स्थिति से निपटने के लिए सेठ जमनालाल बजाज ने १९३० में एक ऐसे ट्रस्ट का निर्माण किया कि जो नितान्त निरीह परिवारों को कुछ थोड़ी-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बहुत आर्थिक सहायता पहुँचा सके। इससे आन्दोलन में भाग लेने वालों को थोड़ी राहत मिली। श्री वियोगी हरि चूँकि टण्डन जी के परिवार से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे, इसलिए सेठ जमनालाल बजाज ने उनके द्वारा टण्डन जी से पुछवाया कि यदि वह बुरा न मानें तो उस ट्रस्ट से थोड़ी आर्थिक सहायता परिवार को दे दी जाय। उन दिनों टण्डन जी गोंडा जेल में थे। १९३० का आन्दोलन था। श्री वियोगी हरि जी विशेषकर यह अनुमति प्राप्त करने के लिए बाबू जी से गोंडा जेल में मिलने गये। पहले तो स्पष्ट रूप से पूछने का साहस ही नहीं हुआ किन्तु जब दबी आवाज में पूछा तो टण्डन जी ने कहा—"आर्थिक मदद की इच्छा करना मेरा अपमान करना है। मैं देश-सेवा का व्रत मलीन नहीं करना चाहता, समस्त परिवार नष्ट हो जाय फिर भी मैं लोक-सेवा के विक्रय के लिए तैयार नहीं।"

अपने व्यक्तिगत जीवन में बाबू जी नितान्त सात्त्विक थे। १९०५ में जब बंग-भंग का स्वदेशी आन्दोलन जोर पर था और विदेशी चीजों का बहिष्कार किया जा रहा था तो बाबू जी ने चीनी खानी छोड़ दी थी। तब से वह खाण्डसारी ही खाते थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने वह भी छोड़ दिया था और केवल गुड़ या लाल शक्कर ही खाते थे। १९०७ में अपने उसी संकल्प के अनुसार उन्होंने चमड़े का जूता भी पहनना बन्द कर दिया था। १९२१-२२ में उन्होंने नमक का भी परित्याग कर दिया था। कुछ दिनों तक वह कच्चा चना और मूँगफली भिगो कर खाते थे। खजूर बाबू जी के खाने का प्रमुख व्यञ्जन था। घी, दूध का सेवन वह वैसे भी नहीं करते थे। मसाले आदि में भी उनकी रुचि नहीं थी।

लेकिन ऐसा नहीं था कि वह रुचि-सम्पन्नता में कम थे। उसका परिचय तब चलता था जब वह अतिथियों को खिलाने की चिन्ता करते थे। घर में व्यवस्था है या नहीं, वह नहीं देखते थे और कभी-कभी घरवालों को संकट में डाल देते थे लेकिन काम किसी-न-किसी रूप में चलता था। अभाव में ऐसा भी होता था कि केवल रूखा-सूखा ही खाने को मिलता था। इससे बाबू जी को सन्तोष तो नहीं मिलता था किन्तु फिर भी जो कुछ है उसे प्रस्तुत करने में उनके मन को तृप्ति मिलती थी। उनकी इस प्रवृत्ति का प्रभाव यह था कि समस्त भारत से आने-जाने वाले अतिथियों के मन पर उनका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता था। आत्मीयता उनमें इतनी थी कि आस-पास से आने-जाने वाले भी उनको देखकर ही आकृष्ट हो जाते थे। उनके आत्मीय वृत्त में जो लोग थे उनके लिए महान् होना आवश्यक नहीं था। कभी-कभी आश्चर्य होता था कि राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाला उनके जैसा व्यक्तित्व कैसे इतने छोटे व्यक्तियों से आत्मीयता अनुभव करता था लेकिन बाबू जी की मानवीय निष्ठा इतनी गहरी थी कि उसमें पद, वैभव और उत्कृष्टता उतनी मूल्यवान् वस्तु नहीं थी जितनी सहजता, सरलता और मन का निश्छल होना।

घर में बाबू जी स्नेह सब को देते थे किन्तु उनके व्यक्तित्व में इतना अनुशासन था कि वह अतिरञ्जित नहीं होने पाता था। अपनी पत्नी के प्रति, सेवा के प्रति एक सहज गृहस्थ के समान उनके भी मन में ममता थी लेकिन उस समय भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई इतनी तेज थी और वह उसमें इतने डूबे थे कि उसकी वह अभिव्यक्ति नहीं हो पाती थी जो

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सामान्य पति, पिता या भाई के रूप में मिलती थी। उनकी सम्पूर्ण गृहस्थी ही राष्ट्रीय यज्ञ में समर्पित थी। वह गृहस्वामी भी थे लेकिन राष्ट्रीय सेनानी पहले थे, वे पिता थे किन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक पहले थे। उनमें वात्सल्य था लेकिन राष्ट्र-प्रेम में चकाचौंध मचा देने वाला नहीं था। बाबू जी के पुत्र श्री सन्तप्रसाद टण्डन ने उनके गृहस्थ रूप का चित्रण करते हुए लिखा है—

"बाबू जी में वात्सल्य भावना भी बहुत थी। बच्चों से उन्हें बड़ा प्रेम था। बच्चों को अपने साथ भोजन कराने में उन्हें विशेष प्रसन्नता होती थी। विवाह आदि समारोहों पर जब हम सब भाई-बहनों का परिवार एकत्र होता था, उस समय अपने नाती-पोतों के बीच में बाबू जी की प्रसन्नता देखते बनती थी। सभी बच्चों को वह अपने साथ भोजन कराने के लिए बैठा लेते थे। एक बड़ी-सी थाली में ये बालक भी अपने बाबा-नाना के साथ भोजन करके बहुत प्रसन्न होते थे। बाबू जी में जहाँ एक ओर स्वभाव की दृढ़ता थी वहीं दूसरी ओर उनमें विनोद भाव की कमी नहीं थी। समय-समय पर अपने मित्रों और सहयोगियों के बीच वह विनोद भी करते थे।"

जहाँ एक ओर राजर्षि का घरेलू जीवन और उनका अपने मित्रों और सहयोगियों के साथ इतना खास व्यवहार था, वहीं वह दृढ़व्रती और अनुशासनप्रिय भी था। वह इन्हीं गुणों के कारण एक कुशल खिलाड़ी भी थे। अपने समय में वह क्रिकेट के बड़े गहरे बल्लेबाज भी थे।

बाबू जी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक तपस्वी की निष्ठा से ओत-प्रोत था। ऋषितुल्य लम्बे श्वेत और स्नेह-सिक्त उनके केश, वैसी ही दाढ़ी, घनी बरौनियों के बीच से चमकती तेजस्वी आँखें, कद लम्बा, कन्धे फड़कते हुए, काया तप से क्षीण किन्तु शक्ति में दधीची ढाँचा, सरल खादी का कुर्त्ता, धोती जिसमें चमक अधिक नहीं पर शुचिता से लैस, पाँवों में टायर की चप्पल या कैन्वेस का जूता, हाथ में एक पतली छड़ी—यही छवि थी राजर्षि की। बोलते थे तो वाणी में काँसे की खनक-सी आवाज। अक्सर वह अपनी दाढ़ी पर हाथ भी फेरा करते थे। वाणी में ओज, स्वरों के उतार-चढ़ाव में संकल्प की निष्ठा और त्वरित मुद्रा में बातों को हास्य तक पहुँचाने की अदम्य क्षमता उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग थे। वह बोलते थे तो लगता था जैसे भारत का आत्मबल बोल रहा है। जिस किसी ने भी राजर्षि और पं० नेहरू को एक साथ एक सभा में बोलते सुना है वह सहज ही यह निष्कर्ष लगा सकता है कि नेहरू की अधीरता और राजर्षि की धीरता में क्या अन्तर है? टण्डन जी का भाषण-संकल्प, निष्कर्ष प्रधान होता था। नेहरू का वक्तव्य, एक तरुण मानस की बेचैनी व्यक्त करता था। राजर्षि की वाणी में ऋषि की दृष्टि स्वरित होती थी। नेहरू की वाणी में अन्वेषी की दृष्टि मिलती थी।

ऋषि-दृष्टि मनन से मिलती है। राजर्षि का मननशील स्वभाव उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग था। उनके मनन में किसी समस्या को दोहरे स्तर पर मथित करने की शक्ति थी। वह समस्या का निदान बिना उसकी गहराई में पैठे और उसकी सम्पूर्णता को बिना समझे नहीं बताते थे। मननशीलता में यह दोनों आयाम हमेशा शामिल होते हैं। जब तक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वह समस्या के इन दोनों पक्षों से संतुष्ट नहीं हो लेते थे तब तक वह कोई निर्णय भी नहीं लेते थे। यही कारण है कि राजर्षि के कामों में संकल्प और गति तो मिलेगी किन्तु प्रवाह और वेग नहीं मिलेगा। ऋषि-दृष्टि में एक प्रशान्त सागर की गम्भीरता का अनुभव होता है, उसमें तूफान का वेग नहीं होता। राजर्षि के कामों में जो मन्थरता दिखती है वह उनके इसी चरित्र का परिणाम है।

इस मननशीलता के साथ-साथ राजर्षि का दूसरा आग्रह शुद्धता के प्रति था। बोलने और लिखने में वह जिम्मेदारी के साथ लिखना-बोलना चाहते थे इसलिए उनकी भाषा, शैली, शब्द-चयन में एक आन्तरिक शुद्धता रहती थी। बनावट नहीं होती थी, किन्तु गहराई होती थी। लिखने में तो वर्तनी, विराम से लेकर व्याकरण की दृष्टि को स्थापित करना चाहते थे। ऐसा इसलिए भी था क्योंकि वह भाषा-आन्दोलन के प्रवर्त्तक थे। हिन्दी को वह समर्थ भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। परम्परा से बोलने, लिखने, पढ़ने का माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। हिन्दी को उसके समकक्ष स्थापित करने की चिन्ता उन्हें निरन्तर रहती थी। यही कारण है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काल में ही सम्पन्नता से ओत-प्रोत भी बनाना चाहते थे, साथ ही वह सटीक और शुद्ध हो इसकी भी चिन्ता उन्हें रहती थी।

इस शुद्धता के प्रति आग्रह के साथ उनके व्यक्तित्व में देशीपन भी जुड़ा था। गांधी जी में वह देशीपन सीधा और खरापन लेकर बोलता था। राजर्षि में इन दोनों गुणों के साथ शुद्धता का भी आग्रह रहता था। गांधी जी में मनन और चिन्तन का स्तर सहज होते हुए भी गहरा होता था। चोट उसमें नहीं होती थी किन्तु आग्रह की प्रखरता होती थी। टण्डन जी में वह आग्रह एक प्रकार की चोट भी करता था। राजनीति के अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ राजर्षि ने चोट की है और इस चोट करने में कोई दुराग्रह नहीं, सत्य और निजी निष्ठा में अटूट विश्वास ही झलकता है। टण्डन जी के व्यक्तित्व में भारतीय परम्परा का वह स्वरूप था जिसमें चाणक्य और भीष्म पितामह का आदर्श था। यह दोनों यथार्थ शौर्य और त्याग की प्रतिमूर्ति थे। राजर्षि के विचार और आचरण में मानवीय पक्ष की प्राथमिकता थी। गांधी में दैवी शक्ति और आस्था की प्राथमिकता थी। ईश्वरीय आस्था मानवीय निष्ठा का चरमोत्कर्ष है और दैवी शक्ति या ईश्वरीय आस्था का द्रवीभूत भाव मानवता को जन्म देती है। माध्यम से उत्कर्ष से द्रवित भाव में भेद कुछ नहीं है। दोनों में एक ही सत्य के प्रति आग्रह होता है लेकिन भेद आग्रह का हो जाता है।

राजर्षि मूलतः मानवीय आस्था के व्यक्ति थे और इसीलिए वह संसार को सत्य मानते थे। आज राजनीति में न तो प्रखर इहलौकिक आस्था वाले लोग बचे हैं और न ही पारलौकिक भाव से द्रवित होने वाले लोग। इसीलिये राजनीति में एक खोखलापन आ गया है। गांधी जी महात्मा थे। टण्डन जी राजर्षि थे। गांधी जी के व्यक्तित्व का मूल स्रोत उनका सात्त्विक भाव था। व्यक्तिगत जीवन में परमात्म भाव से ओत-प्रोत था किन्तु सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यक्ति परमात्म भाव में होती थी। टण्डन जी मूलतः रजस् भाव के व्यक्ति थे इसीलिए व्यक्तिगत जीवन में आत्मानुशासन और तप पर उनका बल था किन्तु

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सार्वजनिक जीवन में वही भाव परमार्थ का रूप ले लेता था। परमात्म भाव और परमार्थ भाव में अन्तर केवल परिप्रेक्ष्य का है। गांधी का परमात्म भाव ही परमार्थ भाव था और राजर्षि का परमार्थ भाव ही परमात्म भाव को प्राप्त कर लेता था। परमात्म भाव परमार्थ के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है और एकनिष्ठ परमार्थ ही परमात्म भाव भी होता ही है। राजर्षि टण्डन की तुलना में एक ही व्यक्ति की स्मृति आती है और वह राजर्षि रघु थे।

राजर्षि टण्डन के व्यक्तित्व में जो व्यक्तिगत तप था, उसका उपयोग यही था कि वह इस संसार को झेलने और इसका सामना करने में सक्षम भी हों और औचित्य को हाथ से न छूटने दें। गांधी के साथ यह संसार अलग से कोई वस्तु नहीं था। उनके लिए यह उसी परमात्म भाव की एक अभिव्यक्ति थी इसीलिए वह राजनीति को धर्म के रूप में देखते थे। राजर्षि संसार के पृथक् स्तत्व को देखते थे इसीलिए वह धर्म को राजनीति तक ले जाते थे। गांधी जी के जीवन और राजर्षि टण्डन के जीवन के इस अन्तर को समझने के लिए तिलक और गांधी के भेद को जानना होगा। गांधी और तिलक में भी यही भेद था। राजर्षि तिलक के विचारों से अधिक प्रभावित थे इसलिए उनके व्यक्तित्व में वह तिलक की मानसिकता, इहलौकिक यथार्थ की निष्ठा प्राथमिकता पाती थी, इहलौकिता के कारण टण्डन जी राजर्षि थे। पारलौकिकता से ओत-प्रोत गांधी जी की इहलौकिकता थी।

किन्तु गांधी और टण्डन के विचारों में, मूल मान्यताओं में भेद नहीं था। सत्य-अहिंसा आदि में राजर्षि की अटूट आस्था थी। इन आस्थाओं के गांधी मूर्तिमान स्वरूप थे। राजर्षि के लिए गांधी जी इन मूल्यों के मूल-स्रोत थे जिससे यह समस्त अवधारणाएँ निःसृत होती थीं। गांधी राजर्षि के राजनैतिक जीवन के आधार थे। यही कारण है कि अनेक सन्दर्भों में गांधी की पद्धतियों से असहमत होने पर भी उन्होंने कभी गांधी को नहीं छोड़ा। व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में राजर्षि की आदि आस्था गांधी से शुरू होकर उस भेद तक पहुँचती थी जिसमें माध्यम और लक्ष्यों का बाह्य भेद ही दिखता था। टण्डन जी कभी भी गांधी से पृथक् राजनीति नहीं चलाना चाहते थे। वह राजनीति में गांधी के अनुयायी थे और अपने जीवन की अन्तिम साँस तक वह उसका निर्वाह खुले मन से करते रहे।

राजर्षि का समूचा व्यक्तित्व जीवन के फल के लिए नहीं अर्पित था। वह जीवन को सुफल बनाने के लिए अर्पित जीवन की सुफलता मूल्यबद्ध होकर जीने में मानते थे। जीवन का फल मिल सकता है किन्तु जीवन की सुफलता मूल्यों में जीने पर ही मिलती है। फल आकांक्षा का प्रतिफलन होता है। सुफलता आन्तरिक अन्तःसाक्ष्य की वस्तु है। किसी को देखकर, पाकर हम कहते हैं जीवन सुफल हो गया किन्तु डिप्टी कलक्टरी प्राप्त कर लेने में जीवन को फल की प्राप्ति तो होती है किन्तु जीवन सुफल हो गया नहीं कहा जा सकता। सुफलता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता, परमार्थ भाव की सत्ता ही जीवन को सुफल बनाती है। सुफल होने में भौतिक सुख नहीं आत्मिक तुष्टि पर अधिक बल होता है। आत्मिक तुष्टि उत्सर्ग में होती है। राजर्षि का जीवन निरन्तर उत्सर्ग का जीवन था इसलिए हम कह सकते हैं वह सुफलता की ओर निरन्तर अग्रसर रहने वाला जीवन था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि का स्वत्व इसीलिए कभी भी पद-प्रतिष्ठा की होड़ में नहीं रहा। उन्हें लगता था जैसे पद असीम क्षमताओं को सीमित करता है। गांधी जीवन में एक बार एक वर्ष के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। उन्होंने अपनी अध्यक्षता में कोई चमत्कार नहीं किया। भारतीय राजनीति में जितने भी मोड़ आये वह तब आये जब गांधी जी कांग्रेस में कुछ नहीं थे, लेकिन राष्ट्र की असीम आस्था के प्रतीक थे। राजर्षि भी जीवन में एक बार ही कांग्रेस के भी अध्यक्ष रहे और एक बार ही वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी अध्यक्ष चुने गये किन्तु इन पदों पर रहकर उन्होंने वह काम नहीं किये जो चमत्कारिक हों। हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनके प्राणों में समाया हुआ था इसलिए पद पर रहने, न रहने से उनके कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी। अपने स्वत्व को इस सीमा तक किसी आस्था, किसी संस्थान या किसी मूल्य के साथ तादात्मिक कर लेना एक योगी का ही काम हो सकता है। राजर्षि का व्यक्तित्व इस अर्थ में एक परम उच्चकोटि के योगी का था। संसार तो अनेक रूपों में उनके चारों ओर था ही। जागतिक आकर्षण और वस्तुओं से राजर्षि को इन्कार भी नहीं था, क्योंकि वह योगी के साथ-साथ सद्गृहस्थ भी थे। सद्गृहस्थ होने के नाते संसार तो उनके वृत्त में था ही किन्तु वह संसार के वृत्त में नहीं थे। वह संसार से उतना ही सम्बद्ध थे जितने की आवश्यकता थी और आवश्यकता उनकी उतनी ही थी जितने में जीवन-निर्वाह आवश्यक था।

राजर्षि का समूचा व्यक्तित्व एक संकल्पनिष्ठ व्यक्ति की आस्थाओं और उनके व्यावहारिक स्वरूपों को उद्घाटित करता है। वह आचरण-प्रधान व्यक्तित्व था, कथनी और करनी में साम्य स्थापित करनेवाला व्यक्तित्व था। ऐसे व्यक्ति के साथ सबसे बड़ी कठिनाई होती है अपने को व्यावहारिक स्तर पर चरितार्थ करने की। व्यवहार में जीवन की समस्त गतिविधियाँ एक ओर ले जाती हैं और उसकी संकल्प-शक्ति उनसे विपरीत न सही किन्तु भिन्न दिशा की ओर ले जाती है। ऐसे में जो तनाव अपने स्थूल और सूक्ष्म में होते हैं, आदर्श और व्यवहार में होते हैं, जीवन के लौकिक और पारलौकिक निष्ठाओं में होते हैं, वह व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक घड़ी परीक्षा की घड़ी बना देते हैं। राजर्षि के जीवन में यह द्वन्द्व कैसा रहा होगा और उसको उन्होंने किन-किन स्तरों पर कैसे-कैसे झेला होगा, जानना कठिन है क्योंकि वह उनके अन्तर्मन का संघर्ष रहा होगा और उसे अभिव्यक्ति देना उन्होंने श्रेयस्कर नहीं समझा होगा। राजर्षि की तपस्या में जो एक हठयोगी का रूप हमें देखने को मिलता है, वह उसी द्वन्द्व का स्वरूप है। राजर्षि का तप जीवन को सार्थकता देने का तप था और वह जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता उस परमार्थ में देखते थे जिससे एक पूरी जाति-की-जाति जागृत हो जाय, उसकी इच्छा-शक्ति प्रखर बने, उसका आत्मबल बढ़े, उसका जातीय चरित्र, वेश-भूषा, भाषा, धर्म नैतिकता में दिखे। इसके लिए जो कुछ वाञ्छित होता है उसको सम्पूर्ण जीवन में ढालने और व्यवहृत करने की शक्ति पैदा करने के लिए वह स्वयं अनेक अग्निपरीक्षाएँ दे डालता है। राजर्षि का व्यक्तित्व उन अग्नि-परीक्षाओं का प्रतीक था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

२. कार्य-क्षेत्र

[१९२३-१९६२]

जैसा ऊपर बताया गया है, बाबू जी ने १९०० से लेकर १९२३ तक बड़ी आर्थिक कठिनाइयों के बीच जीवन बिताया। मई, १९२५ में पंजाब नेशनल बैंक की नौकरी स्वीकार की। लाला जी ने टण्डन जी को सीधे संयुक्त मंत्री पद पर नियुक्त किया। थोड़े ही दिनों में बाबू जी मंत्री भी नियुक्त हो गये। उसके थोड़े ही दिन बाद जनरल मैनेजर भी नियुक्त हो गये। किन्तु बाबू जी का मन वहाँ नहीं लगता था। देश में राजनीतिक हलचल जितनी तेजी के साथ बढ़ती थी उतनी ही बेचैनी राजर्षि को होती थी और उनका मन राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होने का होता था।

१९२३-२९ तक का काल भारतीय राजनीति में बड़े उथल-पुथल का था। १९२७-२८ में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू कमेटी ने कांग्रेस से होमरूल की माँग करने की सिफारिश की थी। यह सिफारिश न तो गांधी जी को पसन्द थी और न कांग्रेस के युवा-वर्ग को ही। १९२८ के कलकत्ता अधिवेशन में अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू का खुलकर विरोध किया गया था। विरोधियों में पं० जवाहरलाल अग्रणी थे। १९२९ के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू चुने गये। टण्डन जी उन दिनों लाहौर ही में जनरल मैनेजर थे। पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पारित किया गया और संघर्ष का आवाहन किया गया। टण्डन जी के लिए इतना काफी था। १९२९ में उन्होंने जनरल मैनेजरी से त्यागपत्र दे दिया और फिर इलाहाबाद आकर संगठन में लग गये।

अब तक यह सिद्ध हो चुका था कि देश में एक बड़ी लड़ाई की तैयारी करनी है और यह लड़ाई तभी चल सकती है जब पूरा देश संगठित होकर सामने आये। पूरे देश के संगठित होने का अर्थ था कि देश का किसान मजदूर संगठित होकर संघर्ष में भाग ले। कांग्रेस का संगठन भावनात्मक था। उसकी जड़ें अभी पूरे देश के जन-मानस को उद्वेलित नहीं कर पायी थीं। राजर्षि ने लाहौर से लौटने के बाद किसान-संगठन का काम अपने हाथ में ले लिया और १९३० में केन्द्रीय किसान-संगठन की स्थापना की।

किसान संगठन की स्थापना से पूरे देश में एक नयी चेतना की लहर फैल गयी। बड़े जमीन्दारों और ताल्लुकेदारों को इस संगठन से सबसे अधिक खतरा दिखने लगा। गाँव-गाँव में किसान संगठन की नींव पड़ गयी। काश्तकार और छोटी जोत वाले किसानों और छोटे असामियों को लगने लगा जैसे उन्हें नया जीवन मिल रहा हो। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने इस आन्दोलन का दमन प्रारम्भ कर दिया। १९३० में ही टण्डन जी किसान आन्दोलन के सिलसिले में पहली बार बस्ती में पकड़े गये। मुकदमा चला और वहाँ उन्हें ३ मास की सख्त कैद और जुर्माना हुआ। जेल से छूटते ही १९३१ में गोंडा जिले में किसान आन्दोलन के सिलसिले में पुनःपकड़े गये। १९३२ में फिर गोरखपुर जेल में बन्द किये गये। इसी बीच गांधी जी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का असहयोग आन्दोलन भी चला और टण्डन जी के किसान आन्दोलन के कारण पूरे प्रदेश में यह आन्दोलन बड़ा सफल रहा।

अब तक अंग्रेजी सरकार यह समझ गयी थी कि अब वह भारत पर नृशंस शासन नहीं कर सकती। उसने साईमन कमीशन गठित करके १९३५ में भारत में एक संघीय शासन-व्यवस्था लागू करने के लिए संविधान बनाया। जब यह संविधान आया तो कांग्रेस ने इसका विरोध किया, किन्तु १९३० में काफी बहस के बाद यह निश्चय पाया कि वर्तमान संविधान के तहत प्रदेशों में सरकारें गठित कर ली जायँ लेकिन केन्द्र में इस संविधान का बहिष्कार किया जाय। इसके अनुसार बाबू जी को भी प्रादेशिक चुनाव के लिए मजबूर किया जाने लगा। पं० नेहरू की मन्शा केवल बाबू जी को चुनाव लड़वाना नहीं था। वह चाहते थे कि बाबू जी मुख्यमंत्री का पद भी ग्रहण करें। टण्डन जी को विधान सभा के चुनावों में कोई रुचि नहीं थी। वह चुनाव लड़ना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने पूरी तरह से इन्कार कर दिया। लोगों ने बहुत कहा, मनाया लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

श्री जवाहरलाल की बात भी टण्डन जी ने अस्वीकार कर दी। जिस दिन नामांकन-पत्र दाखिल करने की अन्तिम तिथि थी, उस दिन सबेरे ही श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित बाबू जी के घर पर आ गयीं और यह सत्याग्रह करके बैठ गयीं कि जब तक टण्डन जी नामांकन-पत्र नहीं भरेंगे, वह घर से जायेंगी ही नहीं। अन्त में श्रीमती पण्डित को सफलता मिली और बाबू जी अपने मित्रों और श्रीमती पण्डित के आग्रह को नहीं टाल सके।

१९३७ में चुनाव के बाद बाबू जी को विधान सभा का अध्यक्ष बनाने की बात आयी। क्योंकि प्रदेश के मुख्यमंत्री का पद बाबू जी ने अस्वीकार कर दिया था। अध्यक्ष-पद भी उन्हें स्वीकार नहीं था। उनका कहना था कि अध्यक्ष होने के बाद लोग यह चाहेंगे कि मैं कांग्रेस की सदस्यता का त्याग करूँ, पार्टी का काम न करूँ, यह मुझसे नहीं होगा। बाबू जी कांग्रेस संगठन को अध्यक्ष पद से अधिक मूल्यवान् समझते थे। लोगों को भी बाबू जी की बात से कठिनाई महसूस हो रही थी क्योंकि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का जो अध्यक्ष होता है वह निर्दलीय होने के लिए अपनी संस्था का सक्रिय कर्त्ता नहीं होता। साथ ही वह सदस्यता भी त्याग देता है। पहला-पहला मामला था, लोगों ने निश्चय किया कि यह आवश्यक नहीं कि हम ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का अन्धानुकरण करें। हम नयी परम्पराएँ भी बना सकते हैं। अतः सारे विधायकों ने मिलकर यह निश्चय किया कि विधान सभा के अध्यक्ष टण्डन जी ही हों और अध्यक्ष बनने से उन्हें न तो पार्टी की सदस्यता से त्यागपत्र देने की आवश्यकता है और न ही उन्हें सक्रिय रूप में काम करने से रोका जा सकता है। जब राजर्षि की सारी शर्तें मान ली गयीं तो उन्होंने अध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया। २९ जुलाई, १९३७ को समस्त विधान सभा सदस्यों ने एक मत से बाबू जी को अध्यक्ष चुना।

अध्यक्ष चुने जाने के बाद ही मुस्लिम लीग के सदस्य श्री लारी ने एक स्थगन प्रस्ताव द्वारा यह बात सभा के सामने उठायी और टण्डन जी का राजनीतिक दल का व्यक्ति ही के नाते विरोध किया। उनके स्थगन प्रस्ताव को यह कहकर बाबू जी ने रद्द कर दिया कि अध्यक्ष

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के विषय में कोई बहस सदन में नहीं हो सकती। किन्तु बाबू जी ने एक मार्मिक भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा—"मेरे भाई जो अपोजीशन में हैं अगर यह समझते हैं कि राजनीति यानी, सियासी मामलों में मेरा हिस्सा लेना ठीक नहीं है और साथ में वह यह भी समझते हैं कि मेरे राजनीति में हिस्सा लेने से मेरे ऊपर उनका भरोसा कम होता है तो उनसे मेरा कहना है कि बहुमत के बल पर मैं यहाँ नहीं रहूँगा। अगर सिर्फ अपोजीशन के लोग मुझसे यह कह दें कि आप पर मेरा भरोसा नहीं है तो मैं किसी से पूछने नहीं जाऊँगा, आज ही मेरा इस्तीफा चला जायगा। स्पीकरी या मिनिस्ट्री आदि छोटी चीज है, अपनी आत्मा का संतोष उनसे ज्यादा कीमती है।"

टण्डन जी के इस वक्तव्य के बाद सदन में सन्नाटा छा गया। राजर्षि ने कई बार विरोधी दल के लोगों से कहा लेकिन एक सदस्य भी विरोध में नहीं उठा।

१९३८ में कुछ लीगी सदस्यों ने फिर कानाफूसी करके इस बहस को उठाना चाहा कि टण्डन जी कांग्रेस से त्यागपत्र दें। जब टण्डन जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने एक बहुत अच्छा वक्तव्य दिया। उन्होंने कहा—"मेरा अनुमान है कि अपने जीवन में अब तक अपने और अपने अन्तःकरण के बीच कभी तीसरे पक्ष का दखल नहीं देने दिया है और भविष्य में भी ऐसी सम्भावना न होगी कि मैं ऐसा करने दूँ। मेरे लिए मेरा अन्तःकरण ही ईश्वर का शब्द है और वही मुख्य अधिकारी है जिसके सामने मैं नमता हूँ। दूसरा अधिकारी जिसके सामने मैं झुकता हूँ स्वयं यह सारा सदन है....."।

राजर्षि जी के इस मार्मिक भाषण का प्रभाव ऐसा पड़ा कि विरोधी दल के नेता ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। राजर्षि के व्यक्तित्व का यह पक्ष उस युग की नैतिकता और सार्वजनिक जीवन के आचरण की मर्यादा का कीर्तिमान प्रस्तुत करता है। आज की दशा दूसरी है। कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि स्पीकरी या मिनिस्ट्री छोटी चीज है या यह कि मैं अपने और अपने अन्तःकरण के बीच किसी तीसरे व्यक्ति की दखलअन्दाजी पसन्द नहीं करता या यह कि अन्तःकरण की आवाज ही मेरे लिए ईश्वर का शब्द है। मैं या इस शब्द के सामने झुकता हूँ या फिर सदन के सामने।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। इंग्लैण्ड ने युद्ध में भारत को बिना उसकी मर्जी के युद्ध में शामिल कर लिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इंग्लैण्ड के इस रवैये का विरोध किया। १४ सितम्बर, १९३९ में देश की समस्त विधानसभाओं के मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। गांधी जी ने १९४० में सत्याग्रह आरम्भ किया। १९४०-४१ तक में व्यक्तिगत सत्याग्रही के रूप में लाखों आदमियों ने लड़ाई का चन्दा उगाहने और युद्ध विरोधी नारे लगाकर जेल चले गये। टण्डन जी को भी इसी अपराध में २ अप्रैल, १९४१ को कैद किया गया। इस सिलसिले में लगभग ८ महीने फतेहगढ़ जेल में बन्दी रहने के बाद बाबू जी छोड़े गये। यह टण्डन जी की चौथी जेल-यात्रा थी।

जेल से छूटने के बाद टण्डन जी हिन्दी के ही काम में लगे रहे लेकिन अप्रैल, '४२ में वह पुनः कांग्रेस के कामों में लग गये। युद्ध तो छिड़ा ही था। ब्रिटेन भारत को उपनिवेश

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के रूप में दूसरे महायुद्ध का भागीदार बना चुका था। पूरा राष्ट्र ब्रिटेन की इस एक ताकत से अपमानित अनुभव कर रहा था। गांधी जी के बराबर यह बयान आ रहे थे कि हमको स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। बिना स्वतंत्रता के न तो भारत सही भागीदारी ही कर सकता है और न अपने भाग्य का फैसला ही कर सकता है। १९४० में रामनगर अधिवेशन में कांग्रेस ने गांधी जी को पूरा नेतृत्व देकर फैसला ले लिया था कि वह जिस प्रकार का आन्दोलन चाहें चलायें, सारा देश उनके साथ है। १९४० से १९४२ तक व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन तीव्र गति से बढ़कर अपना पहला दौर समाप्त कर चुका था। १९४२ के अप्रैल मास में कांग्रेस ने अन्तिम रूप से यह फैसला ले लिया था कि किसी-न-किसी रूप का समग्र आन्दोलन चलाना जरूरी है। ४ अप्रैल के प्रस्ताव में एक प्रकार की अन्तिम चेतावनी ब्रिटिश सरकार को दी गयी कि वह शीघ्रातशीघ्र अपना प्रशासन भारत से हटा ले और देश को स्वायत्तता प्रदान करे। ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स-मिशन भेजा। और भी प्रतिनिधि मण्डल आये, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। अन्त में ७ अगस्त, १९४२ को बम्बई में 'भारत छोड़ो' का नारा देकर गांधी जी ने देश को 'करो या मरो' का आवाहन किया। पूरे देश में आतंक की लहर फैल गयी, सारे देश में चोटी के सभी नेता पकड़ लिये गये। बाबू जी भी ८ अगस्त को 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन में पकड़े गये। बरेली जेल में बाबू जी को हार्निया की बीमारी हुई। वह २२ अगस्त, १९४४ को छोड़ दिये गये।

जेल से छूटने के बाद बाबू जी को लगा कि जैसे वह छोटी जेल से निकल कर एक बड़ी जेल में आ फँसे हैं। कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था घोषित की जा चुकी थी। सीधे ढंग से काम करना कठिन था और देश में दमन के फलस्वरूप जो निराशा फैली थी, उसे भी मिटाना जरूरी था। फलस्वरूप बाबू जी ने १० अक्टूबर, १९४४ को कांग्रेसजनों की एक बैठक कानपुर में बुलायी और संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि एसेम्बली की स्थापना की। बाबू जी उसके सभापति चुने गये। बाबू जी ने इतनी संलग्नता से काम किया कि चार महीने के भीतर हर जिले और क्षेत्र में प्रतिनिधि एसेम्बलियाँ बन गयीं।

इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन में भी उन्होंने भाग लिया। जयपुर अधिवेशन से ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कुछ नये विवाद खड़े हो गये थे। बाबू जी का पूरा समय इन्हीं दोनों संगठनों में बीतने लगा। बाबू जी ने प्रतिनिधि एसेम्बली के अतिरिक्त 'राजनीतिक पीड़ित सहायता कोश' भी स्थापित किया और कानूनी सुरक्षा की व्यवस्था की। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि लगभग आठ नवयुवक जिन्हें १९४२ के आन्दोलन में फाँसी की सजा मिली थी, उनकी जान बचायी। कानूनी आधार पर मुकदमा झूठा साबित हुआ। केवल एक को फाँसी मिली। १९४५ में कांग्रेस के सभी नेता छोड़ दिये गये।

१९४४ में बाबू जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' पर सिन्ध सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध का खुलकर विरोध किया। बाबू जी के इस रवैये से कुछ कांग्रेसजन नाराज भी हुए थे लेकिन बाबू जी अपने विचारों पर दृढ़ थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

१९४५ में ही आजाद हिन्द फौज के कैदियों की रिहाई का मामला भी उठा। बाबू जी ने उसके लिए धन संग्रह से लेकर कानूनी सहायता तक में दिन-रात एक कर दिया।

अंग्रेजी सरकार को १९४२ के आन्दोलन और उसके बाद की गतिविधियों से यह पूरा विश्वास हो गया कि वह अब इस देश पर शासन नहीं कर सकते। १९४६ में ब्रिटेन में मजदूर दल (लेबर पार्टी) का शासन था। उसने अपने संसद् सदस्यों का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत भेजा। भारत को स्वतंत्र करने की बातें तेज गति से चलने लगीं। इस प्रतिनिधि मण्डल से बात-चीत करके एक समझौता हुआ। फलस्वरूप संविधान सभा का संगठन करने का निश्चय पाया जो देश के लिए संविधान बनाये। अतएव तनाव का वातावरण थोड़ा ढीला हुआ। प्रादेशिक एसेम्बलियों के चुनाव फिर शुरू हुए।

१९४६ में प्रान्तीय एसेम्बलियों का जब चुनाव सम्पन्न हुआ तो बाबू जी फिर विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। इस बार एक ऐसी घटना घटी कि जिसने बाबू जी को मानसिक कष्ट पहुँचाया। बिना उनके पूछे कुछ उनके समर्थकों ने एक योजना बनायी जिसमें प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविन्दवल्लभ पन्त के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाकर उनकी जगह टण्डन जी को मुख्यमंत्री बनाने की योजना थी। एसेम्बली का अधिवेशन नैनीताल में होने वाला था। बाबू जी को जब पता चला तो उन्होंने बड़े-बड़े शब्दों में अपने समर्थकों को सचेत करते हुए कहा कि अपने किसी नेता के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाना अनुचित है। यदि वह अपनी हरकत से बाज नहीं आयेंगे और ऐसा कोई प्रस्ताव आया तो वह स्वयं उसका विरोध करेंगे। उधर पंत जी से मिलकर उन्होंने पंत जी को भी समझाया कि इन सदस्यों की शिकायतें सुनकर उनका समाधान करें।

देश की गतिविधियाँ संक्रान्ति के दौर से गुजर रही थीं। भयंकर नर-संहार से कांग्रेस-जनों का मनोबल टूट रहा था। परिणाम यह हुआ कि १४ जून, १९४७ को देश का विभाजन घोषित कर दिया गया। गांधी जी ने टण्डन जी से कहा कि वह अकेले पड़ गये हैं। बाबू जी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वह अकेले नहीं हैं, वह उनके साथ हैं लेकिन बावजूद उसके विभाजन रुक नहीं सका। १४ अगस्त, १९४७ को वह सम्पन्न हो गया। १९४७ के १५ अगस्त को केन्द्र में अन्तरिम सरकार का गठन हो गया।

अब तक समझौते के अनुसार भारत-विभाजन की बात पूरी तरह से निश्चित नहीं हो पायी थी। कांग्रेस विभाजन नहीं चाहती थी। लीग के सदस्यों ने अपनी बात मनवाने के लिए डाइरेक्ट ऐक्शन का नारा दिया, फलस्वरूप देश में साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये। उस समय बाबू जी ने बड़े ही गम्भीर रूप में लीग के कुचक्रों का सामना करने के लिए सम्पूर्ण भारतीयों का आवाहन करते हुए कहा कि यदि लीग इस शैतानी को जारी रखती है तो इसका मतलब है कि "हमें चर्खा छोड़कर बन्दूक उठाना पड़ेगा।" १९४७-४८ के उस भयंकर नर-संहार के बीच टण्डन जी के वक्तव्य इतने ओजपूर्ण और संवेदनशील होते थे कि वह भारतीय मानस को नपुंसक की भाँति मरने की अपेक्षा इस राक्षसी नर-संहार का सामना करने के लिए बल और साहस देते थे। बाबू जी के इन्हीं वक्तव्यों से जवाहरलाल नेहरू जैसे लोगों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

को बेचैनी होती थी। लेकिन टण्डन जी अपने मत में रंचमात्र भी परिवर्तन लाने के लिए तैयार नहीं थे।

इन्हीं विचारों का यह प्रतिफल था कि १९४७-४८ में बाबू जी ने भारतीय संस्कृति सम्मेलन नाम से एक नयी संस्था का ही गठन करने का संकल्प लिया। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य भारतीय जीवन-पद्धति और उसकी सांस्कृतिक आत्मा में निहित ओज, तेज और उत्स की भावना को जगाना था। टण्डन जी का यह कदम कांग्रेस के बहुत-से नेताओं को पसन्द नहीं था लेकिन टण्डन जी ने कभी उसकी परवाह नहीं की। साथ ही किसी में यह साहस भी नहीं था, जो उनके खरे तपस्वी व्यक्तित्व पर आरोप लगा सकता। बाबू जी भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। वस्तुतः बाबू जी जानते थे कि देश का विभाजन होकर रहेगा इसलिये उसके भयंकर परिणामों का सामना करने के लिए वह देश में एक सशक्त आत्म-विश्वासी चेतना का प्रवाह लाना चाहते थे। भारतीय संस्कृति सम्मेलन उसी की भूमिका थी।

१९४८ में बाबू जी पुनः उत्तर-प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। शायद राजनीतिक तरीके से यह बाबू जी के स्वतंत्र कार्य-कलापों पर एक प्रकार से प्रतिबन्ध लगाने की बात थी। लोग सोचते थे कि कांग्रेस अध्यक्ष होने के बाद हो सकता है उनके कार्यक्रमों में ढिलाई आये कि वह देश में बढ़ते हुए अराजक तत्त्वों के षड्यन्त्रों का सामना करने के लिए लोग संगठित हो सकें, लेकिन कुछ अतिरिक्त उत्साही लोगों को बाबू जी के यह साहसिक कार्य अच्छे नहीं लगते थे, लेकिन जिन दिनों की यह घटना है उन दिनों टण्डन जी एकदम दहकते अंगारे-से लगते थे। वाणी में भारतीय संस्कृति की प्रबल आस्था और सामने अराजक एवं साम्प्रदायिक तत्त्वों को मुँहतोड़ जवाब देने का संकल्प और इन दोनों के बीच राष्ट्रीयता की प्रखरता—तीनों स्वरूप अविस्मरणीय हैं।

१९४८ में ही विधान-निर्मात्री सभा का गठन हुआ। बाबू जी को उस सभा के सदस्य रूप में चुना गया। बाबू जी ने इस विधान निर्मात्री सभा में भी बड़ी कठिन भूमिका निभायी। 'विकृत विश्ववाद' के समानान्तर 'भारतीय राष्ट्रवाद' को स्थापित करना कठिन था। उस समय हवा पं० जवाहरलाल नेहरू के साथ थी। भारतीय अस्मिता का जो स्वरूप जवाहरलाल जी प्रस्तुत करना चाहते थे, उससे भिन्न पक्ष के प्रवक्ता टण्डन जी थे। दोनों दृष्टियों में मौलिक अन्तर था। वस्तुतः आज संविधान में बहुत-कुछ गूढ़ भारतीय तत्त्व का प्रवेश पाने का श्रेय राजर्षि टण्डन और उनके अनुयायियों को ही है।

विधान निर्मात्री सभा में यह विचार आमने-सामने तब उभर कर आया जब देश की राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार प्रारम्भ हुआ। एक ओर कांग्रेस में ही एक पक्ष ऐसा था जो हिन्दी की जगह कृत्रिम हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। दूसरी ओर हिन्दुस्तानी वाले दक्षिण के लोगों को उकसा रहे थे कि वह हिन्दी का विरोध करें। दूसरी ओर कुछ विदेशी मानस वाले लोग इस षड्यंत्र में लगे थे कि अंग्रेजी का वर्चस्व कायम रहे। तीसरी ओर साम्प्रदायिक मानसिकता वाले लोग इस कोशिश में थे कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न खटाई में पड़ा रहे और यथास्थिति बनी रहे। बाबू जी इन सब षड्यंत्रों का सामना

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अकेले कर रहे थे। वह चाहते थे कि हिन्दी को संवैधानिक स्तर पर राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो। इसके लिए बाबू जी ने दिन-रात एक कर दिया। स्थिति बड़ी नाजुक थी। यदि सावधानी के साथ भारत की अन्य भाषाओं को न सँभाला जाता या उनके गुणों को उजागर करते हुए हिन्दी की बात को न रखा जाता तो बात बिगड़ सकती थी। बाबू जी ने हिन्दी का प्रबल समर्थन करते हुए कभी भी किसी दूसरी भाषा की निन्दा नहीं की। उसी संघर्ष-काल में १४ सितम्बर का दिन राष्ट्रभाषा हिन्दी-दिवस के रूप में मनाया जाने लगा। बाबू जी के कठिन परिश्रमों का परिणाम तो यह निकला कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो गया, लेकिन अंग्रेजी के समर्थक इस षड्यंत्र में सफल हो गये कि अंग्रेजी तब तक बनी रहे जब तक हिन्दी में यह क्षमता नहीं आती कि वह समस्त प्राविधानिक कोश और अन्य व्यावहारिक मुहावरे नहीं बना लेती। इसी प्रकार अंकों के मामले में भी बाबू जी को सफलता नहीं मिली। अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के नाम पर अंग्रेजी अंक कायम रहे। आज तो हिन्दी के मामले को इन अंग्रेजीपरस्तों ने और भी नीचे ला दिया है। अब तो हिन्दी का व्यवहार उस समय तक नहीं हो सकता जब तक सर्वसम्मति से सभी प्रदेश इसकी माँग नहीं करते। यदि एक भी प्रदेश विरोध करता है तो यथास्थिति बनी रहेगी। दूसरे शब्दों में अंग्रेजी बनी रहेगी। आज हिन्दी को इस स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए राजर्षि जैसे ही एक व्यक्ति की आवश्यकता है।

१९४८ में ही टण्डन जी के प्रखर ओजस्वी भारतीय पक्षधरता को देखकर संत देवरहवा बाबा ने आपको 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। आज टण्डन जी के नाम के साथ राजर्षि की संज्ञा उनके पूरे व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में जितनी सार्थक हुई है उतनी और कोई संज्ञा नहीं है। इससे उनका राजनीतिक, नीतिज्ञ, सत्यनिष्ठ, तपस्वी और तेजस्वी व्यक्तित्व के सभी तत्त्व तो वर्तमान हैं ही, साथ ही वह राष्ट्रीय अस्मिता भी वर्तमान है जिसके लिए वह अन्त तक संघर्ष करते रहे।

१९४४-४८ तक का वर्ष बाबू जी के लिए बड़ी कठिनाइयों का रहा। इसी बीच हिन्दी के प्रश्न को लेकर बाबू जी में और गांधी जी में भी मतभेद हो गया। गांधी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन को हिन्दुस्तानी का समर्थक बनाना चाहते थे। टण्डन जी को यह स्वीकार नहीं था। टण्डन जी हिन्दी को अन्तिम रूप से राष्ट्रीय महत्त्व की भाषा मानते थे। गांधी जी हिन्दुस्तानी के समर्थक हो गये थे। इस बात को लेकर गांधी जी ने सम्मेलन की आजीवन सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। बाबू जी ने फिर भी आग्रह किया कि गांधी जी सदस्यता से त्यागपत्र न दें। लेकिन गांधी जी नहीं मानें। विवश होकर टण्डन जी ने गांधी जी को पत्र लिखा, वह उनकी निजी दर्द को तो व्यक्त करता ही है साथ ही उनकी निष्ठा और दृढ़ आत्म-विश्वास को व्यक्त करता है, क्योंकि गांधी जी के आदेश पर उन्होंने अपना पूरे-का-पूरा जीवन ही उत्सर्गित कर दिया था और वह उसके प्रति समर्पित भी थे। गांधी जी के प्रति टण्डन जी के मन में कोई दुर्भावना नहीं थी। वह अपनी विनम्रता, आदर्शवादिता और राजनीतिक मान्यताओं से एक इञ्च भी हटे बिना हिन्दी के प्रति वैसा ही कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहना चाहते थे। उन्होंने वही किया भी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी की प्रखर भारतीय संस्कृति की पक्षधरता के कारण कांग्रेस में एक प्रकार की उथल-पुथल-सी मचने लगी। श्री जवाहरलाल जी को टण्डन जी के भाषण और उनकी भारतीय संस्कृति सम्बन्धी बातें अप्रिय लगीं। उन्होंने टण्डन जी को एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें उनके विचारों से असहमति व्यक्ति की। टण्डन जी ने उसका विनम्र उत्तर भी दिया। टण्डन जी ने इसके पूर्व १४ जून, १९४७ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में भी भारत-विभाजन के प्रस्ताव का विरोध किया था। १९४८ में अपने स्वतंत्र विचारों के कारण बाबू जी कांग्रेस में चर्चा के विषय बन गये। सरदार पटेल ने बाबू जी पर दबाव डाल कर उन्हें कांग्रेस अध्यक्ष का प्रत्याशी बनाया। नेहरू तथा अन्य लोगों ने पट्टाभि सीतारमैया को बाबू जी के विरोध में खड़ा किया। टण्डन जी यह चुनाव लड़ना नहीं चाहते थे लेकिन सरदार पटेल के आग्रह को वह टाल भी नहीं सकते थे। चुनाव हुआ। टण्डन जी इस चुनाव में हार गये। टण्डन जी के विरोधियों ने टण्डन जी की इस पराजय से इस बात का प्रचार करना प्रारम्भ किया कि टण्डन जी के विचारों को देश नहीं चाहता। हार-जीत दोनों को समान रूप से लेने वाले टण्डन जी को इस प्रचार से दुःख हुआ। वस्तुतः इस प्रकार के राजनीतिक चुनावों में कई प्रकार के दबाव पड़ते हैं। टण्डन जी जानते थे कि उन दबावों के कारण ही वह हारे हैं और यह प्रचार उसके गलत नतीजे हैं। लेकिन उन्होंने उन प्रतिवादों का कोई उत्तर नहीं दिया।

१९५० में सरदार पटेल ने पुनः टण्डन जी का नाम कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया। टण्डन जी ने पुनः सरदार से आग्रह किया कि उनका नाम न प्रस्तावित करें किन्तु सरदार पटेल नहीं मानें। टण्डन जी को मजबर होकर उनका आदेश स्वीकार करना पड़ा। चुनाव होने के पूर्व ही टण्डन जी ने स्पीकर पद से त्यागपत्र दे दिया। नामांकन जब दाखिल हुआ तब जवाहरलाल जी ने टण्डन जी को लिखकर एक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने उनकी कई बातों से असहमति व्यक्त की। टण्डन जी ने जवाहरलाल जी से आग्रह किया कि वह अपने उन मतभेदों को कांग्रेस की आम सभा में प्रस्तुत करें। टण्डन जी ने यह भी लिखा कि—"मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि तुम चाहे जितनी कटु-से-कटु भाषा मेरे विरुद्ध प्रयोग करो, तुम मुझे अपने प्रति कटु न बना सकोगे और न इससे जो तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह है उसमें कोई कमी आयेगी। इतने वर्षों तक मैंने तुम्हें अपने छोटे भाई के रूप में स्नेह किया है। यद्यपि इस भावना का मैंने कभी दिखावा नहीं किया है।"

यह सब होने के बावजूद चुनाव हुआ और टण्डन जी विजयी हुए लेकिन जैसा कि हमने पहले ही लिखा है, टण्डन जी नेहरू को कार्यकारिणी में रखना चाहते थे और श्री नेहरू ने टण्डन जी की अध्यक्षता में कार्यकारिणी में रहना अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप कई और सदस्य जिनको वह कार्यसमिति में रखना चाहते थे, वह भी नहीं जा रहे थे। तमाम प्रयत्नों में असफल होने के बाद टण्डन जी ने त्यागपत्र दे दिया। १९५१ में त्यागपत्र देने के बाद राजर्षि को बड़ी उन्मुक्तता का अनुभव हुआ।

१९५२ में टण्डन जी इलाहाबाद क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य चुने गये। १९५३ में जवाहरलाल नेहरू ने बाबू जी को उड़ीसा का राज्यपाल बनाना चाहा लेकिन बाबू जी ने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उसे अस्वीकार कर दिया। १९५७ में टण्डन जी को राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया गया लेकिन अपनी दिन-प्रति-दिन अस्वस्थता के कारण टण्डन जी राज्य सभा में कोई विशेष योगदान नहीं दे सके। थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया।

२७ अप्रैल, १९६१ में टण्डन जी को 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित किया, गया। 'भारतरत्न' की उपाधि देकर भारत सरकार ने राजर्षि को गौरव नहीं प्रदान किया, वरन् यह राष्ट्र ही धन्य हुआ क्योंकि भारत की स्वतंत्रता और उसकी राष्ट्रीय अस्मिता का जो भी रूप आज देश का है उसमें राजर्षि के तप, सत्य, निष्ठा, त्याग और सेवाओं का महत्त्वपूर्ण योग है। हम कृतघ्न होते यदि राजर्षि जैसे 'प्रतीक-पुरुष' के प्रति श्रद्धा न व्यक्त करते। भारतरत्न पूरे राष्ट्र की संवेदना का प्रखर रूप था।

लगातार पाँच वर्षों की लम्बी बीमारी ने बाबू जी को जर्जर बना दिया था। अतिशय क्रियाशील व्यक्ति जब अपनी अस्वस्थता के कारण विवश होकर चारपाई से लग जाता है तो उसके स्वास्थ्य के सुधरने की आशा समाप्त हो जाती है। बाबू जी को मरते समय अनेक चिन्ताएँ थीं जिनमें से हिन्दी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भविष्य की चिन्ता मुख्य थी। काल की गति निश्चित और कठोर होती है। वह हमारी आकांक्षाओं के अनुसार नहीं गतिशील होता। उसका निर्मम प्रहार कुछ भी नहीं सोचता। राजर्षि के साथ भी उसका यही व्यवहार हुआ। पहली जुलाई, १९६२ को प्रयाग में उनका निधन एक प्रतीक-पुरुष के लम्बे संघर्ष का अन्तिम बिन्दु था। आज बाबू जी नहीं लेकिन उनके ये वाक्य आज भी हमारे कानों में गूंज रहे हैं—

"क्या जनतंत्र के इसी रूप को स्थापित करने के लिए अनेक देशभक्तों ने अपने जीवन का बलिदान किया था? उन सब का स्वप्न था कि अपना शासन स्थापित होगा या रामराज्य की स्थापना होगी, जिसमें सब अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे। कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग का शोषण नहीं करेगा और सब देशवासी सुख और सन्तोष का अनुभव करेंगे। यह स्वप्न कहाँ पूरा हुआ?"

३. अन्तःसाक्ष्य का वैभव

[**एक सर्वेक्षण**]

राजर्षि के चरित्र की एक सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अपने अन्तःकरण की आवाज़ के सामने किसी व्यक्ति या संस्था को महत्त्व नहीं देते थे। वह केवल दो के सामने नतमस्तक होते थे—एक अपनी अन्तःकरण की आवाज़ के सामने और दूसरे संसद् या विधान सभा के सामने। यह दोनों स्थितियाँ टण्डन जी के व्यक्तित्व के उस पक्ष को प्रस्तुत करती हैं जहाँ आध्यात्मिकता और जनतंत्र दोनों का समन्वय स्पष्ट देखा जा सकता है। अन्तःकरण की आवाज़ आध्यात्मिकता का परिचायक है, उस आत्मविश्वास का परिचायक है जो समस्त नैतिक और सामाजिक चेतना का स्रोत है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ठीक उसी प्रकार जनतंत्र में उनकी कितनी गहरी आस्था थी, उसका परिचय हमें उनके इस कथन में मिलता है जहाँ वह लौकिक स्तर पर नितान्त व्यक्तिगत को लोकमत के समक्ष उत्सर्गित करते हैं। टण्डन जी लोकमत को यद्यपि ईश्वर का पर्याय नहीं मानते थे फिर भी ईश्वर के बाद लौकिक स्तर पर लोकमत से बड़ी कोई चीज़ उन्हें स्वीकार नहीं थी।

बहुत-से लोग समझते हैं कि लोकमत का अर्थ बहुमत है लेकिन टण्डन जी बहुमत को स्वीकार करते हुए अल्पमत के सबसे बड़े संरक्षक थे। इसका परिचय उन्होंने अपने विधान सभा की अध्यक्षता में दिया है जहाँ उन्होंने अनेकों बार अल्पमत को ललकार कर कहा कि यदि उनका विश्वास नहीं है तो वह मात्र बहुमत के आधार पर अध्यक्ष नहीं बना रहना पसन्द करेंगे। टण्डन जी अपने आचरण में केवल बहुमत को ही स्थान नहीं देते थे, वह अल्पमत के समर्थक न होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के कायल थे।

इन्हीं दोनों तत्त्वों से प्रेरित उनकी समस्त तपोनिष्ठ जीवन-पद्धति विकसित थी। आध्यात्मिक वे इतने थे कि कभी किसी स्तर पर कोई समझौता करते ही नहीं थे। लौकिक स्तर पर वह बहुमत का इतना आदर करते थे कि उसके समक्ष वह नतशिर रहते थे लेकिन वैयक्तिक स्वतन्त्रता के इतने बड़े समर्थक थे कि वह अल्प-से-अल्प मत की सुरक्षा करना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते थे।

राजर्षि के व्यक्तित्व का एक और स्वरूप उनकी जातीय अस्मिता के संघर्ष में मिलता है। तपस्वी का रूप उनके व्यक्तिगत साक्षात्कार का रूप है। राष्ट्रीय नेता का रूप उनके उस आन्तरिक निष्ठा का बाह्य प्राकट्य है। राजर्षि का सार्वजनिक चरित्र हमेशा एक बात पर बल देता है और वह यह कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र स्पष्ट दिखे। यही उनके सामाजिक जीवन की निधि थी, यही उनकी नैतिकता की माँग थी। उनके समस्त आन्दोलन या उनकी सम्पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टि में यह बात हमें प्रतिक्षण देखने को मिलती है। चाहे वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हो, या राष्ट्रीय कांग्रेस सेवा दल की स्थापना हो, चाहे वह ग्रामीण महिला विद्यालय का संगठन हो, या चाहे वह भारतीय 'संस्कृति' के लिए एक विराट् आन्दोलन छेड़ने की बात हो। इन सब में उनकी एक ही आकांक्षा थी और वह यह कि भारतीय चरित्र, भारतीय जीवन सर्वाङ्ग और सम्पूर्ण जीता-जागता दिखे। कभी-कभी इतिहास, पुराण, परम्परा, दर्शन, साहित्य की जब वह बात करते थे, हिन्दी साहित्य, हिन्दी भाषा, नागरी लिपि, नागरी अंक की जब वह बातें करते थे तो उसके पीछे कोई वैयक्तिक जिद्द नहीं थी। उनके पीछे माँग थी, उसी राष्ट्रीय अस्मिता और जातीय पहचान की इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति की। उनके वैयक्तिक तप और निष्ठा की वह बाह्य अभिव्यक्ति थी जो पूरी जाति और पूरे राष्ट्र को संश्लिष्ट इकाई के रूप में देखना चाहती थी। वह स्वयं राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय मान्यताओं के आधार पर एक स्वशासित मर्यादित राष्ट्रीय एकता के प्रतीक थे। अपने उसी भाव को वह राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करना चाहते थे।

राजर्षि मूलतः नैतिकता के पक्षधर थे। निजी जीवन में तो वह उस नैतिकता को आचरण के रूप में व्यवहार करते ही थे, साथ ही बाह्य रूप में राष्ट्रीय चरित्र को वह

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वस्थ, संश्लिष्ट और अनुशासित रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इच्छा-शक्ति का स्वस्थ विकास तभी होता है जब आचरण में मर्यादाओं के प्रति आदर और मन में नैतिकता से द्रवित होने वाली शक्ति है। एक छोटी-सी घटना है। राजर्षि जब पहली बार १९३६ में उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये तब कुछ समस्याएँ आयी थीं। बाबू जी ने साफ कहा था कि विधान सभा की अध्यक्षता वह तभी स्वीकार करेंगे जब उनके सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में आचरण करने की स्वतन्त्रता उन्हें मिलेगी। यह बात स्वयं में विरोधाभास प्रकट करती थी। ऐसा लगता था कि जैसे इन दोनों बातों का निर्वाह एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं होगा। किन्तु जब कांग्रेस पार्टी ने उनकी यह बात मान ली और वह विधान सभा के अध्यक्ष चुन लिये गये तो बाद में मुस्लिम लीग के सदस्यों ने आपत्ति की। पहले तो उन्होंने काना-फूसी का आन्दोलन चलाया और फिर वह मुखर भी हो उठे। बात धीरे-धीरे राजर्षि तक पहुँची। दूसरे दिन राजर्षि ने एक वक्तव्य दिया कि विधान सभा के एक भी सदस्य के मन में यदि उनके प्रति संदेह है तो वह अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे देंगे। उनके इस वक्तव्य से कांग्रेस पार्टी के सदस्यों में खलबली मच गयी क्योंकि प्रभाव मूलतः बहुमत और अल्पमत पर चलता है। उसमें यदि एक व्यक्ति अविश्वास भी रखे तो उसको महत्त्व नहीं दिया जाता। राजर्षि के इस वक्तव्य ने कांग्रेस पार्टी के सामने समस्या पैदा कर दी। लोगों ने बहुत समझाया कि राजर्षि को ऐसा वक्तव्य नहीं देना चाहिए, इसका अनुचित लाभ विरोधी दल के लोग उठायेंगे। राजर्षि ने कहा कि जो भी हो आदर्श अध्यक्ष तो वही होगा जिसके आचरण के प्रति किसी के मन में कोई भी शंका न हो। बाबू जी के इस वक्तव्य को लेकर पहले तो लीगी सदस्य बहुत प्रसन्न हुए लेकिन जब यह सोचने लगे कि राजर्षि का विकल्प कौन हो सकता है तो कठिनाई में पड़ गये। अन्त में हार कर स्वयं लीग के सदस्य ही इस बात का प्रचार करने लगे कि उनका पूरा विश्वास राजर्षि में है। देखने में यह घटना छोटी लग सकती है किन्तु इसमें राजर्षि के उस नैतिक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है जो उनके चरित्र का अविभाज्य अंग था। नैतिकता सदैव वैयक्तिक निष्ठा की वस्तु है, तभी वह नयी मर्यादाएँ भी स्थापित कर पाती है। राजर्षि मूलतः इसी नैतिकता के प्रति तन-मन-धन से प्रतिबद्ध थे। यही कारण है कि जय-पराजय, हार-जीत, सफलता-असफलता की सम्पूर्ण अवधारणा ही बदल जाती है। बाबू जी के चरित्र में यह स्थितप्रज्ञता थी कि वह इनके क्षणिक उल्लास और हर्ष अथवा विषाद से विचलित नहीं होते थे। यह उनके निजी और सार्वजनिक जीवन का अविभाज्य अंग था। यही उनकी इच्छा-शक्ति का सम्बल भी था।

भारत की राष्ट्रभाषा को लेकर जो बहस राजर्षि और राष्ट्रपिता बापू में उठी और हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर जो विवाद उठा इससे सभी परिचित हैं। प्रश्न निष्ठा का था। एक ओर राष्ट्रपिता बापू दूसरी ओर राजर्षि टण्डन जी। गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के एक सैनिक के रूप में राजर्षि टण्डन का व्यक्तित्व—गांधी जी से असहमत होना और फिर भी उनका भक्त बना रहना, दोनों स्थितियाँ सामान्य व्यक्ति के लिए निभाना कठिन था। गांधी जी चाहते थे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दुस्तानी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर ले। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के लोग गांधी जी के उस आग्रह को अनुचित मानते थे। हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं विकास में कार्यरत हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी बापू के इस आग्रह से क्षुब्ध था। गांधी जी सम्मेलन के आजीवन सदस्य थे। उनकी प्रेरणा से हिन्दी को बल मिला था। हिन्दी-प्रचार की अनेक दिशाएँ बापू के नेतृत्व में विकसित हुई थीं। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा; दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा सभा, मद्रास; राष्ट्रभाषा सभा, आसाम आदि संस्थाएँ खड़ी थीं, बापू की बात न मानने का अर्थ था हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अस्तित्व को चुनौती। गांधी जी के लिए उस समय हिन्दुस्तानी का आग्रह अनेक कारणों से उनके विश्वास का अंग बन चुका था। इधर टण्डन जी के लिए भी हिन्दी का प्रश्न उनके विश्वास का प्रश्न था। सारा भारत राजर्षि टण्डन और गांधी जी के इस विचार-भेद का उत्सुकता के साथ अध्ययन कर रहा था। गांधी जी ने अपने विश्वास को कार्यान्वित करने के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। इसकी सूचना भी अखबारों में छप गयी। राजर्षि टण्डन के लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। गांधी के व्यक्तित्व के सामने संसार की विभूतियाँ नतमस्तक थीं। देश में उस समय गांधी जी से कोई असहमत हो ही नहीं सकता था। अखबारों में यहाँ तक खबरें छप गयीं कि राजर्षि ने गांधी जी की बात मान ली किन्तु सब के अन्त में जब राजर्षि और गांधी जी का पत्राचार छपा तो लोगों की आँखें खुल गयीं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से राजर्षि ने बड़े विनम्र स्वर में खेद के साथ गांधी जी का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। सामान्य रूप से बात आयी-गयी, खत्म हो गयी लेकिन समाज ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि इस भेद के कारण राजर्षि और गांधी का तनाव बढ़ेगा, राजर्षि का राजनैतिक जीवन समाप्त हो जायगा। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक अनुमान लगा लिया कि बाबू जी कांग्रेस से त्यागपत्र देकर कोई अलग राजनीतिक दल बनायेंगे। कुछ राजनीतिक पार्टियों ने तो उनको अपने दल में वरिष्ठ नेता का स्थान देने की बातचीत भी शुरू कर दी, लेकिन राजर्षि की दृष्टि स्पष्ट थी। गांधी जी के त्यागपत्र को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस त्यागपत्र से और स्वतंत्रता-संग्राम से कोई मतलब नहीं। राजर्षि ने गांधी के नेतृत्व को कभी चुनौती नहीं दी। गांधी जी के प्रति उनके मन में वही आदर रहा जो पहले था। यह एक नमूना था राजर्षि की नैतिक शक्ति का। सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं थी कि गांधी जी जैसे व्यक्ति से असहमति व्यक्त करके भी राष्ट्रीय कांग्रेस में अपना वही वर्चस्व बनाये रखे जो कि उनका था।

राजर्षि के पास जो भी बल था वह उनके तप का था और इसी के आधार पर उनमें यह नैतिक साहस भी होता था कि वह बड़ी-से-बड़ी चुनौतियों के सामने भी नहीं झुकते थे। यह न झुकना किसी अहं का द्योतक नहीं था। यह मूलतः उस विश्वास के आधार पर विकसित होता था जो उनके चरित्र में निष्ठा और विश्वास के रूप में थी। बात १९५० की है। राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद का चुनाव होने वाला था। राजर्षि को उस पद के लिए प्रत्याशी बनाया गया। राजर्षि कई मुद्दों पर कांग्रेस की नीतियों से असहमत थे लेकिन एक अनुशासित व्यक्ति के नाते वह सारा अनुशासन निभाते थे। देश का विभाजन, शरणार्थी और इसी प्रकार के कई

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पूर्व प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू और राजर्षि टण्डन विदेशी अतिथियों के साथ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अन्य प्रश्न थे। तत्कालीन प्रधान मंत्री को राजर्षि का प्रत्याशी होना रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने लिखा कि आप साम्प्रदायिक और पुनरुत्थानवादी विचारधारा के प्रतीक बनते जा रहे हैं, इसलिए आपका कांग्रेस अध्यक्ष-पद के लिए प्रत्याशी होना उन्हें पसन्द नहीं है। राजर्षि ने स्पष्ट रूप से उत्तर दिया था कि वह कांग्रेस अध्यक्ष चुने जाते हैं तो उसकी उन्हें कोई बड़ी प्रसन्नता नहीं होगी और यदि नहीं चुने जाते तो कोई दुःख नहीं होगा। उन्होंने जवाहरलाल को स्पष्ट शब्दों में लिखा कि वह उनकी जितनी कटु-से-कटु आलोचना करना चाहें, करें, उससे उनके मन में जो जवाहरलाल के प्रति सद्भाव है उसमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं आयेगा। इसी के साथ उन्होंने जवाहरलाल को यह भी लिखा कि छोटा भाई होने के नाते उनको अधिकार है कि वह जो चाहें उनके बारे में सोंचे, कटु भी हो लें किन्तु बड़ा भाई होने के नाते उसकी कोई प्रतिक्रिया उनके मन पर नहीं पड़ेगी।

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद का चुनाव भी बाबू जी के नैतिक साहस का एक प्रतीक था। साथ ही उनके विशाल व्यक्तित्व में राष्ट्र के हित की इतनी गहरी चिन्ता थी कि वह उसके लिए अपने समय के सबसे बड़े पद का भी त्याग कर सकते थे। बात बहुत साधारण-सी थी। बाबू जी ने अध्यक्ष चुने जाने के बाद जो कार्य समिति चुनी, उसमें जवाहरलाल नेहरू का भी नाम था। पं० जवाहरलाल ने राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की अध्यक्षता में कार्यकारिणी का सदस्य होना स्वीकार नहीं किया। उनके न स्वीकार करने से कई अन्य सदस्यों ने भी स्वीकृति नहीं दी। सामान्य रूप से यदि वह चाहते तो दूसरी कार्यकारिणी गठित करके काम चलाते, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि इससे कांग्रेस में टूट आ जाती। काफी मनाने-जनाने के बाद जवाहरलाल जी ने तीन बार स्वीकृति दी। तब सरदार पटेल जीवित थे और राजर्षि को पटेल का पूरा सहयोग प्राप्त था। १५ दिसम्बर, १९५० को जब सरदार पटेल का देहान्त हो गया तो फिर जवाहरलाल जी ने पूरी कार्य समिति को फिर से गठित करने का आग्रह किया। राजर्षि के लिए यह अग्नि-परीक्षा का समय था। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के कार्यसमिति के पुनर्गठित किये जाने के प्रस्ताव को नहीं माना। फलस्वरूप जवाहरलाल जी ने कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। बाबू जी के सामने दो ही विकल्प थे--पहला यह कि वह जवाहरलाल जी का त्यागपत्र स्वीकार करके अपनी पुरानी कार्यसमिति से काम करें या पं० जवाहरलाल नेहरू की बात मानकर नयी कार्यसमिति का गठन करें। बाबू जी को दोनों कार्य अरुचिकर था। उन्होंने निर्णय लिया कि वह स्वयं कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे देंगे। उनका मत था कि बिना नेहरू के राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी का कार्य चलाना सम्भव तो है किन्तु उचित नहीं है। वह जवाहरलाल के व्यक्तित्व को देश की राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण मानते थे इसलिए वह उनके बिना कोई कार्यसमिति गठित भी नहीं करना चाहते थे। फलस्वरूप उन्होंने १९५१ में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से अपना त्यागपत्र दे दिया। आज के राजनीतिक चरित्र का जो आदर्श है उसमें बाबू जी का यह निर्णय कुछ लोगों को अच्छा नहीं लग सकता और न ही वह इसका औचित्य ही बता सकते हैं किन्तु जिस खेवे के राजर्षि थे उसमें उनका यह निर्णय उनके

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आत्मबल, शक्ति, आदर और नैतिक साहस का कार्य माना जायगा। आज तो राजनीति में ऐसा कोई स्तर ही नहीं रह गया।

नैतिकता का आधार आस्तिक के लिए होता है। आस्तिक का अर्थ केवल एक पक्ष नहीं, दोनों पक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करना होता है। राजर्षि एक आस्तिक व्यक्ति थे। वह किसी भी वस्तु के दोनों पक्षों को स्वीकार करके अपना नैतिक निर्णय लेते थे। राजर्षि के तीनों निर्णयों में इस आस्तिक नैतिकता के दर्शन होते हैं। विधान सभा की अध्यक्षता में अल्पसंख्यक मुस्लिम लीग के सदस्यों की सत्ता उन्होंने स्वीकार की थी। ठीक उसी प्रकार अपनी तुलना में गांधी जी की महत्ता भी उन्होंने स्वीकार की थी। उसी प्रकार कांग्रेस अध्यक्ष-पद के त्याग से उन्होंने अपने छोटे भाई श्री जवाहरलाल की वास्तविकता भी स्वीकार की थी। अपने सिद्धान्तों और नियमों में जीवन को बाँधने के साथ दूसरे पक्ष को भी ध्यान में रखना नैतिक व्यक्ति के आचरण की पहली परख हो सकती है।

मुझे अपने जीवन की एक घटना याद आती है—१९४१ की। श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित को नैनी बाजार में युद्ध के विरुद्ध व्यक्तिगत सत्याग्रह करना था। सहसा वह अस्वस्थ हो गयीं। उनकी जगह मुझे और पं० टीकाराम त्रिपाठी जी को भेजा गया। हम लोग गये। हमने भाषण दिया किन्तु पकड़े नहीं गये। कारण क्या था हमें नहीं मालूम लेकिन दो दिन बाद नगर के पुलिस अधिकारियों ने एक बयान निकाला जिसमें लिखा गया था, कि दोनों जन कैद नहीं हुए, फरार हैं। टण्डन जी ने यह खबर पढ़ी तो मुझे बुलवाया। मैंने उन्हें बहुत समझाया कि हम दोनों में से किसी की इच्छा फरार होने की नहीं थी। हम तो वहाँ मीटिंग के बाद रात में १२ बजे तक थे। हमारा भागने का या फरार होने का कतई इरादा नहीं था। लेकिन चूँकि मैं समाजवादी भी था और उस समय व्यक्तिगत सत्याग्रह का वैसा समर्थक नहीं था, इसलिए टण्डन जी को लगता था कि कहीं मैंने उनका अनुशासन भंग किया है। मर्म की बात यह है कि टण्डन जी आजादी के बाद तक मुझे देखते ही इस घटना की याद दिलाते थे। टण्डन जी ने कहा भी कि जब सत्याग्रह किया था तो जेल जाना भी जरूरी था। एक लम्बे अन्तराल के बाद मैं उनके दिमाग से निकाल पाया कि दोष मेरा नहीं, पुलिस का है।

वैसे ये घटनाएँ सबके जीवन में आती हैं और ऐसे अवसरों पर जो हम करते हैं वह हमारा नैतिक दायित्व होता है। टण्डन जी की नैतिकता आचरण में इतनी खरी उतरी थी कि वह अनैतिकता की कल्पना भी नहीं कर पाते थे। उनके जीवन की असली कसौटी यही थी। जो नैतिक था वही राजर्षि के लिए सत्य भी था, वही धर्म भी था और वही उनकी राजनीति भी थी। इसीलिए विनोबा ने भी उनकी मूर्ति अनावरण के समय कहा था :—

"....टण्डन जी की जो विविध सेवाएँ—राजनीतिक क्षेत्र में, रचनात्मक क्षेत्र में और हिन्दी के क्षेत्र में थीं, उससे आकर्षित होने मैं यहाँ नहीं आया हूँ। मैं आया हूँ वह जो टण्डन जी की सत्यनिष्ठा थी, वह जो उनका महान् गुण था उससे मेरा हृदय खिंच गया। मैं मानता हूँ एक मामले में जो गांधी जी की निष्ठा थी—सत्य-निष्ठा—वैसे ही टण्डन जी की निष्ठा थी।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजनीति के क्षेत्र में राजर्षि टण्डन जिस सत्य-निष्ठा से आन्दोलित होकर आये थे उनका आधार, उनकी नैतिकता और स्वधर्म से प्रेरित भावना थी। उन्हें जब उनकी सेवाओं के लिए १९६१ में 'भारतरत्न' की उपाधि देने की बात की गयी और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उस समय उनके पास उनकी अनुमति और स्वीकृति के लिए पत्र लिखा तो टण्डन जी ने उसको बड़ा सुन्दर उत्तर दिया था। उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने कोई ऐसा अनोखा कार्य नहीं किया है जिसके उपलक्ष्य में मुझे यह सम्मान दिया जाय। मैंने केवल मात्र अपने कर्त्तव्य और स्वधर्म का पालन किया है।" स्पष्ट है टण्डन जी के लिए राजनीति मात्र कर्त्तव्य और स्वधर्म की वस्तु थी। कर्त्तव्य होने के नाते वह कर्म की प्रेरणा देती थी। स्वधर्म होने के नाते वह उन्हें नैतिक स्तर पर बल देती थी। उनकी नैतिकता उनके कर्त्तव्य का स्वरूप बनाती थी और उनका कर्त्तव्य उन्हें बड़े-से-बड़े खतरे को भी मोल लेने के लिए शक्ति देता था। टण्डन के स्वधर्म में उनका सब-कुछ आ जाता था। राजनीति उस स्वधर्म का अंश था। स्वधर्म प्रकृतिजन्य वस्तु है और व्यक्ति के स्वभाव और प्रकृति से उसका जन्म होता है। राजर्षि का व्यक्तित्व, उनकी प्रकृति अन्याय से संघर्ष करने, पीड़ितों की निःस्वार्थ सेवा करने और रचनात्मक दृष्टि सार्वजनिक जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए सदैव तत्पर रहने वाला था। जिस युग में टण्डन जी थे, उसका सबसे बड़ा अन्याय था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत जीवित रहना और उनके शोषण का शिकार होना। इससे लड़ने का एक ही माध्यम था और वह था कांग्रेस का सदस्य होकर उसके आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर उसके सामूहिक यज्ञ में भाग लेना। टण्डन जी कांग्रेस के सदस्य, उसके सक्रिय कार्यकर्त्ता किसी यश, किसी पद या किसी दिवास्वप्न से मोहित होकर नहीं थे। वह उसमें स्वधर्म से प्रेरित अपनी प्रकृति से अनुप्राणित और कर्त्तव्य से प्रेरित थे। टण्डन जी की राजनीति को केवल देश के घटना-क्रम से जोड़कर देखना उनके व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन करना नहीं होगा। इसके लिए उनके अन्तर्जगत् और उनके आत्म-संघर्ष को जानना जरूरी है। टण्डन जी की सामाजिक स्थिति एक मध्यम-वर्ग के परिवार की थी। उनकी प्रकृति तपस्वी की थी किन्तु रजस् भाव से सम्पादित थी। उनकी निष्ठा लोक में थी, इसलिए वह दृढ़प्रतिज्ञ भी थे। वह इहलौकिकता में भी उतना ही विश्वास करते थे जितना परलोक में। इन सब का समन्वित रूप ही उनका राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यक्तित्व बनाता था। पद का लोभ उनके लिए गौण था। स्वाभिमान इतना था कि अपना दुःख किसी से कहते भी उन्हें संकोच होता था और कर्त्तव्यपरायणता इतनी थी कि वह घर-फूंक तमाशा भी देख सकते थे। बाबू जी अक्सर अपने सार्वजनिक भाषणों में कबीर की वाणी भी सुनाया करते थे। उनका प्रिय नारा था :—

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूंकै आपणा चलै हमारे साथ॥

बाबू जी ने जीवनपर्यन्त अपनी इस सूक्ति के अनुसार ही जीना पसन्द किया। यही उनकी जिजीविषा थी। वह चाहते तो लौकिक सुख-सम्पत्ति इतनी अर्जित कर सकते थे कि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वह क्या, उनके बाद कई पुश्तों तक सुख और सम्प्रभुता का जीवन व्यतीत करते। लेकिन उन्होंने उस जीवन को स्वीकार नहीं किया।

राजर्षि के जीवन के जिस भी सन्दर्भ को हम उठायें, हमें स्पष्ट रूप से उसके दो स्वरूप मिलते हैं––एक व्यावहारिक और एक निजी। जहाँ सार्वजनिक और निजी जीवन में बाबू जी थोड़ा भेद लाना नहीं चाहते थे वहीं वह निजी और व्यावहारिक में भेद करते थे। टण्डन जी के लिए जो निजी था वह हम सब के लिए व्यावहारिक नहीं था। जैसे––वह बिना नमक के ही जी लेते थे, जैसे दूध उन्होंने पिया ही नहीं, घी वह खाते ही नहीं थे, शक्कर उन्होंने छोड़ दी थी, चमड़े का जूता वह पहनते ही नहीं थे। स्वाद पर उन्होंने पूर्ण विजय पा लिया था। उनकी विशेषता यह थी कि वह कभी अपने उस निजी जीवन-पद्धति को किसी पर आरोपित नहीं करते थे। बहुत-से लोगों को तो इसका आभास भी नहीं मिल पाता था कि टण्डन जी इतने यम और नियम का पालन भी करते हैं। यह तो धीरे-धीरे लोगों को पता चला कि टण्डन जी अपने जीवन में इन नियमों का पालन करते हैं।

व्यावहारिक स्तर पर टण्डन जी सब के साथ समान और सहृदयता का व्यवहार करते थे। हमेशा दूसरों की रुचि, विचार और मान्यता का आदर करते थे। सार्वजनिक और वैयक्तिक दोनों की चिन्ता करते थे। इसी प्रकार वह स्वयं चाहे जैसे रह लें, लेकिन जब व्यावहारिकता पर आते थे तो हमेशा इस की चिन्ता करते थे कि दूसरा जैसा रहता है उसे वैसा ही रहने का अवसर मिले।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड २

राजर्षि टण्डन रचनावली

॥ भाषा का सवाल ॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मातृभाषा का स्वरूप

⊙⊙

मातृभाषा क्या है ? यह सजीव शब्दों का कोष है। यह सुहावने चिह्नों का भाण्डार है। यह जाति के जीवन की साक्षात् मूर्ति है। यह जातीय शक्ति की वह प्रतिमा है, जो जाति के विचारों और उसके हृदयस्थित भावों को सुरक्षित रख कर उन्हें दूसरों पर प्रकट करती है। हमारे इतिहास, विचार और प्राचीन साहित्य-भण्डार की यह कुञ्जी है। इससे भी अधिक यह उस प्रभावशाली साहित्य का दिग्दर्शन कराती है, जो मानवीय विचार और प्रबल वासनाओं से परिपूर्ण है, जिसे भुलाना मानो आत्मघात करना है। हमारा भावी साहित्यिक और मानसिक गौरव उसी मातृभाषा के भविष्य पर निर्भर है।

हमारी सन्तान के लिए मस्तिष्क की स्फूर्ति को बढ़ाने का उपाय मातृभाषा के अध्ययन से बढ़कर दूसरा नहीं है। यह भाषा बड़ी विस्तृत और सुन्दर है। ऐसी शुद्ध, आदर्श और रसीली भाषा में आत्मबल की जैसी कुछ शिक्षा हो सकती है, वैसी अन्य किसी भी भाषा से होनी असम्भव है। यह भाषा हृदय को उत्तेजित करती है, मन की भावना को दृढ़ बनाती है, आत्मा को शुद्ध रखती है। इसके मनन से विचार ऊँचे होते हैं। मन और आत्मा में शक्ति का संचार होता है। यह हमें अपने राष्ट्रीय गौरव की ओर आकर्षित करती है। आत्मगौरव, आत्म-शक्ति और भक्तिभाव के अंकुरों को उत्पन्न करती है। गिरी हुई जाति के हृदय में यह जातित्व के भावों को उपजाती है और सांसारिक क्षेत्र में उसके लिए उन्नति का पथ परिष्कृत करती है। **अतएव राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय भावों के प्रचार का प्रभाव प्रतिदिन पारिवारिक और सामाजिक जीवन पर पड़ना राष्ट्रीय जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।**

राष्ट्रीयता के भाव रखनेवालों में कदाचित् ही कोई ऐसे हों जिन्हें मातृभाषा पर प्रगाढ़ ममता न हो, जिन पर उसका बलिष्ठ और उत्साहवर्द्धक प्रभाव न पड़ा हो एवं जो उसके मनोहर मोहनमन्त्र के वश में न आ गये हों। मातृभाषा उनके स्वभाव का एक अंग, उनके हृदय का प्रतिबिम्ब और उनके शरीर का एक वह भाग है जो शारीरिक सौन्दर्य का प्रधान कारण है।

मातृभाषा के गर्भ में जातीय बुद्धि को पूर्ण और उच्च-प्रकृति बनाने की शक्ति होती है। उसके द्वारा जातीय मानसिक शक्ति का विकास होता है, उसमें जातीय ज्ञान के क्षितिज और भूमण्डल को नापने की शक्ति होती है। मातृभाषा के प्रचार से सदाचार को किसी विचित्र तथा विलक्षण मानसिक प्रभाव के कारण अत्यन्त लाभ होता है। उसने अपने मानसिक साम्राज्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में अगाध शब्द-भण्डार उत्पन्न किया है, शक्ति की भरपूर मात्रा उसमें भरी हुई है, सौन्दर्य तथा उच्च विचारों की कमी उसमें नहीं है। उसके द्वारा हम जो कुछ सीख सकते हैं, वह संसार की अन्य किसी भाषा के द्वारा नहीं सीख सकते। नवयुवकों के मस्तिष्क में विदेशी भाषा कदापि वह भाव उत्पन्न नहीं कर सकती जो उनकी मातृभाषा करती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत की आधुनिक पाठशालाएँ हैं, जहाँ विदेशी भाषा में इतिहास और भूगोल रट-रट कर विचारे नवयुवक अस्वास्थ्य और दुर्बलता का आखेट हो रहे हैं।

विदेशी भाषा के द्वारा अपनी जातीय तथा मानसिक शक्तियों के प्रादुर्भाव का विचार सर्वथा असम्भव है। किसी भाषा का साहित्य कितना ही सर्वाङ्गपूर्ण क्यों न हो, परन्तु वह मातृभाषा के साहित्य से अधिक आवश्यक और आदरणीय नहीं हो सकता। सर्वसाधारण की उन्नति मातृभाषा ही के सरल साहित्य के द्वारा हो सकती है। वे उसी से लाभ उठा सकते हैं, जो उनकी मातृभाषा में है। उदाहरण के लिए—कल्पना कीजिए कि संसार की भाषाओं में आज अंग्रेज़ी भाषा का आसन सर्वोच्च है, उसका साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण है, परन्तु भारत के निवासी—यद्यपि भारत में उसका प्रचार है—उससे यथेष्ट लाभ उठाने में असमर्थ हैं। उन अंग्रेज़ी के उच्च शिक्षितों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो अंग्रेज़ी के प्रकाण्ड साहित्य से लाभ उठा सकते हैं। सर्वसाधारण उससे तभी लाभ उठा सकते हैं जब वे ही ग्रन्थ सर्वसाधारण की प्रचलित भाषा में तैयार हों। यदि वे अंग्रेज़ी का ज्ञान सम्पादन भी करें तो भी उन पर मातृभाषा के शब्दों का जो प्रभाव पड़ेगा उसका दसवाँ अंश भी अंग्रेज़ी शब्दों का पड़ सकेगा, यह अनुमान में भी नहीं आ सकता।

मनुष्य का मनोविकास अथवा मानसिक वृत्तियों का प्रसार मातृभाषा ही के द्वारा होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। यह शक्ति केवल मातृभाषा ही में है कि वह भारतीय हृदय में छिपे हुए भावों, विचारों और उद्वेगों तथा रहस्यों को ठीक-ठीक रूप देकर शब्दों में ढाले। वह हृदय कौन है जिसमें मातृभाषा बनी है और वह मातृभाषा कौन है जिसमें हृदय के भाव निकाल कर साहित्य-रूप में जगत् के सन्मुख रखे जायेंगे? इसका उत्तर यही है कि भारतीय हृदय और भारतीय भाषा।

भाषा और साहित्य की जागृति जातीय उन्नति के मार्ग की पहली मंज़िल है। यह जागृति मानसिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जातीय उन्नति के मार्ग में यह अन्य समस्त प्रकार की त्रुटियों और बाधाओं को दूर करती है। इसका पहला प्रभाव स्वभावतः आत्मोन्नति तथा मानसिक उन्नति की ओर ही बढ़ता है। एक जाति की सांसारिक तथा सामाजिक व्यवस्था, बहुत अंशों में, जाति की मानसिक तथा आत्मिक अवस्था पर ही निर्भर रहा करती है। सामाजिक सुधार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज अपनी भाषा का ज्ञान सम्पादन करे, जिसके द्वारा उसे अपने जातीय इतिहास और परम्परा का ज्ञान हो, उसमें राष्ट्रीय विचार और राष्ट्रीय गौरव का उदय हो और लोग अपने धर्मपालन पर कटिबद्ध हों। बस, तभी उनकी आत्मा पवित्र, देशभक्ति, आत्मगौरव और आत्म-सम्मान के भावों से भर कर उच्च बनेगी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रत्येक देश में राष्ट्रीय उन्नति से पहले मातृभाषा के प्रचार का आन्दोलन परमावश्यक है। सांसारिक उन्नति मातृभाषा के पुनरुद्धार की सहगामिनी है। अतएव, सर्व-प्रथम हमें अपनी मातृभाषा का अस्तित्व स्थापित रखने की प्रबल चेष्टा करनी परमावश्यक है। मातृभाषा के सहयोग से जब राष्ट्र के मानसिक जगत् में शुद्धता एवं पवित्रता आ जाती है, जब राष्ट्रीय भाव और कल्पनाएँ देश में फैलती हैं तब राष्ट्रीयता में विश्वास, राष्ट्रीय सदाचार में दृढ़ता और कर्म करने की प्रबल चेष्टा आदि प्रशंसनीय गुणों का प्रादुर्भाव जाति में अवश्य ही होता है और यही गुण सांसारिक उन्नति के प्रबल साधन हैं।

राष्ट्रीयता का निर्माण वर्तमान का भूतकाल से एक शृंखला में बद्ध होने तथा अर्वाचीन काल का प्राचीन काल से अटूट सम्बन्ध होने से होता है। यह सम्बन्ध हममें प्राचीन पुरुषों की सभ्यता का आधुनिक समय में वर्तमान होने से पाया जाता है। विचार, भाव और भाषा का अटूट सम्बन्ध, जिसके द्वारा हम अपने पूर्वजों के साथ संलग्न हैं और वर्तमानकाल पूर्वकाल से बद्ध है, उसी की समता से राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकता है। इसीलिए प्रत्येक जाति को अपने पूर्वजों की भाषा के जीवन की परम आवश्यकता है। हमारे प्राचीन काल का सच्चा स्वरूप वह विचार शैली, भाव साम्राज्य और मातृभाषा का बन्धन है, जो एक जाति के जीवन की शताब्दियों को एक-दूसरी से और एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी से जोड़ता है। भाषा और राष्ट्रीयता को मिटा कर संसार में हम अपने कल्याण की आशा कदापि नहीं कर सकते। हमें सर्वोपरि अपनी मातृभाषा के प्रचार पर ध्यान देना उचित है। सर्वसाधारण में मातृभाषा के प्रेम की उत्पत्ति ही सर्वोत्तम आत्मशक्ति है, विचार स्वातंत्र्य है। मातृभाषा-हीन जाति, जाति नहीं कही जा सकती। वह राष्ट्र नहीं जिसे मातृभाषा के प्रति अनुराग न हो। वह मनुष्य नहीं जिसके हृदय-क्षेत्र में मातृभाषा के प्रेम का अंकुर न जमा हो। जब तक हिन्दी है तब तक हमारा हृदय और मर्म भी हिन्दी है। यदि हम अपनी मातृभाषा को खो बैठें तो निश्चय है कि उस दिन हमारी राष्ट्रीयता का भी लोप हो जाय।

राष्ट्रीय जागृति मातृभाषा-प्रचार के बिना नहीं हो सकती। मातृभाषा के द्वारा जातीय कला-कौशल और साहित्य को पुनर्जीवित करना देश के शुभचिन्तकों का प्रधान कर्त्तव्य है। यदि हमें संसार में जीवित रहना है, यदि हमें अपनी पूर्व कीर्तियों की लाज रखनी है, तो परमावश्यक है कि सबसे प्रथम हम अपनी मातृभाषा की उन्नति में संलग्न हों, उसे अपना सर्वस्व जानें, उसे संसार में सर्वप्रिय वस्तु मानें और उसके उद्धार के लिए कटिबद्ध रहें। कुछ दिन हुए, जब यहाँ के कुछ इने-गिने निवासियों को अंग्रेज़ी का नया शौक चर्राया था, तो वे मातृभाषा के द्वारा बातचीत करने में अपनी मानहानि समझते थे। साधारण बातचीत करते और सामान्य चिट्ठी-पत्री लिखते समय भी वे मातृभाषा का बहिष्कार करने लगे थे। जिस मातृभाषा ने उन्हें पाला-पोसा था, जिसने उन्हें खाने-पीने, सोने, रहने और बैठने के शब्द सिखाये थे, जिसने उन्हें बाल्यकाल में माँ से रोटी माँगने के वाक्य बताये थे, जिसने उन्हें वे बातें बतायीं जिन पर उनका आरम्भिक जीवन निर्भर था, उसकी अवहेलना करने में उन्हें तनिक भी लाज न आयी! बात आज भी कुछ-कुछ ऐसी ही है। अब भी ऐसे लोगों की कमी हमारे समुदाय में नहीं है, तथापि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अब वह दशा नहीं रही। मातृभाषा की जागृति हो चली है, हिन्द में हिन्दी की हवा बहने लगी है। अंग्रेज़ी का उच्चशिक्षित समुदाय भी मातृभाषा के महत्त्व को पहचानने और मातृभाषा हिन्दी में लिखने-पढ़ने और बोलने की अनिवार्य आवश्यकता को अनुभव करने लगा है। ईश्वर करे, यह प्रवृत्ति दिन दूनी बढ़े, और हमारे अभ्युदय में सहायक हो।

अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान-सम्पादन हमारी सांसारिक उन्नति के लिए आवश्यक है, परन्तु उसे मातृभाषा का स्थान देना और अपने नित्य के साधारण व्यवहार और बोलचाल में उसका प्रयोग करना, सर्वथा असंगत और हमारे हित का विरोधी है। साधारण बोल-चाल, चाल-ढाल, रहन-सहन, भोजन-वस्त्र, रंग-ढंग, हँसी-मज़ाक, खेल-कूद, नाच-गान और साज-सामान आदि में देशी सादगी को तिलाञ्जलि देकर अपव्यय की ओर ले जाने वाली विदेशी रीतियों को स्थान देना, किसी भी देश के लिए अहितकर हो सकता है। लोगों को विदेशी अनुकरण में बड़ा सुभीता जान पड़ता है, परन्तु यह मार्ग उन्हें उनके अभीष्ट पद पर कदापि नहीं पहुँचा सकता। हमारी प्राचीन सभ्यता का सौन्दर्य तथा सादापन यदि आधुनिक सभ्यता की स्वार्थप्रियता तथा बाह्य सुखों की लालसा में परिणत हुआ, तो उसका ह्रास अवश्यम्भावी है। विचारवानों का कथन है कि दूसरों की भाषा और भावों के अनुकरण से अपनी नैतिक अवस्था निर्बल हो जाती है, जाति से आत्मगौरव और आत्मसम्मान का भाव घटता जाता है, राष्ट्रीय बल, स्वाधीन विचार की शक्ति तथा दायित्व-भार का भाव भी दिन-दिन क्षीण होता जाता है। जिन देशों में मातृभाषा का पूर्णतया प्रचार हैं, जिनमें शिक्षा के समस्त कार्य मातृभाषा ही के द्वारा होते हैं, जहाँ के निवासी मातृभाषा ही के द्वारा उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिन्हें समस्त विभागों में मातृभाषा के व्यवहार की स्वतन्त्रता प्राप्त है, वहाँ के जन-समुदाय का चरित्र सर्वदा उच्च और पवित्र रहता है। वे अधिक पुण्यात्मा और दयालु होते हैं, दूसरों के प्रति उनका व्यवहार सरल और प्रेमपूर्ण रहता है। मातृभाषा में स्वभावतः आत्म-निदर्शन तथा गूढ़ विषयों पर अधिक विचार होने के कारण वह मनुष्यों के धार्मिक भावों को दृढ़ और बलिष्ठ करती है एवं उनके जीवन को पवित्र और धार्मिक बनाती है।

केवल बाह्य और राजनैतिक स्वतन्त्रता ही से एक सच्चे राष्ट्र का प्रादुर्भाव नहीं होता, केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता कभी-कभी राष्ट्रीयता का प्रमाण नहीं हुआ करती। राष्ट्रीयता का अथवा राष्ट्रीय जीवन का सच्चा और वास्तविक प्रमाण जातीय जीवन की उन मानसिक, सामाजिक और सदाचार तथा व्यवहार-सम्बन्धी सभ्यताओं से मिलता है, जिन्हें एक जाति ने अपने पूर्वजों से बपौती की भाँति पाया है और जिन्हें वह यदि उन्नत न कर सके तो, कम-से-कम बिना कलंकित किये हुए आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जाय। यही एक वास्तविक प्रमाण है जो भिन्न-भिन्न जातियों के वैभव और शक्ति में अन्तर को स्थिर रख कर संसार में उस राष्ट्र के महत्त्व का परिचय देता है। जिसने राष्ट्रीय जीवन के मर्मरूपी बीजमन्त्र मातृभाषा को भुला दिया, उसके सुरक्षित रखने का विचार परित्याग कर दिया, जिसने इस तत्त्वरूपी वस्तु को नष्ट होने दिया, जिसने मातृभाषा का तिरस्कार कर अपने मानसिक और ऐतिहासिक ज्ञान को भुला दिया, उसने अपने जातीय गौरव को नष्ट-भ्रष्ट किया और संसार से मानो अपना अस्तित्व

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ही खो दिया। मानसिक स्वतन्त्रता और स्वाधीन विचार की आवश्यकता बाह्य स्वतंत्रता से कहीं अधिक आवश्यक है। अपने प्राचीन जातीय इतिहास को अपना कर, अपनी प्यारी मातृभाषा का प्रचार कर, अपने जातीय चाल-ढाल, व्यवहार और सदाचार को जीवन्त रखना राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

मातृभाषा को तिरस्कृत करना, अपने प्राचीन इतिहास को भूल जाना, परम्परा का ज्ञान खो देना मानो अपने बुजुर्गों की कमाई को मिट्टी में मिला देना और अपने को नपुंसक बना देना है। इससे न मातृभाषा का ज्ञान रहेगा, न पुरानी मान-मर्यादा के जानने का अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार भविष्य में हमारी उन्नति का क्षेत्र संकुचित हो जायगा।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी साहित्य-कानन

साहित्य क्या है ? मनुष्य के भावों का शाब्दिक चित्र। ईश्वरी शक्ति की सबसे अनूठी रचना, जो संसार में हमें दिखायी पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्य में सबसे उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावों को व्यंजित करने के कई मार्ग हैं, किन्तु उनके लिए सबसे श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही है। शब्द, सृष्टि का आधार है और जितने ही अंश में मनुष्य उस मुख्य शक्ति का सहारा लेने का सामर्थ्य रखता है, उतना ही वह श्रेष्ठ है और सृष्टि के केन्द्र के समीप पहुँचता है। शब्द के बारे में बाइबिल में कहा है कि—**"वह ईश्वर के साथ था और स्वयं ईश्वर था।"**

हमारे देश के महात्माओं ने भी शब्द को ही सृष्टि का मूल तत्त्व माना है। शब्द के सहारे ही समस्त ब्रह्माण्ड का विकास बताया है। इसीलिए मनुष्य जितना ही अधिक शब्द की शक्ति का परिचय पाता है उतना ही वह ज्ञानी होता है, जितना ही अधिक उसके रहस्यपूर्ण अमृत को वह चखता है, उतना ही श्रेष्ठ कवि होता है। संसार में यों तो हम प्रतिक्षण शब्द कहते और सुनते हैं, किन्तु उसके वास्तविक रहस्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इतना तो फिर भी हम बाह्यरूप से देख ही सकते हैं कि हमारे इस आधिभौतिक जगत् का वर्तमान रूप, उसका कई लाख वर्षों का उत्थान, उसकी सारी स्थिति शब्द ही के सहारे है। जो महात्मा इस आधिभौतिक जगत् के परे का हाल जानते हैं, उनकी वाणी से तो शब्द की महिमा पग-पग पर प्रकट होती ही है, किन्तु हम साधारण जन भी, जिनकी परिमित बुद्धि और नेत्रों की ज्योति इस भूमण्डल के स्थूल पदार्थों के अन्धकार में से ऊपर की कुछ भी बातें नहीं देख सकती, इतना अवश्य देखते हैं कि अपने बुद्धि-क्षेत्र की सीमा के भीतर भी हमारा सब कार्य तथा कार्यों के कारण और परिणाम शब्द की ही शक्ति पर निर्भर है। इसीलिए पृथ्वी के आदिकाल से जिन महापुरुषों ने शब्द अथवा वाणी की उपासना की, उन्होंने ही अपने तपोबल से इस जगत् के उत्थान में सबसे अधिक सहायता की है और वे ही जनता के पूज्य और प्रेम-पात्र होते आये

[राजर्षि टण्डन जी की यह रचना सन् १९२३ की है। इस रचना से स्पष्ट है कि वह केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, वरन् साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् और पारखी भी थे। यह लेख उनकी आकर्षक और आलंकारिक लेखन-शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें उन्होंने साहित्य को वन-कानन के रूप में चित्रित किया है।]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हैं। हमारे यहाँ तो स्वतः शब्द को प्राचीन ऋषियों ने इतना पवित्र माना कि ब्रह्म को भी शब्द अथवा नादस्वरूप बताया। शब्द की पवित्रता को ही अछूता रखने के लिए उन्होंने वेदों को मनुष्य के मुख से निकला हुआ नहीं किन्तु 'स्वतः शब्दित' बताया। हमारे महापुरुषों में, जिनकी वाणी में असाधारण शक्ति थी, वही अवतार कहलाये। इसमें भी सन्देह नहीं कि महापुरुषों के अतिरिक्त भी कुछ निम्नश्रेणी के मनुष्यों की वाणी में शक्ति हो सकती है, और होती है। ईश्वरीय अंश तो सभी विराजमान हैं, साधारण मनुष्य के हृदय से भी वह कभी-कभी विचित्र और अलौकिक रीति से प्रकट हो जाती है। इन्हीं महापुरुषों और असाधारण पुरुषों के गम्भीर शब्दों के समूह का नाम साहित्य है। साहित्य में डूबना मानो सृष्टि के आदि स्रोत में डूबना है। किन्तु हरेक अपनी शक्ति के अनुसार ही उस स्रोत में विहार का आनन्द और लाभ उठा सकता है। मधुकर, सुगंधित वृक्षों के वन में नित्य पराग चखते हुए भी, वन के समस्त पुष्पों का आनन्द नहीं उठा सकता। उसकी तृप्ति तो थोड़े ही से फूलों से हो जाती है। संसार-साहित्य भी अपरिमित और अखंडित उच्च सुगंधित भावों का कानन है। उसके कुछ ही अंशों में मनुष्य पैठ सकता है। वह आनन्द तो थोड़े ही अंश से उठाता है, किन्तु उसके तारतम्य का वह अनुभव कर सकता है। इस अनुभव में भी एक अद्भुत आनन्द है। इस बात का ज्ञान कि जिस वन में हम विहार कर रहे हैं वह अपार है, उसमें हमारे ऐसे लाखों जीव हरदम विहार करते हैं, हमसे पहले असंख्य जीव वहाँ विहार कर चुके हैं और हमारे पीछे भी करेंगे, इसमें भी एक अद्भुत चमत्कार है। हम अकेले नहीं हैं, एक महान् कुटुम्ब के वंशज हैं। हमारा सम्बन्ध सृष्टि के आदि से आज तक है और जो आगे आवेगा, उससे भी रहेगा। हम में ही भूत और भविष्य का मिलान होता है, इसमें भी अद्भुत आत्मगौरव है। इसीलिए सचमुच वह भाग्यवान् है जो इस अपार साहित्य-वन के किसी भी भाग में कल्लोल करता है। जिस मनुष्य ने इसका दर्शन न किया और जो इसके सुरभित फूलों की महक से मस्त न हुआ, उसका जीना वृथा है।

साहित्य-कानन

हिन्दी साहित्य भी संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहार-स्थल है। चिर परिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं और हमारे जीवन में समय-समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहाँ सभी प्रकार के चित्रविचित्र वृक्ष हैं, और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आपको इस हिन्दी के अंश के अतिरिक्त साहित्य-वन के अन्य अंशों में घूमने का सौभाग्य हो, तो वहाँ भी उसकी तुलना न हो सकेगी। क्या सुन्दर समूह है! एक ओर कबीर, मीरा, दादू, सुन्दरदास का वाणी-विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नन्ददास, हित-हरिवंश की पवित्र ध्वनि गूँज रही है। कितने भक्त जनों के वृन्द इन वाणियों के साथ आनन्द में मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वय उनके स्वर-में-स्वर मिला इस दैवीगान को इतना विशाल बना रहे हैं। क्यों? आपको भी कुछ सुनायी पड़ रहा है? ध्यानावस्थित होइए, तभी सुन पड़ेगा। अथवा, आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर, ठाकुर, पजनेश के समह से आ रहे हैं? इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बधिक की वीणा के समान हमारे मन-मृग को स्तम्भित कर घसीटे लिये जा रहे हैं। किन्तु रोकिए! अभी दूसरी ओर की दैवी-वाणी का आनन्द आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिए। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी? देखिए, भूषण, लाल और सूदन का कैसा गम्भीर रणनाद हो रहा है! इस नाद में क्या ही आनन्द है। यह नाद है तो कर्कश किन्तु इसमें भी अद्भुत-आनन्द है। मैं देखता हूँ, आप बार-बार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आपने तो इस साहित्य-वन में जान पड़ता है, केवल इन्हीं के स्वरों में आनन्द लेना सीखा है। किन्तु अभी आपने इस वन के उत्तुंग गगनस्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किये अथवा, उधर आँखें गयीं भी तो, उनकी स्थिति को पहचान ही न सकीं। दूसरी ओर देखिए। रहिमन, वृन्द, गिरिधर—इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। किधर-किधर देखें, चारों ओर रँगीलापन, माधुर्य और आनन्द ही तो दिखायी पड़ता है। हम तो चलते-चलते थोड़ी दूर चले गये थे! यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, पूर्ण और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों, थोड़ी देर बैठ क्यों न जायें?

वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करने वाले मित्रों ने इस साहित्य-वन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहरण और ओजस्वी गान आरम्भ कर दिया। पूज्य पण्डित श्रीधर पाठक को इस वन का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसन्द है। वहीं एकान्त में बैठे हुए वह भारतगीत से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्या सिंह जी हमसे कुछ अलग ही हट कर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुण नाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही, गाथूराम शंकर जी अपने डमरू के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियाँ हैं, उनको भस्म करने के लिए अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है किन्तु पास से देखिए तो, इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास, लाला भगवानदीन सूक्ति-स्वर में लीन हो रहे हैं और वियोगी हरि जी अपने प्रियतम के वियोग से दुःखी करुण-स्वर में उसका गान करते अष्टछाप के कवियों की याद दिलाते हैं। किन्तु हैं! यह क्या ध्वनि आयी! यह तो बिलकुल ही विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी की उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं। एक ओर मैथिलीशरण जी भारत-भारती की आरती उतार रहे हैं। इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेश जी ईश्वर से भारतवर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सत्त्वगुण से, बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिए, भारत का उद्धार करे। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति में तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी-स्थल को तो, जान पड़ता है, रजोगुण-व्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठी जी के ज्ञान से मोहित हो कहाँ तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी! इन्हीं मित्रों के पास माखनलाल जी भारतीय आत्मा की करुणा और ओजभरी गाथा से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शस्त्र का सहारा दे सोयी हुई जनता को जगाने का प्रयत्न

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कर रहे हैं। इसी प्रयत्न में माधव शुक्ल जी भी उनका साथ दे स्वतन्त्रता देवी का यशकीर्त्तन कर रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इसी गान को ध्यान से सुन रहे हैं। किन्तु कुछ चुप-से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वयं स्वर मिला इसी शक्तिशालिनी देवी के उपासक बनेंगे।

किन्तु वाह! इस वन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। यहाँ तो गान करने वालों के अतिरिक्त गम्भीर विचारों में लीन अपने ओजस्वी शब्द में शिक्षा देने वाले अथवा ब्रह्माण्ड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करने वाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वन के गान का आनन्द उठाते हुए इसी की कथा औरों को सुना रहे हैं। यहाँ शिवसिंह सेंगर, लल्लूलाल जी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता, गम्भीर, किन्तु आनन्दपूर्ण भाव से उपस्थित हैं। निकट ही, श्रद्धेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं। द्विवेदी जी किस प्रकार गम्भीर शब्दों से सरस्वती का आह्वान कर हिन्दीभाषी युवक मण्डली को उसके दर्शन करने का निमन्त्रण दे रहे हैं। और भी पास, मिश्रबन्धु इस वन के अन्वेषण की कथा सुना लोगों को यहाँ भ्रमण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं, और रामदास गौड़ समस्त ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, कामताप्रसाद गुरु, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी इस साहित्य-वन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महावन के अन्य अंशों का फोटो लिये हुए हिन्दी-भाषियों को दिखा रहे हैं।

वाह! यहाँ तो घूमते-घूमते श्यामसुन्दरदास जी भी आ गये। आपको इस वन के दर्शन मात्र के आनन्द से ही तृप्ति नहीं हुई, आप यहाँ के न केवल इस हिन्दी अंश का किन्तु अंग्रेज़ी अंश का भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दों में अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं हैं-हैं! यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंह जी भी यहाँ आ विराजे। आप तो बिहारी पर लट्टू हो रहे हैं। बिहारी का इसी वन में गान सुनते-सुनते, जान पड़ता है, आपको यह भ्रम हो गया कि बिहारी की वाणी में शक्ति कुछ क्षीण हो गयी है, इसीलिए आप तुरन्त दौड़ कर संजीवनी बूटी लेकर आये और स्वयं भी बिहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दरसाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इस वन का आज दौड़ादौड़ में, अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया। बहुत-सी माधुर्य-पूर्ण कुञ्जों और बहुत-से गम्भीर व्याख्याताओं के आश्रमों में तो मेरी आँख भी नहीं गयी। इस भागा-भाग में देख ही क्या सकता था? यह तो संसारी झंझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर ही सन्तोष के साथ हो सकता है, किन्तु मुझ ऐसे कीच में पड़े हुए मनुष्य को क्षणमात्र का भी दर्शन बहुत है। इसके पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लताकुञ्जों में घूमता रहूँ और यहाँ के गम्भीर दैवी गीत तथा शिक्षाप्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहों को देखकर भी बार-बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी—इन्हीं के अलौकिक नाच सुनने को जी चाहता है। मुझे तो इनके ओजस्वी नाद के समान, न केवल वन के इस अंश में किन्तु अन्य अंशों में भी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जिनका किसी समय में अवलोकन किया है, कोई सुनायी न दिया। और फिर, कबीर का तो कहना ही क्या ? अन्य कवि तो सांसारिक बातों की चर्चा करते हैं, शब्द-चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर की कहते हैं, तो सुनी-सुनायी, किन्तु कबीर के नाद को तो सुनते-सुनते यह जान पड़ता है कि आँख के देखे हुए रहस्य की कोई वार्ता कर रहा है। एक बार इस वन के दूसरे अंश में मौलाना रूम के दर्शन हुए थे। उनके गान से भी मैं दंग हो गया था, क्योंकि उस ओर की वन-वीथियाँ मेरी अधिक परिचित न थीं और न वहाँ उस प्रकार के गान सुनने की कभी मुझे आशा थी, किन्तु मौलाना रूम के 'नय' के स्वरों ने मुझे अपने पूर्व परिचित कबीर की आकाश से उतरी हुई ध्वनि की याद दिला दी थी। आपका झुकाव कदाचित् किसी और ही तरफ है। खैर ! जाने दीजिए। आप तो मुझसे हर तरह से श्रेष्ठ हैं और भाग्यवान् हैं कि आप इस आनन्द-कानन में विहार तो करते रहते हैं।

साहित्य-कानन के इस अंश में बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं जहाँ नये-नये प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है। यह समय भारतवर्ष के लिए महापरिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही आपका अवसर है। मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते, जब वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का मानसिक प्रवाह बदल दे। आपको बड़े सौभाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है। आप न केवल साहित्य-कानन के इस अंश के इन रिक्त स्थानों को ले सकते हैं, किन्तु यहाँ नितान्त नये नादों से विप्लव मचा सकते हैं। सबसे पहली बात यह स्मरण रखिये कि यों तो इस वन में कई तरह की मोहिनी ध्वनियाँ गूँज रही हैं, किन्तु वास्तविक आदर उन्हीं को मिलता है, जो अकृत्रिम रूप से ब्रह्माण्ड के नैसर्गिक संगीत के स्वरों में मिल कर ध्वनित होती हैं। कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए, सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखायी पड़ता है। हरे, लाल और पीले काँच के टुकड़ों की उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने काँच के टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगों में रंगें और उनको भिन्न-भिन्न आभूषणों से भूषित करें, किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूषणों का तिरस्कार करती है। आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलने के अनुसार भी, परकीया नायिका को ही अधिक होती है। स्वकीया सती का शृंगार आभूषणों पर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जौहर है—

पतिबरता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि शशि की जोत॥

वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँध कर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से ही वाणी का उद्गार हुआ है। यदि वाणी ने मनुष्य को लुभा कर नीचे कीच में घसीट कर डाल दिया तो, उसका सौन्दर्य कुलटा का सौन्दर्य है, जो भोग-लिप्सकों के हृदय को क्षण भर के लिए भले ही लुभा ले, किन्तु उच्च पुरुषों के सामने आदर नहीं पाता।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें, सुनारों के भड़कीले आभूषणों को दूर ही रखें। भारतवर्ष के इस परिवर्तन-काल में ऐसे उपासकों की आवश्यकता है जो अपनी वाणी से स्वतन्त्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जंगल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकाल महाशक्ति की मूर्ति जनता के हृदय में स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान करें। निस्सार और नीचे गिराने वाले रसों और उन्हीं के समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़ दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त संचारी भावों से उनको संचरित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावों से उनका पोषण कीजिए और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-कानन में जो रिक्त स्थान है, वहाँ इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभासम्पन्न आकाश-मार्ग-गामी कवियों की आवश्यकता है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गौरवशालिनी हिन्दी

प्राचीन हिन्दी-साहित्य की गति पर जब हम एक दृष्टि डालते हैं तब हमको यही मालूम होता है कि पहले, साहित्य में वीर रस का आविर्भाव हुआ। उसके बाद भक्ति और फिर करुण और शृंगार रस पर ग्रन्थों की रचना हुई है। साहित्य क्या है? क्या अन्धाधुन्ध किताबों का निकालते जाना ही साहित्य है? साहित्य कोई व्यापार की चीज नहीं है। क्या लोगों का यही धर्म है कि वे साहित्य को व्यापार का एक साधन बना लें? नहीं। इससे भी ऊँचा कोई उद्देश्य है। आप लोग इस बात की चिन्ता न करें कि हिन्दी में पुस्तकों की संख्या बहुत कम है। उसमें छप रही पुस्तकों की उतनी भरमार नहीं है, जैसी अन्य भाषाओं के साहित्य में है। अन्य प्रदेश के निवासी—गुजराती, बंगाली इत्यादि—कई सज्जनों ने मुझसे इस विषय में चर्चा की है। उन्होंने मुझसे पूछा है कि हिन्दी में साहित्य की दशा क्या है। वास्तव में वे लोग पुस्तकों के ढेर से ही साहित्य का अनुमान लगाया करते हैं। वे इसी पर अभिमान करते हैं और अपने साहित्य के सामने हिन्दी साहित्य को छोटा समझते हैं। परन्तु मैं उसी साहित्य को ऊँचा समझता हूँ जिसमें ग्रन्थ थोड़े ही हों, किन्तु सुन्दर और ऊँची शैली के हों। एक हीरा सैकड़ों काँचों से अच्छा होता है। काँचों की भी आवश्यकता है, पर उसका मोल हीरे का नहीं होता। अच्छी चीज सदैव थोड़ी ही होती है। कबीरदास जी ने कैसी मर्म की बात कही है—

"सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥"

सिंहों के झुण्ड नहीं होते—सारे जंगल में सिंह एक ही होता है, हंस भी सब जगह पंक्ति बाँध कर नहीं दौड़ते-फिरते—कहीं मानसरोवर के समीप कोई एक दिखलायी दे जाता है। लालों की बोरियाँ नहीं भरी जातीं। लाल कोई देहरादून के बासमती चावल नहीं हैं, जो बोरियों में भर कर कहीं भेजे जावें। और साधुओं के झुण्ड भी नहीं देखे जाते। प्रयाग के कुम्भ में लाखों साधुओं के झुण्ड आप देखते हैं, पर उनमें सच्चे साधु कितने होते हैं? इसी प्रकार, साहित्य में भी रत्न थोड़े ही होते हैं। फिर भी, हिन्दी साहित्य में रत्नों की कमी नहीं है। हिन्दी साहित्य के कबीर, सूर और तुलसी, इन तीन ही रत्नों को आप ले लीजिए। इनके सामने सारे संसार का साहित्य नहीं टिक सकता। हमारे यहाँ तो और भी बहुत-से रत्न उपस्थित हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आजकल प्रायः देखा जाता है कि लोग बँगला या अंग्रेजी इत्यादि अन्य भाषाओं की किताबों का तरजुमा कर लेते हैं अथवा दो-चार किताबों के आधार पर ही किताबें लिखते रहते हैं। कई लोगों ने तो अपने हाथों को किताबें लिखने की मशीन बना रखा है, और धड़ाधड़ पुस्तकें लिखते चले जाते हैं, पर मैं इसको साहित्य-सेवा नहीं समझता। साहित्य रुपया-पैसा पैदा करने की चीज़ नहीं है, वह जाति के विचारों को पलटने का मंत्र है। मेरा यही नम्र निवेदन है कि लेखक जातीय आवश्यकता को देखकर साहित्य-निर्माण करें। जाति में ऐसा साहित्य उत्पन्न कर दें जिससे युग-परिवर्तन हो। आज ऐसे ही युग-परिवर्तनकारी साहित्य की आवश्यकता है, और ऐसा ही साहित्य इतिहास में स्थिर रहेगा। तुलसी, सूर और कबीर इत्यादि ने हिन्दू-जीवन पर जो प्रभाव डाला है, वह सर्वथा अमिट है—आज भी हमारे सामाजिक जीवन पर उनका प्रभाव मौजूद है।

साहित्य से जीविका चलाना ही साहित्य-सेवियों का मुख्य काम नहीं है। जीविका के लिए और भी अनेक उद्योग तथा व्यवसाय हैं। साहित्य-सेवा समाज-सेवा के भाव से ही होनी चाहिए। उसके साथ यदि साहित्य जीविका का भी साधन हो जाय तो उचित है। किन्तु केवल जीविका की दृष्टि से कलम चलाने वाले मनुष्य प्रायः साहित्यिक आदर्श भ्रष्ट कर देते हैं। उनके लेख में ऊँची शक्ति कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती। साहित्य की गति देश की गति के साथ-साथ चलनी चाहिए। आज मैं लेखकों का ध्यान एक ही बात पर दिलाना चाहता हूँ और वह यह कि आप जो भी कुछ साहित्य तैयार करें, वह देश की वर्तमान अधोगति को पलटने के लिए हो। पुस्तकों का लिखना, कविता का रचना और तस्वीरों का खींचना, किस काम का जिससे हमारे जातीय जीवन पर सुन्दर प्रभाव न पड़े? यदि हमारा सामाजिक जीवन वैसी ही दीनता और दासता में जकड़ा रहा, बेड़ियों में बँधा रहा, तो वह साहित्य किस काम का? करोड़ों जनता की दुर्दशा को पलटना आपके ही हाथ में है। आज देश की क्या दशा है? धर्म बिगड़ा हुआ है, चारों ओर अधर्म छाया हुआ है। यह आपके हाथ में है कि इस युग को पलट दें। जब कभी युग का परिवर्तन हुआ है, सजीव साहित्य के द्वारा ही हुआ है। सृष्टि के आदि से यह क्रम चला आया है। आज फिर वही काम आपके सिर पर है। यह कोई नवीन काम नहीं है। इतिहास इसका साक्षी है। अपने प्राचीन साहित्य की ओर दृष्टि डालिए। एक भगवान् कृष्ण को ही ले लीजिए, उनके जीवन के रहस्य को देखिए। युवावस्था से ही उन्होंने उस समय की कुप्रथाओं के दूर करने में कितना क्रान्तिकारी काम किया था! बड़े होने पर उन्होंने गीता के उपदेश द्वारा रणक्षेत्र की सूरत में रण के सिद्धान्तों में ही अमिट परिवर्तन कर दिया। अशोक के शासन में भी साहित्यिकों ने ही जाति के जीवन में परिवर्तन किया था। आपको भी आज अपने साहित्य से ऐसा ही काम लेना है। साहित्य-निर्माण करते समय आज आप सिर्फ एक ही दृष्टि रखें और वह दृष्टि यही है कि जब आप कोई पुस्तक लिखने बैठें, इस उद्देश्य को सामने लें कि किस प्रकार यह पुस्तक हमारी जातीयता की बेड़ियों के काटने का कारण हो। काव्य की भी रचना इसी एक उद्देश्य को सामने रख कर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

होनी चाहिए। बस, इसी एक बात की ओर मैं आप लोगों का ध्यान अपने टूटे-फूटे शब्दों में दिलाना चाहता हूँ।

आजकल किताबों की कमी नहीं है। लोग किताबें बहुत लिखते हैं, पर अमली जीवन की धारा में मिलकर नहीं लिखते। अमली जीवन के बिना लेख लिखना व्यर्थ है। आपका काम केवल लेख से ही समाप्त नहीं हो जाता। आपको जन-जन पर अपने लेख के द्वारा प्रभाव डालना है। पर यह काम तभी होगा, जब आप अपना जीवन जातीयता में मिला दें। अमली कार्य-क्षेत्र में यदि लेखकगण उतर आवें, तो देश का उद्धार हो जाय। आजकल लेखक जो कुछ लिखते हैं, उसमें उनका निज का हृदय बहुत कम रहता है। लेख और हृदय में आज अन्तर है। लेखक अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते। आजकल लोग टेबुल-कुर्सी पर बैठकर लेख लिखना जानते हैं, गद्दी और मसनद लगा कर लिखते हैं। परन्तु युग-परिवर्तनकारी लेख इस प्रकार से नहीं लिखे जा सकते। वाल्मीकि, व्यास और कृष्ण ने इस प्रकार गद्दी-मसनदों पर बैठ कर अपने लेख नहीं लिखे थे। भगवान् कृष्ण ने स्वयं युद्ध-क्षेत्र में अपना सबसे ऊँचा और गुह्य उपदेश दिया था। इस बात की आवश्यकता है कि लेखकगण मैदान में आवें, देश की दशा का अनुमान करें, जनता के साथ उनके कष्टों का स्वयं अनुभव करें, तब वे जो कुछ लिखेंगे, उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा। लेखक लोग जब 'आप-बीती' कहेंगे तब वह कुछ और ही बात होगी। घर में बैठे अखबारनवीसी से काम नहीं चलेगा। स्वयं अपना अमली जीवन बनाना होगा। जातीयता की लहर में अपने जीवन को मिलाना होगा। चन्द कवि ने वीर रस की कविता की है, पर क्या मसनदों पर बैठकर? नहीं, खड्ग धारण कर। भूषण कवि स्वयं शिवा जी के साथ युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित रहते थे। फ्रान्स और जर्मनी के पिछले घोर समर में फ्रान्स के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों ने युद्ध के समय अपनी क़लम रख दी थी, और युद्धस्थल में कूद पड़े थे। जर्मनी के बड़े-बड़े पण्डित और लेखक भी युद्ध में गये थे। हमारे देश के पण्डितों की तरह उन्होंने अपने उपदेश नहीं दिये। हमारे चश्माधारी लेखकों की भाँति उन्होंने लेख नहीं लिखे। जब मौक़ा आया, उन्होंने क़लम फेंक दी, उसके बदले तलवार खींची, बन्दूक उठायी और शत्रु के हृदय पर गोलियों से लेख लिखने को तैयार हुए। यह उदाहरण देखिए और हम लोग अभी तरजुमा करने और नक़ल करने में ही लगे हैं। नक़ल में क्या धरा है? हृदय से जो लेख लिखा जाता है, उसी का कुछ प्रभाव पड़ता है, और हृदय से लेख अमली जीवन के बिना निकल नहीं सकता। रूस के प्रसिद्ध लेखक टाल्स्टाय का नाम हमारे देश में विख्यात है। उन्होंने भी रणभूमि में जाकर ही लेख लिखने की शिक्षा ली थी। ग्रामीणों की तरह जीवन व्यतीत करके गरीबों के कष्ट का अनुभव किया था, और तब अपने लेख लिखने का प्रयास किया। एनातोले फ्रान्स का अभी देहान्त हुआ है। वह फ्रान्स देश के बहुत ऊँचे लेखकों में हुए हैं। हिन्दी के समाचारपत्रों में भी उनका जीवन-चरित्र निकला है। जर्मनी और फ्रान्स के महायुद्ध के समय वह बहुत वृद्ध थे, उनकी अवस्था लगभग ७५ वर्ष की थी। किन्तु युद्ध आरम्भ होने पर उन्होंने अपनी गवर्नमेण्ट से प्रार्थना की कि उनको समर-भूमि में सिपाही बन कर जाने की आज्ञा दी जावे। फ्रान्स की गवर्नमेण्ट ने उनकी अवस्था को देख

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और उनके जीवन को अनमोल समझ उन्हें लड़ाई में जाने की आज्ञा नहीं दी। किन्तु फ्रान्स की जनता पर, वहाँ के वीर्यवान् युवकों पर इस घटना का क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका तो आप अनुमान कर सकते हैं। ऐसे सजीव पुरुष की वाणी और लेख में क्या स्वाभाविक शक्ति रही होगी, इसका भी आप कुछ अनुमान कर सकते हैं। आप हिन्दी साहित्य-सेवियों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि आप लोग अपने जीवन को अमली बनावें। तभी हमारे साहित्य में देश और काल के अनुकूल शक्ति उत्पन्न होगी।

मैं देखता हूँ कि आजकल हमारे देश के कुछ ऐसे साहित्यसेवी, जिनका ऊँचा पद है, Art और Culture पर बहुत ज़ोर देते हैं, कुछ अंग्रेज़ लेखक भी इसी की शिक्षा हम हिन्दुस्तानियों को दिया करते हैं। Art और Culture कला और शिष्टता, मनुष्य के सच्चे भूषण हैं। भारतवासी इनका मूल्य पुराने समय से जानते हैं, किन्तु वे 'मनुष्यत्व' का स्थान नहीं ले सकते। वे मनुष्य के भूषण हैं, 'मनुष्यत्व' नहीं। आजकल तो यह कहा जाता है कि मनुष्यत्व के स्थान पर हम Culture रख रहे हैं—यह अस्वाभाविक है और इसमें तो स्पष्ट हानि ही है। इससे हमारी जाति में और नामर्दी आती है, अमली जीवन से अलग होकर कला और कल्चर की दुहाई विष से भरी है। और हमें ऐसा कल्चर नहीं चाहिए जिससे हमारे पुंसत्व का नाश हो। मेरा निवेदन है कि इस मर्म की बात पर आप सदा ध्यान रखें।

आजकल लोगों को पुस्तकों के पढ़ने का चाव बहुत बढ़ गया है, परन्तु मेरी तो धारणा है कि बहुत पुस्तकों का पढ़ना कोई 'पुरुषार्थ' का काम नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि पुस्तक पढ़ना कोई बुरा काम है, परन्तु पुस्तक विचार के लिए पढ़ना चाहिए, व्यसन के लिए नहीं। शराब, ताश या शतरंज की तरह पुस्तक पढ़ना भी कभी-कभी केवल व्यसन हो जाता है। यह पुस्तक पढ़ने का दुरुपयोग है, और विचारों की प्रौढ़ता से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता। वाल्मीकि, कालिदास या शेक्सपियर बहुत पुस्तकें पढ़-पढ़ कर साहित्यिक नहीं बने थे। रेल के बुकस्टाल से पुस्तकें खरीद कर वे रास्ते भर पढ़ते नहीं जाते थे। उन्होंने किसी और ही मार्ग से अपना साहित्यिक अनुभव बढ़ाया था। आजकल जो ये बहुत-सी पुस्तकें निकल रही हैं, उनसे आप यह कभी आशा न कीजिए कि आप बहुत विद्वान् हो जायेंगे। ऐसा पुस्तक पठन-पाठन न कीजिए जिससे समय नष्ट हो और आपको अपने जीवन के लिए कोई मसाला भी न मिले। वास्तव में, हमें साहित्य और जीवन का मेल मिलाना है, हमें ऐसा साहित्य बनाना है, ऐसे साहित्य का प्रचार करना है जो हमारे देश को उच्च आदर्श की ओर ले चले।

एक बात मुझे और कहनी है। भाषा का महत्त्व अभी हम लोगों ने समझा नहीं है। भाषा ही राष्ट्र का जीवन है। भाषा को ही लेकर विदेशों में अनेक राष्ट्रीय आन्दोलन खड़े हुए हैं। आयर्लैण्ड की सिनफिन पार्टी भाषा के ही प्रश्न को लेकर बनी है। हमको भी देश के जीवन के लिए सारे भारतवर्ष भर में एक राष्ट्रीय भाषा हिन्दी का प्रचार करना है। यह काम एक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ही किया है। बहुत ही थोड़े रुपये से बहुत बड़ा काम—इतना और किसी वर्तमान संस्था ने नहीं किया है। पिछले पन्द्रह वर्षों में इस संस्था ने अपने प्रचार विभाग और परीक्षाओं द्वारा हिन्दी का युग बदल दिया है। सम्मेलन की परीक्षाओं ने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी साहित्य सम्बन्धी रुचि बदल दी है, एक नवीन साहित्यिक जागृति उत्पन्न कर दी है। पहले राष्ट्रीय भाषा के विषय में लोगों के मन में बड़ी शंका रहती थी। पर अब सारे देश में यह एक मानी हुई बात है कि हिन्दी राष्ट्रीय भाषा है। इसके पहले अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग हिन्दी का नाम सुन कर मुँह बनाते थे, परन्तु अब तो बड़े-बड़े नेताओं ने भी हिन्दी भाषा का महत्त्व स्वीकार कर लिया है। किन्तु अभी आप लोगों को बहुत-कुछ करना है। अभी भारतवर्ष के कुछ ऐसे प्रान्त बाकी हैं जहाँ हिन्दी का काम नहीं हुआ है। जब तक यह सवाल पूरा-पूरा हल नहीं हो जाता, तब तक स्वराज्य दूर है। महात्मा गांधी जी ने एक बार मुझे अपने एक पत्र में लिखा था कि, 'हिन्दी भाषा का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।' जब तक आप लोग भाषा का मसला हल नहीं कर लेते, तब तक स्वराज्य का प्रश्न हल होना कठिन है। राष्ट्रीय भाषा का ही एक ऐसा प्लेटफार्म है जिस पर अनेक प्रान्त के लोग, हर धर्म के लोग—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई खड़े हो सकते हैं। भाषा का यह महान् राष्ट्रीय कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ही किया है। वास्तव में, हम जातीयता की नींव डालने का कार्य कर रहे हैं। इसलिए आप सब लोगों का कर्त्तव्य है कि इसकी सहायता करें, इसके काम को देखें। जहाँ कोई हिन्दी का नाम भी नहीं जानता था, वहाँ इसने हिन्दी की पुकार पहुँचायी है। मद्रास में हिन्दी-प्रचार का जो कार्य इसने थोड़े दिन में ही कर दिखलाया है, उसका बहुत अच्छा परिणाम अब वहाँ दिखलायी पड़ रहा है। हज़ारों मद्रासी भाइयों ने हिन्दी की शिक्षा प्राप्त की है, और बराबर अब भी सीख रहे हैं। कोकनाड़ा में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष ने भरी सभा में हिन्दी में ही अपना भाषण दिया था। भाइयो, सोचिए तो सही, हिन्दी के लिए यह कैसी सौभाग्यसूचक और आशाजनक बात है कि एक मद्रासी भारतवर्ष की राष्ट्रीय महासभा में, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्री इत्यादि सभी अंग्रेज़ीदाँ लोगों के बीच में हिन्दी में भाषण कर रहा है! किस चतुरता से, किस सहानुभूतिशीलता से, किस कठिनता से, यह पौधा वहाँ रोपा गया है, सींचा गया है, इसका अनुमान आप स्वयं वहाँ जाकर कर सकते हैं। अब तुरन्त हिन्दी को आसाम, बंगाल, सिन्ध, उड़ीसा इत्यादि अन्य सब प्रान्तों में अच्छी तरह फैलाना है। इसके लिए आप सब लोगों की सहायता चाहिए।

मेरा एक निवेदन है कि आप सब लोग हिन्दी के महान् कार्य में हाथ बटायें। मैंने सुना है कि लंका द्वीप में एक प्रथा है कि जब देव-मन्दिर की ओर हाथ में सुमनों की डाली लिये हुए देवाराधना करने वाले भक्तजन जाते हैं तो रास्ते के लोग जब किसी कारण से मन्दिर तक नहीं जा सकते, उस डाली को श्रद्धा से छू लेते हैं और इस प्रकार अपने को पुण्य का भागी बनाते हैं। मेरा आप से निवेदन है कि, आइए हमारे साथ पुजारी बन कर सरस्वती मन्दिर की ओर हमारी पंक्ति में मिलकर चलिए। किन्तु यदि आप हमारी आगे बढ़ती हुई पंक्ति में नहीं मिल सकते तो इन सरस्वती-उपासकों की डालियों में कुछ सुन्दर फूल लाकर डाल जाइए। यदि फूल भी नहीं ला सकते, तो सुमन-भरी इन पवित्र डालियों को छूकर ही अपने को कृतार्थ कीजिए।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों ?

⊙⊙

उत्तर भारत के सिवा अहिन्दी प्रदेशों के निवासी हिन्दी को बड़ी तेज़ी से अपना रहे हैं और इसे राष्ट्रभाषा के स्वरूप में देखते हैं। वह समझते हैं कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें हमारे देश की सब भाषाओं का समन्वय है। यह अच्छी तरह से ध्यान देने की बात है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों है ? इसलिए नहीं कि वह प्रयाग, काशी, लखनऊ या देहली में बोली जाती है, बल्कि इसलिए कि दूसरी संस्कृतियाँ, अर्थात् महाराष्ट्र संस्कृति, गुजराती संस्कृति, मद्रासी संस्कृति सब भारत की एक अखण्ड संस्कृति से हैं और यह अच्छी तरह से विचार करने की बात है, विशेषकर उनके लिए जो राष्ट्रभाषा के प्रश्न का अध्ययन करते हैं और भावी राष्ट्रभाषा का स्वप्न देख रखे हैं, कि हम जिस भाषा को राष्ट्रभाषा का स्वरूप देना चाहते हैं, उसमें यह आवश्यक गुण होना चाहिए कि वह अन्य सब देशी भाषाओं के समीप हो। हमारी राष्ट्रभाषा का असली स्रोत हमारी राष्ट्रीयता ही है। यह बात मैं जानता हूँ, क्योंकि मैं इस काम में बहुत वर्षों से लगा हूँ, कि हमारी आधुनिक राष्ट्रीयता के उत्थान में राष्ट्रभाषा की गहरी सहायता है। जिस भाषा को हमारी जनता समझ नहीं सकती उससे हमें राष्ट्रीयता की प्रेरणा कैसे मिलेगी ?

बहुत वर्षों से मैं इस बात का हामी रहा हूँ कि हमारी हिन्दी में दूसरी भाषा के शब्दों का समन्वय हो। राष्ट्रीयता की दृष्टि से यही उचित है कि हम लोग, जो देश भर में काम करना चाहते हैं और देश को एक सूत्र में बाँधना चाहते हैं, दूसरी भाषाओं और उन भाषाओं की विचार-शैलियों के साथ आदान-प्रदान करने के लिए तैयार रहें। यह प्रेम से ही हो सकता है। बीस वर्ष से ऊपर की बात है जब संयुक्त प्रान्त में प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन आगरा में हुआ था। मैं उस सम्मेलन का सभापति था। मेरे निमन्त्रण पर वहाँ मौलाना हसरत मोहानी साहब भी उपस्थित थे। मैंने अपने भाषण में यह चर्चा की थी कि फ़ारसी और संस्कृत एक ही भाषा से निकली हैं, दोनों का स्रोत एक ही है, फ़ारसी और संस्कृत का कोई झगड़ा हिन्दी और उर्दू में न होना चाहिए, क्योंकि फ़ारसी और संस्कृत शब्दों का बड़ी आसानी से समन्वय हमारी भाषा में किया जा सकता है। केवल इच्छा और लगन की आवश्यकता है। फ़ारसी का नाम ईरानी है। ईरानी आर्य भाषा है।

एक बार जेल में एक फ़ारसी का काव्य पढ़ते समय मुझे यह जानने का कुतूहल हुआ कि फ़ारसी के कितने शब्द हैं जिनका कोई स्वरूप संस्कृत में इस समय भी मौजूद है। जेल में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

फ़ुरसत से बैठा था। मैंने विश्लेषण आरम्भ किया तो मुझको मालूम हुआ कि फ़ारसी के ६० या ७० सैकड़ा शब्द संस्कृत शब्दों के समीप हैं। अगर ठीक प्रकार से प्रयत्न किया जाय, शब्दों का बहिष्कार न किया जाय, तो फ़ारसी और संस्कृत शब्दों का समन्वय होना कोई कठिन समस्या नहीं है। खुसरो ने यह काम किया था, रहीम ने किया था। अगर इस प्रकार का क्रम बराबर रहे तो फ़ारसी और संस्कृत शब्दों के समन्वय से हिन्दी का एक ऐसा स्वरूप हो सकता है जो सब को ग्राह्य हो। चत्वार, चहार और चार ; वर्षा और बारिश; मेघ और मेह; सप्ताह और हफ्तह; असुर और अहुर; सिन्ध और हिन्द, हम इन सब शब्दों का प्रेम से अपनी भाषा में प्रयोग कर सकते हैं। हमसे 'सप्ताह' के साथ 'हफ्तह' का इस्तेमाल करने को कहा जाय तो ठीक है, लेकिन यह ठीक नहीं हो सकता कि हमसे सिर्फ़ 'हफ्तह' कहने के लिए कहा जाय और 'सप्ताह' का बहिष्कार हो। दोनों शब्द चल सकते हैं। दोनों का स्रोत एक ही है। इस तरह आगे गंगा-जमुना के मेल से एक धारा की तरह हमारी भाषा बह सकती है; लेकिन संगम करने के लिए प्रेम चाहिए।

पहले पहल हमारी भाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द मुसलमानों ने दिया। कुरान का पहला अनुवाद जो हमारी भाषा में हुआ उसकी भूमिका में अनुवाद की भाषा 'हिन्दी' कही गयी थी। हैदराबाद दक्खिनी में फ़ारसी-अरबी मिश्रित ग़जलों की भाषा को भी पहले हिन्दी ही कहते थे। मैं अपने महाराष्ट्रीय भाइयों से, बंगीय भाइयों से और गुजराती भाइयों से कहता हूँ कि राष्ट्रीयता के लिए आप हिन्दी को अपनाइए। जस्टिस शारदाचरन मित्र और जस्टिस कृष्णस्वामी अय्यर ने अपने-अपने प्रान्त में इसको अपना कर चलाने का प्रयत्न किया था। यदि राष्ट्रीयता के नाते कोई चीज़ छोड़नी पड़े, जिसके छोड़ने से राष्ट्रीयता बढ़ सके, तो मुझे वह स्वीकार होगी। लेकिन यह एक तरफ़ से नहीं हो सकता। यह तो दोनों तरफ़ से होना चाहिए। अगर एक तरफ से तिरस्कार और बहिष्कार है तो भाषा का मेल सम्भव नहीं होगा। लखनऊ में उर्दू के एक कवि नासिख साहब हुए हैं। उन्होंने यहाँ तक किया कि हिन्दी के शब्दों की एक सूची तैयार की और फैसला दिया कि उर्दू साहित्य में उन शब्दों का प्रयोग न हो। इन शब्दों को उन्होंने 'मतरूक' कहा। इस प्रकार से देशी शब्दों को छोड़ विदेशी शब्दों को विशेष रीति से लाकर एक नकली ज़बान किसी दूसरे साहित्य ने नहीं गढ़ी। इन नासिख साहब को उनके एक शिष्य ने शीराज़ के सादी और हाफिज़ से भी बढ़कर बताया है। आपने फ़रमाया है—

"बुलबुले शीराज़ को है रश्क नासिख का सुरूर,
असफ़हाँ इसने किये हैं कूचहाये लखनऊ।"

लखनऊ को भाषा की दृष्टि से ईरान का एक नगर बनाना इनको एक ऊँचा आदर्श दिखायी दिया। आज भी हमारे कुछ भाई इसी भावना से काम करना चाहते हैं। अगर यही भावना है तो समन्वय की चर्चा व्यर्थ है। मैं तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों शब्दों को मिटाने के लिए तैयार हूँ, अगर सब अपने को केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहने लगें। मैं राष्ट्रीयता के नाम पर इसे स्वीकार करूँगा और उचित समझूँगा।

[भाग ६६ : संख्या १-४

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना जागी है। कांग्रेस की पहुँच जनता के पास मुख्य कर इसी के द्वारा हुई है। पहले कांग्रेस में अंग्रेज़ी का ही ज़ोर रहता था, केलकर साहब इसके गवाह हैं। कांग्रेस का कांस्टीट्यूशन, कांग्रेस के काग़ज-पत्र, कांग्रेस की कुल कार्यवाही अंग्रेजी में ही रहती थी। प्रायः नेता लोग कोट-पतलून और हैट लगाकर आते थे और लच्छेदार अंग्रेज़ी भाषा में ठाट के साथ बोलते थे और वहीं पर उनके काम की इतिश्री थी। उस समय वहाँ केवल अंग्रेजी का ही बोलबाला था। मैंने कई बार यह प्रयत्न किया कि वहाँ अंग्रेज़ी का बोलना बन्द हो जाय, क्योंकि मुझे स्पष्ट दिखायी पड़ा कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेज़ी भाषा द्वारा काम करना हानिकर है। अंग्रेज़ी में अपने घर का काम कर आप स्वयं अपने मुँह से पुकारते हैं कि हम गुलाम हैं, गुलाम हैं। इस तरह से राष्ट्रीयता की आशा करना व्यर्थ है। राष्ट्रीयता फैलाने के लिए खाली प्रस्ताव पास करना नहीं है, बल्कि उसके लिए हृदय में एक चिंघाड़ उठती है, एक प्रकार की जलन होती है कि जनता से उनके शब्दों में बातें करें, उन तक अपना सन्देश पहुँचावें।

मेरा नाम लेकर कुछ भाइयों ने कहा है कि मैंने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग हिन्दी के अर्थ में किया है। यह तो अर्थ का अनर्थ करना है। कानपुर में मेरे प्रस्ताव पर कांग्रेस के कांस्टीट्यूशन में यह रखा गया था कि कांग्रेस का काम हिन्दुस्तानी में हो। वहाँ पर हिन्दुस्तानी शब्द का अर्थ स्पष्ट था। वहाँ हिन्दी और उर्दू दोनों के रूप से मतलब था। उस समय विषय था, अंग्रेज़ी के स्थान पर अपनी भाषा का प्रयोग। यह बात सबकी बोली में उद्धृत की गयी है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया कि अंग्रेज़ी हट जाय और हिन्दी और उर्दू उसका स्थान लें। महात्मा जी के बारे में यह बात नहीं लागू है। किन्तु कांग्रेस में अब भी मुख्य काम अंग्रेज़ी में होता है। मैंने इसी अंग्रेज़ी को हटाने के लिए यह उद्योग किया था—और यह शब्द 'हिन्दुस्तानी' धराया था। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, मैं सदा समन्वय के लिए तैयार हूँ। लेकिन यह दोनों ही तरफ से हो सकता है और अगर ऐसा नहीं हो सकता तो मैं हिन्दी के साहित्यिकों से कहूँगा कि अपने मार्ग पर आप आगे बढ़े चले जायें, अपना कर्तव्य निबाहें, और हिन्दी की आन्तरिक शक्ति पर भरोसा करें।

अपने भाइयों को मैं सचेत करना चाहता हूँ कि वह मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी-सी बातों के ही लिए हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समय पर चीज़ें बदलती हैं—"समयभेदेन धर्मभेदः"। मैं समय की आवश्यकता को देखकर परिवर्तन का पक्षपाती हूँ। हमारे यहाँ बहुत-से संस्कार पुराने ज़माने से चले आते हैं और उनके विरोध में हमें मुँह खोलना भी मुश्किल हो जाता है, जैसे, कुछ जातियों में विवाह-शादी में लड़के का गदहे पर बैठाया जाना या कुम्हार का चकवा पुजाया जाना। मेरे कुटुम्ब में यह गदहा वाली तो नहीं है, पर कुम्हार वाली रीति अवश्य है। इसके विरोध में जब मैंने अपनी माता और स्त्री से कहा कि ऐसा न किया जाय, तो उनका यह उत्तर होता रहा है कि हमारे यहाँ यह रीति परम्परा से चली आ रही है। उसका परम्परा से चला आना ही उनके लिए पर्याप्त दलील थी। मेरा कहना है कि हमें इन मूढ़ाग्रहों से बचना चाहिए

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और बुद्धि तथा विवेक को अपने कामों में अधिक स्थान देना चाहिए। भाषा का भी स्वरूप बदलता रहता है। जो बालकृष्ण भट्ट की भाषा थी, वह अब नहीं है। विचार और शैली, दोनों में परिवर्तन हो रहा है। लेकिन दूसरों से घबरा कर या दुर्बलता के कारण हमको कोई परिवर्तन स्वीकार करना नहीं है। हममें हीनता का भावमण्डल बनना नहीं चाहिए। बुद्धि और विवेक से काम लेना है। हमारी भाषा में मराठी, तमिल, तेलुगु, गुजराती सब के शब्द आवेंगे और हमारी भाषा इन नये शब्दों से प्रौढ़ होती जायगी और उसकी भाषा-शक्ति बढ़ती जायगी। मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारे हिन्दी मंच पर कोई साम्प्रदायिक भावना न हो, कोई भी ऐसी भावना पैदा न हो जिससे हमारी राष्ट्रभाषा के उत्थान में हानि पहुँचे। इस दृष्टि से हम ईसाई, यहूदी, मुसलमान, पारसी सब भाइयों का आदर करेंगे। अंग्रेज़ी भाषा का स्वरूप भी हर मुल्क में अलग-अलग है। अमरीका में तो उसमें बहुत ही अन्तर आ गया है। किन्तु अंग्रेज़ी वाले बड़े अभिमान से कहते हैं कि हमारी भाषा के १७, १९ करोड़ के लगभग बोलने वाले हैं। हमारी भाषा के बोलने वाले इस समय २४, २५ करोड़ हैं। यह संख्या बराबर बढ़ रही है। इस प्रस्तार के कारण जो परिवर्तन आवश्यक हैं, हम उनसे भय नहीं खायेंगे। उसका हम स्वागत करेंगे। वे हमारी भाषा के प्यारे अंग बनेंगे और उसकी शक्ति बढ़ायेंगे। किन्तु परिवर्तन भय से या दब कर नहीं हो सकता। उसके पीछे दृढ़ विचार और भावना होने से ही वह सफल होगा।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी की ग्राहिका शक्ति

⊙⊙

हिन्दी भाषा जीवित भाषा है। जो लोग उसे किसी परिमित सीमा के भीतर ही आबद्ध करना चाहते हैं वे मानो उसका उपचय—उसकी कलेवर-वृद्धि—नहीं चाहते। जीवित भाषाओं के विषय में इस प्रकार की चेष्टा बहुत प्रयास करने पर भी सफल नहीं हो सकती। संसार में शायद ऐसी एक भी भाषा न होगी जिस पर सम्पर्क के कारण अन्य भाषाओं का प्रभाव न पड़ा हो और अन्य भाषाओं के शब्द उसमें सम्मिलित न हो गये हों। अंग्रेज़ी भाषा संसार की प्रसिद्ध और समृद्ध भाषाओं में है। उसमें लैटिन, ग्रीक, फ्रेञ्च, जर्मन और सैक्सन आदि अनेक भाषाओं के शब्दों, भावों और मुहावरों का सम्मिश्रण है। यहाँ तक कि उसमें एक नहीं, अनेक शब्द संस्कृत भाषा तक के कुछ थोड़े ही परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पाथ (Path) के रूप में हमारा पथ और ग्रास (Grass) के रूप में हमारा घास शब्द प्रायः ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। बात यह है कि जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिए बाहर के खाद्य-पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बन्द हो जाता है वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि सजीव भाषाएँ नियन्त्रण करने वालों की शक्ति की सत्ता के बाहर हैं।

हिन्दी जीवित भाषा है। इसी से सम्पर्क के प्रभाव से उसने अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अंग्रेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए, क्योंकि अपनी इस ग्राहिका शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायेगा। क्या नियन्त्रण के किसी भी पक्षपाती में यह शक्ति है कि वह जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध को तोड़ दे अथवा भाषाओं की सम्मिश्रण-क्रिया में रुकावट पैदा कर दे? यह कभी सम्भव नहीं है। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को तो नहीं खो रही है, कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बे-मेल शब्दों के योग से वह अपने रूप को विकृत तो नहीं कर रही है। मतलब यह

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कि दूसरों के शब्द, भाव और मुहावरे ग्रहण करने पर भी हिन्दी, हिन्दी ही बनी रहती है या नहीं। बिगड़ कर कहीं वह और कुछ तो नहीं होती जा रही है।

विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने में केवल यह देखना चाहिए कि हिन्दी उन्हें हज़म कर सकती है या नहीं। उनका प्रयोग खटकता तो नहीं, वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं हैं। मकान, मिज़ाज, मालिक विदेशी भाषा के शब्द हैं पर हिन्दी ने उन्हें आत्मसात् कर लिया, उन्हें हज़म कर लिया है। उन्हें स्त्रियाँ और बच्चे तक, पढ़े-लिखे और अपढ़ सभी बोलते हैं। इस कारण विदेशी होकर भी वे अब स्वदेशी हो गये हैं। उनको अब सर्वथा हिन्दी शब्द 'मालिका' के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसी तरह नोट, नम्बर, बोतल और कौन्सिल आदि शब्द भी विदेशी होकर भी स्वदेशी बन गये हैं। करने से भी, उनके बहिष्कार की चेष्टा कभी सफल नहीं हो सकती। अतएव, विदेशी भाषाओं के जो शब्द अपनी भाषा में स्वयं आ गये हैं वे सब हिन्दी ही के हो गये हैं, और आगे जो खपते जायेंगे वे भी हिन्दी ही की मिलकियत होते जायेंगे। हिन्दी जीती-जागती भाषा है। दूसरों की दी हुई चीज़ को ले लेने का अधिकार उसे स्वयं प्रकृति ने ही दे रखा है। उसे कोई छीन नहीं सकता। इस दशा में यह कहना कि यह शब्द हमारी भाषा का नहीं इससे हम इसका बहिष्कार कर देंगे, प्रकृति के प्रबल प्रवाह को रोकने का व्यर्थ प्रयास करना है।

हाँ, एक बात अवश्य है। वह यह कि जो भाव या जो मुहावरे हिन्दी में न खप सकते हों, अर्थात् जो खटकने वाले हों—जिन्हें हिन्दी हज़म न कर सकती हो—उनका प्रयोग सहसा न करना चाहिए। उदाहरणार्थ—दृष्टिकोण, हाथ बँटाना, लागू होना, नंगी प्रकृति, इत्यादि भाव या मुहावरे बोलचाल की हिन्दी में नहीं खपते। इनका प्रयोग भी कुछ ही समय से होने लगा है। यही भाव, विचार-दृष्टि, सहायता करना और घटित होना लिखने या बोलने से अच्छी तरह व्यक्त किये जा सकते हैं, और खटकते नहीं। नंगी प्रकृति अंग्रेज़ी मुहावरे (Naked Nature) का अनुवाद है। उसमें इतना वैदेशिक भाव भरा हुआ है कि उससे मिलता-जुलता मुहावरा हिन्दी की टकसाल में डालना किसी बहुत बड़े तजुर्बेकार मिण्ट मास्टर (Mint Master) ही का काम है। अभी तो इस तरह के मुहावरे ज़रूर खटकते हैं पर यदि इनका प्रचार बढ़ता ही गया तो किसी दिन यह खटक जाती रहेगी और यह भी हिन्दी के ही मुहावरे हो जायेंगे, क्योंकि यदि बन्दूक का छर्रा शरीर के अन्दर बहुत दिनों तक रह जाता है तो उससे भी उत्पन्न कसक धीरे-धीरे जाती रहती है। तथापि इस प्रकार के अप्राकृतिक प्रयोग इष्ट नहीं। इनकी संख्या-वृद्धि से हिन्दी की विशेषता को धक्का पहुँचने का डर है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी भाषा और व्याकरण

⊙

हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध संस्कृत से है। कोई तो संस्कृत को उसकी माता या मातामही बताते हैं, कोई प्राकृत को। कुछ विद्वान् उसके सम्बन्ध-सूत्र को खींच कर वैदिक संस्कृत तक पहुँचा देते हैं। संस्कृत, वैदिक संस्कृत और प्राकृत चाहे हिन्दी की माता हों, चाहे मातामही, चाहे और कुछ, इस निर्णय का अधिकारी मैं नहीं और न इसका निर्णय करने का या इस विषय में शास्त्रार्थ करने की शक्ति ही मुझमें है। मेरा निवेदन तो इतना ही है कि संस्कृत और प्राकृत से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने पर भी, हिन्दी भिन्न भाषा है और भिन्न होने के कारण वह उन भाषाओं से अपनी निज की कुछ विशेषता रखती है। इससे, संस्कृत या संस्कृत-व्याकरण के नियमों पर आँख मूँद कर चलने के लिए वह बाध्य नहीं।

जिन शब्दों के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अंश हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। पर क्या इसी कारण से वैयाकरणों को यह हुक्म देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर ही लिखो। उनके बीच ज़रा भी कोरी जगह अर्थात् 'स्पेस' न छोड़ो। क्या संस्कृत व्याकरण में भी कोई नियम ऐसा है? अनन्तकाल से संस्कृत भाषा लिखने में विभक्तियाँ ही नहीं, बड़े-बड़े शब्द, वाक्य, श्लोक और सतरें-की-सतरें तक मिला कर ही लिखी जाती रही हैं, और अब भी पुराने पण्डितों के हाथ से लिखी जाती हैं। क्या इसके लिए भी संस्कृत व्याकरण में कोई नियम है? क्या इस तरह की संलग्नता से संस्कृत भाषा में कुछ विशेषता आ गयी? क्या उसकी उन्नति और साहित्य-सृजन का कारण यह संलग्नता भी मानी जा सकती है? अथवा क्या इससे उसे कुछ हानि पहुँची? क्या उसका विकास या उन्नयन बन्द हो गया? यही हाल अरबी-फ़ारसी और उर्दू का भी है। यह तो कोई व्याकरण की बात नहीं है, केवल सुभीते या परिपाटी की बात है।

संस्कृत में भ्याम्, भ्यः (भ्यस्), भिः (भिस्) आदि विभक्तियाँ लगने पर, शब्दों में कई प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उनका रूप कुछ-का-कुछ हो जाता है। विभक्तियाँ उनका अंश हो जाती हैं। वे उनसे पृथक् रह ही नहीं सकतीं। इस कारण संलग्नता की बात संस्कृत के लिए तो ठीक ही है, पर हिन्दी को भी उसी नियम से जकड़ने की क्या आवश्यकता है? संस्कृत के कोश ढूँढ़ डालिए, भ्याम्, भ्यः आदि विभक्तियाँ उनमें पृथक् शब्दों के रूप में कहीं न मिलेंगी। वे पृथक् शब्द नहीं माने गये। पर हिन्दी का कोई भी प्रतिष्ठित कोश—पादरी वेट तक का—आप उठा लीजिये उसमें की, के, से, में आदि का निर्देश स्वतन्त्र शब्दों की तरह

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किया गया मिलेगा। अतएव, यदि कुछ लेखक हिन्दी में विभक्तियों को अलग लिखें तो क्या कोई बड़ी अस्वाभाविक बात है? क्या ऐसा करने से हिन्दी की उन्नति में बाधा उपस्थित हो सकती है? यह व्याकरण का विषय नहीं, यह तो रूढ़ि का—परिपाटी का, लिखने के ढंग का—विषय है। शब्द अलग-अलग होने से पढ़ने में सुभीता होती है। भ्रम की सम्भावना कम रह जाती है। जिसको यह ढंग पसन्द न हो वह विभक्तियों को ही नहीं शब्दों को भी परस्पर मिला कर लिख सकते हैं। साठ-सत्तर वर्ष पूर्व छपी हिन्दी पुस्तकों में भी संस्कृत ही के सदृश लम्बी शब्द-संलग्नता विद्यमान है। अनेक नयी बाज़ारू पुस्तकों में अब भी उनके दर्शन होते हैं। प्रश्न यह है कि इस संलग्नता ने हिन्दी साहित्य की कितनी उन्नति की, अथवा शताब्दियों से प्रचलित शब्द-संलग्नता, अरबी और फ़ारसी भाषाओं की भी कितनी उन्नति और श्रीवृद्धि का कारण हुई। संलग्नता और असंलग्नता की बात तो अभी चार दिन की है। उसकी उद्भावना का कारण पुस्तकों आदि का टाइप द्वारा छपना है। उसके पहले तो यह बात किसी के ध्यान में भी न आयी होगी, क्योंकि स्पेस देने अर्थात् शब्दों के बीच में जगह छोड़ने के उत्पादक 'स्पेस' ही हैं। अतएव जो संलग्नता के पक्षपाती हैं अथवा जो काग़ज के खर्च में कुछ बचत करना चाहते हैं वे, मराठी भाषा के लेखकों की तरह, खुशी से विभक्तियों को शब्दों के साथ मिला कर लिखें। परन्तु जो उसकी इस प्रणाली के अनुयायी नहीं, उन पर आक्षेप करने और उनकी हँसी उड़ाने के लिए व्याकरण उन्हें शरण नहीं दे सकता। जो प्रणाली अधिक सुभीते की होगी या जिसका आश्रय अधिक लेखक लेंगे वह आप ही चल जायेगी और उसकी विपरीत प्रणाली परित्यक्त हो जायेगी। लिपि की सादृश्य-रक्षा के ख्याल से यदि इस विवाद की नींव डाली गयी हो तो बलात् कोई किसी की रुचि या आदत को नहीं बदल सकता। जिन्हें विभक्तियाँ अलग लिखना ही अच्छा लगता है और जो जान-बूझ कर वैसा लिखना नहीं छोड़ते, विरोध उन्हें उसके निश्चय से विचलित नहीं कर सकता।

जीती-जागती भाषा होने के कारण हिन्दी की अपूर्व श्रीवृद्धि हो रही है। उसमें नये-नये शब्द, नये-नये भाव, नये-नये मुहावरे आते जाते हैं। यह कोई अस्वाभाविक या अचम्भे की बात नहीं। सभी सजीव भाषाओं में यह होता है। पर इस बात की ओर विशेष ध्यान न देकर, लिंग-निर्देश के विषय में, कभी-कभी बड़ा विवाद—नहीं वितण्डावाद तक—खड़ा हो जाता है और यदा-कदा वह कुत्सा का भी रूप धारण कर लेता है।

'श्याम' शब्द संस्कृत भाषा का है। उसमें तालव्य 'श' है। वह ज्यों-का-त्यों हिन्दी में आ गया है। अर्थात्, वह तत्सम शब्द है। अब कल्पना कीजिये कि श्याममनोहर नाम के किसी लेखक ने अपने नाम के पूर्वार्द्ध श्याम में, तालव्य 'श्' के बदले दन्त्य 'स्' लिख दिया। यह देख कर हिन्दी के समालोचक बिगड़ उठें और लगें उसकी खबर लेने। उन्होंने दन्त्य 'स्' का प्रयोग अशुद्ध ठहराया है। उनकी यह पकड़ सर्वथा उचित है, और भी, यदि दो-चार भूले-भटके लेखक इस शब्द में दन्त्य 'स्' का प्रयोग करें तो उनका भी वह प्रयोग अवश्य ही अशुद्ध माना जायेगा। परन्तु यदि श्याममनोहर के सैकड़ों अनुयायी उत्पन्न हो जायें और वे भी, जानबूझ कर, तालव्य के स्थान पर दन्त्य ही 'स्' लिखने लगें तो क्या हो? तो क्या वह शब्द तब भी अशुद्ध ही माना

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जा सकेगा? यदि माना जाये तो कहना पड़ेगा कि हिन्दी भाषा मर गयी। तो यही समझना होगा कि वाग्धारा का प्रवाह सेवक है और व्याकरण उसका स्वामी। परन्तु बात नितान्त अस्वाभाविक और बे-जोड़ है। व्याकरण तो वाग्धारा का दास है। स्वामित्व उसके भाग्य में कहाँ?

व्याकरण का काम सिर्फ़ इतना ही है कि लोग जैसी भाषा बोलें या लिखें उसकी वह संगति मात्र लगा दे। उसके नियम मात्र वह बता दे। उसे यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि तुम इस तरह बोलो, या इसी तरह लिखो, या इस शब्द का प्रयोग इसी लिंग में करो। इस तरह का विधान करने वाला व्याकरण कौन है? उसे तो शिष्ट लेखकों और वक्ताओं की आज्ञा के पालन मात्र का काम सौंपा गया है। उसे वह करे। यदि वह उसके आगे जायगा तो आज्ञोल्लंघन का अपराधी होगा। दो आज्ञाओं के पेंच में पड़ने पर उसका कर्तव्य केवल इतना ही है कि दोनों प्रकार के प्रयोगों को वह साधु प्रयोग माने। वह कहे कि 'श्याम' भी ठीक है और 'स्याम' भी ठीक है। अपप्रयोग तभी तक माना जा सकता है जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को, प्रचलित रीति के प्रतिकूल बोलते या लिखते हैं। परन्तु यदि धीरे-धीरे सैकड़ों मनुष्य उसे उसी तरह लिखने लगते हैं तब वह अपप्रयोग नहीं रह जाता, तब तो वह भी साधु प्रयोग हो जाता है।

हिन्दी में दही शब्द पुँल्लिग (संस्कृत पुंल्लिग) माना जाता है, क्योंकि अधिकतर बोलने और लिखने वाले उसे उसी लिंग में व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि जिले-के-जिले और प्रान्त-के-प्रान्त उसे स्त्रीलिंग में व्यवहार करें—और मैं सुनता हूँ कि बिहार प्रान्त में हज़ारों आदमी ऐसा करते भी हैं—तो वह उभयलिंगी हो जायगा। न तो देहली, आगरा, लखनऊ, कानपुर और बनारस वालों ही को भगवती वाग्देवी ने इस तरह की आज्ञा दे रखी है कि लिंग निर्णय करने के वही अधिकारी हैं और न किसी वैयाकरण ही को इस तरह का कोई अनुशासन-पत्र उससे मिला है। जिस शब्द का प्रयोग जिस लिंग में लोग करेंगे, वह उसी लिंग का समझा जायगा। यदि दोनों लिंगों में बोला जाता होगा तो वह उभयलिंगी हो जायगा।

जितनी भाषाएँ हैं सब अपनी-अपनी विशेषता रखती हैं। उनके शिष्ट लेखक जिस शब्द को, जिस लिंग को मान लेते हैं, वही लिंग उसका हो जाता है। अर्थात्, चन्द्रमा में क्या किसी ने स्त्रीत्व का कोई चिह्न देखा है? फिर वह अंग्रेज़ी भाषा में क्यों स्त्रीलिंग हो गया है? अमरीका, फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों और महादेशों में क्या स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ रहती हैं? फिर वे स्त्रीलिंग कैसे हो गये? इस तरह की विलक्षणता से शायद कोई भी भाषा खाली न होगी। संस्कृत भाषा तो विलक्षणताओं की खान ही है। देखिये—

१. मति—शब्द पुँल्लिग भी है और स्त्रीलिंग भी।

२. दिव्य—शब्द विशेषण भी है, पुँल्लिग भी है और क्लीव लिंग भी।

३. साधु—शब्द विशेषण भी है, अव्यय भी है, पुँल्लिग भी है और स्त्रीलिंग भी।

संस्कृत भाषा के कुछ शब्द तो वाग्धारा के और भी अधिक विभागों में घुस गये हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी विलक्षणता का ठिकाना नहीं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

संस्कृत में एक शब्द है दार। वह जब दर्ज या छेद के अर्थ में आता है तब तो पुँल्लिग होता ही है, पर जब स्त्री या पत्नी के अर्थ में आता है तब भी पुँल्लिग ही बना रहता है और इतनी विशेषता और विलक्षणता और भी धारण कर लेता है कि बहुवचन बनकर वह दारा हो जाता है। इस दशा में चाहे वह एक ही पत्नी का बोधक क्यों न हो, अपना बहुत्व वह नहीं छोड़ता। बतलाइये, वैयाकरण बेचारे किस-किस शब्द को लिंग-निर्देश की भूलें बतलावेंगे? सच तो यह है कि ये भूलें नहीं। बोलने और लिखने वालों ने जिस शब्द का प्रयोग जिस लिंग में जिस तरह किया है, वैयाकरणों ने केवल उसका उल्लेख कर दिया है—केवल उन प्रयोगों की संगति लगाकर उन्हें नियमबद्ध कर दिया है।

हिन्दी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपों में सादृश्य रहे। वे किसी-न-किसी नियम के अधीन जरूर रहें। एक उदाहरण लीजिये। वे कहते हैं कि जाना धातु का भूतकाल में पुँल्लिग रूप होता है 'गया' अतएव स्त्रीलिंग में वह होना चाहिए 'गयी'। अर्थात्, उस गई में अकेली इ-कार ही न रहे, य अर्थात् य-कार को भी वह अपने साथ रखे। 'गया' का उद्भव हुआ है 'जाना' धातु से। उस जाना में न ग-कार है, और न य-कार ही। सो गया में 'जाना' धातु के दोनों वर्णों का सर्वथा लोप हो जाना तो उन्हें सह्य है, पर 'गया' के स्त्रीलिंग में यदि य-कार का लोप कर दिया जाय तो वह उन्हें सह्य नहीं। कुछ लोग तो इसके भी आगे जाते हैं। वे 'लिया' और 'दिया' के रूप में स्त्रीलिंग में 'ली' और 'दी' न लिख कर 'लिई' और 'दिई' लिखने की सलाह देते हैं। एक सज्जन ने तो कुछ समय तक, इस सलाह को कार्य में परिणत भी कर दिखाया। यह बात इतनी ही नहीं, इसके भी बहुत आगे बढ़ गयी। सरलता के कुछ पक्षपातियों की राय तो यह है कि क्रियाओं को लिंग-भेद के झमेले से एकदम ही मुक्त कर देना चाहिए, जिससे अहिन्दी भाषाभाषियों को हिन्दी के अध्ययन में सुविधा प्राप्त हो सके।

क्या जीती-जागती भाषाओं की वाग्धारा का प्रवाह किसी वैयाकरण या भाषावेत्ता या लेखकों के रोकने से रुक सकता है? सिन्धु या ब्रह्मपुत्र का प्रवाह क्या दो-चार धूल-कण या तृण डाल देने से बन्द हो सकता है? यदि ऐसा होता तो हम लोगों को जगह-जगह पर क्यों अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की शरण जाकर यह कहना पड़ता कि अमुक आचार्य इस प्रयोग या इस शब्द के इस रूप को भी शुद्ध मानता है और अमुक उस रूप को भी? क्यों हमें अनेक बार इस बात का निर्देश करना पड़ता कि पूर्व वाले इस तरह बोलते या लिखते हैं और पश्चिम वाले इस तरह? सौ बात-की-बात यह है कि मुँह और लेखकों की लेखनी वैयाकरण नहीं बन्द कर सकते।

एक शब्द या एक पद दो तरह भी लिखा जा सकता है और यदि दोनों रूपों के आश्रयदाता शिष्ट जन हैं तो वे दोनों ही प्रचलित हो जाते हैं, और दोनों ही शुद्ध माने जाते हैं। इसमें न तर्क काम देता है, न व्याकरण, न कोश। संस्कृत शब्द कोसल दन्त्य 'स' से भी लिखा जाता है और तालव्य श् से भी। स्वयं कोष शब्द में भी मूर्द्धन्य ष् और तालव्य श् दोनों को आश्रय देना पड़ा है।

धातुओं का भी यही हाल है। उनमें भी सभी कहीं नियमों का एकाधिकार नहीं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्री और स्त्री शब्द दोनों सदृश हैं। दोनों का वज़न भी एक ही-सा है। पर कर्त्ता कारक, प्रथम-विभक्ति में स्त्री तो स्त्री ही रह जाती है, श्री के आगे विसर्ग कूद पड़ते हैं और वह श्रीः में परिवर्तित हो जाती है। अब उल्टी विचित्रता देखिए। द्वितीय विभक्ति के योग में श्री शब्द का एकवचनान्त रूप होता है श्रियम् और बहुवचन श्रियः। इसी तरह स्त्री शब्द के भी रूप होते हैं स्त्रियम् और स्त्रियः। परन्तु जिस जमाने में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, उस जमाने में कुछ लोग वैसे ही बिगड़ेदिल थे जैसे आजकल—'गया' के स्त्रीलिंग में य-कार का बहिष्कार करके केवल ई-कार को स्वीकार करने वाले हैं। वे स्त्रियम् और स्त्रियः के बदले 'स्त्रीम्' और 'स्त्री' लिखते और बोलते रहे। नतीजा यह हुआ कि वैयाकरणों को झख मार कर उनके स्वीकृत रूपों को भी शुद्ध ही मानना पड़ा।

निष्कर्ष यह कि वाग्धारा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। एक शब्द या एक पद दो रूपों में भी प्रचलित हो सकता है और प्रचलित हो जाने से वैयाकरणों को अपने व्याकरणों में दोनों ही को स्थान देना पड़ता है। कोई लेखक भ्रमवश किसी शब्द का विरूप प्रयोग करे तो वह अवश्य अशुद्ध है। पर शिष्ट लेखकों के द्वारा जानबूझ कर किये गये ऐसे प्रयोग अशुद्धि की कोटि से निकल कर शुद्धि की कोटि में चले जाते हैं। इस विभिन्नता या इस दृश्य को देखकर किसी का उपहास करना स्वयं अपने को उपहास्य बनाना है। हाथी के लिए यदि कोई यह कह दे कि वह आती है तो हिन्दी के वैयाकरण उसका मजाक जरूर उड़ावें। पर हाथी ही का पर्यायवाची शब्द 'करेणु' संस्कृत में पुंल्लिग भी है और स्त्रीलिंग भी।

मेरा निवेदन है कि हिन्दी रचना और देवनागरी लिपि के सुधार में ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम न लिया जाये; औचित्यपूर्ण और सुविधाजनक निर्णय होना चाहिए। मैं गदर का पक्ष-पाती नहीं। गदर मचाने वालों का तो कहीं भी गुजर नहीं। पकड़े जाने पर उन्हें अवश्य ही दण्ड दिया जावे। उनका निग्रह होना ही चाहिए। परिशिष्ट लेखकों के अनुगामी लोग बागी या अपराधी न समझे जायं।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मातृभाषा की महत्ता

⊙⊙

मातृभाषा की महत्ता अपूर्व है। यह देश बड़ा विशाल है। इसमें अनेक प्रान्त हैं। कई प्रान्तों की अपनी अलग-अलग मातृभाषाएँ हैं। सभी को अपनी मातृभाषा का बड़ा गर्व है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तेलुगु, कन्नड, तमिल, मलयालम, उड़िया, बंगाली, असमी करोड़ों भारतीयों की मातृभाषाएँ हैं। इन मातृभाषाओं का साहित्य गौरवपूर्ण है। अनेक साहित्य-निर्माताओं और लेखकों ने इन भाषाओं को समृद्ध बनाया है और आज भी उसे गौरवान्वित कर रहे हैं। इन मातृभाषाओं के अतिरिक्त, अनेक बोलियाँ भी इस देश में बोली जाती हैं। उनकी अपनी परम्पराएँ और इतिहास हैं। भाषाविज्ञान तथा साहित्य की दृष्टि से मातृभाषाओं और बोलियों की बड़ी महत्ता है।

हमारी मातृभाषा हिन्दी है, क्योंकि हमारा निवास हिन्दी प्रदेश है। यह लगभग भारत के आधे भाग में बोली जाती है और यहाँ के निवासियों की मातृभाषा है। हिन्दी संस्कृत की पुत्री है, इस कारण यह समस्त देश में किसी-न-किसी रूप में समझी जाती है। चूँकि इसके बोलने और समझने वालों की संख्या भारत में सबसे अधिक है इसीलिए इसे राष्ट्रभाषा का पद दिया गया है। भारत के अनेक निर्माताओं और मनीषियों ने तो वर्षों पूर्व हिन्दी को राष्ट्रीय एकता को एक सूत्र में बाँधने वाली बतलाया है। यह तथ्य की बात भी है। राष्ट्र की स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान परिषद् ने भी इसी कारण हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया है।

हिन्दी की माता कौन है ? मातामही कौन है ? प्रमातामही कौन है ? किस समय उसका उद्भव हुआ ? कैसे-कैसे विकास होते हुए उसे उसका आधुनिक रूप मिला ? हिन्दी के कौन कवि, लेखक या उन्नायक कब हुए ? उन्होंने उसकी कितनी सेवा या उन्नति की ? कब कौन ग्रन्थ उन्होंने लिखे ? उनसे हिन्दी साहित्य को कितना लाभ पहुँचा ? इसका निरूपण भी साहित्य के इतिहासकारों ने भलीभाँति किया है।

मुझे तो केवल एक बात बता देना है कि मनुष्य की मातृभाषा उतनी ही महत्ता रखती है जितनी कि उसकी माता और मातृभूमि रखती है। एक माता जन्म देती है, दूसरी खेलने-कूदने, विचरण करने और सांसारिक जीवन-निर्वाह के लिए स्थान देती है, और तीसरी मनोविचारों और मनोगत भावों को दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति देकर मनुष्य जीवन को सुखमय बनाती है। क्या ऐसी मातृभाषा की विपन्नावस्था देखकर जानकार जनों की आँखों से आँसू नहीं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टपकते ? क्या ऐसी मातृभाषा से कतिपय लोगों को पराङ्मुख होते देख मातृभाषाभिमानियों का हृदय विदीर्ण नहीं होता ? जो अपनी भाषा का आदर नहीं करता, जो अपनी भाषा से प्रेम नहीं करता, जो अपनी भाषा के साहित्य की पुष्टि नहीं करता, जो अंग्रेजियत में लिप्त हो गया है, वह अपनी मातृभूमि की उन्नति कदापि नहीं कर सकता। उसके सच्चे स्वराज्य का स्वप्न, उसके देशोद्धार का संकल्प, उसकी देशभक्ति की दोहाई, बहुत-कुछ निःसार है। उसकी प्रतिज्ञाएँ और उसके प्रचारण और आस्फालन बहुत ही थोड़ा अर्थ रखते हैं। मातृभाषा की उन्नति करके एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों को जब तक साधारण झोपड़ियों तक में रहने वाले भारतीयों के हृदयों में जागृत नहीं कर दिया जायेगा तब तक राष्ट्रीय मनोभिलाषा पूरे तौर पर कदापि सफल होने की नहीं। क्या इस पृथ्वी की पीठ पर एक भी देश ऐसा है जहाँ शासन सम्बन्धी स्वराज्य तो है, पर मातृभाषा सम्बन्धी स्वराज्य नहीं ? विजित देशों पर विजेता क्यों अपनी भाषा का भार लादते हैं ? आस्ट्रिया के जिन प्रान्तों पर इटली का अधिकार हो गया है वहाँ छल, बल और कौशल से क्यों इटालियन भाषा ठूँसी गयी है ? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रान्तों में अपनी ही भाषा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचण्ड प्रयत्न कर चुका है ? कई वर्ष पूर्व जर्मन शासन ने जर्मन अफसरों और कर्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूर प्रान्त में, फ्रान्सवालों के कहने से, खबरदार, अपनी भाषा छोड़कर फ्रान्स की भाषा का कदापि व्यवहार न करना ? मुँह से जो शब्द निकालना, जर्मन भाषा ही के निकालना। इसका एक मूल कारण स्वाधीनता और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है। यदि भाषा गयी तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गयी ही समझिए। बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वतन्त्रता की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। जो लोग इस तत्त्व को समझते हैं वे मर-मिटने तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते। दक्षिणी अफ्रीका में, अपने अस्तित्व नाश का अवसर आ जाने पर भी, बोरों ने अपनी भाषा को अपने से अलग नहीं किया, हज़ार प्रयत्न करने पर भी उन्होंने वहाँ विदेशी भाषा के पैर नहीं जमने दिये। जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्त्व को समझते हैं, जो एकता के जादू को जानते हैं, वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते, कभी उसके पोषण और परिवर्द्धन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपनी भाषा नहीं बनाते। ज़िन्दा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता; उन अभागे देशों में तो ठीक इसके विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दुस्तानी या अंग्रेज

⊙⊙

वीर का अधःपतन

वीर के अधःपतन से अधिक करुणापूर्ण नाटक संसार में नहीं होता। साहित्य में भी कोई विरला ही प्रतिभाशाली कवि इसके दिखलाने में सफल हो सकता है। दुष्ट दुर्योधन का अधःपतन तो निश्चित ही है। वह तो अपनी दुष्टता के भार से आप ही नीचे गिरा जाता है। इयागो (Iago) की दुष्टता द्वारा ओथेलो (Othello) और उनकी प्राण-प्रिया के प्राण जाने का दृश्य खींचना भी कुछ बड़ी प्रतिभा का काम नहीं है। मेघनाद का वध भी दुःखान्त दृश्य नहीं है और व्यूहचक्र में फँसे अभिमन्यु के वीरगति पाने में भी करुण रस नहीं है। पद्मावती का अग्नि में भस्म होना वा सीता-त्याग के पीछे सीता जी का कष्ट—यह सब सह्य है। दुःख और कष्ट तो वीर के लिए भूषण हैं। भीष्म पितामह के शरीर में बिंधे हुए शरों को देख किसी भीरु के हृदय में करुणा का उत्पादन होता होगा। मेघनाद और अभिमन्यु के पराक्रम के साथ करुणा उत्पन्न कराने का यत्न मूर्खता है। सत्य का पक्ष कर अपने को चाण्डाल के हाथ बेंचने और रोहिताश्व के मृत शरीर से एक टुकड़ा वस्त्र माँगने में करुणा कैसी ? यह तो अग्नि-परीक्षा है। सुवर्ण अधिक तेजोमय करने के लिए तपाया जा रहा है। हाँ ! दया के आँसू तब गिरते यदि कहीं हरिश्चन्द्र धर्म से विचलित हो कष्ट से मुँह मोड़ते ! हमें धृतराष्ट्र से अधिक करुणोत्पादक व्यक्ति महाभारत में नहीं मिला। आँसू उस समय भी आते हैं जब अर्जुन के हृदय में सन्देह होता है और वे कातर होकर गाण्डीव धर कृष्ण भगवान् से युद्ध से हटने का प्रस्ताव करते हैं। महाराणा प्रताप के जीवन के नाटक में सबसे अधिक रुलाई मुझे उस समय आयी जब वीर प्रताप कष्टों से घबड़ा कर बालकों के दुःख के बोझ से दब अकबर का दासत्व स्वीकार करने के लिए पत्र लिख रहे हैं। ओह ! यह वीर हृदय का दुःख है, जकड़े हुए सिंह का रुदन है। सामने से सिर झुकाकर हट जाओ, यह तुम्हारे देखने योग्य नहीं है। तुम इसके गौरव और पवित्रता को समझ ही नहीं सकते। शेक्सपियर की प्रतिभा की पराकाष्ठा उसके "किंग लियर" में है। किन्तु वहाँ भी दुःखों से "लियर" को अन्त में पागल बना और दुःखों के दुःखपन को निकाल शेक्सपियर ने अपना काम सरल कर लिया। उनकी भी प्रतिभा यह दिखालने में असमर्थ हुई कि जागता-जीता वीर किस प्रकार से अपना अधःपतन देखता है—बाह्य कष्ट नहीं किन्तु आन्तरिक उत्स—किस प्रकार से उसके हृदय-मण्डल में भावों का युद्ध होता है और किस प्रकार से वह लड़ता हुआ भी गिरता जाता है। सम्भव है कभी कोई अधिक प्रतिभाशाली कवि, कोई

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ईश्वरीय आत्मा इसे दिखाने में भी समर्थ हो; अथवा सम्भव है यह मनुष्य की शक्ति ही के बाहर हो।

वीरों की जीवनी का, जाति का, इतिहास है। जाति के करुणोत्पादक नाटक का रचयिता कहाँ है? भारतवर्ष के इतिहास का नाटक लिखनेवाला क्या कोई है, जो हमारे उन असह्य दुःखों का चित्र खींचता, जिसको सहते हुए हमारी दशा बिगड़ती गयी? उन कष्टपूर्ण और हृदयविदीर्ण करनेवाले भावों को सामने निकालकर दिखलाता जिनकी खींचातानी में हमारी हार होती गयी और हम नीचे ही खिसकते गये और दुर्बल होते गये? कभी जब मैं इस विषय पर अधिक विचार करने लगता हूँ तो मेरी बुद्धि इस बात पर चक्कर खाने लगती है कि इस देश का झुकाव किस प्रकार से नीचे की ओर होता चला गया, जहाँ के सामाजिक आदर्श सब ही प्रायः इस प्रकार के थे जो समाज के उत्थान में सहायक हों। जिस देश की वीरता, सत्यपरायणता, दृढ़ चरित्र बुद्धिबल और नीतिज्ञता के आदर्श भीष्मपितामह थे, जहाँ वीरता और पराक्रम मानो साधारण बातें थीं, जहाँ लक्ष्मी होते हुए भी सदा सरस्वती का आदर था, जहाँ के समाज-नियमों में धनाढ्य का उतना आदर न था जितना पण्डित और चरित्रवान् का, जहाँ के चरित्रवान् और बुद्धिमान् धनहीनों का पद राजाओं के पद के ऊपर था, जहाँ ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा शिक्षा की वह शैली थी जिसके ही सहारे पृथ्वी का उद्धार होना सम्भव है—सारांश यह कि जहाँ के आदर्श ऐसे उच्च थे जो मनुष्य को सब प्रकार की नीचता, लोभ और भोगलिप्सा से हटाते थे, वहाँ का किस प्रकार से पहला उतार हुआ, यह सचमुच तनिक भी बुद्धि में नहीं आता।

वसुधैव कुटुम्बकम्

हिन्दुस्तानी इसी प्राचीन, अनोखी और उच्च सभ्यता का प्रतिनिधि है। इसका प्रकाश किसी काल में जगत् में व्याप्त था और इसकी सुगन्धि आज भी पृथ्वी मण्डल के सहृदयों को आनन्द देती है। इस सभ्यता की शृंखला का एक सिरा इस समय भी उसके हाथ में है। आज भी वह पश्चिमीय चमक-दमक और दिखलाव के संसारी ऐश और आराम के पदार्थों से घिरा हुआ भी चातक की भाँति अपने पुराने चित्र की ओर करुणामयी आँखों से देख रहा है। जल-वृष्टि के बीच में वह प्यासा उसी बूँद की बाट देख रहा है। अपने अधःपतन की लज्जा से संकुचित हो, वह संसार के सामने मुँह दिखाने का साहस नहीं करता। स्वाभाविक संकोच उसे कोने में घसीट रहा है और हृदय के मसोसनेवाले भाव उसको तीर के समान व्यथित कर रहे हैं। वह संसार भर का भला चाहता हुआ किसी को लाभ पहुँचाने की शक्ति नहीं रखता। वह दूसरे का दारिद्रय दूर करना चाहता है किन्तु अपने पास कौड़ी नहीं देखता। वह असहाय को अत्याचारी के अत्याचार से दबा हुआ देखता है, पुराना हृदय उमड़ पड़ता है, हाथ शस्त्र ढूँढ़ने लगते हैं किन्तु फिर अपने को ज़ंजीर से जकड़ा पाता है और कृष्ण भगवान् के लोप के पीछे अर्जुन की-सी अवस्था देख अपनी गयी हुई शक्ति पर रो देता है। उसको प्राणी मात्र प्रिय है। उसके हृदय के प्रेम के अथाह सागर के सामने संसार भी छोटा है। वह पृथ्वी भर को अपना कुटुम्ब मान सब की सहायता करने को तत्पर है। उसकी उदारता ही उसकी बाह्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दुर्बलता का एक मुख्य कारण है। उसने "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त का अनुसरण कर अन्य देश और धर्मवालों को भी अपने में मिला लिया और उनकी रक्षा की, किन्तु और लोग उसके कुटुम्बी बन उसका सांसारिक सुख तो ले गये और अब उसको दरिद्र बना उसके बुरे दिनों में उसकी दिल्लगी उड़ाने को तैयार हैं। अपने इतिहास में उसने न जाने कितने परिवर्तन देखे, कितनी जातियों को अपने में मिला लिया। अंग्रेज़ी जाति को भी, उस समय जब वे सौदागर के रूप में उसके अतिथि बनकर आये, उसने सहारा दे भारतवर्ष में रख लिया। उसका अधःपतन होता गया, उसकी शक्ति घटती गयी, किन्तु अंग्रेज़ों की उन्नति होती गयी। अंग्रेज़ की उन्नति तो हुई किन्तु उसकी जाति ने जो घोर कृतघ्नता हिन्दुस्तानी के साथ की है, उसका उसको प्रायश्चित्त कभी-न-कभी अवश्य करना है।

साँप में मणि

भारतवर्ष का नीचे की ओर झुकाव कैसे हुआ यह तो कठिन समस्या है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ों के आगमन ने उनके उतार में मानो करारा धक्का दे दिया। पुरानी गाथा के गाने का यहाँ अवसर नहीं है। प्रत्येक इतिहास पढ़ने वाले यह जानते हैं कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ों का आगमन किस अभिप्राय से हुआ था और किस नीचता, अन्याय, असत्य और अधर्म की नींव पर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतवर्ष में अपने शासन की भीति उठायी थी। उन पुरानी बातों पर अब परदा डाल देना ही अच्छा है। ईश्वर की लीला भी अपार है। बुराई से प्रायः जगत् में भलाई हो जाती है, कष्ट में रास्ता दिखलायी पड़ जाता है और दुःख से सुख उत्पन्न होता है। अंग्रेज़ इस समय भारतवर्ष में पश्चिमीय सभ्यता का प्रतिनिधि है। वह राजनीतिक स्वत्वों का महत्त्व जानता है। उसका सारा इतिहास स्वत्व-रक्षा की कठिन लड़ाई का वृत्तान्त है। उसने जो-जो त्याग अपने स्वत्वों के लिए किये हैं, उन्हें वह भूल नहीं सकता। उसमें राजनीतिक बातों में स्वाभाविक स्वतन्त्रता है, पश्चिमीय विज्ञान की बातों में स्वाभाविक स्वतन्त्रता है, पश्चिमीय विज्ञान से वह परिचित है और उस विज्ञान को किस प्रकार से संसारी सुखों के काम में लगाना चाहिए, इसे वह अच्छी तरह जानता है और बराबर अपने विज्ञान द्वारा वह बड़े-बड़े काम कर रहा है। इसके साथ ही, उसमें अवगुण भी बहुत हैं। एक तो पश्चिमीय सभ्यता ही की त्रुटियाँ उसमें हैं, दूसरे उसमें जातीय अवगुण हैं, और तीसरे भारतवर्ष में शासन के कारण उसके जातीय अवगुण चौगुने हो गये हैं। अतुल लोभ, स्वार्थ, दूसरों के दुःख की ओर से उदासीनता, दूसरे से बर्ताव करने में धूर्तता—ये दोष उसके वाक्यों और कामों में टपकते हैं। किन्तु प्रत्येक मनुष्य वा जाति के गुण वा दोष की सीमा है। स्वयं उसके विचार ही उस पर अंकुश का काम करते हैं। अंग्रेज़ों का हिन्दुस्तानियों के साथ समागम जहाँ हिन्दुस्तानियों के लिए दुःखदायी हुआ, वहाँ यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दुस्तानी ऐसी सभ्य जाति अंग्रेज़ों के साथ रहने के कारण पश्चिमीय विद्या, विचार और स्वातन्त्र्य-प्रेम उनसे सीखे और उनके गुण-दोष का विवेचन करे। इस प्रकार यद्यपि अंग्रेज़ ने अपने ही स्वार्थ के लिए कार्य किया, तथापि बुराइयों से ही भारतवर्ष के लिए सुख के साधन निकलने की आशा दीख पड़ रही है। इसका यह

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अथ नहीं है कि यदि अंग्रेज़ भारतवर्ष में न आते तो पश्चिमीय विचारों से भारतवर्ष अपरिचित रहता। यह कहना इतिहास के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता प्रकाशित करना होगा। किन्तु संसार के उत्थान के गूढ़ कारणों में जान पड़ता है यही लिखा था कि पश्चिमीय देश भारतवर्ष को अंग्रेज़ों द्वारा ही जानें और भारतवर्ष अंग्रेज़ों द्वारा पश्चिमीय विचारों से परिचित हो। जापान के उत्थान में किसी पश्चिमीय जाति ने सहायता नहीं दी। चीन भी अपने ही पाँव खड़ा हो रहा है। यदि हिन्दुस्तानी भी अपने ही क्रम के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी उन्नति करने के लिए छोड़ दिया जाता और सहायता के रूप में बाह्य बाधाएँ न आतीं, तो उसकी दशा जो आज दिन है उससे बहुत ही भिन्न होती।

नीम और इमली

अस्तु, अब हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ उपस्थित है—प्रश्न बड़ा भारी यह है कि हिन्दुस्तानी वा अंग्रेज़ की भारतवर्ष में क्या स्थिति आगे रहेगी। भारतवर्ष हिन्दुस्तानी का घर है। उसका धर्म, उसका भाव, उसकी मर्यादा, भारतवर्ष के साथ बद्ध है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उसके पूर्वजों के गौरव का इतिहास है। भारतवर्ष के पर्वत उसके तीर्थस्थान हैं, उसकी नदियाँ उसके हृदय को स्वच्छ करने की पवित्र धाराएँ हैं। उसके पूर्वजों की धूलि भारतवर्ष की पृथ्वी में है, अपनी अन्तिम क्रिया की वह भारतवर्ष ही में आशा करता है, अपनी सन्तान का भारतवर्ष में उत्पन्न पदार्थों से पोषण करता है, भारतवर्ष में उत्पन्न महर्षियों के चरित्र सुनाता है और भारतवर्ष में कार्य करने की शिक्षा देता है। अंग्रेज़ के लिए भारतवर्ष एक विचित्र स्थान है जहाँ भाँति-भाँति की जातियाँ रहती हैं, जहाँ के लोग विचित्र प्रकार के वस्त्र पहनते हैं, जहाँ के भाव उसके भावों से बहुत भिन्न हैं, जहाँ के आदर्श उसके जन्म के सीखे हुए सम्पत्तिशास्त्र के आदर्शों के बिलकुल विरुद्ध हैं, जहाँ के गूढ़ धर्म उसकी बुद्धि के परे हैं—सारांश यह कि यहाँ की कुल बातें ऐसी हैं जिनके साथ वह स्वभाव ही से सहानुभूति नहीं रख सकता। उसके लिए भारतवर्ष केवल रुपया पैदा करने, शिकार और पोलो खेलने और हुकूमत करने का स्थान है, वहाँ के वासी गणित की संख्याएँ हैं जो मनुष्यगणना की रिपोर्ट में सामने आ जाते हैं, वह शतरंज की गोटें हैं जो जीत-हार के लिए खसकायी और मारी जा सकती हैं। उसके हृदय का कुछ भी सम्बन्ध उस देश वा देशवासियों से नहीं है। हिन्दुस्तानी का अस्तित्व देश के प्रबन्ध के बनने वा बिगड़ने पर निर्भर है। अंग्रेज़ के लिए अधिक-से-अधिक वह केवल नेकनामी वा बदनामी की बात है। पृथ्वी का कर हिन्दुस्तानी के लिए एक रोटी वा दो रोटी का प्रश्न है, अंग्रेज़ के लिए वह केवल सम्पत्तिशास्त्र का एक रोचक मसला है। न्याय और प्रबन्ध विभाग को अलग करना वा एक में रखना हिन्दुस्तानी के लिए घोर अत्याचार वा जीव-रक्षा का विषय है, अंग्रेज़ के लिए वह अधिकार और हुकूमत का प्रश्न है। हिन्दुस्तानियों के लिए प्रारम्भिक और औद्योगिक शिक्षा देश में सबसे आवश्यक विषय हैं, अंग्रेज़ के अनुसार पुलिस, रेलवे और फौज इन पर धन और शक्ति का लगना आवश्यक है—सारांश यह कि अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी के विचार बिलकुल एक-दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं, यदि एक कहता है नीम तो दूसरा कहता है इमली।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आन्तरिक भाव

हिन्दुस्तानियों के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों के आन्तरिक भाव क्या हैं, इनका अभी सरकारी नौकरी सम्बन्धी कमीशन के सामने जो गवाही हुई है उससे अच्छा पता लगता है। हिन्दुस्तानियों के प्रति घृणा की मात्रा में भिन्न-भिन्न अंग्रेज़ों में कुछ अन्तर है और शब्द-चातुरी और अलंकार के पाण्डित्य में भी भेद है। किन्तु अर्थ-गौरव की कमी किसी में भी नहीं है। लेगर्ट (Leggart) और मैरिस (Marris) में भावों को श्लेष द्वारा छिपी रीति से प्रकट करने का गुण नहीं है। इसी से इन्होंने स्पष्ट खुले शब्दों में वे भाव प्रकट कर दिये जो प्रायः सब ही अंग्रेज़ों के चित्त में हिन्दुस्तानियों के सम्बन्ध में हैं। सिविल सर्विस की परीक्षा भारतवर्ष और इंग्लैण्ड दोनों स्थानों में हो वा केवल इंग्लैण्ड में—यह यदि केवल नौकरी का प्रश्न होता तो कुछ अधिक महत्त्व का न था किन्तु वास्तविक प्रश्न हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ों की स्थिति का है। अंग्रेज़ों के भावों की इस प्रश्न के साथ परीक्षा थी। उनके उस ऊपरी ढोंग की कि वे हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानियों के उत्थान के अभिलाषी हैं, यह कसौटी थी। परिणाम क्या हुआ? देखाऊ सोना बिलकुल नकली निकला। हिन्दुस्तानियों को भी अंग्रेज़ों के मार्मिक भावों का पता लग गया। उनकी आँख से परदा हट गया। वे इस बात को समझ गये कि—उनके ही देश में उन्हें एक विदेशी जाति अयोग्य बना कर, लोभ और स्वार्थवश, उनकी उन्नति में बाधा डालने के लिए—चीन की दीवाल बन कर क़हक़हा के समान खड़ी है। हिन्दुस्तानी किसी जाति से घृणा नहीं करता, अंग्रेज़ जाति को अपने देश से निकालना नहीं चाहता। प्रत्येक अंग्रेज़ को वह अपना शासक मानने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं है किन्तु वह अंग्रेज़ के गुण की प्रशंसा कर उसके देश में रहने से प्रसन्न है। उसका वह अपने देश में आदर करता है और देशी रियासतों तक में वह उसे उसके गुण के अनुसार अच्छे पद देता है, किन्तु यदि अंग्रेज़ यह षड्यंत्र करे कि वह हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी को सदा दाब कर वा भुलावा देकर रखे, तो उसकी भूल है। नीचता और स्वार्थ की नींव पर देश वा जाति का बड़प्पन स्थायी रूप से नहीं बन सकता। प्रेम की नींव पर राष्ट्रीयता खड़ी होती है, घृणा पर नहीं। प्रेम और घृणा अपने ही समान शक्ति अन्य पदार्थ में पैदा करते हैं और फिर दोनों पदार्थ या एक-दूसरे के पास आते हैं या एक-दूसरे से हटते जाते हैं। यह हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ के हाथ में है। भारतवर्ष के अंग्रेज़ नहीं चेतते तो यह इतना बड़ा प्रश्न है कि इंग्लैण्ड के बड़े राजनीतिज्ञों को कुछ दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए।

नयी सीढ़ियाँ

हिन्दुस्तानी के सामने राजनीतिक प्रश्न और ही रूप धारण करता है। व्यक्तियों के अनुसार जातियों के सम्बन्ध में यह नियम है कि वे मानो एक ढालू चट्टान पर बैठी रहती हैं। जब तक वे अपने आदर्श और कर्मों में दृढ़ चट्टान के ऊपर हैं तब तक उनकी स्थिति को कोई नहीं बिगाड़ सकता, किन्तु जहाँ वे एक बार स्थान से विचलित हुईं और ढाल पर तनिक-भी भी खसकीं कि उनका सम्हलना कठिन हो जाता है और अन्य जातियाँ उनको और नीचे

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ढकेलने के लिए धक्का देने को तैयार रहती हैं। ऐसी अवस्था में इन जातियों के लिए बुद्धिमत्ता यही है कि वे, यदि सम्भव हो तो, कहीं पर रुककर किसी दूसरी राह द्वारा फिर ऊपर आवें अथवा अधःपतन में भी नीचे पहुँचते-पहुँचते जीवित रह फिर दृढ़ता और वीरता के साथ शिखर पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाना आरम्भ करें। हिन्दुस्तानी भी यह समझता है कि अब हम अपने अधःपतन में अन्तिम अवस्था को पहुँच गये। चारों ओर उससे यह कहा जा रहा है कि तुम गिरे हुए हो, असभ्य हो, शक्तिहीन हो। उसकी मान-मर्यादा कुचली जा रही है, उसके माथे पर गरम लोहे का दाग लगाया जा रहा है। वह भी अपना अधःपतन देख रहा है। कौन है कवि जो इस समय उसके हृदय की व्यथा का अनुमान कर सकता है? कहाँ है वह चित्रकार जो इसकी अवस्था को चित्रित करे? यदि सच्ची करुणा का दृश्य देखना है तो इस व्यथित भारतवासी के हृदय को खोलकर देखो। किन्तु भारतवासी, तुमको इस दशा में कब तक रहना है? दया और करुणा का पात्र बनना लज्जा की बात है। कर्तव्यपरायणता और वीर रस का सञ्चार ही मनुष्य की शोभा है। तो क्यों नहीं सम्हलते और हृदय पर हाथ रख दृढ़ हो, पहाड़ की गोद में अपनी सीढ़ियाँ अपने हाथ से बनाते? संसार तुम्हारी राह देख रहा है। संसार को इस समय तुम्हारे उठने की कठिन आवश्यकता है। काँच और हीरे के परखने वाले तुम्हीं हो। संसार काँच को हीरा समझ उसके पीछे दौड़ रहा है, मरुभूमि को अमृततुल्य जलाशय समझ भागा जा रहा है। जानकार तुम्हीं हो। तुम्हीं क्षुधित संसार को जलाशय का पता दे सकते हो। किन्तु इस समय तुम्हारी बुद्धि भ्रम में हैं। तुम चेतो, स्थितचित्त हो, सावधानबुद्धि और दृढ़प्रतिज्ञ हो। तुम्हारा दायित्त्व बड़ा है। संसार का उत्थान तुम्हारे हाथ में है। अपने मृत शरीर को छोड़ नया शरीर धारण करो और संसार का उद्धार कर अपना कर्तव्य पूरा करो।

'मर्यादा' : मई, १९१३

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भाषा का सवाल

⊙⊙

हमारे देश की मौजूदा हालत में कोई खैरख़्वाह मुल्क भाषा के सवाल को नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता। मुल्की मुआमलात दो क़िस्म के होते हैं, एक तो वह जिनका तआल्लुक़ उन कार्रवाइयों क़वानीन और क़वायद से होता है जो किसी खास वक़्त पर मुल्क की रफ़्तार व ख़यालात पर अपना असर डालते हैं और दूसरे वह जिन पर न सिर्फ़ मुल्क की मामूली बेहतरी व बेहबूदी बल्कि उसकी दायमी तहज़ीब का दारोमदार होता है। ज़बान का सवाल इस दूसरे क़िस्म के सवालों में से है। आज हमारे देश में जो लोग मुल्की काम करने वाले हैं, उनमें से बहुत ज़्यादा का ख़्याल इस क़िस्म के सवालों की तरफ़ कम जाता है। कांग्रेस से लेकर सूबा और ज़िले की सभाओं तक यही बात देखने में आती है। मेरी मुराद यह नहीं कि यह मुल्की सभाएँ जिन सवालात पर ग़ौर करती हैं वह क़ाबिल ग़ौर नहीं। ऐसे मुआमलात की तरफ़ भी ज़रूर ध्यान देना फ़र्ज़ है। अपने हक़ूक की तरफ़ हमेशा मुल्क की आँखें खुली होनी चाहिये। लेकिन इस बात की भी सख़्त ज़रूरत है कि रोज़मर्रा के राजनीतिक झगड़ों में हम उन बुनियादी उसूलों को न भूल जावें जिनके ऊपर हमारा समाज बनाया गया है और खड़ा है। उन उसूलों को हमेशा अपने सामने न रखने से इस बात का अन्देशा है कि हमारे मुल्क की किश्ती कहीं अपने पाया से हट कर डाँवाडोल समुद्र पर लहराती न फिरे और किसी चट्टान से टकरा न जावे। जिस तरह अच्छा कप्तान न सिर्फ़ अपने जहाज़ की रोज़ाना देखभाल करता है और उसके इञ्जन और पुरज़ों की हमेशा मरम्मत करता रहता है बल्कि मंजिल मकसूद को हमेशा आँख के सामने रखते हुए उसी जानिब चलने की कोशिश करता है, उसी तरह हमारे मुल्की बेड़े के चलाने वालों का यह फ़र्ज़ है कि रोज़मर्रा के राजनीतिक अंधड़ और तूफ़ानों की चपेटों से जो पुरज़े ढीले हो जाते हैं, उनकी मरम्मत तो ज़रूर करते रहें लेकिन साथ ही देश के लिए जिस आदर्श को उन्होंने अपने सामने रखा है उसको हमेशा ध्यान में रखें और मुल्की झगड़ों के बवण्डरों से उसे

[यह लेख विशेषकर सहयोगी 'प्रकाश' के लिए लिखा गया था, इसीलिए इसकी भाषा उर्दू है, किन्तु उर्दू भी ऐसी है जो सब भाई समझ लें। लेख पूरा-पूरा स्थानाभाव के कारण 'प्रकाश' में नहीं प्रकाशित हुआ था, इसी कारण सम्पूर्ण लेख 'मर्यादा' में प्रकाशित हो रहा है] —मर्यादा : भाग १८, संख्या ६, दिसम्बर सन् १९१९ से उद्धृत।—सं० म०।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

डिगने न दें। वाक़ई बात यह है कि हमारे मुल्क की सच्ची और दायमी बहबूदी ऐसे महात्माओं के जरिये हुई है, जो इसी क़िस्म की दूरन्देशी की नजर से काम ले सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती हाल के ज़माने में उन चन्द महात्माओं में से हैं जिन्होंने देश के मुआमलात पर विचार करने और उसको आगे बढ़ाने में इन असली उसूलों को अपनी नज़र में रखा है।

हर मुल्क और हर सभ्यता का उसकी भाषा से उतना ही गहरा तआल्लुक है जितना उसकी आब व हवा से। मुल्क की भाषा और साहित्य ही हर एक मुल्क की तरक्क़ी के गवाह हैं। भाषा ही वह ख़ूराक और वह हवा है जिस पर देश के हर एक बच्चे की विचारशक्ति परवरिश पाती है। अगर उसके मुल्की काम किसी ऐसी ज़बान के जरिये से किये जावें जिसको वह खुद नहीं समझता, तो ज़ाहिर है कि दिन-ब-दिन मुल्की मुआमलात की निस्वत उसकी क़ुवतफ़हम कम हो जावेगी। अगर, साथ ही, मुल्क के क़ाबिल लोग अपने ऊँचे खयालात का इज़हार किसी ऐसी ज़बान में करने लगें जो मुल्क की आम ज़बान न हो तो इसका यही नतीजा होगा कि उस मुल्क के लोग अपने चीदा आलिमों के खयालात से फ़ायदा न उठा सकेंगे और दिन-ब-दिन जहालत की तरफ़ रुजू होंगे। जो लोग हर बात में यूरोपीय तहज़ीब के मद्दआ हैं और अपने खयालात के ग़ुन्चे यूरोपियन खयालात के जखीरे से ही लाना पसन्द करते हैं, उनकी तज्जर मैं यूरोप की तवारीख़ की जानिब दिलाना चाहता हूँ। जब तक यूरोप के ऊपर पुरानी यूनानी और लातीनी ज़बानों की हुकूमत रही और यूरोप के आलिम इन ज़बानों के ज़रिये अपने ख़्यालात का इज़हार करने में फ़ख्र समझते और देशी ज़बानों में लिखना-पढ़ना कसरेशान तसव्वर करते रहे, उस वक्त तक यूरोप अन्धविश्वास, जहालत और तोहमात के गड्ढे में पड़ा रहा। उसका उरूज उसी वक्त से शुरू हुआ जिस वक़्त से योरप का पुराना इल्म यूनानी और लातीनी ज़बानों की क़ैद से आज़ाद होकर आमफ़हम देशी ज़बानों के लिबास में नमूदार हुआ। बिलकुल वही हालत हमारे मुल्क की हो रही है, जो किसी वक़्त योरप की थी। हमारे मुल्की काम ज़्यादातर अंग्रेज़ी ज़बान में हो रहे हैं, जिसको सिवाय बहुत थोड़े आदमियों के, हमारे यहाँ के लोग बिलकुल नहीं समझते। न सिर्फ़ गवर्नमेण्ट बल्कि हमारे खुद लीडरों के ख़्यालात का इज़हार ज़्यादातर अंग्रेज़ी ही ज़बान में होता है जिसका नतीजा यह है कि उन ख़्यालात का महज़ एक जुज तर्जुमों की मटीली दीवारों से बहता हुआ लोगों तक पहुँच जाता है। स्वामी दयानन्द जी के वक़्त में जिस तरह अंग्रेज़ी पढ़ने वाले विदेशी लहरों के साथ बह रहे थे और उनके ऊपर अंग्रेज़ी ज़बान का क़ौमियत के खिलाफ़ असर पड़ रहा था, इसको उस दूरन्देश क़ौमपरस्त महात्मा ने बखूबी देख लिया था। यह उसूल उन पर अच्छी तरह अयाँ था कि अपनी सभ्यता को बचाने का खास ज़रिया अपनी ज़बान की हिफाज़त ही है। अंग्रेज़ी ज़बान की बढ़ती हुई लहर का मुक़ाबला करने के लिए उन्होंने अपने मुल्क की एक क़ौमी ज़बान के झंडे के नीचे हिन्दुस्तान के बाशिन्दों को इकट्ठे करने की ज़रूरत महसूस की और इसीलिए आर्यसमाज के हर एक मेम्बर पर इस क़ौमी ज़बान यानी हिन्दी का जानना फ़र्ज़ रखा।

अगर हम ज़रा ग़ौर से अपनी मुल्की हालत की तरफ़ ध्यान दें तो ज़ाहिर होगा कि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इस वक्त हमारे मुल्क की जो बुरी हालत है, हमारे आम लोगों पर जो सख्तियाँ हो रही हैं, रोजमर्रह के कारोबार में जिस तरह उनको पुलिस, पटवारी, तहसीलदार, वकील, कचहरी के अमलों, अदालत के हाकिमों और रेलवे कम्पनियों के जुल्म-जफा बरदाश्त करने पड़ते हैं, इन सबकी एक बड़ी वजह यह है कि हमारे मुल्क की राजनीतिक कार्रवाई अंग्रेज़ी ज़बान में हो रही है। इन सब सख्तियों के अलावह इस ज़बान के फ़रक से सबसे बुरा असर जो हमारे मुल्क पर पड़ रहा है वह यह है कि हमारे आदमी कमज़ोर और पस्तहिम्मत होते चले जा रहे हैं। हमारे देश के कारोबार की बागडोर ज़्यादातर उन लोगों के हाथ में है जो अपना काम अंग्रेज़ी में करते हैं और इस बात की उम्मीद रखते हैं कि उनसे जो कोई बातचीत या ख़तो-किताबत करे वह भी अंग्रेज़ी ज़बान में हो। ऐसी सूरत में वह बिचारा ग़रीब जो अंग्रेज़ी ज़बान नहीं जानता अगर उसके ऊपर कोई सख्ती की गयी हो और वह अफ़सरान से इसकी शिकायत करना चाहे तो अपने आपको वह एक गूँगे शख्स की तरह पाता है जो महज़ इशारात में अधूरी बातें समझाने की कोशिश करता है और जिसकी बातें पूरी तरह समझने के लिए बहुत कम लोग अपना वक़्त देने के लिए तैयार होते हैं। बहुत ज्यादा जुल्म हुआ तो वह किसी अंग्रेज़ीदाँ वकील या मुहर्रिर से कुछ मदद लेता है, लेकिन रोज़मर्रा की उन सैकड़ों-हज़ारों छोटी-छोटी सख्तियों की निस्बत, जो उसके ऊपर उसकी जहालत का फ़ायदा उठा कर की जाती हैं, वह लाचार है और उनको गिरी और बुझी हुई तबीयत से बर्दाश्त करता है। इस ज़बान के फ़र्क़ की वजह से न तो वह अपने हक़ूक समझता है और न अपनी हालत की निस्बत अपनी दिली ख़्वाहिशात का इज़हार कर सकता है। ऐसी सूरत में आप जो कुछ मुल्की बहबूदी की कार्र-वाइयाँ अंग्रेज़ी ज़बान में करते हैं उन सब का दायमी असर उस वक़्त तक नहीं हो सकता जब तक आप मुल्क़ की ज़बान को बदल कर अंग्रेज़ी ज़बान न कर दें।

अब सवाल यह पैदा होता है कि क्या आप यह मुमकिन समझते हैं कि आपके यहाँ के कुल या ज़्यादा आदमी कभी भी अंग्रेज़ी ज़बान बोलने या समझने लगें? हम लोग स्वराज्य और मुल्कोउरूज़ की कोशिशों में हैं लेकिन हमें महज़ अलफ़ाज़ से बहकना नहीं चाहिये। ज़रूरत इस बात की है कि इस मसले पर ग़ौर करें कि जो हमारा स्वराज्य होगा **उसकी असली सूरत क्या होगी?** यह बड़ा सवाल है। इस मज़मून में मैं सिर्फ़ उसके एक हिस्से की तरफ़ ध्यान दिला रहा हूँ। क्या जो हमारा स्वराज्य होगा उसके अजज़ा की अलग-अलग मुल्की कार्रवाइयाँ किसी एक ही ज़बान में होंगी या अलग-अलग कुछ खास ज़बानों में? अगर अलहिदा ज़बानों में होंगी तो दरमियानी ज़बान कोई एक होगी या नहीं? और अगर कुल की एक ज़बान या दरमियानी ज़बान कोई हो तो वह अंग्रेज़ी होगी या देशी भाषाओं में से कोई एक?

जिस तरह हमारे मुल्क में आजकल न सिर्फ़ सरकारी काम बल्कि हमारी कांग्रेस, सूबा और ज़िलों की कान्फ्रेन्स और मुल्क में हर जगह तालीमयाफ़्ता लोगों में अंग्रेज़ी ज़बान की हुकूमत नज़र आती है, उससे दूसरे मुल्क का आदमी यही नतीजा निकालेगा कि हमारे रहनुमाओं का यह मक़सद है कि हमारे भविष्य स्वराज्य की ज़बान अंग्रेज़ी हो। लेकिन मुझको मालूम है कि हमारे मुल्क के ज़्यादातर क़ाबिल लोगों की राय यह हरगिज़ नहीं है कि हमारी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मुल्की ज़बान आइन्दा अंग्रेज़ी हो या हो सकती है। उनमें से बहुत-से कई मौक़ों पर देशी ज़बानों के हक़ में राय दे चुके हैं और तसलीम कर चुके हैं कि हिन्दुस्तान की बहबूदी के लिए यह ज़रूरी है कि मुल्की कार्रवाइयाँ देशी ज़बानों में हों। उनमें से बहुत-से खुद जुदा देशी ज़बानों के अच्छे लिखने वाले हैं। अमली तौर पर भी वह लोग देख चुके हैं कि पिछले १० सालों में हमारे मुल्क की राजनीतिक हालत में जो इनकिलाब हो गया है उसकी एक बड़ी वजह यह है कि पहले की रफ़्तार को किसी कदर छोड़कर मुल्की काम करने वालों ने आम जलसों और सभाओं में देशी ज़बानों के ज़रिये से काम करना शुरू किया है। लेकिन साथ ही यह ज़ाहिर है कि इस बड़े मसले पर हमारे मुल्की रहनुमा न किसी तैशुदा उसूल पर काम कर रहे हैं और न इस मसले को मजमुई तौर पर तय करने की कोशिश कर रहे हैं। अवामुन्नास की खुद रफ़्तार उनको कहीं-कहीं उनका साथ देने के लिए मजबूर कर देती है। लेकिन बतौर मुल्की रहनुमा के उनका जो ज़ाती फ़र्ज़ है उसमें क़तई पहलूतिही हो रही है। मैं तो यही कहूँगा कि हमारे दिलों की कमज़ोरी और बुज़दिली इसका बाइस है और ग़ालिब के अलफ़ाज़ में हमारी तामीर में ही खराबी की सूरत मुज़मिर है।

हमारे मुल्क में अंग्रेज़ी हुकूमत को एक सौ साठ साल से ज़्यादा हो चुका है। अब तक जितने लोग अंग्रेज़ी ज़बान जानते हैं उनकी तादाद हिन्दुस्तान की आबादी का लिहाज़ करते हुए बहुत ही थोड़ी है। जिस रफ़्तार से अंग्रेज़ी ज़बान जानने वालों की तादाद अब तक बढ़ी है अगर उसी हिसाब से बढ़ती जाय तो पाँच सौ बरस से ज्यादा अरसा इस बात के लिए चाहिए कि हिन्दुस्तान की आबादी की एक माकूल तादाद अंग्रेज़ी जान सके। लेकिन फिर भी यह सवाल बाकी रह जाता है कि क्या यह कभी मुमकिन भी है कि हमारे यहाँ के लोग अपनी ज़बान छोड़ कर अंग्रेज़ी ज़बान अख़्तियार करें? क्या हमारे स्वराज्य के यह मानी हो सकते हैं कि हम अपनी सभ्यता, अपनी तहज़ीब, अपना साहित्य आहिस्ता-आहिस्ता भूलने की कोशिश करें और अंग्रेज़ी ज़बान और तहज़ीब अख़्तियार करें? क्या देश का या दुनिया का फ़ायदा इसमें हो सकता है? मेरा ज़ाती ख्याल है, और मेरा यक़ीन है कि मुल्क के क़रीब-क़रीब सभी पढ़े-लिखे लोगों का यह ख्याल है, कि यह अम्र यानी ज़बान का बदल जाना न सिर्फ़ देश के उरूज के खिलाफ़ है, बल्कि नामुमकिन है। चन्द आलिमों का अंग्रेज़ी अच्छी तरह से जानना क़तई ज़रूरी है। जो लोग योरप या अमेरिका से रोज़गार करना चाहते हैं, उनके लिए भी अंग्रेज़ी ज़बान की कुछ इलिमयत ज़रूरी है, उसी तरह जिस तरह कि ग़ैर मुल्क के लोग भी दूसरे मुल्कों की ज़बान ज़रूरत की वजह से सीखते हैं। लेकिन रोज़मर्रह की मुल्की कार्रवाइयों में या तालिब-इल्मों की तालीम में एक ग़ैर मुल्क की ज़बान के ज़रिये से काम लेना मुल्क में कमज़ोरी, बुज़दिली और तकलीफ़ात ही पैदा कर सकती है। मेरी समझ में तो यह आता है कि हमारे आइन्दा स्वराज्य में सूबों के कामों के लिए चार या पाँच ख़ास ज़बानों से ही काम लेना चाहिये और कुल मुल्क के बड़े-बड़े कामों के लिए एक दरमियानी ज़बान हिन्दी होनी चाहिए।

मैं हिन्दी और उर्दू में फ़र्क़ नहीं करता। मेरा पुख़्ता यक़ीन है कि उर्दू और हिन्दी में जो थोड़े अलफ़ाज़ का फ़र्क़ है वह आसानी से हो सकता है। रही और ज़बानों की बात, उनमें बंगाली,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गुजराती, मराठी, पंजाबी, तमिल और तेलुगु ख़ास हैं। पंजाबी दरअसल हिन्दी का ही एक रूप है, और दोनों में नाममात्र ही का फ़र्क़ है। पंजाबी ज़बान में जो बड़ा साहित्य है, वह सिक्ख गुरुओं का मुतबर्रिक क़लाम है, उनमें से तीन-चौथाई ऐसा है जिसको हिन्दी जानने वाले बख़ूबी समझ सकते हैं। बल्कि मैं आजिज़ी के साथ यहाँ तक कहने की जुरअत रखता हूँ कि जो महज़ पंजाबी जानते हैं, और जिन्होंने हिन्दी साहित्य नहीं पढ़ा, वह लोग उस क़लाम को उनकी निस्बत ज़्यादा नहीं समझ सकते जो हिन्दी साहित्य से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं, हालाँकि पंजाबी ज़बान का उन्होंने ख़ास तौर पर मुताला नहीं किया हो। वाक़ई बात यह है कि गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह की बानियों को समझने के लिए हिन्दी भाषा की वाक़फ़ियत ज़रूरी है। या मैं यों कह सकता हूँ कि जो शख़्स उन बानियों को बख़ूबी समझता है, वह हिन्दी ज़रूर जानता है। पंजाबी भाइयों से मेरी खास तौर पर गुज़ारिश है कि इस मसले पर मुल्क और क़ौम की बहबूदी के लिहाज़ से ग़ौर करें और हिन्दी और पंजाबी ज़बान को एक करने में मदद दें।

गुजराती और मराठी जाननेवाले पढ़े-लिखे लोग ज़्यादातर हिन्दी समझते हैं। गुजराती और मराठी साहित्य सम्मेलनों में, जिनमें उन ज़बानों के शख़्स शामिल होते हैं, यह रिजोल्यूशन पास हो चुके हैं कि हिन्दुस्तान की मुल्की ज़बान हिन्दी है, और उसे जानने के लिए सबको कोशिश करनी चाहिए। बड़े बंगाली आलिम भी यह तसलीम कर चुके हैं कि हिन्दोस्तान की एक ज़बान हिन्दी ही कही जा सकती है। संस्कृत या प्राकृत से निकली हुई दूसरी ज़बानों की तरह बंगाली और हिन्दी का इस क़दर तआल्लुक है कि बंगालियों के लिए हिन्दी सीखना आसान बात है। रही तेलुगु और तमिल की बात, इन ज़बानों का हिन्दी से अलबत्ता बहुत फ़रक़ है, खास कर तमिल का। लेकिन मुल्क के रिश्ते से यह कभी उम्मीद की जा सकती है कि मद्रासी पढ़े-लिखे लोग मुल्की कामों में हिस्सा लेने के लिए अपनी ज़बान के साथ हिन्दी भी सीख लेंगे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ़ से मद्रास में हिन्दी प्रचार का जो काम हो रहा है और जिस शौक़ से मद्रासी लोग हिन्दी पढ़ने के लिए कोशिशें कर रहे हैं, उससे यक़ीन होता है कि मद्रास का सवाल जो किसी वक्त दिक्क़ततलब मालूम होता था, मद्रासी भाइयों की देशभक्ति की वजह से जल्द हल हो सकेगा।

भाषा से तआल्लुक़ रखता हुआ दूसरा सवाल अक्षर या हरूफ़ का है। इसकी निस्बत यह साफ़ मालूम होता है कि अगर मुल्क भर के लिए एक क़िस्म के हरूफ़ काम लाये जावें तो वह देवनागरी हरूफ़ ही हो सकते हैं, क्योंकि वही सबसे ज्यादा फैले हुए हैं, और उनमें सब बोलियाँ निस्बतन सबसे बेहतर तरीक़े से अदा हो सकती हैं। मराठी और हिन्दी तो देवनागरी हरूफ़ में लिखी जाती हैं; गुजराती और देवनागरी में महज़ दो ही एक हरूफ़ की सूरतों में फ़रक़ है, हक़ीक़त में दोनों एक हैं। गुरुमुखी अक्षर देवनागरी से ही निकले हैं और हालाँकि उनकी सूरत में देवनागरी से कुछ थोड़ा फ़र्क़ है ताहम गुरुमुखी जानने वाले के लिए देवनागरी अक्षर सीखना चन्द घण्टों ही की बात है। बंगाली और देवनागरी की वर्णमाला एक ही है हालाँकि अक्षरों की सूरत में फ़र्क़ है। लेकिन संस्कृत पढ़ने की वजह से ज़्यादातर बंगाली आलिम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

देवनागरी अक्षर अच्छी तरह जानते हैं। मद्रास में भी संस्कृत के प्रचार की वजह से देवनागरी अक्षरों का अच्छा प्रचार है। हरूफ़ के इस मामले में बड़ा सवाल फ़ारसी अक्षरों का अलबत्ता पेश होता है, क्योंकि उनकी वर्णमाला और सूरत दोनों देवनागरी से बिलकुल फ़र्क़ है। लेकिन इस मामले में मुल्की लिहाज़ से मेरा ख़याल है कि हमारे मुसलमान भाइयों का आहिस्ता-आहिस्ता देवनागरी सीखना मुनासिब होगा। इस सवाल का मज़हब से तआल्लुक़ नहीं है। यह मुल्की कार्रवाई की सहूलियत का मसला है। साथ ही, मेरा ख़याल है कि अभी हाल में और बहुत दिनों तक हमारी कार्रवाइयाँ नागरी और फ़ारसी दोनों अक्षरों में प्रकाशित की जावें, जैसा कि बुज़ुर्गवार डॉ० भंडारकर ने महाराष्ट्र सम्मेलन में कहा था—

"अशोक के वक़्त में हिन्दुस्तान में एक लिपि थी, इसलिए देवनागरी का सब जगह प्रचार सहज में हो सकता है। रही एक भाषा की बात, सो हिन्दी के सिवाय और कोई भाषा इस क़ाबिल नहीं।"

जहाँ तक अकली तौर पर समझने का तआल्लुक़ है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि मसला साफ़ है, लेकिन मुल्की हालत और अंग्रेज़ी गवर्नमेण्ट की वजह से वह पेंचीदा हो रहा है। फिर भी, मसले को हल करने के लिए हम लोग बहुत कुछ कर सकते हैं और ऐसी सूरत पैदा कर सकते हैं कि गवर्नमेण्ट को इस वसूल पर अमल करना पड़े कि महज़ थोड़े-से अंग्रेज़ों की सहूलियत के खातिर मुल्क के तैंतीस करोड़ बाशिन्दों को मुल्की मामलात समझने के लिए एक बिलकुल ग़ैर ज़बान सीखने पर मजबूर करना इन्साफ़ के खिलाफ़ है। आजकल के रहनुमाओं में महात्मा गांधी ने इस मसले पर अच्छी तरह ग़ौर किया है और उन्होंने साफ़-साफ़ कहा है कि भाषा का मसला स्वराज्य का मसला है। लेकिन मुल्क के दूसरे लीडरान से मेरी मुआद्दिवाना शिकायत है कि वह इस मसले पर काफ़ी ध्यान नहीं दे रहे हैं और न इसको हल करने की कोशिश कर रहे हैं। अगर वाकई कोशिश हो, अगर हम कांग्रेस और मुल्की कामों में हिन्दी और अपने-अपने सूबे की कांग्रेसों और सभाओं में अपने सूबे की ज़बानों से काम लें, और क्या सरकारी कामों और क्या ज़ाती कामों में अपनी ज़बान पर ज़ोर दें, तो यह मसला हल हो सकता है।

जैसा कि मैंने ऊपर अर्ज़ किया है, इस मसले का बड़ा जुज़ यह है कि मुल्क भर में चारों तरफ़ हिन्दी और देवनागरी का प्रचार हो। इसका मतलब यह हर्गिज़ नहीं कि सूबे की जो खास ज़बानें हैं वह छोड़ दी जावें या उनकी तरफ़ तवज्जोह न की जाय, लेकिन यह कि मुल्की ख़्याल से सब तरफ़ हिन्दी और देवनागरी जाननेवालों की तायदाद बढ़ायी जाय। उन सूबों में जहाँ मुक़ामी बोलियों और हिन्दी में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं है और जिनका साहित्य हिन्दी से मिला हुआ है, हिन्दी पर खास ज़ोर दिया जावे, जिससे ज़बान का फ़र्क़ बढ़ने न पाये बल्कि घटता जाय। मिसाल के तौर पर इस क़िस्म की बोलियाँ—पंजाबी और मैथिली कही जा सकती हैं। जहाँ वह बोलियाँ जारी हैं, वहाँ इस वक़्त भी हिन्दी का प्रचार अच्छी तरह पर है। इन बोलियों का लिखने-पढ़ने के कामों के लिए हिन्दी के साथ मिल जाना आसान बात है। जहाँ ऐसी ज़बानें हैं जिनका हिन्दी से ज्यादा फ़र्क़ है और जिनका एक तरह पर इलाहिदा साहित्य कहा जा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सकता है, मसलन बंगाली, गुजराती, मराठी, तेलुगु और तमिल, वहाँ हिन्दी एक दूसरी ज़बान की तरह से सिखायी जाय। इस पहलू में आर्यसमाज ने बहुत काम किया है। हिन्दी के प्रचार में उसने बड़ी सहायता की है, क्योंकि क़रीब-क़रीब समाज का हर एक मेम्बर थोड़ी-बहुत हिन्दी जानता है। पंजाब में हिन्दी के लिए अगर किसी जमाअत ने खास तौर पर काम किया है तो वह आर्यसमाज है। लेकिन अभी बहुत-सा काम करना बाक़ी है और मेरी निहायत अदब से अर्ज़ है कि आर्यसमाज के मेम्बरान को इस मामिले में ज़्यादा कोशिश करने की ज़रूरत है। स्वामी दयानन्द जी ने अपनी तहरीरात के निस्बत कहा है—

"मेरे ग्रन्थों का अनुवाद भारत की अन्य भाषाओं में न करना चाहिये, किन्तु भारतवासियों को उचित है कि आर्य भाषा सीख कर उनको पढ़ें। मेरी मातृभाषा गुजराती थी किन्तु मैंने भारत की भलाई के लिए ही आर्य भाषा में ग्रन्थ लिखना उपयुक्त समझा है। सब भारत-वासियों को उचित है कि आर्य भाषा की उन्नति करें।"

आर्यसमाज के लीडरों और भारतवर्ष के कुल नेताओं से मेरी अर्ज़ है कि इस बड़े उसूल को अपने सामने रखें और अपने मुल्की कामों में अमल में लावें। मैं दिक़्क़तें तसलीम करता हूँ, लेकिन मेरा यक़ीन है कि काफ़ी कोशिश, देशभक्ति और त्याग से यह मसला बिलकुल तय हो जायगा। इसको तय करते ही स्वराज्य का मूल मन्त्र हमारे क़ाबू में हो जायगा।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नागरी लिपि और अंक : राष्ट्रीय सन्दर्भ

⊙⊙

सम्मेलन ने अपने जन्मकाल से ही शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से सारे भारत में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का काम उठाया है। यहाँ अब तक तो हिन्दू-मुस्लिम विभिन्नता का प्रश्न कभी नहीं उठाया गया है। इस प्रस्ताव में हिन्दू और मुसलमान शब्द का जो प्रयोग किया गया है, इसके लिये मुझे खेद है, पर लाचारीवश ऐसा किया गया है। हमारा मुसलमानों से कोई विरोध नहीं है। हमें तो राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रेरित होकर नागरी लिपि का प्रचार करना है। इसी उद्देश्य से हम खुले बाँह मुसलमान भाई का यहाँ स्वागत करते हैं। चूँकि देश की राष्ट्रीयता की वृद्धि करने के लिए एक भाषा का होना आवश्यक है, इसलिए हम सभी भारतवासी को—चाहे हिन्दू हो या मुसलमान—यह यत्न करना चाहिए कि हमारे राष्ट्रीय कार्य एक ही राष्ट्रीय भाषा में हों। हाँ, लिपि की समस्या अवश्य जटिल है। इस सम्बन्ध में लीपापोती करना ठीक नहीं। जहाँ सिद्धान्त की बात है, वहाँ हमें स्पष्ट कह देना चाहिए कि अगर मुसलमान भाई राष्ट्रीयता और एकता चाहते हैं, तो उन्हें विचार करना चाहिए कि राष्ट्रीयता के नाते एक राष्ट्रीय लिपि का होना जरूरी है या नहीं, और वह कौन-सी लिपि है जो इसके लिए योग्य हो सकती है। अगर अरबी लिपि इस योग्य हो तो हमें स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। पर हम देखते हैं कि नागरी लिपि अधिक व्यापक और सरल है। हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की बात तो जाने दीजिये, जहाँ हिन्दी नहीं बोली जाती—जैसे महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, आसाम, बर्मा और तिब्बत आदि—वहाँ भी नागरी लिपि का ही प्रचार है। हाँ, लिखावट में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य आ गया है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी हालत में उर्दू लिपि किन्हें स्वीकार करने को कहा जायेगा। फिर हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों को, शुद्ध राष्ट्रीयता की दृष्टि से, रखना लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकता। इससे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। चीन में लगभग दो करोड़ मुसलमान हैं, जो नमाज़ तक चीनी भाषा में ही पढ़ते हैं। टर्की ने इस समय बहुत-से क्रान्तिकारी कार्य किये हैं। हाल में वहाँ के महापुरुष कमाल पाशा ने यह देख कर कि भाषा का प्रश्न स्वतन्त्रता के विकास में बाधक हो रहा है, यह कानून पास किया है कि नमाज़ भी तुर्की भाषा में ही पढ़ी जाय। लूथर ने यूरोप में बाईबिल के सम्बन्ध में भी इसी तरह की बहादुरी का काम किया था। बाईबिल की प्राचीन भाषा को बदल कर उस समय की भाषा में उसका रूपान्तर कर दिया। इसी दिन से यूरोप में जागृति का भाव आने लगा। श्री कमाल पाशा का कहना है कि धर्म वही है जिसे हम समझ सकें। इसी सिद्धान्त

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के अनुसार उन्होंने अपने देश में इस प्रकार का क्रान्तिकारी कानून बनाने का साहस किया। इसीलिये हमारा स्वप्न है कि मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थों तक को हम अपनी बोलचाल की भाषा और नागरी-लिपि में देखें। पर आज हमारे मुसलमान भाई लिपि के प्रश्न को छेड़ कर राष्ट्रीय भाव पर कुठाराघात कर रहे हैं। मगर हमारा विश्वास है कि इसमें मुसलमान भाइयों का दोष नहीं है। इस तरह के भाव के भीतर कल मरोड़ने वाले कोई दूसरे ही हैं। संयुक्त निर्वाचन का प्रश्न उठने के समय भी इसी प्रकार का बखेड़ा उठ खड़ा हुआ था जिसके कल मरोड़ने वाले शिमला के शैल पर बैठे थे। यह तो सरकार की पुरानी और साधारण नीति है। इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें घबड़ाना नहीं चाहिए। हमें साफ़ कह देना चाहिए कि अगर एकता चाहते हैं तो केवल जबानी जमा-खर्च से काम नहीं चलेगा। यह सभ्यता के विकास का प्रश्न है। इसके लिए हमें मिस्र आदि देशों से सबक सीखना चाहिए। हमारे यहाँ शैव और वैष्णव पहले खूब लड़ा करते थे। जैनियों पर तो हमने बड़ा जोर-जुल्म किया, पर आज हमारे यहाँ उन झगड़ों का नाम-निशान भी नहीं है, क्योंकि वह धर्म का झगड़ा तो था नहीं। धार्मिक दृष्टि से जैनियों की अपेक्षा मुसलमान हिन्दुओं के अधिक निकट हैं। आप यह सुनकर आश्चर्य करेंगे, पर इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एकेश्वर-वाद पर विश्वास करते हैं, पर जैनियों ने इस पर विश्वास करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। अतः अगर जैनियों से हिन्दू दूध-मिस्री की तरह मिल गये तो हिन्दू-मुसलमान क्यों नहीं मिल सकते हैं? हमारे यहाँ हिन्दी के बड़े-बड़े मुसलमान कवि हो गये हैं। हिन्दी भाषा ही करीब-करीब मुसलमानों की भी भाषा थी। इसलिए मुसलमानों से यही कहना है कि अगर एकता का दम भरते हैं, तो सभ्यता का विकास करें और उसके लिए एक लिपि का होना आवश्यक है। बिहार में तो सर्वदा हिन्दू और मुसलमानों का आपस का सम्बन्ध अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अच्छा रहा। पर अब यहाँ की भेद नीति से काम लेने का उद्योग किया गया है। हमें इस नीति का घोर विरोध करना चाहिए। जहाँ टर्की वाले अरबी लिपि को क्लिष्ट समझ कर छोड़ रहे हैं, वहाँ हमारे यहाँ विच्छेदक नीति के कारण यह बोझ डाला जा रहा है। कैसा घोर अन्याय है। इससे हिन्दुओं की हानि के साथ-साथ मुसलमानों की भी शिक्षा सम्बन्धी हानि कम नहीं है।...

अधिवेशन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९२८

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी और उर्दू के प्रश्न पर श्री टण्डन जी

⊙⊙

"हमारे सम्मुख कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनमें हिन्दू और मुसलमानों का सम्बन्ध आ जाता है। यह मानी हुई बात है कि देश के अन्य भाषाभाषी लोग सबसे अधिक हिन्दी ही समझते हैं। हमारे सामने सबसे प्रधान कार्य यह है कि हमें हिन्दी को वह स्थान दिलाना है जो अप्राकृतिक रूप से अंग्रेज़ी को प्राप्त हो गया है।

राष्ट्रीयता और हिन्दी दो चीज़ें नहीं, एक ही हैं। हम कहीं भी उर्दू की बुराई नहीं करते। सम्मेलन की रिपोर्टों में तथा सम्मेलन के किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति के द्वारा उर्दू की बुराई नहीं की गयी है। हिन्दी का काम करनेवाले हम लोग उर्दू के पक्षपातियों पर आक्रमण नहीं करते। जनता की ही माँग हिन्दी की है। हिन्दी पर चारों ओर से अनेक प्रकार के आक्रमण हुए हैं, किन्तु देखा यह जा रहा है कि जनता हिन्दी की ओर दिनोंदिन झुकती जा रही है।

हिन्दी की शक्ति दिनोंदिन बढ़ने का क्या कारण है? जनता की शक्ति जैसे-जैसे विकसित होती है—राजनीतिक दृष्टि से भी वैसे ही जनता की भाषा जो हिन्दी है उसकी भी शक्ति बढ़ती जाती है। जनता की शक्ति के साथ हिन्दी का विकास देखकर लोग घबराते हैं और हमें उर्दू का विरोध करने वाला कहते हैं। हम स्पष्ट कह देते हैं कि हम उर्दू का विरोध नहीं करते।

हम लोग जो हिन्दी का काम करने के लिए इकट्ठा होते हैं वे उर्दू के लिए। जनता के हृदय में शक्ति उत्पन्न करने वाली भाषा को हम लोगों ने लिया है।

दिल्ली में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति ने रेडियो के सम्बन्ध में अपना निश्चय किया है। उसने भारतीय सरकार के रेडियो सम्बन्धी वक्तव्य की समालोचना की है। हमारे प्रतिनिधियों ने भारतीय सरकार के सामने सम्मेलन का दृष्टिकोण रखा था। हम लोग किसी का प्रसार बन्द करना नहीं चाहते। वैज्ञानिकों द्वारा मानी हुई बात है कि हिन्दी सबसे अधिक समझी जानेवाली भाषा है। हिन्दी वह भाषा है, जिससे हमारा राष्ट्रीय काम चल सकता है। हिन्दुस्तानी के नाम पर उसे स्थान न मिले यह बड़े अन्याय की बात है; और वह हिन्दुस्तानी ऐसी हो जिसमें उर्दू के नाम पर फ़ारसी और अरबी भरी हो। हिन्दी को उचित स्थान मिले, यह हमारी निश्चित माँग है।"[1] ⊙

---

१. सम्मेलन-पत्रिका (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की मुख-पत्रिका), ज्येष्ठ-आषाढ़ २००२, पृ० सं० नं० २४।—प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अवसर पर माननीय श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के भाषण के कुछ अंश।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भाषा की उत्पत्ति का रहस्य

⊙⊙

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, किस वाणी के महास्रोत से उसकी धारा बहती हुई हम तक आयी, मार्ग में किन पर्वतों और वनों के प्राकृतिक रत्नों को अपने साथ लेती और कहाँ-कहाँ उनको छितराती आयी है, अथवा किस प्रकार से उसने अपने निर्मल जल के कूलों पर कुञ्ज-लताएँ पोषित कर और उन कूलों के निवासियों को अपने पवित्र जल से मानसिक जीवनदान दे उन्हें सभ्य बनाया है, इसकी चर्चा आपको कतिपय खोज सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलेगी। यह विषय जितना रोचक है, उतना ही गम्भीर है। आर्यों का आदिम स्थान कहाँ था? आर्यों का आदिम स्थान क्या भारतवर्ष के बाहर था? क्या उसी स्थान से उनकी कई शाखाएँ पूर्व और पश्चिम की ओर निकल कर फैलीं, और वह जहाँ-जहाँ गये, अपने साथ अपने आदिम स्थान की प्राचीन आर्य भाषा लेते गये, जिसके ही कारण यूरोप की भाषाओं—जैसे यूनानी, लैटिन, अंग्रेज़ी, फ्रेञ्च, जर्मन—में भी आज हमारे देश के कुछ आदि शब्दों से समानता दिखायी पड़ती है, अथवा क्या भारतवर्ष से ही सभ्यता और भाषा की लहर पश्चिमीय देशों में गयी? इस विषय पर इतिहास और भाषा के उच्चकोटि के पण्डित पिछले लगभग अनेक वर्षों से विचार करते आये हैं, और अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारों का अन्तिम निष्कर्ष निकल चुका है। मनुष्य की परिमित शक्ति को देखते हुए, यह कहना भी कठिन है कि उसका निकला हुआ परिणाम कभी भी निश्चयात्मक हो सकेगा। प्रकृति अपने रहस्यों को इस प्रकार से छिपा कर रखती है कि मनुष्य चाहे उसका एक कोना देखकर आनन्द उठा ले, किन्तु किसी बड़े अंश को अच्छी तरह निरीक्षण कर पाना विधाता ने उसके भाग्य में नहीं लिखा है। अर्जुन का-सा ही कोई कृष्ण का प्रेमपात्र हो, तभी क्षण भर के लिए उसे वास्तविक दशा का दर्शन हो जाता है और तब उसके मुख से यही शब्द निकलते हैं—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्व्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं, पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
× × ×
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति, लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

—गीता, ११ अध्याय

ईरानी भाषाएँ, जैसे परजी, जिससे पहलवी और फिर पहलवी से फ़ारसी निकली और मीदी, जिसमें पारसियों का धर्मग्रन्थ 'जेन्द अवस्ता' लिखा गया है—इनका पुरानी संस्कृत और प्राकृत से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी भाषा-तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए बहुत रोचक विषय है। यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत और अवस्ता और पुरानी फ़ारसी का सादृश्य आकस्मिक नहीं है। अवस्ता की भाषा फ़ारसी के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती है, किन्तु उसकी लिपि बिल्कुल भिन्न है और उसके अक्षर एक-दूसरे से अलग, नागरी लिपि के समान लिखे जाते हैं। उनमें और नागरी लिपि में इतना विशेष अन्तर अवश्य है—जो अन्तर स्वयं हमारी कुछ पुरानी और आधुनिक लिपियों में है—कि अवस्ता में स्वरों के स्थान में मात्रा चिह्न न होकर अलग-अलग अक्षर हैं। यदि अवस्ता के छन्दों को आप उठा कर पढ़ें तो, आपको यही जान पड़ेगा कि हम वेदों के छंदों के कुछ विचित्र रूप का पाठ कर रहे हैं। आज भी हमारे देश के पारसी भाइयों में अवस्ता का वही स्थान है, जो हिन्दुओं में वेदों का। मुझे अपने पारसी मित्रों के कुछ विवाहोत्सवों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके वैवाहिक संस्कार के समय जब मैंने ईश्वरोपासना सम्बन्धी छंदों का उच्चारण सुना, तब मुझे यही जान पड़ता था कि मानो वेदों के अपरिचित छंदों का कोई विचित्र परिवर्तन कर गान कर रहा है। मैं कुछ छंद नीचे उद्धृत करता हूँ—

यश्त नामक भाग के दसवें अध्याय का छठा मन्त्र इस प्रकार है—

तम् अमवन्तम् यज़तम्
सूरम् दामोहू सविष्टम्
मिथ्रम यज़आइ जव थ्राव्यो॥

तनिक इस मन्त्र पर विचार कीजिए। देखिए, इसके एक-एक शब्द संस्कृत में किस प्रकार लिखे जा सकते हैं—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

तम् अमवंतम् यजतम्
शूरम् घेमसु शविष्टम्
मित्रम् यजाइ होत्राभ्यः ।

अर्थात्, बली शूरवीर मित्रदेव की होत्र से पूजा करता हूँ, जो सब जन्तुओं पर दया करता है।

'जेन्द अवस्ता' में दो प्रकार की भाषा स्पष्ट दिखायी देती है। एक तो यासना (यज्ञ) विभाग में दी हुई पाँचों गाथाओं की, जिनके नाम ये हैं—

अहुनवैति, उष्टवैति, स्पन्तामैन्युष, वहिष्टाइहि और वाहुक्षत्र।

दूसरे प्रकार की भाषा 'खुर्द अवस्ता' तथा अवस्ता के अन्य भागों में पायी जाती है। गाथाओं की भाषा के सम्बन्ध में कुछ भाषातत्त्वविदों का विचार है कि वह वेदों की भाषा के समान प्राचीन है। उष्टवैति गाथा में से दो छद मैं नीचे उद्धृत करता हूँ, जो पारसियों के आदि पुरुष भगवान् जरथ्रुष्ट्र के ही कहे हुए माने जाते हैं—

अत् प्रवक्ष्या नू गूशोद्वम् नू सवोता।
य एचा अस्नात् य एचा द्वरात् इषथा।
नू ईम वीस्पा चिथूरी मज्द न्होद्गम्।
नोइत् दैवितीम् दुशसीस्तश।
अहूम मेरश्यात् अकावरना द्रग्वै हिज्बै आवरतो॥१॥

अत् प्रवक्ष्यां अन्हउश मइन्यू पोउरूये।
यवैस्पन्यै उइति भ्रवत् यम् अंग्रम्।
नोइत् नाम नै नोइत् संघानोइत् खतवो।
न, एदा वरना नोइत् उरब्धा न यदाश्यवथना।
नोइत् द एनै नोइत् उर्वनो हचइते॥२॥

इसका अनुवाद, जो अवस्ता भाषा में वहाँ के पण्डितों ने किया है, यह है—

"अब मैं कहूँगा, और तुम कान देकर सुनो।
जो यहाँ पास से और दूर से आये हो।
तुम इन बातों को चित्त में स्पष्ट धर लो।
दुष्ट उपदेशकों से अपना आगामी जीवन नष्ट मत कराओ।
और न पतित पापी के झूँठे-के-झूँठे विश्वास से अपनी जिह्वा को॥१॥

अब मैं जगत् की दो प्राथमिक आत्माओं का कथन करूँगा, जिनमें से पवित्र (आत्मा) ने दुष्ट (आत्मा) से कहा—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

न हमारे मन, न हमारी शिक्षा, न हमारे विचार,
न हमारे विश्वास, न हमारे शब्द, न सचमुच हमारे कर्म,
न हमारी बुद्धि और न आत्माएँ किसी बात में मिलती हैं ॥२॥

भाषा-विज्ञान के सौभाग्य से आज वेदों के अतिरिक्त अनेक प्राचीन ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं। यदि इसी प्रकार से अन्य भाषाओं के प्राचीन और प्राचीनतम स्वरूप हमें हस्तगत होते तो भाषाओं के शृंखलाबद्ध तारतम्य से हम प्राचीन घटनाओं का कुछ निश्चित रूप से निरीक्षण कर सकते। अवस्ता के और प्राचीन संस्कृत के स्वरूप को देखकर न केवल उनके साधारण शब्दकोष किन्तु उनके व्याकरण में भी सादृश्य की झलक देखकर क्या परिणाम निकलता है? न केवल वैदिक 'आर्यमन' अवस्ता का 'ऐर्यमन' है, 'वायु', 'दानव', 'दान' और 'असुर' अहूर है, किन्तु संस्कृत द्वितीया के रूप, 'शूरम्', 'मिश्रम्' और पंचमी के रूप 'असनात्', 'दूरात्' दिखायी पड़ते हैं। संस्कृत के समान ही अवस्ता में भी तीन लिंग और तीन वचन पाये जाते हैं। संज्ञा और विशेषण की आठ विभक्तियाँ भी स्पष्ट दिखायी देती हैं। अवस्ता और संस्कृत के धातु-रूपों में भी समानता है। छन्द भी वैदिक छन्दों से मिलते-जुलते दिखायी पड़ते हैं। यह मिलान आकस्मिक नहीं हो सकता। यह अवश्य दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्थापित करता है।

इसी प्रकार, पुरानी फ़ारसी और संस्कृत की समानता आश्चर्यजनक है। विचार के साथ यदि आप आधुनिक फ़ारसी भी पढ़ें और उसमें अरबी से आये हुए बहुसंख्य शब्दों को अलग कर दें, तो पग-पग पर आपको ऐसे शब्दों की भरमार मिलेगी, जिनके रूप-रंग में संस्कृत शब्दों की ही वंशकृति दिखायी पड़ती है। फ़ारसी का पण्डित न होते हुए भी फ़ारसी के प्राचीन काव्यों के पढ़ते समय मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि अरबी के शब्द छोड़ दिये जायें तो शेष शब्दों में लगभग पचास फीसदी इस समय ऐसे मिलते हैं, जिनका रूपान्तर आप संस्कृत शब्दों में देख सकते हैं।

हमारे देश की प्राचीनतम भाषा का वैसा संकुचित क्षेत्र न था, जैसा समय पाकर, धीरे-धीरे, हो गया, वरन् उसका नैसर्गिक घनिष्ठ सम्बन्ध संसार की अन्य शिष्ट भाषाओं से था। यह सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार का था, अन्य देश की भाषा भारतवर्ष में आयी अथवा भारतवर्ष की भाषा अन्य देशों में गयी, यदि आयी तो किन-किन मार्गों से और किसके साथ, यदि गयी तो कैसे और किसके द्वारा और जहाँ गयी, वहाँ की पहिले की भाषा में उसने किस-किस प्रकार परिवर्तन किया, प्राचीन संस्कृत का अन्य प्राचीन भाषाओं के साथ बहनों का अथवा माता-पुत्री का नाता है, इत्यादि ऐसे प्रश्न बड़े रोचक और आकर्षक हैं। इन पर बड़े-बड़े भाषातत्त्वज्ञों ने विचार किया है, किन्तु अब भी बहुत अन्वेषण और विचार की आवश्यकता है।

आज प्रश्न यह है कि हमारी प्राचीनतम भाषा का क्या रूप था, उसके संस्कृत होने में क्या परिवर्तन हुए, इस परिवर्तन ने किस प्रकार साधारण भाषा पर अपना प्रभाव डाला और यह परिवर्तित भाषा किसी श्रेणी-विशेष की भाषा ही रही, अथवा कभी भी जनता की बोलचाल की भाषा बनी; और हमारी प्राचीन भाषा और इस संस्कृत भाषा ने किस प्रकार धीरे-धीरे अन्य भाषाओं को उत्पन्न किया, जिनसे समय पाकर आधुनिक भाषाएँ निकलीं? इस विषय

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के सम्बन्ध में दो मुख्य विचार हैं। एक तो यह कि पाली और अन्य प्राकृत भाषाएँ, जिनसे आधुनिक भाषाएँ निकली हैं, संस्कृत की पुत्री थीं, अर्थात् संस्कृत भाषा ही भ्रष्ट होकर प्राकृत बनी और प्राकृत के अपभ्रंश से धीरे-धीरे आजकल की भाषाएँ निकलीं।

दूसरा मत यह है कि संस्कृत कभी साधारण बोलचाल की भाषा नहीं थी, अथवा थी तो, केवल शिष्ट और शिक्षित समुदाय की, और साधारण लोगों की भाषा आदि समय से ही भिन्न थी, इस कारण से प्राकृत भाषाएँ संस्कृत से नहीं, किन्तु प्राचीन प्राकृत से ही निकली हैं। अथवा यों कहा जाय कि प्राचीन भाषा, जिसे मूल प्राकृत कह सकते हैं, समय के प्रभाव से धीरे-धीरे उन रूपों में परिवर्तित हुई, जो संस्कृत और पाली के ग्रन्थों में पाये जाते हैं और उन्हीं से आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ। पहले पक्ष के प्रकृष्ट पोषक हमारे देश के प्रकाण्ड विद्वान् रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर हैं। इस पक्ष का श्रद्धेय बदरीनारायण चौधरी ने समर्थन किया था। दूसरे पक्ष में विल्सन, वेबर, बीम्स आदि संस्कृत के पाश्चात्य विद्वान् संगठित हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तिका देखने से अनुमान होता है कि वे भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस विवाद में संस्कृत शब्द के अर्थ पर ही सत्य का निर्णय निर्भर होगा। यदि संस्कृत का अर्थ केवल उस भाषा से लिया जाय, तो जिसमें हमारी प्राचीन सभ्यता का उत्तुङ्ग उत्कर्ष ढले हुए शब्दों में दक्ष चितेरों की कूँची से चित्रित है, और जिसने सैकड़ों वर्ष के संस्कार के बाद पतञ्जलि और कात्यायन के समय में अपना रूप निश्चित किया, तो मुझे भी यह कहना पड़ेगा कि इस भाषा से प्राकृत और हिन्दी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। संस्कृत शब्द से यही अर्थ प्रायः उन लोगों ने समझा है जिन्होंने इस मत का पोषण किया है। एक अंश में उनका यह अर्थ करना ठीक भी है, क्योंकि संस्कृत शब्द भी उसी भाषा का बोधक है और साधारणतया उसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है। किन्तु यदि संस्कृत शब्दों में उन समस्त बोलियों का समावेश हो, जो ऋग्वेद की ऋचाओं और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के समय में बोली जाती थीं और जिनमें स्वभावतः न केवल शिष्ट किन्तु ग्रामीण तथा अशिक्षित जातियों के भी शब्द सम्मिलित थे और आपेक्षिक दृष्टि से जिसका प्रचार बहुत पीछे के काल तक होता आया, अर्थात् जो सहस्रों वर्ष इस देश में रूपान्तरित हो पतञ्जलि के समय तक बोली जाती रही, तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि संस्कृत से ही आधुनिक एतद्देशीय भाषाएँ निकली हैं। मुझे तो यही अनुमान होता है कि संस्कृत भाषा की परिभाषा यदि हम निश्चित कर लें, तो इस विवाद का निराकरण हो जाय। आप स्वयं तनिक विचार तो कीजिए कि क्या यह कभी सम्भव था कि जब बोलचाल की भाषा का संस्कार कर संस्कृत भाषा बनी, तब क्या संस्कृत समस्त जनता की कभी बोलचाल की भाषा हो सकती थी, और क्या प्रचलित भाषा का संस्कार होते ही वह उस नयी भाषा में तल्लीन होकर लुप्त हो गयी? उन पाश्चात्य विद्वानों का, जो प्रायः संस्कृत से प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव नहीं मानते, यह मत है कि संस्कृत एक प्रकार की अप्राकृतिक भाषा यज्ञ-पूजन आदि के काम के लिए ब्राह्मणों ने निर्माण की थी और वह कभी बोलचाल की भाषा हुई ही नहीं; उसमें केवल गौरव के लिए शिष्ट समुदाय ने ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। भाण्डारकर जी ने इस मत का खण्डन बड़ी विद्वत्ता से अपने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रसिद्ध 'भाषा तत्त्व सम्बन्धी व्याख्यानों' में किया है, और मेरी भी अल्प बुद्धि उनकी इस विषय की दलीलों को स्वीकार करती है। किन्तु एक बात ध्यान रखने की यह है कि इस बात के दिखलाने के लिए कि संस्कृत भाषा के साथ-साथ बोलचाल की साधारण भाषा कोई अन्य थी, पाश्चात्य विद्वानों के इस मत से सहमत होना आवश्यक नहीं कि संस्कृत एक अप्राकृतिक रीति से वैसे ही निर्मित भाषा थी जैसे कुम्हार के चाक से निकला हुआ कुम्भ, जो केवल यज्ञ की वेदी पर रखने के लिए बनाया गया हो। यह क्यों असम्भव समझा जाय कि वास्तव में जो प्रचलित बोलियाँ बोली जाती थीं, उनमें ही से एक प्रकार की आदर्श भाषा स्वाभाविक रीति से शिष्ट समाज में प्रचलित हुई और उसी से, व्याकरण के मन्त्रों से संस्कार करने के पश्चात्, संस्कृत बनायी गयी है। इस प्रकार से भाषा बनने और पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यज्ञ-पूजनादि के लिए भाषा बनने में बड़ा अन्तर है। मुझे तो यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सदा एक देश अथवा राष्ट्र में बहुत-सी स्थानीय बोलियाँ रहते हुए भी एक खिचड़ी भाषा कुछ ऐसी होती है, जिसमें साधारण जनता अपने मनोभाव का लेन-देन करती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में भी यह तो छोटे-से आर्य समुदाय में एक ही बोली थी अथवा भिन्न-भिन्न समुदाय और उनकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ होने पर भी उनकी एक भाषा इस प्रकार की रही, जो बोलियों से तो भिन्न थी, किन्तु जिसमें बोलियों का समावेश होता था। आज भी यही दृश्य हम अपनी आँख के सामने देख सकते हैं। जिस भाषा में मैं लिख रहा हूँ, वह हमारे देश की स्थानीय बोलियों से भिन्न है, किन्तु वह केवल शिष्टजनों की अप्राकृतिक नियमों से गढ़ी हुई भाषा नहीं कही जा सकती। ग्रामीण मनुष्य भी उस भाषा को पहचानता है और उसे अपनी भाषा कहता है, यद्यपि वह उसे उसी रूप में व्यवहृत नहीं करता। हिन्दी साधारण ग्रामीण बोली न होते हुए भी किसी विशेष कार्य के लिए गढ़ी नहीं गयी, वह पूर्णरूप से और अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से बचते हुए जनता की भाषा कही जा सकती है। हाँ, यदि हममें से कुछ चतुर विद्वान् इस भाषा में साधारणता और गौरवन्यूनता का दोष देख इस प्रकार से उसका शोधन करने बैठें कि उसमें आये हुए प्रचलित शब्दों की काट-छाँट कर व्याकरण के ऐसे अकाट्य नियम बनायें, जिनको बिना सीखे कोई भी शिष्ट भाषाभाषी न कहा जा सके, तो अवश्य ऐसी संस्कृत हिन्दी की सूरत और दशा दूसरी ही हो जायगी। मुझे अपने तात्पर्य को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता जान पड़ती है। मेरा यह विचार है कि आरम्भ से स्थानीय परिवर्तनों के होते हुए भी आर्यों की एक जीती-जागती साधारण भाषा थी, जो संस्कृत न होते हुए भी संस्कृत से बहुत भिन्न न थी। यदि हम इसी भाषा को संस्कृत कहें तो संस्कृत से ही पाली तथा प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव कहा जा सकता है और यह विवाद ही नहीं रह जाता कि प्राचीन प्राकृत से मध्यकालीन प्राकृत निकली अथवा संस्कृत से। इस सिद्धान्तानुसार मूल प्राकृत और संस्कृत एक ही वस्तु के दो नाम हो जाते हैं, किन्तु पीछे से व्याकरण के नियमों द्वारा संशोधित हो शिष्ट समुदाय और ग्रन्थकारों की जो भाषा हुई, यदि केवल उसका नाम हम संस्कृत रखते हैं, तो आर्यों की यह प्राचीन भाषा मूल प्राकृत कही जा सकती है। इस भाषा का वेदों की भाषा तथा 'जेन्द अवस्ता' की भाषा से भी बहुत सादृश्य रहा होगा। इसी प्रकार, जनता की भाषा संस्कार करते-करते संस्कृत बनी और

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ज्यों-ज्यों उच्च कोटि के आर्य और साधारण जनता में भेद होता गया, त्यों-त्यों संस्कृत साधारण जनता की भाषा से, उस पर अपना प्रभाव डालती हुई भी, अलग होती गयी। संस्कृत भाषा के निर्माण से अथवा उच्च आर्यों की चर्खी पर चढ़ कर मँजे हुए स्वरूप में उसके निकलने से यह तो सम्भव ही न था कि मूल भाषा अथवा प्राकृत का लोप हो जाता अथवा साधारण जनता इस रीति से मँजी हुई संस्कृत भाषा को बोलने लग जाती। संस्कृत भाषा को इस अर्थ में लेने पर यह भाव उस अर्थ ही में प्रविष्ट है कि वह साधारण जनता की भाषा न थी। ऐसी दशा में, जनता की जीती-जागती और चलती भाषा मूल प्राकृत ही रही और उसी के रूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होते हुए, वह माध्यमिक काल की उन १८ प्राकृतों में विभक्त हुई, जिनकी चर्चा संस्कृत और प्राकृत साहित्य में मिलती है। यदि हम हिन्दी भाषा की धारा पर ऊपर को चढ़ते जायें, तो हमें संस्कृत का स्रोत कहीं नहीं मिलेगा, किन्तु अपभ्रंश भाषा, फिर प्राकृत और फिर मूल प्राकृत तक हम पहुँच जायँगे। संस्कृत स्वयं बहुत ऊँचे पर जाकर मूल प्राकृत से निकलती हुई एक धारा दिखायी पड़ेगी, जो बहुत दूर तक प्रबल वेग से बहती है और अन्त में ऐसे रेगिस्तान में पहुँच जाती है, जहाँ उसका जल सर्वथा लुप्त तो नहीं हो जाता, किन्तु एक गहरे कुण्ड में गिरकर और इकट्ठा होकर आगे बढ़ने का सामर्थ्य खो बैठता है। परन्तु कुण्ड में गिरने से पहले उसकी प्रबल धारा अपनी बहुत-सी छोटी शाखाओं से इधर-उधर भूमि को उर्वरा करती है और उनमें से कतिपय शाखाएँ फिर भाषा के मूल प्रवाह में, जिस पर आप अपनी कल्पना में चढ़ते हुए जा रहे हैं, आकर मिल जाती है। मैं जानता हूँ कि मेरी इस उपमा पर कुछ सज्जन अप्रसन्न हो सकते हैं, किन्तु भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए, मेरा उनसे निवेदन है कि वे केवल तत्त्व पर ध्यान रखें। यह अवश्य है कि हम बहुत दिनों से सुनते चले आये हैं कि हिन्दी तथा देश की अन्य भाषाएँ संस्कृत की पुत्री नहीं कही जा सकतीं, किन्तु भाषा के मर्मज्ञों को पक्षपात में फँसने से बचना कठिन न होना चाहिए।

हिन्दी शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है, यह प्रायः सभी मानते हैं, किन्तु शौरसेनी मूल प्राकृत की पुत्री है अथवा संस्कृत की, इसी में विवाद है और यह विवाद, जैसा मैंने कहा है, प्रायः शब्दों के अर्थ में स्पष्टता न होने के कारण है। संस्कृत को केवल संस्कार की हुई भाषा मान लेने से हिन्दी प्राकृत के कुटुम्ब में से है, यही कहना पड़ेगा। उस परिष्कृत भाषा का रूपान्तर प्राकृत हुआ और उसमें से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा मानने में मुझे नितान्त अस्वाभाविकता प्रतीत हुई। पण्डित बदरीनारायण चौधरी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में, इस बात को पुष्ट करने के लिए कि संस्कृत से प्राकृत के द्वारा हिन्दी निकली, कुछ शब्दों के उदाहरण दिये हैं, जिनसे संस्कृत शब्द का बिगड़कर प्राकृत बनना और प्राकृत का बिगड़कर हिन्दी बनना प्रकट किया गया है। यह दलील साधारणतः और भी विद्वानों ने दी है। इससे यह सिद्ध है कि संस्कृत और प्राकृत शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्भव है कि इनमें बहुत-से शब्द संस्कृत से बिगड़कर प्राकृत हुए हों। संस्कृत भाषा तो शिष्ट समुदाय की भाषा थी ही और उसका प्रभाव साधारण भाषा पर पड़ना अथवा उसके कुछ शब्दों का बिगड़ कर साधारण भाषा में आ जाना स्वाभाविक था, किन्तु सम्पूर्ण प्राकृत भाषा का संस्कृत

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भाषा से निकलना प्रमाणित नहीं होता। सम्बन्ध स्थापित होता है किन्तु मातृत्व नहीं। केवल उदाहरणों से मातृत्व मान लेना तर्क का दोष है, क्योंकि जो सम्बन्ध हमें दिखायी देता है, वह इस प्रकार से भी हो सकता है कि जिन रूपों को माँजकर संस्कृत के रूप हमें ग्रन्थों में दिखायी देते हैं, उन्हीं आदि रूपों से यह प्राकृत के रूप वंश-परम्परा से आये हों। और फिर हमें उन प्राकृत शब्दों के समूह को न भूल जाना चाहिए, जिनका किसी प्रकार संस्कृत शब्दों से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। ये शब्द न तत्सम हैं और न तद्भव, किन्तु देश्य हैं। कितने ही शब्द तो कुछ ऐसे ही शब्दों से वंश-परम्पराबद्ध होकर आये हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत के अतिरिक्त, जो साधारण बोलचाल की भाषा थी, उसी से हो सकती है। ऊँघना, पेट, बाप, कोट इत्यादि शब्दों का मेल ढूँढ़ने पर किसी संस्कृत शब्द से नहीं मिलता, इन शब्दों के आदि रूप प्राकृत में मिलते हैं। केवल इतना कह देने से ही, कि यह शब्द पीछे से प्राकृत में जुड़ गये होंगे, न इस विषय का समाधान होता है और न परिष्कृत संस्कृत से प्राकृत का निकलना ही प्रमाणित होता है।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थिर करने में भाषा के विकास-क्रम पर ध्यान देना आवश्यक है। इस संसार में जीवन और मृत्यु का कार्य-कारण सम्बन्ध जीव, मृत्यु के सहारे ही जीवित है। यही सिद्धान्त जीवित भाषाओं के सम्बन्ध में भी लगता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में प्रतिदिन कितने ही जीवित कृमि मरते हैं और सहस्रों नये बनकर उनका स्थान लेते हैं और इसी अटूट संग्राम का नाम ही जीवन है, उसी प्रकार जीवित भाषा में भी शब्दों का बिगड़ना और बनना प्रकृतिसिद्ध है। मरे हुए शब्दों के शव से नये शब्द उत्पन्न होकर भाषा-प्रवाह में तीव्र गति से तैरते हैं, और यदि इस प्रकार से शब्दों का बिगड़ना और नये शब्दों का बनना बन्द हो जाय तो जीवधारी के शरीर के समान भाषा का शरीर भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें से प्रगतिस्वरूप जीव निकल जाने से वह निर्जीव पत्थर के समान हो जाती है। इसीलिए गतिशून्य ऐसी भाषाओं को मृत भाषाएँ कहने का जो चलन है, वह सर्वथा उपयुक्त है। मृत्यु और जीवन जहाँ बराबर हैं, वहीं वास्तविक जीवन है। जब तक भाषा के रूपों का नाश बराबर होता रहता है, तब तक उसका विकास-क्रम भी चलता रहता है। शारीरिक विद्या के जानने वाले वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि हमारे शरीर के भीतर लगातार परिवर्तन होता रहता है, जितना ही हम शरीर को काम में लाते हैं उतना ही शीघ्र शरीर के तन्तुओं का नाश होता है और जितना ही शीघ्र इन तन्तुओं का नाश होता है उतने ही शीघ्र स्वस्थ और बलिष्ठ नवतन्तु उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार, नाश और उत्पत्ति-क्रम से मनुष्य स्वस्थ रूप से बलिष्ठ और जीवित रह सकता है। बच्चे को जितना ही आप दौड़ाते हैं, उतना ही तन्तुओं का नाश करते हैं और उतने ही नये तन्तुओं की सृष्टि करते हैं। इसी गति से उसके शरीर की वृद्धि और पुष्टि होती है और जब तक उसमें जीवन है तब तक यही क्रम चला जाता है। विज्ञानवेत्ता हमें बताते हैं कि प्रत्येक सात वर्ष में शरीर के प्रत्येक तन्तु का परिवर्तन होता जाता है। यदि आप इस मोह से कि बच्चे के शरीर के तन्तु नष्ट न हों, उससे शारीरिक काम न कराएँ और उसे प्रकृति के आँगन में कल्लोल करने के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लिए न छोड़ दें तो वह विकसित न होकर धीरे-धीरे मुरझा जायगा। ठीक यही शैली जीवित भाषा के तन्तु-नाश और विकास की होती है। प्रकृति के आँगन में खेलती और दौड़ती हुई भाषा अपने सैकड़ों तन्तुओं का प्रतिदिन नाश करती है और उन्हीं नष्ट तन्तुओं के मसाले से तथा प्रकृति की अन्य शक्ति से नये शब्द-तन्तुओं का निर्माण करती रहती है। यदि आप इस भय से कि कहीं भाषा-शरीर के कुछ शब्द-तन्तु विकृत अथवा नष्ट न हो जायें उन्हें व्याकरण के नियमों की आशा से जहाँ-तहाँ बैठा दें, तो परिणाम यही होगा कि धीरे-धीरे शरीर कुम्हला जायगा और वे अपरिवर्तनशील शब्द, जिनकी आपने रक्षा की थी, जीवित शरीर से अलग होकर स्तम्भित रूप में आपको दिखायी पड़ेंगे। मेरी इस उपमा में कुछ अन्तर हो सकता है, किन्तु जिस सिद्धान्त को मैंने आपके सामने इस उपमा द्वारा उपस्थापित किया है, वह आप बराबर भाषा के विकास में देखेंगे। संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में भी मुझे तो यही भासता है कि साधारण जनता की भाषा से उसे अलग करने का ही यह परिणाम हुआ कि वह ठिठक गयी और उसकी वृद्धि रुक गयी। नियमों से बँधकर उसके शब्द-रूपों का विकृत और नाश होना बन्द हो गया और उसके साथ ही उसके शरीर की गति भी धीरे-धीरे बन्द हो गयी किन्तु वह आदि प्राकृत, जो जनता की भाषा थी, अपने पुराने शब्द-समूहों का नाश और नये शब्द-समूहों की उत्पत्ति करती आयी। इस प्रकार, नाश के रूप में उसका विकास होता चला आया। उस आदि प्राकृत से स्वभावतः, स्थानीय भेदों के कारण कई प्रकार की प्राकृत भाषाएँ निकलीं।

वररुचि ने चार प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया है, अर्थात् महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। पीछे आकर इन मुख्य चार प्राकृतों के और भी रूपान्तर हुए, जो भिन्न-भिन्न स्थानीय नामों से विख्यात हुए। मराठी और शौरसेनी प्राकृत के दो-एक उदाहरण देखिए—

"नयि आये चिय वा आयापि,
अत्तणों गात्वं निवेसयन्ता।
जे यंति वसंसं चिय,
जयंति इह ते महा कइणो॥

इसे भाण्डारकर महाशय ने इस प्रकार सस्कृत में परिवर्तित किया है—

निजयैव वाच आत्मनो, गौरवं निवेशयन्तः॥
ये यान्ति प्रशंसामेव जयंति ते महाकवयः॥

एक और उदाहरण शौरसेनी प्राकृत का देखिए—

कधं अणु गहीदिम्ह। इअमालिङ्गामि। दंसणं उण पियसहीए बाहुप्पीडेण णिरुद्धम् ण लम्भीअदि।

संस्कृत में इसका रूपान्तर यह है—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कथमनुगृहीतास्मि। इयमालिङ्गामि। दर्शनं पुनः प्रिय सख्या वाष्पोत्पीड़ेन निरुद्धम् लभ्यते॥

इन्हीं प्राकृतों से रूपान्तर और रूपनाश के क्रमानुसार अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ। वररुचि ने तो अपभ्रंश भाषा की 'प्राकृत-प्रकाश' में कोई चर्चा नहीं की है, किन्तु हेमचन्द्र ने उसको भी प्राकृत का एक रूप माना है और उसका व्याकरण दिया है। इस भाषा में आप आधुनिक हिन्दी का रूप पहचान सकते हैं। अपभ्रंश भाषा में आधुनिक हिन्दी के बहुत छन्द मिलते हैं। दो-एक उदाहरण इस भाषा के भी देखिए—

एत्तहे तेत्तहे वारिघरि लच्छि बिसंठुल घाइ।
पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिवि न ठाइ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु हउं कलजुगि दुल्लह हो बलि किज्जउं सु अणस्सु॥

इन रूपों से चन्द की भाषा और छन्द से भी कुछ मेल मिलता है। वास्तव में, यह अपभ्रंश भाषा शौरसेनी प्राकृत और पुरानी हिन्दी के बीच में आती है और दोनों ही से उसकी समानता है। यह जान पड़ता है कि हम मारवाड़ और ब्रज के पुराने कवियों के समीप पहुँच गये हैं। हिन्दी भाषा के भावी रूप की छटा आपको यहीं दिखायी पड़ने लगती है। इस अपभ्रंश भाषा के साथ मिलान के लिए चन्द के छन्दों के दो-एक उदाहरण दिये बिना मैं नहीं रह सकता—

पुच्छत बयन सु बोले, उच्चरिय कीर सच्च सच्चाए।
कवण नाम तुअ देस, कवण मन्दकरय परवेस॥१॥
हसम हयग्गय देस अति, पति सायर मृज्जाद।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसान बहु साद॥२॥
सवा लष्ष उत्तर सयल, कमऊं गढ़ दुरङ्ग।
राजत राज कुमोद मनि, हय गय द्रिव्व अभंग॥३॥

आगे भाषा का किस प्रकार से रूप-परिवर्तन हुआ, इसका उदाहरण मैं यहाँ नहीं दूंगा, क्योंकि इसके पश्चात् हम तुरन्त ऐसे समय में आ जाते हैं, जो प्रतिदिन के पठन-पाठन से इस समय भी हमारी आँख के सामने है। इन सब परिवर्तनों में आप भाषा के विकास का वही सिद्धान्त पायेंगे, अर्थात् दिन-पर-दिन कुछ शब्दों का नाश और उन्हीं के शरीर से नवीन शब्दों का प्रादुर्भाव। यह परिवर्तन अब भी बराबर हिन्दी भाषा में जारी है, और इसका जारी रहना ही उसकी सजीवता का कारण और द्योतक है।

प्राकृत और अपभ्रंश से मिली हुई पुरानी हिन्दी के ग्रन्थों का प्रायः लोप-सा हो रहा है। जो ग्रन्थ नष्ट हो गये और अब अप्राप्य हैं, उनके सम्बन्ध में दुःख प्रकट करने के सिवा और हम कर ही क्या सकते हैं? किन्तु मुझे तो ऐसा विश्वास होता है कि अब भी यदि पूर्णरूप से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खोज की जाय तो बहुत-से भाषा-रत्नों का उद्धार हो जाय। अन्य देशों में ऐसे महत्त्व के काम राज्य की ओर से लाखों रुपये व्यय कर किये जाते हैं। हमारे देश में, दुर्भाग्य से, सैकड़ों वर्षों की राजनीतिक स्थिति के कारण उन ग्रन्थों का पठन-पाठन उठ गया और वे कहीं देखने में भी नहीं आते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी की अन्य संस्थाओं तथा हिन्दीसेवियों का एक बड़ा कर्त्तव्य मुझे यह जान पड़ता है कि ग्रन्थों के लिए गहरी खोज की जाय और एक विशाल संग्रहालय बनाया जाय, जहाँ देश भर से इकट्ठा कर ऐसी पुस्तकें सुरक्षित की जायें। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इस ओर जो कुछ काम हुआ है, उसके लिए वह धन्यवाद की पात्र है, किन्तु जो काम करना है, उसको देखते हुए, जो अब तक काम हुआ है, वह बहुत ही कम प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सार्थकता इस प्रकार की महती आवश्यकताओं के पूरा करने में ही है। यदि सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं और सहायकों की संघटित शक्ति इसी काम में लग जाय तो न केवल हिन्दी भाषा का किन्तु देश भर का, ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से, बड़ा उपकार हो जाय।

हिन्दी भाषा के क्रम-विकास के सम्बन्ध में प्रायः साधारण जनों की यह धारणा-सी जान पड़ती है कि जो भाषा 'खुमान रासो' अथवा 'पृथ्वीराज रासो' में पायी जाती है, वहीं से हिन्दी का आरम्भ समझना चाहिए और वही हिन्दी का आदि स्वरूप है, उसी से ब्रजभाषा निकली और ब्रजभाषा से धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। मेरा निवेदन है कि यह बात भाषा-क्रम विकास के विरुद्ध है, और हमें हिन्दी के जो भिन्न-भिन्न रूप अपने पुराने ग्रन्थों में दिखायी पड़ते हैं, वह इस विचार के सर्वथा विपरीत प्रमाण हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द की भाषा में अधिकतर प्रान्तीय भाषा का मिश्रण है। जिस समय चन्द राजस्थान में कविता कर रहे थे, उसी समय ब्रज अथवा अवध में वही चन्द की भाषा बोली जाती थी, अथवा उसी भाषा में यहाँ के भावुक रसिक जन अपने आनन्दोत्सव के गीत गाते थे अथवा उसी भाषा के द्वारा माताएँ अपने बच्चों को पालने पर झुलाती हुई लोरियाँ गाती थीं, ऐसा होना प्रमाणित नहीं है। जो बातें ज्ञात हैं वह इसके प्रतिकूल हैं। यह भी नहीं जान पड़ता है कि खड़ी बोली ब्रजभाषा से ही सीधी निकली है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रज में, जो ब्रजभाषा का केन्द्र है, आज भी आप खड़ी बोली का प्रचार देखते। वास्तव में, आप देख यह रहे हैं आज भी राजपूताने की भाषा ब्रजभाषा की अपेक्षा चन्द की भाषा के अधिक समीप है और वहाँ ब्रजभाषा का साम्राज्य है, वहाँ खड़ी बोली साधारण जनता की भाषा नहीं है। खड़ी बोली का प्रचार केवल बोली की रीति से दूसरे ही स्थानों में है। इससे मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इन भाषाओं का क्रम-विकास अपभ्रंश भाषाओं से पृथक्-पृथक् हुआ है। अपने पुराने साहित्य पर दृष्टिपात कीजिए, तो भी यही बात प्रकट होती है। चन्द का समय प्रायः विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के मध्य में माना गया है। अमीर खुसरो का जन्म संवत् १३१२ सिद्ध है, अर्थात् चन्द के अन्त और खुसरो के जन्म में केवल ६४ या ६५ वर्ष का अन्तर था। किन्तु आपको खुसरो की भाषा और चन्द की भाषा में कितना भारी अन्तर दिखायी पड़ता है, जो कदापि ऐसी दो भाषाओं में नहीं हो सकता, जिनमें से पहली से दूसरी निकली हो। खुसरो की कुछ कविताएँ यहाँ देखिए—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

(१)

सरकंडों के ठट्ठ बँधे और बंद लगे हैं भारी।
देखी है, पर चाखी नाहीं लोग कहैं है खारी॥

(२)

खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा,
है बैठा और कहैं हैं लोटा।
खुसरो कहैं समझ का टोटा॥

(३)

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर-भर झोली घर को धावै, उसका नाम पहेला है॥

(४)

सेज पड़ी मेरे आँखों आया,
डाल सेज मुंहि मजा दिखाया।
किससे कहूँ मजा मैं अपना,
ऐ सखि साजन ना सखि सपना॥

खुसरो की दो-सखुनी हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। दो-एक उदाहरण देखिए—

(१)

प्रश्न : रोटी जली क्यों?
घोड़ा अड़ा क्यों?
पान सड़ा क्यों?
उत्तर : फेरा न था।

(२)

प्रश्न : दीवार क्यों टूटी?
राह क्यों लूटी?
उत्तर : राज न था।

खुसरो के इस रसीले दोहे पर भी तनिक ध्यान दीजिए—

खुसरो रैनि सुहाग की, जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए इक रंग॥

खुसरो की बनायी हुई 'खालिकबारी' अब भी मक़तबों में कहीं-कहीं बच्चों को विद्याभ्यास के प्रारम्भ में याद करायी जाती है। नमूना देखिए—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खालिकबारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा करतार॥

मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी और सरूर॥

गंदुम गेहूँ नखूद चना शाली है धान।
जर जोन्हरी अदस मसुरू वर्ग है पान॥

क्या यह भाषा चन्द की भाषा का ६० वर्ष पश्चात् परिवर्तित रूप जान पड़ती है? ६०० वर्ष बाद भी यह खुसरो की कविता आज हमारी आधुनिक खड़ीबोली की कविता-सी ही है। ब्रजभाषा का उत्कर्ष-काल खुसरो के बहुत पीछे का है। हिन्दी काव्य के सिरमौर कबीरदास जी की भी कविता का बहुत अंश खड़ीबोली से ही मिलता-जुलता है, यद्यपि ब्रज, अवधी और बिहारी भाषाओं का ही उसमें समावेश है।

तात्पर्य यह कि चन्द की भाषा, ब्रजभाषा और खड़ीबोली का स्रोत अपभ्रंश भाषाओं से अलग-अलग निकला और अलग-अलग प्रवाहित हुआ। स्रोत की उपमा पूरी घटित नहीं होती, क्योंकि एक स्रोत दूसरे स्रोत से अलग होकर प्रायः एक-दूसरे से नहीं मिलते, किन्तु उपमा के मुख्य अंग को सामने रखते हुए भी भाषाओं के सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसका एक-दूसरे पर प्रभाव बराबर पड़ता रहता है। जिस प्रकार चन्द की भाषा का जन्मस्थान राजपूताना और ब्रजभाषा का ब्रज कहा जा सकता है, उसी प्रकार खड़ीबोली का जन्मस्थान ब्रज के आस-पास मेरठ जिले की भूमि कही जा सकती है। सदा काव्यों से जनता की भाषा का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य प्रायः प्रथानुसार कृत्रिम भाषा में भी रचे जाते हैं। उदाहरण के लिए यही देखिए कि जिस समय ब्रजभाषा का उत्कर्ष था, प्रायः उन कवियों ने भी, जिनकी मातृभाषा ब्रजभाषा नहीं थी, उसी भाषा को काव्य-भाषा मानकर उसी भाषा में कविता की। ब्रजभाषा यद्यपि एक प्रकार से हिन्दी भाषा-भाषी मात्र की बहुत दिनों तक कविता की भाषा मानी हुई थी, तथापि सिवाय ब्रज के वह बोलचाल की भाषा कहीं नहीं हुई। बोलचाल की भाषा के सम्बन्ध में आदर्श खड़ीबोली की ओर ही झुकता गया। इसमें मुसलमानों का भी बहुत हाथ था। मुसलमानों ने हिन्दी के साँचे में ढाल कर जो फ़ारसी और अरबी शब्दों की सहायता से एक नये प्रकार की भाषा का ढंग निकाला और चलाया, उसका साँचा खड़ी बोली का ही था। उस भाषा ने भी हिन्दी के रूप के स्थिर होने में सहायता दी।

अन्त में उर्दू भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यता की सूचक भाषाएँ बन गयी हैं। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं, रूपकों और भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तव में, भाषा का आधार एक ही है, और अभी यह दोनों स्रोत इतनी दूर एक-दूसरे से नहीं हुए हैं कि फिर मिलकर एक प्रबल धारा में परिणत हो भारतवर्ष भर को अपनी शक्ति से उर्वरा कर सुसज्जित न कर दें। मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देश-भक्तों का यही तात्कालिक कर्त्तव्य जान

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पड़ता है। कुछ हिन्दी-प्रेमी मेरे इस कथन को सुनकर सम्भव है, भयभीत हों और समझें कि मैं हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करने की सम्मति दे रहा हूँ और यह कहें कि इस प्रकार के विकृत रूप में न तो हिन्दी भाषा का माधुर्य, न प्रसाद और न प्रौढ़ता ही रह जायगी, हिन्दी भाषा के आधुनिक रूप के विकृत होने से उसकी गति भी रुक जायगी। किन्तु यह मैं नहीं मानता। प्रतिभाशाली कवि और प्रौढ़ लेखक हिन्दी और उर्दू की मिली हुई उस भाषा में भी वही शक्ति उत्पन्न कर देंगे जो सदा अपभ्रष्ट किन्तु जीवित भाषाओं में मिलती आयी है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आधुनिक हिन्दी के दो निर्माता

⊙⊙

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का जन्म संवत् १८८० में माघ सुदी २ को काशी में हुआ। आपके पिता का नाम बाबू गोपीचन्द था। मुसलमान शासनकाल में आपके पूर्वज दिल्ली में जौहरी का काम करते थे। नादिरशाह का जब दिल्ली पर आक्रमण हुआ, तो वे भागकर बंगाल प्रान्त के मुर्शिदाबाद जिले में जाकर बस गये। कई वर्ष निवास करने पर जब बंगाल पर नवाब कासिम अली खाँ ने आक्रमण किया, तो आपके पितामह राय डालचन्द काशी में आकर बस गये। यहीं पर राजा शिवप्रसाद का जन्म हुआ।

पिता अरबी-फ़ारसी के विद्वान् थे। माता भी पढ़ी-लिखी थीं, इससे पाँच वर्ष की आयु से ही इनकी शिक्षा प्रारम्भ कर दी गयी। पहले घर पर ही हिन्दी और उर्दू की शिक्षा दी गयी। थोड़ी-बहुत संस्कृत की भी शिक्षा दी जाने लगी। तेरह-चौदह वर्ष की आयु में यह काशी के बीबी हरिया के स्कूल में पढ़ने के लिए भर्ती हुए। लगभग उन्नीस वर्ष की अवस्था में संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और बँगला भाषा में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। शिक्षा समाप्त करने के बाद वे भरतपुर राज्य में नौकर हो गये। उस समय राज्य की शासन-व्यवस्था में बड़ा कुप्रबन्ध था। महाराजा भरतपुर राज्य के कर्मचारियों के अधीन होकर परतन्त्र-से हो गये थे। राजा शिवप्रसाद जी ने राजा का कार्यभार बड़ी सावधानी और कुशलता से सम्हाला। वहाँ के कर्मचारियों ने कुव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी, उसे दूर करके महाराजा को स्वतन्त्र कर दिया। महाराज भरतपुर ने आपकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न होकर आपको अपना निजी सलाहकार नियुक्त किया।

सन् १८४२ में राजा साहब भरतपुर से नौकरी छोड़कर काशी चले आये और सन् १८४५ ई० में अंग्रेज़ी सरकार की नौकरी करने लगे। उस समय अंग्रेज़ पंजाब पर अपना आधिपत्य जमाने में लगे थे। अंग्रेज़ और सिक्ख-युद्ध का श्रीगणेश हो चुका था। आपने अंग्रेज़ों की बड़ी सहायता की। सिक्ख सेना की अनेक गोपनीय बातें आपने अंग्रेज़ अफसरों को बतायीं। अंग्रेज़ सरकार के वे विश्वासपात्र बन गये। अन्त में अंग्रेज़ों की विजय हुई। अंग्रेज़ सरकार ने महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र महाराज दलीपसिंह को विलायत भेजने का प्रबन्ध किया। राजा शिवप्रसाद अकेले ही महाराज दलीपसिंह को बम्बई लेकर पहुँचे और उन्हें जहाज पर सवार कराकर लाहौर वापस लौट आये।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजा शिवप्रसाद अंग्रेज़परस्त व्यक्ति थे। यद्यपि काशी में उनकी बड़ी निन्दा होती थी कि वह देशद्रोही हैं, किन्तु इसकी उन्हें तनिक भी परवाह नहीं थी। वे कुछ समय तक गवर्नर जनरल के साथ शिमला में रहे। शिमला से पुनः काशी आ गये और कमिश्नर के मीर मुंशी का काम करने लगे। वे विद्याप्रेमी तो थे ही, शिक्षा की उन्नति तथा उसके विकास में भी वे हाथ बँटाने लगे। उनकी इच्छा थी कि अंग्रेजी का प्रचार हो। इसके परिणामस्वरूप वे कुछ ही समय में स्कूलों के इन्स्पेक्टर नियुक्त हो गये। इस पद पर राजा साहब को शिक्षा-विभाग में काम करने का पूर्ण अवसर मिल गया। आपने स्कूलों में पढ़ाने के लिए कई छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की। छोटे बच्चों के लिए हिन्दी में कुछ पुस्तकों की रचना की। उस समय शिक्षा विभाग में उर्दू और फ़ारसी का बोलबाला था। उर्दू तथा फ़ारसी के पक्षपाती यह चाहते थे कि स्कूलों में यही भाषा पढ़ायी जाय और कचहरियों में भी फ़ारसी लिपि में सारा कारबार हो। अंग्रेज़ सरकार भी यही चाहती थी, किन्तु राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी के पक्ष का समर्थन किया और पुस्तकों के अभाव को दूर करने के लिए आपने साहित्य, व्याकरण, भूगोल और इतिहास आदि विषयों पर कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं और देवनागरी लिपि में छपवायीं और स्कूलों में बालकों को पढ़ायी जाने लगीं। अंग्रेज़ों को राजा साहब का यह कार्य पसन्द आया। अंग्रेज़ शासक दोरंगी नीति से शासन-कार्य चला रहे थे। वे उर्दू और फ़ारसी भाषा और लिपि का प्रचार तो चाहते ही थे, किन्तु साथ ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को भी थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन देते रहते थे।

सन् १८७२ ई० में अंग्रेज़ सरकार ने प्रसन्न होकर राजा शिवप्रसाद को सी० एस० आई० और 'सितारेहिन्द' की उपाधि प्रदान की। सन् १८८७ ई० में आपको 'राजा' की कौटुम्बिक उपाधि मिली। अन्त में आप नौकरी से अवकाश ग्रहण करके काशी में विश्राम करने लगे। २३ मई सन् १८९५ में ७२ वर्ष की आयु में आपका देहान्त हुआ।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हृदय से हिन्दी के पक्षपाती और देवनागरी लिपि के समर्थक थे, किन्तु उस समय इनका पक्ष प्रबल नहीं था। अंग्रेज़ सरकार की नीति उर्दू तथा फ़ारसी लिपि के प्रसार की ओर थी। राजा साहब सरकारपरस्त तो थे ही, ऐसी स्थिति में उन्होंने मध्य-मार्ग को ग्रहण करना ही उचित समझा। वे उस भाषा के समर्थक बन गये जो उर्दू मिश्रित हो और देवनागरी तथा फ़ारसी लिपि में सरलता से लिखी जा सके। अपनी इस नीति के कारण ही राजा साहब उस समय हिन्दी की रक्षा करने में समर्थ हुए। इसका प्रमाण उनकी रची हुई पुस्तकों से मिलता है। 'गुटका मनोरंजना', 'राजा भोज का सपना' तथा 'रानी भवानी' आदि लेखों की भाषा से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे हृदय से शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे, किन्तु उस समय की परिस्थिति को देखते हुए, वे चाहते थे कि राज्यकार्य में जो भाषा व्यवहार में लायी जाय, वह हिन्दी-उर्दू मिश्रित हो। राजा साहब ने अपनी भाषा सम्बन्धी नीति को स्पष्ट करने के लिए कई लेख भी लिखे जिससे जन-साधारण तथा पठित समाज में भाषा सम्बन्धी चेतना उत्पन्न हुई। राजा साहब की इस नीति से भाषा सम्बन्धी जो भी क्षति हुई हो, किन्तु राज्य-कार्यों में व्यवहार के लिए हिन्दी का क्षेत्र उन्मुक्त हो गया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सच पूछा जाय तो उस समय न तो हिन्दी में पुस्तकें ही थीं और न हिन्दी के प्रति कोई उत्साह ही था। हिन्दी का वह प्रारम्भिक युग था। अंग्रेज़ों ने मुसलमान बादशाहों से शासन का भार अपने हाथों में लिया था तथा राज्य-कार्यों में फ़ारसी-मिश्रित उर्दू भाषा तथा फ़ारसी लिपि का प्रचार था। शासन के कर्मचारी प्रायः फ़ारसी तथा अरबी की अच्छी जानकारी रखते थे। सरकारी दफ्तरों में फ़ारसी लिपि का बोलबाला था। ऐसी स्थिति में राजा साहब का हिन्दी तथा देवनागरी का पक्ष लेना ही एक साहस का कार्य था। वे स्वयं स्वतन्त्र नहीं थे। एक तो सरकारी कर्मचारी, दूसरे अंग्रेज़ सरकार के हिमायती, इससे अधिक वे कर ही क्या सकते थे? उन्हें सरकार को भी प्रसन्न रखना था, साथ ही हिन्दी की भी रक्षा करनी थी।

राजा साहब की भाषा सम्बन्धी नीति से उस समय काशी में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। जो लोग संस्कृत तथा शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे, वे राजा साहब की नीति से असन्तुष्ट हो गये। उन्होंने भाषा सम्बन्धी एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। सरकार के पास भी जनता की ओर से प्रतिनिधि-मंडल भेजा गया और क्षोभ प्रकट किया गया कि सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिए, जिससे शुद्ध हिन्दी का स्वरूप विकृत न हो। किन्तु राजा शिवप्रसाद अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रकट कर दिया कि साहित्य की भाषा शुद्ध हिन्दी हो तो उचित ही है, किन्तु बोलचाल तथा व्यावहारिक भाषा उर्दू-मिश्रित हिन्दी ही हो सकती है, जो सबके लिए सुलभ है। सरकारी दफ़्तरों में देवनागरी लिपि तथा हिन्दी का प्रवेश होना चाहिए, इसको दृष्टि में रखकर उन्होंने फ़ारसी लिपि का विरोध नहीं किया। हिन्दी तथा उर्दू का विवाद राजा साहब के ही समय से प्रारम्भ हुआ। राजा साहब ने जो कुछ भी किया हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे हिन्दी के प्रारम्भिक काल के एक शक्तिशाली और साहसी निर्माता थे। वे अपनी नीति के आधार पर ही फ़ारसी-मिश्रित उर्दू भाषा तथा फ़ारसी लिपि के समकक्ष हिन्दी तथा देवनागरी लिपि की स्थापना में समर्थ हुए। उर्दू के हिमायतियों तथा अंग्रेज़ शासक, इन दोनों शक्तियों का चतुराई से सामना करते हुए, उन्होंने हिन्दी तथा देवनागरी लिपि को शासन-कार्यों में व्यवहार के लिए स्थान दिलाया।

राजा साहब ने अपने जीवन में लगभग ३५ पुस्तकों की रचना की। उन पुस्तकों में 'इतिहास तिमिरनाशक' और 'भाषा का इतिहास' नामक पुस्तकों में हिन्दी की दो विभिन्न शैलियों का स्वरूप दिखायी देता है। 'भाषा का इतिहास' में, उन्होंने अपनी भाषा सम्बन्धी नीति का सुन्दर प्रतिपादन किया है। आपका कहना था कि हिन्दी को शुद्ध संस्कृतमय बनाकर वेदों का पुनः समय लाने की चेष्टा करने से राष्ट्रभाषा समृद्धिशाली तथा लोकप्रिय न हो सकेगी। हमको ऐसे शब्दों का चुनाव करना चाहिए जिसे अधिक व्यक्ति समझ सकें। अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, साथ ही अंग्रेज़ी के उन सभी प्रचलित शब्दों को हिन्दी को अपना लेना चाहिए जो प्रतिदिन के व्यवहार में या बोलचाल में आते हैं। हिन्दी में एक जानसन की आवश्यकता है। जानसन ने जो कार्य अंग्रेज़ी भाषा को समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली बनाने में किया, उसी तरह का कार्य हिन्दी के लिए होना चाहिए।

'भाषा का इतिहास' पुस्तक की शैली बोलचाल की हिन्दी है। उसमें फ़ारसी शब्दों की

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बहुलता नहीं, ग्रामीणता नहीं, नागरिकता की अधिकता है। 'इतिहास तिमिरनाशक' विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी थी, इसलिए उसकी लेखन-शैली में फ़ारसी तथा अरबी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस शैली में बड़ा प्रवाह और ओज है। औरंगजेब की फौज का वर्णन जहाँ पर किया गया है, वह स्थल बड़ा प्रभावशाली और वीरत्व से पूर्ण है।

राजा साहब के समय से ही हिन्दी का आन्दोलन प्रारम्भ होता है। यद्यपि उस समय के विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती उन्हें राजभक्त तथा हिन्दी-द्रोही समझते थे, किन्तु वे अपने विचारों पर अन्त तक दृढ़ रहे। इनका अटल विश्वास था कि बोलचाल की सार्वजनिक भाषा जिसे राष्ट्रभाषा कहा जा सकता है, संस्कृतमय नहीं होनी चाहिए। आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी राजा साहब की गणना 'अवतारी पुरुषों' में करते थे।

'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १९०७ विक्रमी में भाद्रपद शुक्ल ७ को काशी में हुआ था। आपके पिता बाबू गोपालचन्द्र हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और वैष्णव-भक्त थे। आपकी अवस्था पाँच वर्ष से कम ही थी तभी माता का देहान्त हो गया। पिता के जीवनकाल तक आप घर पर ही अध्ययन करते रहे। इसके बाद क्वीस कालेज में पढ़ने के लिए भर्ती हुए, किन्तु पढ़ने में आपका मन नहीं लगा, इसलिए स्कूल का अध्ययन समाप्त कर स्वयं अध्ययन तथा मनन की ओर अग्रसर हुए। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में हिन्दी-सेवा और नेतृत्व की दैविक प्रतिभा थी। बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। आप जन्मजात कवि, कलाकार, लेखक तथा नेता थे। पढ़ाई से स्वतन्त्र होने पर आपकी बुद्धि का विकास तीव्रगति से हुआ। काशी के धनी-मानी तथा रईसों में इनकी गणना होती थी।

उन दिनों काशी में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का बड़ा नाम और प्रभाव था। ब्रिटिश सरकार की ओर से राजा साहब को 'सितारेहिन्द' की उपाधि दी गयी थी। इधर, जनता बाबू हरिश्चन्द्र की हिन्दी-सेवा तथा देश-भक्ति से अत्यन्त प्रभावित थी। इसलिए उसने आपको 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया। काशी में इस प्रकार साहित्य-जगत् में दो दल का पलड़ा भारी था। भारतेन्दु, जनता के व्यक्ति थे। लगभग १० वर्ष की आयु में ही आप हिन्दी में उच्चकोटि की कविताएँ लिखने लगे थे।

भारतेन्दु एक युगप्रवर्तक साहित्यकार और निर्माता थे। आपने हिन्दी साहित्य में नवीन युग की स्थापना की। साहित्य की उन्नति का सामूहिक रूप से बीड़ा उठाया। कितने ही नये-नये लेखकों को हिन्दी-सेवा के लिए प्रेरित किया। दर्जनों नाटक, निबन्ध, आलोचना, कथा तथा विभिन्न विषयों पर लेख लिखकर हिन्दी क्षेत्र में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया, जिसकी ओर शिक्षित समुदाय का ध्यान बरबस आकर्षित हुआ। हिन्दी में पद्य-साहित्य तो पहले ही से विकसित होता आ रहा था, किन्तु गद्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बोलचाल की भाषा का प्रचार तथा प्रसार का बीड़ा उठाया। खड़ीबोली के गद्य तथा पद्य-साहित्य के प्रथम निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे। गद्य-साहित्य का निर्माण भारतेन्दु जी ने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अबाध गति से किया। 'हरिश्चन्द्र' पत्रिका का प्रकाशन करके आपने गद्य-साहित्य के सृजन तथा निर्माण से हिन्दी को अपूर्व शक्ति प्रदान की।

आपने अपने छोटे-से जीवनकाल में छोटे-मोटे मिलाकर लगभग १७५ ग्रन्थों की रचना की। उन रचनाओं में नाटक तथा निबन्ध-साहित्य का विशेष महत्त्व है। नाटक मौलिक और अनूदित दो प्रकार के हैं। उनमें 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा राक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'चन्द्रावली' 'भारत जननी' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके सभी नाटकों का एक संग्रह 'भारतेन्दु नाटकावली' नाम से है। इतिहास, उपन्यास तथा काव्य-ग्रन्थों की भी आपने रचना की।

शुद्ध खड़ीबोली में विविध विचारों से सम्पन्न निबन्ध-साहित्य का सृजन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही प्रारम्भ किया। निबन्धों में जीवनियाँ, ऐतिहासिक, पुरातत्त्व सम्बन्धी, धार्मिक, सामाजिक तथा सेवात्मक अनेक प्रकार के निबन्ध हैं। ये निबन्ध पूर्णतया मौलिक हैं। इन निबन्धों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि भारतेन्दु जी कितने सुपठित तथा प्रतिभासम्पन्न थे। जिस विषय को उठाते थे, उसकी तह तक पहुँचकर तथ्यातथ्य पाठकों के सामने रख देते थे।

भारतेन्दु ने हिन्दी में एक नये युग की स्थापना की। भारतेन्दु का लक्ष्य था हिन्दी का भारतीय जनता में प्रचार और विविध प्रकार से साहित्य की अभिवृद्धि, खड़ीबोली का नये से संस्कार और शृंगार। भाषा सरल, सुबोध, भावपूर्ण और प्रसादपूर्ण होने के साथ ही संस्कृत शब्दों से युक्त थी। भारतेन्दु के समय में तथा उनके पूर्व भाषा का कोई रूप स्थिर नहीं हो पाया था। भारतेन्दु ने भाषा में एकरूपता उत्पन्न की और एक आकर्षक शैली का सृजन किया।

भारतेन्दु की भाषा-शैली बड़ी आकर्षक थी। इनकी शैली विवरणात्मक, भावात्मक, विवेचनात्मक, व्यंगात्मक तथा विश्लेषणात्मक थी। इस प्रकार आप स्वयं कई शैलियों के जन्म-दाता तथा निर्माता थे। इसीलिए हिन्दी के इस युग को 'भारतेन्दु-युग' के नाम से पुकारा जाता है। भारतेन्दु ने हिन्दी को नया जीवन दिया, नयी दिशा की ओर प्रेरित किया और भावी पीढ़ी के लिए एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दु ने कुल ३४ वर्ष की आयु पायी थी। १६ वर्ष की आयु में इन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया और १८ वर्ष तक एक मन और एक हृदय से बराबर हिन्दी भाषा तथा साहित्य की सेवा करते रहे। इस अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी को जो दान दिया, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए यथेष्ट है। जब तक हिन्दी भाषा और उसके बोलने वाले संसार में जीवित रहेंगे तब तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मर कर भी अमर हैं। आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य के आप जनक और निर्माता थे। संवत् १९४७ विक्रमी में आपका देहावसान हुआ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

॥ साहित्य और दर्शन ॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दो शब्द : प्रेमघन सर्वस्व

⊙⊙

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास, प्रेमघन बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और गोविन्दनारायण मिश्र, उस युग के नाम हैं जो हमारे बहुत निकट हैं किन्तु हमसे अब कुछ हट गया है। जिस डोर ने हमें उनसे बाँध रखा है, वह अभी बहुत स्पष्ट है। जो केन्द्र उन्होंने बनाया था हम उसी की सीधी किरनें हैं, यद्यपि हमने अपना भी अब नया केन्द्र बना लिया है। अपना निकास-स्थान अभी हमारी आँख के सामने है। उसकी याद मीठी और प्यारी है।

जिन प्रतिभाओं ने वह युग बनाया और हमारे युग का बीज डाला, उनकी कृतियाँ हमारी सम्पत्ति हैं और रक्षा के योग्य हैं। आगे के लिए जो नया रास्ता बनाने वाले हैं, उनके लिए यह जानना उचित है कि किस रास्ते से वे आये हैं। उस ज्ञान की रक्षा में यह 'प्रेमघन-सर्वस्व' सहायक होगा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन को प्रेमघन जी के सभापतित्व का गौरव और उनके सभापतित्व में मंत्री रह कर काम करने का सौभाग्य मुझे मिला था। प्रेमघन जी को देखने और जानने तथा उनके आशीर्वाद पाने का मुझे जो अवसर मिला, वह मेरे जीवन की संचित स्मृतियों में से है।

⊙

[प्रस्तुत भूमिका राजर्षि टण्डन जी ने श्री प्रभाकरेश्वरप्रसाद उपाध्याय द्वारा संग्रहीत 'प्रेमघन-सर्वस्व' (प्रथम खण्ड) के लिए सं० १९९६ ई० सन् १९३९ में लिखी थी। दस्तावेज़ के रूप में यह आलेख महत्त्वपूर्ण है।]

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हास्य क्या है ?

⊙⊙

"चकल्लस"—सम्पादक की इच्छा है कि मैं आज उनके पत्र के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य ही लिख कर दूँ। यों तो वर्षों से, राजनीतिक क्षेत्र में उतर आने के कारण, मैं प्राय: यह भूल ही चुका हूँ कि मैं साहित्यिक भी हूँ। साल में केवल एक बार ही, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, अपने साहित्यिक होने का ध्यान मुझे हो जाता है। हिन्दी के सम्पादकगण भी मुझे एकदम भुला बैठे हैं, अन्यथा उनके तकाज़ों के पत्र पाकर ही मैं, कभी-न-कभी कुछ-न-कुछ अवश्य ही लिखा करूँ। अस्तु।

"चकल्लस" हास्य-रस का विशुद्ध साहित्यिक पत्र है, इसलिए मैं हास्य-रस पर ही अपने विचार प्रकट करूँगा।

हास्य सृष्टि का सौन्दर्य है, हास्य ही सृष्टि का सुख और हास्य ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। परमाणु में हँसी है। विराट् रूप में हँसी है। बिन्दु में हँसी है। सागर में हँसी है। रेणु में हँसी है। पर्वत में हँसी है। वायु और अग्नि में हँसी है। जल और थल में हँसी है। आकाश में हँसी है। प्रकाश में हँसी है। अन्धकार में हँसी है। सूर्य और चन्द्र और तारागण में हँसी है। किरण और कौमुदी में हँसी है। मनुष्य में हँसी है। पशु में हँसी है। पक्षी में हँसी है। जिधर देखो हँसी का ही साम्राज्य है। प्रकृति हास्य-मय है, सारा ब्रह्माण्ड एक अद्‌भुत हास्य-रस का खज़ाना है। जो मनुष्य महात्मा गांधी की तरह सारगर्भित रसमयी हँसी का स्वाद चख सका, वही भाग्यवान् है।

ईश्वरीय सौन्दर्य को—प्रकृति की प्राकृतिक मूर्खताओं को—भाषा की छटा द्वारा संसार को दरसाना ही हास्य-रस-लेखक का कर्त्तव्य है। संसार के पदार्थों और घटनाओं को सभी देखते हैं, परन्तु जिन्हें आँखें हैं, वे देखते हैं कि पहाड़ों के भीतर से नदी अपने माता-पिता को भुलावा देकर हँसती हुई बाहर की ओर भाग रही है। उस श्वेतवस्त्रा, शोभायुक्त, लाजवती, हास्यमयी का नाचता और हँसता हुआ शरीर हास्य-रस के लेखक अथवा कवि का "कैनवेस" है। आँख तो प्राय: प्रत्येक मनुष्य के पास एक ही है, पर चितवन में भेद है। दुलारेलाल जी ने यह सच कहा है—

सुख संदेश की ज्वार चढ़ि, आई सखी सुजान।
लगी सिन्धु-आनन्द में, धनबूड़न उतरान॥

किन्तु दुलारेलाल जी ने इस रसीले दोहे में केवल बाहरी आनन्द का वर्णन किया—और वह भी अधूरा। हीरे की परख जौहरी की आँखें करती हैं। कुब्जा के मनोहर कूबड़ में आज तक अगर कोई सौन्दर्य की पहचान कर सका तो केवल कान्हा-सँवलिया ही। इसी तरह, सच्ची हँसी-रूपी सुन्दरी को आज तक हिन्दी में कोई पहचान ही न पाया। जिसने काजर की कोठरी में पैठकर हँसी को खोजने का सच्चा प्रयत्न किया, उसे ही कुब्जा हाथ लगी—आगे के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चार दाँत टूटे हुए, गालों तक काजल फैला हुआ, दुनिया की गोलाई के समान बड़ी नथ नाक में पहने हुए, झुमके, पत्ते और बालियों के बोझ से फटी हुई कनपटियाँ—अहा, उस कुब्जा का रूप कितना मनोहर है ! छवि देखते ही बनती है। क्यों न हो, ऐसी चिकनी-चुपड़ी, छैल-छबीली, सिर से पैर तक गहनों से लदी हुई, सोलहों शृंगार किये हुए कुब्जा पर कौन न निछावर हो जाय, इस सादगी पै कौन न मर जाय ऐ खुदा ?—धन्य हो तुम, काले कृष्ण की प्रेयसि कटीली कुब्जे !

हिन्दी बोलने वालों का यह सौभाग्य है कि हास्य रस-साहित्य को भरने के लिए परम पिता परमात्मा ने बहुत-से कुब्जा ऐसे मनोहर माडल बनाये हैं जिनके ऊपर अपनी लेखनी की रेलगाड़ी दौड़ाकर बहुत-से लेखकों और कवियों ने सुन्दर साहित्य सृजन किया है। मनुष्य जाति सदा उनकी ऋणी रहेगी। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीयुत् जी० पी० श्रीवास्तव—अहा ! इनके नामों का स्मरण करते ही हमारी आँखें खुल जाती हैं—इनके भावों को जिसने समझा, उसी को आगरा जाने की आवश्यकता पड़ी। संसार साहित्य की चर्चा करता है; काँच को हीरा जानकर उसके पीछे दौड़ता है,; खेल की गुड़ियों को कुब्जा ऐसी सुन्दरी समझ कर उससे ब्याह करता है और अपनी करतूत पर अभिमानी बनता है। अनेक भाषाएँ अपने-अपने काँच के टुकड़ों को सामने रख हीरे का दम भरती हैं, किन्तु जैसा कबीर ने कहा है—

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

लेखकों के भी लँहड़े नहीं होते। वह काल, उस देश के लिए 'महा' काल है, जिसमें हास्य-रस का एक भी सुन्दर लेखक अथवा कवि उत्पन्न हो जाय और इस दृष्टिकोण से तो यह काल परम अद्वितीय होगा जिसमें एक नहीं, अनेकों कवि और लेखक भरे पड़े होंगे। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की सेवाओं की परख कौन करता है ? मेरे व्याकरण सम्बन्धी विचारों को कौन तौलता है ? मात्रा, अक्षर, संज्ञा और सर्वनामों को गिनने वाले समालोचक ? छिः ! परखने के लिए कुछ हृदय की सामग्री चाहिए, पुस्तकों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं। कवियों के हँसने और रोने का अन्तर कौन समझ पाता है ? स्वयं कोई मस्त प्रेमी, सिर पर बड़े-बड़े बाल रखे हुए, पतलून को एँड़ी से नीचे रगड़ता हुआ, कमर में पेटी की जगह नेकटाई या रुमाल बाँध कर आँखें बन्द किये हुए क्षितिज के उस पार जाने वाला कोई कविता का मतवाला ही, जो शुद्ध हृदय से, अभिमान छोड़, इस सृष्टि के भीतर नम्रतापूर्वक शिष्य बनकर आता है। और वही धन्य है। उसे हज़ार बार दण्डवत् प्रणाम है।

'चकल्लस'—अप्रैल १९३८

⊙

["चकल्लस" सन् १९३८ में लगभग एक वर्ष तक लखनऊ से यूनिवर्सिटी प्रेस, नादान महल रोड, से प्रकाशित होता था। अखबारी कागज में प्रकाशित इस मासिक का कवर-पृष्ठ रंगीन होता था, बहुत ही लुभावना। इस हास्य-व्यंग्य प्रधान पत्रिका में तत्कालीन शीर्षस्थ-लेखकों की सुरम्य रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। पं० जवाहरलाल नेहरू, गोविन्द वल्लभ पन्त आदि ने भी इस पत्रिका में लिखा था। इस ऐतिहासिक पत्रिका में लेखकों के चित्र, व्यंग्य-चित्र भी छपते थे।]

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

साहित्य की समृद्धि आवश्यक

⊙⊙

देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा का प्रचार बढ़ रहा है। उनके गौरव का ज्ञान राष्ट्र की जनता को होता जा रहा है। सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं में भी अब हिन्दी का प्रवेश हो गया है। विख्यात वक्ताओं तक को अब कभी-कभी इच्छापूर्वक, कभी-कभी अनिच्छा-पूर्वक, कभी-कभी निरुपाय होकर, कभी-कभी हवा का रुख बदला हुआ देखकर, अनिच्छा से भी उसका आश्रय लेना पड़ता है। नये-नये लेखकों और प्रकाशकों की कृपा से उसके साहित्य की भी वृद्धि हो रही है। यह सब होने पर भी और-और भाषाओं के साहित्य के साथ अपने साहित्य की तुलना करने पर सतत क्रियाशीलता वारिधि की पूर्ति के लिए एक वारि-बिन्दु के बराबर है। तथापि यह इतनी भी वृद्धि सन्तोषजनक अवश्य ही है।

सिच्यम्मितापमपि किञ्चिदुरस्सरो यत्?

क्योंकि राजपूताने के उत्तम बालुकामय मरुस्थल में एक अत्यल्प जलाशय भी शुष्क कण्ठ को सींचने का काम कुछ तो देता ही है।

परन्तु यदि हमें और भाषाओं की समकक्षता करना है—यदि हमें और देशों के न सही, अपने देश के अन्य प्रान्तों के सामने अपने मस्तक को ऊँचा उठाना है—तो हमें अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि, झपाटे से करनी चाहिए। क्योंकि अभी वह सर्वोन्नत दशा में नहीं है। अतएव जब तक अनेक मातृभाषा-प्रेमी समर्थ जन इस ओर न झुकेंगे तब तक हिन्दी साहित्य की उन्नति समर्थ रूप में कदापि न होगी। क्योंकि जब से जन समुदाय में ज्ञानांकुर का उदय हुआ तब से आज तक नाना भाषाओं के साहित्य में अनन्त ज्ञानराशि संचित हो चुकी है। इस दशा में उसी भाषा का साहित्य समृद्ध कहा जा सकता है जिसमें इस ज्ञान-राशि का सबसे अधिक संचय हो। यह बात दस-बीस-पचास वर्षों में भी नहीं हो सकती। अतएव जब तक अनेकानेक लेखक चिरकाल तक उस काम में न लगे रहेंगे, तब तक अपनी भाषा का साहित्य समृद्ध न होगा। यों तो समृद्धि का यह काम सीमा-रहित है, वह कभी बन्द ही नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान की उन्नति दिन प्रति होती ही जाती है। नयी-नयी बातों का ज्ञान होता ही जाता है। नये-नये शास्त्रों, विज्ञानों, कलाओं और आविष्कारों का उद्भव होता ही जाता है। अतएव उन सबको अपनी भाषा के साहित्य-कोष में संचित कर देने की आवश्यकता सदा बनी रहेगी। जब तक हिन्दी भाषा का अस्तित्व रहेगा तब तक इस ज्ञान-संचय के कार्य को जारी रखने की आवश्यकता रहेगी। ऐसा समय कभी आने को नहीं, जब कोई यह कहने का साहस कर सके कि बस अब

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

समस्त ज्ञान-कोष निःशेष हो गया। इस कारण साहित्य-वृद्धि का काम सतत जारी रखना पड़ेगा। इससे आप समझ जायेंगे यह काम कितना गौरवपूर्ण, कितना महत्त्वमय और कितना बड़ा है।

साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाये। मनोरंजन मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित गठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग, विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य में नहीं होता, उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।

साहित्य की समृद्धि के लिए किन-किन विषयों के और कैसे-कैसे ग्रन्थों की आवश्यकता है, यह निवेदन करने की शक्ति मुझमें नहीं। जिस भाषा के साहित्य में जिधर देखिये उधर ही, कुछ-न-कुछ अभाव देख पड़ता है, उसकी उन्नति के निमित्त यह कहने के लिए जगह ही कहाँ कि यह लिखिये, वह लिखिये या यह पहले लिखिये वह पीछे। जो जिस-जिस विषय का ज्ञाता है अथवा जो विषय जिसे अधिक मनोरंजक जान पड़ता है, उसे उसी विषय की ग्रन्थ-रचना करनी चाहिए। साहित्य की जितनी शाखाएँ हैं, ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं, सभी को अपनी भाषा में सुलभ कर देने की चेष्टा करनी चाहिए। आप यह निश्चय समझिये, अपनी ही भाषा के साहित्य से जनता की यथेष्ट ज्ञानोन्नति हो सकती है। विदेशी भाषाओं के साहित्य से यह बात कदापि सम्भव नहीं। विदेशी साहित्य यदि हमारे साहित्य को दबा लेगा तो लाभ के बदले हानि ही होगी और इतनी हानि होगी जिसकी इन्तहा नहीं। हमारा इतिहास, हमारा विकास, हमारी सभ्यता, बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की है। विदेशी साहित्य के उन्मुक्त द्वार से आयी हुई सभ्यता हमारी सभ्यता को उत्तरोत्तर बाधा ही पहुँचाती रहेगी। फल यह होगा कि हम अपने गौरव और अपने आत्मभाव को भूल जायेंगे। इससे हमारी जातीयता ही नष्ट हो जायेगी और जो देश अपना इतिहास और जातीयता खो देते हैं, उनके पास फिर रह ही क्या जाता है। वह तो जिन्दा ही मुर्दा हो जाता है और क्रम-क्रम से नाम शेष होने के पास पहुँच जाता है। अतएव हमारा परम धर्म है कि हम अपने ही साहित्य की सृष्टि और उन्नति करें। एतदर्थ हमें चाहिए कि हम, हिन्दी के साहित्य-कोष में, अपने पूर्व पुरुषों के द्वारा अर्जित ज्ञान का भी संचय करें और विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी जो ज्ञान हमारे मतलब का हो, उसे भी लाकर उसमें भर दें। विदेशी ज्ञान अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, चीनी, जापानी आदि किसी भी भाषा में क्यों न पाया जाता हो, हमें निःसंकोच उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। हमारी सभ्यता पर सिक्खों, पारसियों, मुसलमानों, अंग्रेज़ों, चीनियों और जापानियों तक की सभ्यता का प्रभाव पड़ा है। जैनों और बौद्धों की सभ्यता का तो कुछ कहना ही नहीं। अतएव इन जातियों और धर्मानुयायियों के साहित्य से भी उपादेय अंश ग्रहण करके हमें अपने साहित्य की पूर्ति करनी चाहिए।

कितने परिताप की बात है कि उनके इस तत्त्व के निर्णायक ग्रन्थों में से विशेष महत्त्वपूर्ण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ग्रंथों का, अब तक, हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ। हैकेल नामक नामी तत्त्ववेत्ता ने विकासवाद, सृष्टि-रचना आदि विषयों पर बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। उसके एक ग्रन्थ का नाम है 'विश्व रहस्य'। उसने इस ग्रन्थ में इस बात का निरूपण किया है कि यह सारा विश्व एकरसात्मक है। वह एक ही अद्वितीय तत्त्व का प्रसार है। उसकी जड़ में एक ही परमतत्त्व का अधिष्ठान है। उसी के अन्तर्गत किसी अनिर्वचनीय शक्ति की प्रेरणा से उसका काम यथानियम होता है। इस प्रकार, इस अनात्मवादी वैज्ञानिक ने भी विश्व में किसी परमतत्त्व की अवस्थिति को स्वीकार किया है और प्रकारान्तर से उपनिषदों ही के 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' संज्ञक महावाक्य की सत्यता सिद्ध कर दिखायी है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व पृथक् न स्वीकार करने पर भी उसका तत्त्व दूतवाद किसी अखण्ड और अद्वितीय सत्ता की गवाही दे रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से हैकेल के इस ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में हो गया, यह बहुत अच्छा हुआ। यदि अध्यापक वसु के ग्रन्थों का भी अनुवाद हो जाय तो हम लोगों में से कितनों को अपने स्वरूप का कुछ अधिक ज्ञान हो जाय। वे यह तो जान जायें कि हम किसकी संतान हैं; हमारे पूर्वजों ने ज्ञान की कितनी प्राप्ति की थी; ज्ञानोन्नति में किसी समय हमारा देश कहाँ तक पहुँचा था।

विदेशी भाषाओं में ऐसे सहस्रशः ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनके अनुवाद से हमारी जाति और हमारे देश को अपरिमेय लाभ पहुँच सकता है। परन्तु खेद की बात यह है, उस तरफ हमारा ध्यान उतना नहीं गया, जितना जाना चाहिए। जो समर्थ है और जो अंग्रेज़ीदाँ बनकर, अनेक बातों में, अंग्रेज़ों की नकल करना ही अपना परम धर्म समझते हैं, उनको कृपा करके किसी तरह जगा दीजिए। उन्हें अपने साहित्य की उन्नति से होने वाले लाभ बता दीजिए और उनको इस बात की प्रेरणा कीजिए कि वे अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के आदरणीय ग्रन्थों का अनुवाद करके अपनी भाषा के साहित्य की वृद्धि करें। साथ ही, इस बात पर भी जोर दीजिए कि शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता रखने वाले विद्वान् मौलिक ग्रन्थों की रचना करके अपनी विद्या और शिक्षा को सफल और सार्थक करें।

सज्ञान होकर भी जो मनुष्य अपने पूर्वजों के गौरव की रक्षा नहीं करता, शिक्षित होकर भी जो मनुष्य अपनी भाषा का आदर नहीं करता, समर्थ होकर भी जो मनुष्य अपने साहित्य की परिपुष्टि करके अपनी जाति और अपने देश को ज्ञानोन्नत नहीं करता, वह अपने कर्त्तव्य से च्युत समझा जाता है। मातृभमि और मातृभाषा दोनों ही के लिए उसका होना-न-होना एक ही-सा है। अपनों का प्यार न करने वालों, अपनों के सुख-दुःख में शामिल न होने वालों के लिए बस एक ही काम रह जाता है—वह है भिक्षापात्र लेकर दूसरों के द्वार पर, हर बात के लिए, फेरी लगाना। जीवनमृत या आत्महन्ता की संज्ञा का निर्माण ऐसे ही मनुष्यों के लिए हुआ है। कृपा करके ऐसे पुरुषपुंगवों को इस संज्ञा-निर्देश से बचा लीजिए।

वैदिक और पौराणिक काल में निर्मित ग्रन्थों का जो अंश हमारे यहाँ बच रहा है वही इतना अधिक है कि अनेक लेखक सतत श्रम करने पर भी इसे, थोड़े समय में, हिन्दी का रूप नहीं दे सकते। अकेले जैनियों ही के ग्रन्थ-भण्डारों में सैकड़ों नहीं, हजारों ऐसे ग्रन्थ अब भी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विद्यमान हैं जिनका नाम तक हम लोग नहीं जानते। यह सारा साहित्य हमारे ही पूर्वजों की, हमारे ही देशवासियों की कृपा से, अस्तित्व में आया है। अतएव वह भी हमारी सभ्यता का निर्देशक है। उसे छोड़ देने से हमारी सभ्यता और हमारी जातीयता के बोधक साधन पूर्णता को नहीं पहुँच सकते।

पुराणों को कुछ लोगों ने बदनाम कर रखा है, वे उन्हें गपोड़े समझते हैं। यही सही, पर क्या गपोड़े होने ही से वे त्याज्य हो गये? क्या गपोड़े, साहित्य का अंश नहीं? क्या बड़े होने पर हम अपनी या नानी की कही हुई कहानियाँ याद करके आनन्दमग्न और—कोई-कोई—प्रेम-विह्वल तक नहीं हो जाते? क्या पुराण हमारे ही पूर्वजों की यादगार नहीं? वे कैसे ही क्यों न हों, हमारे तो आदर के ही पात्र हैं। जिन्होंने पुराण पढ़े हैं, वे जानते हैं कि वे समूल ही निःसार नहीं। उनमें और हमारे महाभारत तथा रामायण में, हमारी सभ्यता के आदर्श चित्र भरे पड़े हैं। उनमें दर्शनशास्त्रों के तत्त्व हैं। उनमें ज्ञान-विज्ञान की बातें हैं। उनमें ऐतिहासिक विवरण हैं। उनमें काव्य-रसों की प्रायः सभी सामग्री है। अतएव वे हेय नहीं। जरा श्रीमद्-भागवत के सातवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय को ही देख लीजिए। नीच योनि में उत्पन्न माने गये दैत्य हिरण्यकश्यप ने कितनी तत्त्वदर्शिता प्रकट की है और अपने गम्भीर ज्ञान की कैसी अद्भुत छटा दिखायी है। वह ज्ञान-प्रदर्शन पुराणकार ही की महत्ता क्यों न मान ली जाये, वह वहाँ विद्यमान तो है। इसी तरह, विष्णुपुराण में मगध नरेशों के कुछ ऐसे ऐतिहासिक वर्णन मिलेंगे जिनको असत्य ठहराने का साहस, आजकल इस बीसवीं सदी के भी, धुरन्धर ऐतिहासिक नहीं कर सकते।

मौलिक साहित्य-रचना की तो बड़ी ही आवश्यकता है। पर उसके साथ-ही-साथ हमारी सभ्यता के सूचक प्राचीन साहित्य के हिन्दी अनुवाद की तथा विदेशी भाषाओं के भी ग्रन्थ-रत्नों के अनुवाद भी आवश्यक हैं—फिर वे ग्रन्थ चाहे अंग्रेज़ी भाषा के हों, चाहे अरबी-फ़ारसी के हों, चाहे और ही किसी भाषा के हों। विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बसु की विज्ञान-विचक्षणता और अद्भुत आविष्कारों ने भू-मण्डल के विज्ञानवेत्ताओं को चकित कर दिया। उन्होंने विज्ञान-बल से यत्न द्वारा यह बात प्रमाणित कर दी है कि हमारे उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रों के सिद्धान्त निर्मूल नहीं। उनके अनुसार, जो ब्रह्म या परमात्मांश प्राणि-मात्र में विद्यमान है, वही उद्भिजों और जड़ पदार्थों तक में विद्यमान है। इस जड़-चेतनमयी सृष्टि में परमात्मा सर्वत्र ही व्याप्त है और सभी का पालन-पोषण, नियमन तथा नाश, एक ही प्रकार के नियमों से होता है। सरस्वती नदी के तट पर हजारों वर्ष पूर्व हमारे कवियों, मुनियों और पूर्वजों ने जिस 'सर्वं खल्विदं' के तत्त्व का उद्घाटन किया था, आचार्य बसु ने उसी की सत्यता अपने आविष्कारों द्वारा प्रमाणित कर दी है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति का सन्देश

⊙⊙

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥—ऋग्वेद

आपके भाव समान हों, आपके हृदय समान हों, आपके मन समान हों और आप परस्पर सद्भाव से रहें।

शन्नोवाताः पवतां शन्नस्तपतु सूर्य्यः।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु॥—यजुर्वेद

हमारे लिए शान्तिपूर्ण वायु बहें, हमारे लिए सूर्य का ताप शान्तिमय हो और हमारे लिए मेघ शान्तिपूर्ण वर्षा करें।

दानेनादानम्। अक्रोधेन क्रोधम्। श्रद्धयाऽश्रद्धाम्।
सत्येनानृतम्। एषा गतिः। एतदमृतम्। स्वर्गच्छ। ज्योतिर्गच्छ॥—सामवेद

दान द्वारा कृपणता पर विजय प्राप्त करो। शान्ति द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। श्रद्धा से अश्रद्धा पर विजय प्राप्त करो। सत्य से असत्य पर विजय प्राप्त करो। यही सन्मार्ग अमृत है। स्वर्ग की ओर जाओ। प्रकाश की ओर जाओ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विषन् मा स्वसारमुत स्वसा।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं यच्छतु शान्तिवाम्॥—अथर्ववेद

भाई, भाई से द्वेष न करे। भगिनी, भगिनी से द्वेष न करे। पत्नी, पति से मधुर वचन बोले और सभी को शान्ति प्राप्त हो।

भारतीय संस्कृति का आदर्शस्वरूप एक श्लोक मुझे याद आता है—

न मे स्तेयो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

यह रामचन्द्र जी के मुख से निकला बताया गया है। इसका यह अर्थ है कि मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई मदिरापान करने वाला नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जो अग्नि की रक्षा नहीं करता हो, कोई मूर्ख नहीं है और कोई व्यभिचारी नहीं है, जब व्यभिचारी नहीं है तो व्यभिचारिणी कहाँ से हो सकती हैं। अर्थात् देश में व्यभिचारिणी भी नहीं हैं।

खेद होता है, आज वेश्यावृत्ति से जीविका चलाने वाली लगभग तीस लाख स्त्रियाँ इस समय विद्यमान हैं। पदे-पदे भ्रष्टाचार है। स्थिति भयावह हो गयी है। आज दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई को देख कर दुःख होता है। चाणक्य का वाक्य—'शासनस्य मूलमिन्द्रियनिग्रहः'

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हमारे शासन की सच्चरित्रता और उसकी पवित्रता का आदर्श था। आज शासकों की स्थिति इसके विपरीत है।

भारतीय संस्कृति के आधार पर शासन और समाज का निर्माण हो, यह इस सम्मेलन का उद्देश्य है।

बड़े-बड़े नगरों में शराब, सिगार, सिगरेट आदि का अत्यधिक प्रचार है। हमारे कुछ मिनिस्टर और ऊँचे पदाधिकारी लोगों को भी लाज नहीं आती जो निर्भीकतापूर्वक इस प्रकार की वस्तुओं का उपयोग करते हैं।

जहाँ एक ओर पश्चिमीय भोग-विलास वृत्ति की नकल हमें नहीं करनी है, भारत को पश्चिमी देशों की प्रतिलिपि नहीं बनाना है, वहाँ दूसरी ओर आवश्यकता है कि हम लकीर के फकीर न बने रहें। इस मेले में आकर गंगा जी में तीन डुबकियाँ लगाने मात्र से मुक्ति की इच्छा करना मूढ़ाग्रह है। मैं इसे भक्ति का चिह्न नहीं मानता। हमारा धर्म बौद्धिक रहा है। गंगा के दर्शनों से हृदय और चरित्र को पवित्र करने और ऊँचा उठाने का प्रयत्न होना चाहिए।

मन्दिर, जो देवता का घर है, वहाँ नग्न स्त्रियों के चित्र। महान् आश्चर्य होता है। ऐसी ही कुप्रथाएँ देश को नीचे की ओर घसीट रही हैं।

देश में भ्रष्टाचार का जोर है। अंग्रेज के समय में तो वह था ही और पराधीनता उसका एक कारण भी समझ पड़ती थी, किन्तु स्वतंत्र भारत में भी वह कम नहीं हुआ, अपितु और बढ़ा ही है। इसका मूल कारण भारतीय संस्कृति का प्रचलन न होना है।

भारत जैसे धर्मप्राण देश में रुपये को प्रधानता देना दुःख का विषय है। पश्चिम की धार्मिक कथाओं के एक पात्र डॉ० फास्टस जिसने रुपये और भौतिक सुख के लिए अपनी आत्मा को शैतान के हाथ बेच दिया था, इसी प्रकार हमने भी अर्थ के लिए अपनी नैतिकता बेच दी है। समाज में धन-संग्रह की भावना बढ़ती जा रही है।

देश के सामने इस समय अनेक समस्याएँ हैं, जिनमें भाषा की समस्या, गोरक्षा की समस्या तथा जीवन में नैतिक उत्थान की समस्या भी है। देश का नैतिक अधःपतन पराधीनता का परिणाम था। पराधीनता का सबसे बड़ा अभिशाप ही यह है कि हम विदेशी शासन के कारण अपने नैतिक आदर्शों के आधार पर समाज का निर्माण नहीं कर सकते। देश में अंग्रेजी की जड़ों के जमने का कारण भी अपनी इच्छा के अनुसार समाज का निर्माण न कर सकने की विवशता ही है। इसी विवशता को दूर करने के लिए हमने स्वतंत्रता का भारी संघर्ष छेड़ा, जिसमें हम सफल हुए। सफलता के बाद, मुझे अपने सहयोगियों के मन का अजीब रूप दिखायी पड़ा। वे भारतीय संस्कृति और आदर्शों के प्रतिकूल चल रहे हैं। मुझे लगा कि उनके ऊपर अंग्रेज का पाश्चात्य संस्कृति का जादू अभी बाकी है। यह देखकर ही सांस्कृतिक कार्य की अतीव आवश्यकता का अनुभव हुआ। तब से यह भारतीय संस्कृति सम्मेलन कार्य करता आ रहा है। मैं तो दावा करता हूँ कि गत पाँच वर्षों में सम्मेलन ने समाज में बहुत परिवर्तन ला दिया है। परन्तु इतना अवश्य है कि जनता का तथा कार्यक्षम जनों का ध्यान हमने इन प्रश्नों की ओर खींचा है और उनमें काम करने की एक हलचल पैदा की है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व

⊙⊙

ज्ञान राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती, तो वह रूपवती भिखारिनी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा, उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों का और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने, सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन बंद कर दीजिए या कम कर दीजिए तो आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात्, नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह, आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए तो वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायेगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रह सकती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है, और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान और शक्ति-सम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्रमपूर्वक बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही इस साहित्य-सम्मेलन के आडम्बर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठा कर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है। शासन प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं। यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पायी जाती। यूरोप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ने ही किया है। जातीय स्वतंत्रता के बीज उसी ने बोये हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्र भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रान्स में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने! जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठाने वाला है और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है, उसके उत्पादन और संवर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती, वह अज्ञानतान्धकार के गर्त में पड़ी रह कर किसी दिन अपना अस्तित्व भी खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेञ्च भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंग्रेज़ी भाषा भी फ्रेञ्च और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनीतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को विजेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उसके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द जरूर पड़ जाती है। पर यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधः-पतित भाषाएँ बोलने वाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंग्लैण्ड चिरकाल तक फ्रेञ्च और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं के ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान-प्राप्ति स्वदेश की उन्नति का साधन नहीं है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु या याज्ञवल्क्य ही कर सकते हैं।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाओं को सीखना ही नहीं चाहिए। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवकाश होने पर हमें एक नहीं अनेक भाषाएँ सीख कर ज्ञानार्जन करना चाहिए। द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए। ज्ञान कहीं भी मिलता हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।

साहित्य की एक शाखा का नाम है इतिहास। यह शाखा बड़े महत्त्व की है। इसका महत्त्व स्वतंत्रता और स्वराज्य के महत्त्व से कम नहीं है। स्वतंत्रता चाहे चली जाये, पर इतिहास न जाना चाहिए। इसकी रक्षा जी-जान से करनी चाहिए क्योंकि इतिहास के रक्षित रहने से खोई हुई स्वतंत्रता फिर भी प्राप्त की जा सकती है, पर उसके नष्ट हो जाने पर, यदि स्वतंत्रता प्राप्त भी हो सकती है तो, बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलने पर ही प्राप्त हो सकती है। जो जातियाँ इतिहास में अपने पूर्व पुरुषों के गौरव को रक्षित नहीं रखतीं, जो उनके कारनामों को भूल जाती हैं, जो अपने भूतपूर्व बल और विक्रम को विस्मृत कर देती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं, और नहीं भी नष्ट होतीं तो परावलम्बी के पंक में पड़ी हुई नाना यातनाएँ सहा करती हैं। अतएव आप कृपा करके किसी ऐसे मन्त्र के अनुष्ठान की योजना बनाइये जिसके प्रभाव से हम अपने व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और भारवि, यास्क और पाणिनि, कणाद और गौतम, सायण और महीधर, को न भूलें; शकारि विक्रमादित्य, दिग्विजयी समुद्रगुप्त और महामनस्वी भीम और अर्जुन को सदा आदर की दृष्टि से देखें। प्राचीन साहित्य की इस इतिहास शाखा का महत्त्व बता कर आप हमारे पूर्वजित गौरव को अज्ञानसागर में डूबने से बचा लीजिए; क्योंकि जिस जाति का इतिहास नष्ट नहीं हुआ और जिसमें अपने पुण्य-पुरुषों का आदर बना हुआ है, वही अपनी मातृभूमि के अधःपात से विदीर्ण-हृदय होकर, अनुकूल अवसर आने पर, फिर भी अपना नत-मस्तक उन्नत कर सकती है।

दुनिया में ऐसी कितनी ही जातियाँ विद्यमान हैं जिनका भूतकाल बहुत ही उज्ज्वल था, पर जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह जाने से अन्धकार के आवरण से आच्छादित हो गयी हैं, ऐसी जातियों को यदि इस बात का ज्ञान करा दिया जाय कि वे कौन हैं और उनके पूर्व पुरुष कैसे थे तो उनके हृदय में फिर उठने की प्रेरणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। परन्तु जो यही नहीं जानता कि उसका भी कोई समय था—वह भी कभी अपनी सत्ता रखता था—वह अपने पूर्वजों की कीर्ति का पुनरुद्धार करने की चेष्टा क्यों करेगा? जिसकी दृष्टि में जो चीज कभी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

थी ही नहीं उसे पाने की तो इच्छा भी, बिना किसी प्रबल कारण के, उसके हृदय में उत्पन्न ही न होगी। यों तो अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की रक्षा करना सभी का धर्म है, पर गिरी हुई जातियों के लिए तो वह सर्वथा अनिवार्य ही है। उन्हें तो उस कीर्ति-कलाप का सतत ही स्मरण करना चाहिए। पुरातत्त्व-वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा से ही इस प्रकार का स्मरण हो सकता है। इस रक्षा का साधन साहित्य का इतिहास नामक शाखा का ही एक अंग है—उसका नाम है पुरातत्त्व अथवा पुरातन वस्तुओं का ज्ञान और विवेचन। कितने दुःख, कितने परिताप, और कितनी लज्जा की बात है कि इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण अंग का हिन्दी में प्रायः सर्वथा ही अभाव है। इस अभाव ने हमारी बहुत बड़ी हानि की। उसने तो हमें अन्धा-सा बना दिया है। हम अपने आपको भूल-सा गये हैं। हमें अपने पूर्वजों के बल और विक्रम, विज्ञता और विद्वत्ता, कला-कुशलता और पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का विस्मरण-सा हो गया है। घटनाचक्र में पड़कर हम कुछ-के-कुछ हो गये हैं। हम सीपियों के गुणगान करते हैं। हम सीज़र और सलादीन की प्रभुता के पद्य सुनाते हैं। हम जरक्सीज और अलेकजेण्डर की चरितावली का कीर्तन करते हैं। यहाँ तक कि हम गॉल और केल्ट, नार्मन और सैक्सन लोगों की वंशावलियाँ तक कण्ठाग्र सुना सकते हैं पर हम अपने चन्द्रगुप्त और अशोक के, हम अपने समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के, हम अपने शातकर्णि और पुलकेशी के, हम अपने हर्ष और अमोघवर्ष के इतिहास की मोटी-मोटी बातें तक नहीं जानते हैं। जिसके चलाये हुए सम्वत् का उल्लेख हमें धार्मिक कृत्य करते समय संकल्प तक में करना पड़ता है, वह हमारा शकारि विक्रमादित्य कब हुआ और उसने इस देश के लिए क्या-क्या किया, यह तक हम ठीक-ठीक नहीं जानते। इस आत्मविस्मृति का भी कुछ ठिकाना है? विदेशी वंशावलियाँ रटने वाले हमारे हजारों नहीं, लाखों युवकों को यह भी मालूम नहीं कि कानपुर के आसपास का प्रान्त हजार-पाँच सौ वर्ष पहले किन-किन नरेशों के शासन में रह चुका है। मौखरी वंश के महीपों की भी सत्ता कभी यहाँ थी, यह बात तो उनमें से शायद दो ही चार ने सुनी हो तो सुनी हो। फिर भला इनसे कोई यह आशा कैसे कर सकता है कि ये शिशुनाग और आन्ध्र भृत्य, चोल और पाण्ड्य, पाल और परमार, हैहय और चालुक्य-वंशों के इतिहास की कुछ भी विशेष बातें बता सकेंगे। इस लज्जाजनक और हानिकारिणी त्रुटि को दूर करने के उपाय के लिए कोई व्यापक योजना बनानी चाहिए। पुरातत्त्व की खोज करने, आज तक कितनी खोज हुई है, इसका ज्ञान सम्पादन करने और प्रस्तुत सामग्री के आधार पर हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों का प्रणयन करने की ओर सामर्थ्यवान् सज्जनों का ध्यान जाना चाहिए। जो संस्कृत और अंग्रेज़ी का ज्ञान रखते हैं वे यदि चाहें तो इस काम को अच्छी तरह कर सकते हैं। आज तक हजारों शिलालेख और दानपत्र प्राप्त हो चुके हैं, अनन्त प्राचीन सिक्कों का संग्रह हो चुका है, तुर्किस्तान के उजाड़ मरुस्थल तक में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के सैकड़ों गढ़े ग्रन्थों के ढेर-के-ढेर हाथ लग चुके हैं। मूर्तियों, मन्दिरों और स्तूपों के समूह-के-समूह पृथ्वी के पेट से बाहर निकाले जा चुके हैं। उन सब के आधार पर भारत के पुरातन इतिहास-लेखन की बड़ी ही आवश्यकता है।

भारतीय पुरातत्त्व की जो इतनी सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके आविष्कार का अधिकांश

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्रेय उन्हीं लोगों को है जिनके प्रायः दोष-ही-दोष हम लोग बहुधा देखा करते हैं। यदि सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विलकिंस, जेम्स प्रिन्सेप, जनरल कनिंघम, डॉ० बकनन, वाल्टर इलियट, कोलब्रुक, टाड, टामस, वाथ, टेलर, बर्जेस और फर्गसन आदि विद्वानों ने इस विषय की ओर ध्यान न दिया होता तो भारत की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री बहुत करके पूर्ववत् ही अन्धकार में पड़ी रह जाती और जितनी प्राप्त हुई है उसका भी अधिकांश नष्ट हो जाता। अतएव इन पाश्चात्य पण्डितों ने हम पर जो यह इतना उपकार किया है तदर्थ हमें इनका हृदय से कृतज्ञ होना चाहिए। यद्यपि पुरातत्त्व के उद्धार के निमित्त भारत ने एक महकमा ही अलग खोल रखा है, और यद्यपि अनेक भारतवासी भी इस ओर दत्तचित्त हैं, पर इसकी नींव डालने वाले पूर्वनिर्दिष्ट विलायती विद्वान् ही हैं। अब भी इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों के विद्वान् ही इस विषय की खोज में अधिक मनोनिवेश कर रहे हैं, तथापि अनेक कारणों से उनके निर्णीत सिद्धान्तों में बहुधा त्रुटियाँ भी रह गयी हैं। विदेशियों के लिखे हुए इतिहास में भूलों और भ्रमों का होना आश्चर्यजनक और अस्वाभाविक नहीं। उनको दूर करने का एकमात्र उपाय यह है कि हम लोग स्वयं ही इस विषय का अध्ययन करके अपने इतिहास का आप ही निर्माण करें और जहाँ तक हो सके अपनी ही भाषा के साँचे में ढालें। बिना ऐसे किये न तो अपने साहित्य की अभिवृद्धि ही होगी और न अपना सच्चा इतिहास ही अस्तित्व में आयेगा।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कविता

⊙⊙

कविता को परखने के लिए कुछ हृदय की सामग्री चाहिए, पुस्तकों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं। इन कवियों के हँसने और रोने का अर्थ कौन समझता है? इनके वाक्यों के मर्म तक कौन पहुँचता है? स्वयं कोई मस्त प्रेमी, कोई कविता का मतवाला जो शुद्ध हृदय से, अभिमान छोड़ इस सृष्टि के भीतर शिष्य बन कर आता है।

कविता सृष्टि का सौन्दर्य है, कविता सृष्टि का सुख है, कविता ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। परमाणु में कविता है, विराट् रूप में कविता है, बिन्दु में कविता है, सागर में कविता है, रेणु में कविता है, पर्वत में कविता है, प्रकाश में कविता है, अन्धकार में कविता है, सूर्य-चन्द्र और तारागण में कविता है। किरण और कौमुदी में कविता है। मनुष्य में कविता है, पशु में कविता है, वृक्ष में कविता है। जिधर देखो कविता ही का साम्राज्य है। प्रकृति काव्यमय है, सारा ब्रह्माण्ड एक अद्भुत महाकाव्य है। जिस मनुष्य ने इस सारगर्भित रसमयी कविता के आनन्द का स्वाद चखा, वही भाग्यवान् है। जिसने इस सरस्वती-मन्दिर में कुछ शिक्षा ग्रहण की और मनन किया, वही पण्डित है। जिसने इस पवित्र प्रवाह को अपने में बहा दिया, वही विरक्त है। जिसने इस अमृत-प्रवाह में डूब-डूबकर, दो-चार कलश भरकर, प्यासे थके हुए रोगी व मृतप्राय यात्रियों को कुछ बूँद पिलाकर उन्हें शक्ति दी और पुनर्जीवित किया, वही कवि है।

ईश्वरीय सौन्दर्य को—प्राकृतिक कविता की भाषा को छटा द्वारा संसार को दरसाना ही कवि का कर्त्तव्य है। जितना गहरा वह अपनी प्रतिभा द्वारा इस सौन्दर्य-सागर में डूबता है, उतना ही अधिक वह अपने कर्त्तव्य में सफल होता है। संसार के पदार्थों और घटनाओं को सभी देखते हैं, परन्तु जिन आँखों से आती हुई नदी एक नदी मात्र है, कवि के लिए वह श्वेतवस्त्रा, शोभायुक्त, लाजवती की नाचती हुई शृंगार की रंग-भूमि है। आँख वही, पर चितवन में भेद है। बिहारी ने यह सच कहा है—

अनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

किन्तु बिहारी ने इस रसीले दोहे में केवल बाहरी आँखों ही के रस का वर्णन किया है और वह भी अधूरा। वास्तव में वश में करने वाली आँखों में इतना भेद नहीं होता, जितना वश में होने वाली आँखों में।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हीरे की परख जौहरी की आँखें करती हैं। कुब्जा के सौन्दर्य को पहचान रसप्रवीण कृष्ण ही को होती है। पदार्थ-रूपी चित्रों में चितेरे हाथ की महिमा कवि की ही आँखें पहचानती हैं; प्राकृतिक दैवी संगीत उसी के कान सुनते हैं। विज्ञानवेत्ता पदार्थों के बाहरी अंगों की छानबीन करता है और उनके अवयवों का सम्बन्ध ढूँढ़ता है, नीतिज्ञ उनसे मनुष्य-समाज के लिए परिणाम निकालता है, किन्तु उनके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर कवि का ही लक्ष्य रहता है। वैज्ञानिक और नीतिज्ञ जैसे-जैसे अपने लक्ष्य की खोज में गहरे डूबते हैं, वैसे-वैसे कवि के समीप पहुँचते जाते हैं। सभी विधाओं और शास्त्रों का अन्त उनकी सफलता एवं कविता में लीन होने में है। कवि के सम्बन्ध में कहा है—

जानीते यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

यहाँ कवि और कविता का आदर्श है। उसी आदर्श की ओर सच्चा कवि जाता है। जितना ही वह उसके समीप पहुँचता है, उतना ही वह प्रभावशाली और उसकी कविता स्थायी होती है। भाषा केवल पहिनावा मात्र है। उसकी कविता वास्तव में संसार के लाभ के लिए होती है, क्योंकि कवि-सृष्टि में सम्पूर्ण प्रजातन्त्र है; समष्टिवाद का शुद्ध व्यवहार है। यहाँ स्वतन्त्रता है, स्वच्छन्दता है, अपरिमित सम्पत्ति है, कोई रोकने वाला नहीं, जितना चाहो उसमें से लेते जाओ, वह घटती नहीं। तुममें केवल इच्छा और शक्ति की आवश्यकता है।

हिन्दी बोलने वालों का यह सौभाग्य है कि कविता को ऊँचे आदर्श के समीप तक पहुँचाने वाले कई कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा द्वारा अपनी अमूल्य वाणी से संसार का उपकार किया है। मनुष्य जाति सदा उनकी ऋणी रहेगी। कबीर, सूर, तुलसी—अहा! उनके नामों का स्मरण करते ही किसी देदीप्यमान् सौन्दर्य और पवित्र आनन्द की सृष्टि के द्वार खुल जाते हैं। इनके भावों को जिसने समझा, वह सच्चा पण्डित है। उनके मर्म को जिसने पाया, वह स्वयं महात्मा है। संसार साहित्य की चर्चा करता है, काँच को हीरा जानकर उसके पीछे दौड़ता है, खेल के गुड्डे को बालक समझकर उसका ब्याह करता है। अपनी करतूत पर अभिमानी बनता है, अनेक भाषाएँ अपने-अपने काँच के टुकड़ों को सामने रखकर हीरे का दम भरती हैं। किन्तु जैसा कबीर ने कहा—

सिंहन के लेंहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

कवियों में ही लेंहड़े नहीं होते। वह काल, वह देश भाग्यवान् है, जहाँ एक भी कवि उत्पन्न हो जाय। कबीर, सूर, तुलसी, हिन्दी भाषा के नहीं, संसार-साहित्य के लाल हैं। परखने वालों की आवश्यकता है। कबीर के दोहों और शब्दों की परख कौन करता है? सूर और तुलसी के पदों एवं चौपाइयों को कौन तौलता है? मात्रा और अक्षरों को गिनने वाले समालोचक? छिः! परखने के लिए कुछ हृदय की सामग्री चाहिए, पुस्तकों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं। इन कवियों के हँसने का अर्थ कौन समझता है? इनके वाक्यों के मर्म तक कौन पहुँचता

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

है? स्वयं कोई मस्त प्रेमी, कोई कविता का मतवाला, जो शुद्ध हृदय से, अभिमान छोड़ इस सृष्टि के भीतर नम्रतापूर्वक शिष्य बनकर आता है—

'ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।"

कुछ काँच पहचानने वाले समालोचक हिन्दी भाषा में साहित्य की कमी देखते हैं। गाँव का रहने वाला, जिसने अपनी गाँव की दूकान में रंग-बिरंग के काँच के टुकड़े देखे हैं, नगर में जाकर जब एक बड़े जौहरी की दूकान में जाता है, तो अपने गाँव के समान रँगीले काँचों को न देखकर बहुमूल्य मणियों का तिरस्कार करता है और कहता है—हमारे गाँव की दूकान के समान यहाँ मणियाँ तो हैं ही नहीं। ठीक यही दशा उन समालोचकों की भी है—

"यह ग्राहक करवीन के, तुम लीनी करवीन।"

यदि मणि की परख न हो, तो मणि का दोष नहीं, परखने वाले का दोष है। किन्तु काँच का भी संसार में काम है। ये भी चमकीले होते हैं, देखने में अच्छे लगते हैं। काँच के टुकड़े भी धन्य हैं, उनमें भी सौन्दर्य है। वे आनन्द बढ़ाते हैं, किन्तु हीरे और लालों की बात कुछ और ही है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जातीय साहित्य

⊙⊙

[जातीय साहित्य का अर्थ साम्प्रदायिक साहित्य नहीं, वरन् राष्ट्रीय साहित्य है, जो मानव-मात्र के लिए कल्याणप्रद, एक सूत्र में बाँधने वाला और उच्चादर्श की प्रेरणा देने वाला हो। इस लेख में श्री टण्डन जी ने, मानव जाति के लिए साहित्य की क्या उपयोगिता है, विषय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।]

मनुष्य-समूह का नाम जाति है। जातीय साहित्य मनुष्य के बाह्य एवं आन्तरिक जीवन का चित्र है। किसी जाति के अधिक सभ्य और समृद्धशाली होने का अर्थ है—उसमें अधिकाधिक विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील मनुष्यों की उत्पत्ति। ऐसे मनुष्यों के आभ्यन्तरिक और बाह्य उन्नत जीवन का आभास उनके जातीय साहित्य में विद्यमान रहता है। अतएव, मनुष्यों की समृद्धि के अनुसार ही उनका जातीय साहित्य भी उन्नत और शक्तिशाली बन जाता है। जातीय अवनति की अवस्था में जातीय साहित्य की श्रीवृद्धि असम्भव है। जाति की उन्नति ही से साहित्य की उन्नति होती है। संसार के सभी देशों का जातीय साहित्य इसका प्रमाण है। जिस दिशा में जातीय शक्ति का विकास होगा, जिस परिमाण में कोई जाति जातीय शक्ति प्राप्त करेगी, उसी दिशा और उसी परिमाण में जातीय साहित्य का नवप्रभात और शक्ति का विकास होगा।

भारत में प्रायः समय-समय पर धार्मिक आन्दोलन होते रहे हैं। भगवान् बुद्ध, श्री स्वामी शंकराचार्य तथा वैष्णव-धर्म के प्रवर्तक आचार्य अपने-अपने समय में भारतवर्ष के साहित्य की कायापलट कर चुके हैं। धार्मिक सुधारों के लिए उद्योग करने वाले महात्माओं के द्वारा साहित्य की उन्नति का सूत्रपात होता रहा है। परन्तु यह निश्चय है कि साहित्य की जो सामग्री जाति के हृदय में गम्भीर वेदना या अनुपम आनन्द उत्पन्न नहीं करती, अथवा जिसकी चोट से जाति की चित्त-वृत्ति को पीड़ा नहीं पहुँचती, जिसके उत्साह-प्रदान से जाति में हार्दिक उत्साह, हर्ष और साहस उत्पन्न नहीं होता, साहित्य की वह सामग्री सर्वसाधारण में सदैव ही आदरणीय और चिरस्थायिनी नहीं रह सकती।

जातीय कीर्ति का अमरत्व जातीय साहित्य पर निर्भर है। जातीय समृद्धि और जातीय साहित्य दोनों ही एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। जो जाति अपने साहित्य को शक्तिशाली बनाना चाहे, उसे पहले स्वयं शक्तिशाली बनने का उद्योग करना आवश्यक है। दूसरी ओर, यह भी सत्य ही है कि जातीय साहित्य के उद्‌बोधन और उत्तेजन से ही जातीय उन्नति में सहायता प्राप्त होती है। संकुचित भावों की सहायता से बृहत् साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मत-मतान्तर के भेदभावों से पूर्ण सहस्रों ग्रन्थ विद्यमान रहते भी कोई साहित्य अमर और समग्र जाति में आदरणीय नहीं बन सकता। किसी विशेष सीमा तक परिमित रहने वाले संकुचित भावों को तिलाञ्जलि देकर जो मानव हृदय सर्वकाल और सर्वदेश में एक है, उसी को हर्षित, उत्साहित, आनन्दित और आकर्षित करने के लिए जिस सत्-साहित्य की सृष्टि की जाती है, वही वास्तव में चिरस्थायी और सर्वप्रिय बन सकता है और उसी को कहते हैं--सार्वजनिक साहित्य।

इस प्रकार के सत्-साहित्य की सृष्टि के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, पर निराश होकर आलस्य की आवश्यकता नहीं। कठिनाइयों को दूर करने की चेष्टा करना विद्वानों का कर्त्तव्य है। संसार की उदार वायु में हमारे अनेक सहृदय साहित्य-सेवी, उच्च कोटि के कवि और वैज्ञानिकों के पश्चाद्गामी होकर विचरण कर रहे हैं। हमारा पथ अधिकाधिक प्रशस्त और परिष्कृत होगा, तथा शिक्षा के प्रसार से जातीय हृदय में नवशक्ति का संचार होगा। जिस साहित्य की सामग्री केवल देश-विशेष अथवा प्रदेश-विशेष तक परिमित हो, अर्थात् केवल एक देश अथवा प्रान्त-विशेष के निवासी ही जिसके रसास्वादन से तृप्त हों, साहित्य की वह सामग्री उत्कृष्ट नहीं हो सकती। आदि कवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास और कविवर तुलसीदास की रचनाओं का समग्र भारत में समान आदर है। अनुवाद के द्वारा विदेशी भी उनके काव्यों से आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। कारण यही है कि उनकी रचनाएँ सार्वजनीन हैं, उनका साहित्य जातीय साहित्य है, और उनके विचार, उनके भाव, उनकी काव्य-कला का प्रसार, उनके उच्च आदर्श किसी देश या प्रान्त-विशेष की सीमा तक परिमित नहीं हैं। पर भाषाओं में अनुवाद किसी भी भाषा की साहित्य-श्रेष्ठता का प्रधान लक्षण है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर की जाति, भाषा, धार्मिक विश्वास, आचार-व्यवहार, रहन-सहन भिन्न रहते हुए भी हम उसके काव्यों से अनुवाद के द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं, क्योंकि उसके काव्य सार्वजनीन हैं और वे भिन्न मतवालों और भिन्न देश-निवासियों को आकर्षित और आनन्दित करने का सामर्थ्य रखते हैं।

जो विद्वान् मतमतान्तर सम्बन्धी अथवा विशेष सामाजिक मतों का प्रचार करने के लिए विविध ग्रन्थों की रचना करते हैं, उनका उद्देश्य सफल हो सकता है, परन्तु उनके ग्रन्थ विशुद्ध साहित्य की सृष्टि में सहायता नहीं पहुँचा सकते। महाकवि कालिदास उपर्युक्त विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना कर सकते थे और ऐसा करना अनुचित एवं अनावश्यक भी न होता, पर वे रचनाएँ उनके प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के सदृश सार्वजनीन, लोकप्रिय अथवा एकजातीय कदापि न होतीं। शेक्सपियर क्रिश्चियन-मत का अनुयायी था, पर उसके काव्यों में प्रायः केवल क्रिश्चियन-मत से सम्बन्ध रखने वाले विचारों या भावों का समावेश नहीं है। यही कारण है कि उसका काव्य अन्य मत वालों के निकट भी आदर की वस्तु है। इसी प्रकार, यदि किसी हिन्दू विद्वान् के ग्रन्थों को पढ़कर अहिन्दू भी आनन्द का अनुभव करे, यदि किसी मुसलमान सज्जन की रचना को अन्य मत वाले भी आदर दें, तो मानो उसका साहित्यिक उद्योग सफल हुआ। श्रेष्ठ और सार्वजनिक साहित्य वही है जो समस्त सभ्य संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हो और समस्त देशों और विविध मत वालों के निकट आदरास्पद बन सकें।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दर्शन और साहित्य

⊙⊙

दर्शन और साहित्य, इन दोनों का परस्पर का निकट सम्बन्ध है। वह साहित्य ही क्या जो दर्शन न करा सके। दर्शन की प्रौढ़ता भी इसी में है कि वह कवि की आँखों से साहित्य का दर्शन करावे। दर्शन, शुष्क वाद-विवादात्मक तर्क नहीं, और वह संसार से भिन्न भी नहीं। उसका कर्त्तव्य एक ही है—संसार के भीतर रहकर रहस्योद्घाटन करना। यदि दर्शन को संसार से बाहर हटा दें, तो उसका कुछ मूल्य नहीं।

मुझको ऐसा दिखलायी पड़ता है कि पश्चिम का दर्शन अद्वैतवाद की तरफ जा रहा है। जिसने गणित की ओर ध्यान दिया होगा, उसे पता चला होगा कि आजकल गणितज्ञों का बोलबाला है। दर्शन के विद्यार्थी अचम्भे में डूबे हैं कि गणितज्ञ उन्हें कहाँ लिये जा रहे हैं? फिजिक्स और गणित इकट्ठे चल रहे हैं और दूसरे विषयों को अपनी तेजस्विता से निस्तेज कर रहे हैं।

हमें दर्शन तथा साहित्य-क्षेत्र में पश्चिम के देशों से बहुत-सी बातें सीखनी हैं। हम यूरोप के साहित्य और दर्शन का अध्ययन करें और उससे जितना लाभ उठा सकते हैं, उठाने की भरसक कोशिश करें। हमारे यहाँ कवि के बारे में कहा गया है—"जहाँ सूर्य-चन्द्र नहीं जा सकते, जहाँ योगी लोगों की भी पहुँच नहीं, वहाँ कवि को प्रवेश मिलता है।" इसलिए कवि का बहुत ऊँचा स्थान है। दर्शन और साहित्य का एक अद्भुत जोड़ा है। फ़ारसी के एक शेर का भाव है—"मैं तो काफिर हूँ। सच्चे दार्शनिक और कवि को कोई नहीं बाँध सकता। वह न कुरान, न पुरान से बँधेगा। मुझको तुम्हारी मुसलमानी न चाहिए तो क्या मैं हिन्दू हूँ? मैं क्या कहूँ? मेरे बाजे का एक-एक तार सितारों के जैसा ऊँचाई पर चढ़ा हुआ है। मुझे जनेऊ की जरूरत नहीं।"

यह शेर लिखने वाला कवि भी है और दर्शनिक भी। इस स्थान पर पहुँचने के बाद कवि और दार्शनिक का भेद मिट जाता है। मैं हिन्दी का सौभाग्य समझता हूँ कि हिन्दी में ऐसे ऊँचे कवि हैं। वैसे तो अनेक कवि हैं, लेकिन जो अनुभव की बातें कहते हैं, ऐसे कवि बहुत कम हैं। काँच के टुकड़े बहुत हैं, लेकिन हीरे और लाल कम। हीरों को हम न समझें तो हमारा दुर्भाग्य है—

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

शेर, सियार और कुत्तों की तरह क्या गिरोह बनाकर चलता है? हंस भी पाँत बना कर नहीं उड़ते, रत्न भी बोरे भर-भर कर नहीं मिलते। इसी प्रकार, साधु भी जमात में नहीं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चलते, इने-गिने ही होते हैं। कवि, साहित्यिक भी लाल आदि की तरह हैं। कबीर को लीजिए। मैंने इनका अध्ययन किया है। मुझे इनकी टक्कर का एक भी कवि आज तक नहीं मिला है। यदि कोई मिलता है, तो हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती, फ़ारसी आदि में ही। मौलाना रूम की चीजें पढ़कर जो आनन्द आता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीर में शब्द-पाण्डित्य न होने पर भी वे स्वाभाविक कवि थे। वे व्यवहारकुशल थे, भक्त थे, युग-प्रवर्तक थे। वे ऊँचे दार्शनिक होते हुए भी व्यवहार से दूर कभी नहीं हटे। एक जगह वे कहते हैं—

साधो ! पाँड़े निपुण कसाई !
बकरी मार भेड़ को धाये, दिल में दरद न आई।

एक तरफ दम्भ का खुला प्रवाह है और दूसरी ओर वे भक्त हैं—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

स्त्रियों के विषय में क्या ही अच्छा कहा है—

पतिव्रता मैली भली, काली कुटिल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारूँ कोटि सरूप॥

उनकी वाणी जल्दी समझ नहीं पड़ती। उसको समझने की कोशिश करने से पहले, योग की क्रियाएँ जानना आवश्यक है।

रवि बाबू को 'गीताञ्जलि' पर नोबेल प्राइज़ मिला। जब पहले-पहल मैंने 'गीताञ्जलि' देखी तब मुझे लगा, उस पर कबीर की यह चीज (अध्यात्मवाद) दुनिया के लिए नयी चीज है। साल भर बाद मुझे पता चला कि रवि बाबू ने कबीर के कुछ पद्यों का अनुवाद, जो कि एक अलग किताब में है, प्रकाशित किया है। मेरी धारणा सच निकली। कबीर के भाव बहुत ऊँचे थे। हिन्दी के छायावादी कवियों की कविताओं में भी कभी-कभी ऐसे ही अनोखे भाव दिखायी पड़ते हैं।

कबीर की तरह सूर और तुलसी अपने-अपने स्थान पर अद्वितीय हैं। आप रामायण जानते हैं। मैं तुलसी के बारे में कुछ नहीं सुनाऊँगा। लेकिन एक लोभ संवरण नहीं कर सकता। यह अभी तक किसी पुस्तक में प्रकाशित नहीं हुआ है। यह मुझे पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने एक बार सुनाया था। यह नयी चीज है, इसी से सुनाता हूँ—

तुलसी तृण जब कूल को, निर्बल निपट निकाज।
का राखे का संग चले, बाँह गहे की लाज॥

अर्थात्...नदी या तालाब के किनारे पर उगी हुई घास निर्बल होती है—ऊजड़ स्थान की घास सख्त होती है और निकाम भी होती है, क्योंकि उसको न तो कोई घोड़ा खाता है, न गधा ही, लेकिन जब उस नदी में कोई डूबता है, तब वह तिनका डूबते का सहारा अवश्य हो जाता है। स्वयं उखड़कर बह जाता है या बहने वाले की जान बचा लेता है। किसी की उसने रक्षा की, तो किसी के संग वह बह चला। आत्मत्याग का इससे अच्छा उदाहरण मिलना मुश्किल है।

मेरे एक मुसलमान मित्र ने कहा था कि मेरी भाषा अप्राकृतिक होती है। मैं कहूँगा कि उनको हिन्दी से परहेज है। हमारी हिन्दी-हिन्दुस्तानी में साम्प्रदायिकता नहीं। मुसलमानों ने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी साहित्य में बहुत काम किया है। रसखान ने कितने ऊँचे उठकर भक्ति-रस का गान किया था। उनका प्रसिद्ध पद "मानुष हौं तो वही रसखान..." हिन्दी कविता के अत्युत्तम पद्यों में से एक है। इसी तरह, मलिक मोहम्मद जायसी ने जो काव्य लिखा है, वह हिन्दी का एक अमर काव्य है। उन्होंने कितनी अलौकिकता के साथ पद्मावती और रतनसेन के प्रेम का वर्णन किया है। मुसलमानों की दी हुई थाती को हम कैसे साम्प्रदायिक कह सकते हैं? जिन्होंने हमारे साहित्य को ऊँचा किया, उनको हम कहाँ छोड़ सकते हैं? गलत हो या सही, यदि हमारे भाई गलत रास्ते से जाएँ, तो हमारी गलती है या उनकी? अब दो धाराएँ जरूर हो चली हैं। हम तो गोविन्द और सौदा को भी अपनी सम्पत्ति मानते हैं। मेरे आगे संकुचित दृष्टि नहीं। उर्दू-साहित्यकारों ने हमारे मुहावरों का बहिष्कार करके अपने प्रयोग अलग कर लिये। वे 'कोयल' न कहकर 'बुलबुल' ही कहेंगे। बहुत अनुकूल न होते हुए भी यह हमारी ही अपनी चीज़ है। उर्दू के कवियों ने हमारी सम्पत्ति बढ़ायी है। उससे हम अपने को अमीर ही बना सकते हैं। सौदा ने एक स्थान पर कहा है—

बिला राहे अदम जाने से तू क्यों इतना डरता है।
हजारों रोज जाते हैं यह रास्ता खूब चलता है॥

"यह रास्ता खूब चलता है" मुहावरा हम किसी तरह खोने या छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। हिन्दी वाले उर्दू से द्रोह करते हैं, यह कहना गलत है। यदि हम अपने उदाहरणों में अर्जुन आदि का उदाहरण देते हैं, तो वे जान-बूझकर ईसा-मूसा आदि का उदाहरण देते हैं। यह कट्टरतापूर्ण प्रणाली त्याज्य है। हम स्त्रियों को 'मृगनयनी' कहते हैं तो वे 'चश्मेनर्गिस' कहते हैं। मैं तो कहूँगा कि यह उपमा ही गलत है। नर्गिस का आकार गोल होता है। उर्दू वालों से हमारा द्रोह नहीं। उर्दू की कविता में एक गुण है। थोड़े शब्दों में एक बड़ा भाव कह दिया जाता है। हमारे यहाँ दोहा या चौपाई छोटा शब्द है। उसमें भी यह गुण है।

मेरे अनेक भाई हिन्दी को अपनी नहीं समझते। वे रहीम और जायसी को नहीं पढ़ते। यही हमारा रोना है, दुर्भाग्य है।

प्रायः हमें दर्शन और साहित्य की एकता का ख्याल आता है। जहाँ आप दर्शन और साहित्य की एकता का अध्ययन करें, वहाँ सच्ची दृष्टि को उत्पन्न करने की चेष्टा करें। साथ-ही-साथ, अन्धाधुन्ध अनुकरण की आदत को भी आपको निकालना चाहिए। यही अन्धश्रद्धा इतिहास में हमारे गिरने का एक कारण है। हम कारणों को न सोचकर बाहर के स्वरूप को लेने लगे हैं। वेदों की सवारी, पुरानों की सवारी, साहेब की सवारी निकलते देखकर मुझे तो इस अन्धश्रद्धा पर हँसी आती है। इसी प्रकार, किसी की मृत्यु के समय दुर्गा-पूजा की रीति भी निराली और असंगत है। दुर्गा-पाठ तो राष्ट्रीय एकता का ग्रन्थ है। इस अन्धश्रद्धा की मनोवृत्ति के अन्दर इतिहास का दुःखद अन्त दिखायी देता है। हम जिन्दा आत्मा को छोड़कर लाश के पीछे भागते हैं। आज जरूरत है—'उत्तिष्ठ कौन्तेय' का पाठ पढ़ाने की। केवल शव की पूजा करने से कुछ न होगा।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

'जगदालोक' की भूमिका

⊙⊙

'जगदालोक' की रचना कर ठाकुर गोपालशरण सिंह ने हिन्दी साहित्य में ऊँचे आदर्श का एक सुन्दर काव्य प्रस्तुत किया है। इसमें महात्मा गांधी जी के जीवन की मुख्य घटनाओं तथा उनकी साधना और उसके फलों के चित्रण में गांधी जी के समय की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों की रूपरेखा है और गांधी जी ने इन स्थितियों में अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए जिन साधनों का उपयोग किया, उसकी गाथा है। इस बीस सर्ग के काव्य में प्रसाद गुण के साथ सहज शब्दों द्वारा मधुरता का सम्मिश्रण है। भारतवर्ष की महिमा, राष्ट्र-प्रेम और सेवा-भावना से इस ग्रन्थ का प्रत्येक पृष्ठ आकर्षक है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ 'उन्नत शीश' हिमालय के वर्णन के साथ, अपने देश की एक पौराणिक पद्धति का अनुसरण कर, शिव जी और उनकी अर्द्धाङ्गिनी के सम्भाषण से होता है। इस सम्भाषण की कल्पना उस समय से सम्बन्ध रखती है जब देश में अंग्रेज़ों का राज्य था। गिरिजा, शिव जी से इस सुन्दर देश का इतिहास जानना चाहती हैं। शंकर पूर्व इतिहास की कुछ मोटी बातों द्वारा भारत की महिमा बताते हैं और फिर उसकी पराधीनता की चर्चा करते हैं। पार्वती जी पूछती हैं—

"भारत की यह पराधीनता कब तक, नाथ, चलेगी ?" शंकर उत्तर में यह कहते हैं—

लेगा जन्म शीघ्र भारत में,
कोई दिव्यात्मा नर।
होगा फिर स्वाधीन देश यह,
उसका सम्बल पाकर।

इस प्रकार, यह प्रथम सर्ग गांधी जी द्वारा देश के भविष्य-निर्माण का संकेत करता है और गांधी जी के जन्म, शिक्षण, इंग्लैण्ड में बैरिस्टर होने, दक्षिण अफ्रीका जाने और वहाँ सत्याग्रह-संग्राम में विजय पाने का उल्लेख है। दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के दृश्य को कवि ने इन शब्दों में अंकित किया है—

लौटे थे राम अयोध्या
जब जनकसुता को लेकर,
वह दृश्य अपूर्व मिलन का
खिंच गया शीघ्र स्मृति-पट पर।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

फिर गांधी जी ने देश की स्थिति समझने के लिए जो भ्रमण किया और उसमें उन्होंने जो देखा उसका वर्णन करते हुए कवि को भारत के सौन्दर्य तथा नगर और ग्राम की जनता का चित्रण करने का अवसर मिला है। भारत की शोभा वर्णन करने में कई स्थानों में कवि को सादे शब्दों द्वारा रस उत्पन्न करने में सफलता मिली है। एक उदाहरण देता हूँ—

थीं कहीं ललित लतिकाएँ,
सुरभित समीर से चंचल,
निपतित कोमल कुसुमों से
था भरा धरा का अंचल।

नगरों में जो दृश्य गांधी जी ने देखा, उसका निचोड़ इस प्रकार है—

थी चमक-दमक नगरों में
पर शान्ति न थी जीवन में,
नव शिक्षा से जागृति थी
पर था उत्साह न मन में।

ग्राम-जीवन का कुछ दिग्दर्शन निम्न पंक्तियों से होता है—

ग्रामों में जाकर देखा
गांधी ने अद्भुत जीवन,
संचित था जिनमें जग का
अनुपम वैभव भोलापन।
नीलाम्बर की प्रतिकृति - सी
थी शस्यश्यामला अवनी,
जीवन-प्रदायिनी जग की
वसुधा विभूति की जननी।
× × ×
अज्ञान - तिमिर - सागर में
था कृषक - समाज निमज्जित,
था अन्धे विश्वासों से
उसका जीवन सञ्चालित।
× × ×
आ रही पवन थी दूषित
ग्रामों में भी परदेशी,
हो रहे नष्ट थे उनके
उद्यम व्यापार स्वदेशी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इसी प्रकरण में ग्रामीणों के दुःख, अज्ञान और उत्साहहीनता का वर्णन है। ग्रामों में अब भी जो गुण विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में कवि ने यह कहा है—

गांधी जी ने यह देखा
हो देश-दशा से परिचित,
ग्रामों में ही भारत की
अनुपम विभूति थी संचित।

सारांश यह कि गांधी जी के जीवन की झाँकी इस आश्रम में मिलती है। यहाँ के वर्णन का आभास निम्न पंक्तियाँ देती हैं—

विश्व-विभूति अकिंचनता में
वहाँ छिपी थी अनुपम,
वास एक लघु क्षुद्र गेह में
करता था पुरुषोत्तम।

× × ×

त्यागशीलता की होती थी
वहाँ सदैव परीक्षा,
नित्य वहाँ निष्काम कर्म की
दी जाती थी शिक्षा।

× × ×

उस आश्रम में तुच्छ मनुज भी
होते थे उच्चाशय,
विष के घट भी हो जाते थे
वहाँ सदैव सुधामय।
रहता था दुर्भाव न कोई
वहाँ किसी के मन में,
शूल-विहीन फूल खिलते थे
उस अपूर्व उपवन में।

× × ×

था वह आश्रम एक नमूना
विमल विश्व जीवन का,
व्यसन वहाँ था सबको केवल
जग के हित-चिन्तन का।

× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सत्य ध्येय था सत्य साध्य था
तथा सत्य था साधन,
सत्यदेव का ही होता था
वहाँ सदा आराधन।

इसके बाद उस प्रश्न की चर्चा है जिसे गांधी जी ने चम्पारन जाकर अपने हाथ में लिया था। फिर रौलेट बिल और पंजाब के जलियाँवाला बाग काण्ड का दिग्दर्शन है। कवि ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार अपने भाव प्रदर्शित किये हैं—

देश-यज्ञ में बहु वीरों का
करके आहुति-दान सहर्ष,
प्राप्त किया पंजाब-धरा ने
गौरव-पूर्ण नया उत्कर्ष।

× × ×

हुआ प्रकारान्तर से डायर
भारत की जागृति का दूत,
हिंसा एवं बर्बरता से
हुआ अहिंसा भाव प्रसूत।

× × ×

जैसे सागर के मन्थन से
हुआ अमृत उससे उत्पन्न,
वैसे ही पंजाब-दलन से
हुआ देश का हित सम्पन्न।

गांधी जी के साबरमती आश्रम में रहते उनकी देश और संसार-सम्बन्धी चिन्ताओं का कवि ने अच्छा चित्रण किया है, जो पाठक के मन और बुद्धि को सन्मार्ग पर ले जाने में सहायक हो सकता है। अर्द्ध रात्रि में आश्रमवासी सो रहे हैं किन्तु—

बापू के विलोचनों में
निद्रा का नाम नहीं था,
चिन्ता से व्याकुल उनके
मन को विश्राम नहीं था।
खलती थी उनको दुखमय
जगजीवन की दुरवस्था,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दयनीय दशा दीनों की
सामाजिक विषय - व्यवस्था।
परितप्त उन्हें करते थे
छल-कपट, असत्य, प्रवंचन,
पाखण्ड, दम्भ, मद-मत्सर
अन्याय, दमन, उत्पीड़न।

गांधी जी के पावन निशा-चिन्तन में कवि ने देश-विदेश-सम्बन्धी गांधी जी के विचारों को प्रतिबिम्बित किया है। कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के रूप में नीचे देता हूँ—

अगणित मनुष्य अवनी में
थे पराधीन पद-मर्दित,
वे थे मलीन ही रहते
कोमल कुसुमों से विदलित।
× × ×
एकान्तवास पिंजर में
जो करता रहा निरन्तर,
वह वीर भला क्या जाने
सुख वन-बिहार का सुन्दर?
× × ×
थी वही दशा उनकी भी
जो पराधीन थे मानव,
सुख-स्वतन्त्रता का उनको
कल्पनातीत था वैभव।
× × ×
जातीय श्रेष्ठता की थी
जो छिपी भावना मन में,
थी वैमनस्य उपजाती
वह नित्य मनुज-जीवन में।
× × ×
था वर्ण-भेद भी बाधक
चिर वांछनीय समता का,
सब कहीं बोलबाला था
जग में निर्मम क्षमता का।
× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रखती थी व्यस्त सभी को
सुख-भोग-वासना भौतिक,
फिर हो सकती थी कैसे
मानव की उन्नति नैतिक।

× × ×

भारत के अधःपतन का
था हेतु विदेशी शासन,
हीनत्व-भाव का मन में
करता था वह परिवर्द्धन।

× × ×

क्या से क्या देश हुआ था
उनको कुछ ज्ञान नहीं था,
अपने ही मन में उनको
अपना सम्मान नहीं था।

× × ×

जो थे जग-प्रेम-पुजारी
भयहारी परोपकारी,
बन गये अछूतों को वे
अन्यायी अत्याचारी।

× × ×

जो धर्म सदा करता था
मद-मत्सर-मोह-निवारण,
वह घृणा-भाव फैलाकर
हो गया कलह का कारण।

× × ×

जीवन-प्रकाशिनी जो थीं
वे गृह-देवियाँ हमारी,
गुड़िया बन गयीं गवाँकर
निज प्रगतिशीलता सारी।

× × ×

जिस दिव्य देश ने दी थी
जग को आध्यात्मिक दीक्षा,
होती थी नित्य उसी की
जग में प्रतिकूल समीक्षा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इस प्रकार, निद्राविहीन गांधी जी देश-दशा का चिन्तन करते दिखाये गये हैं। फिर 'उषःकाल की ललित लालिमा' में उन्हें अपनी अन्तरात्मा से सन्देश मिलता है—

भौतिकवाद कर रहा है अब
मानव-जीवन पर शासन,
वह करना चाहता जगत से
नैतिकता का निर्वासन।

× × ×

जब तक होता दूर सांस्कृतिक
यह मानसिक विकार नहीं,
तब तक हो सकता है जग में
प्रेम-दया-संचार नहीं।

× × ×

भारत को उस सत्यदेव का
करना होगा आराधन,
उसे प्राप्त करने का केवल
विमल अहिंसा है साधन।

× × ×

त्याग तपस्या के जीवन में
सुख का अनुभव करना है,
जो लगता है अभी असम्भव
उसको सम्भव करना है।

इसके पश्चात् गांधी जी के असहयोग सिद्धान्त का निरूपण है। कवि के शब्दों में—

उसमें और तपश्चर्या में
था कुछ भेद विशेष नहीं,
अन्यायों का वह विरोध था
अन्यायी से द्वेष नहीं।

फिर ऐतिहासिक घटना के रूप में—

हुआ प्रश्न राष्ट्रीय सभा में
असहयोग का समुपस्थित,
नई भावना से स्पन्दित था
हृदय सभी का उत्तेजित।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इसके पश्चात् असहयोग सिद्धान्त के प्रचार का वर्णन है—

बन गया असहयोग का भाव
शैल में निर्झरिणी का गान,
बैठकर तरुओं में खग-वृन्द
सुनाने लगा उसी की तान।
हो गया विपिन-विपिन में शीघ्र
वही मधुपों का मृदु गुंजार,
घूम कर ग्राम-ग्राम में वायु
कर रही थी उसका संचार।

× × ×

हिमालय से समुद्र पर्यन्त
मच गई असहयोग की धूम,
पवन में उड़ने लगी मनोज्ञ
राष्ट्र की ध्वजा गगन को चूम।
देशभक्तों ने किया सहर्ष
देश के लिए अतुल बलिदान,
त्याग कर सुख-समृद्धि की गोद
दैन्य-दुख सहने लगे महान।

× × ×

दिया महिलाओं ने जो योग
रहा कम उसका नहीं महत्त्व,
हुआ वह इसका प्रबल प्रमाण
नारियों में भी था पुरुषत्व।

× × ×

रहीं जो सुख-भोगिनी सदैव
हो गईं वे योगिनी-ललाम,
बन गईं सुयश-भागिनी दिव्य
देश की सेवा कर निष्काम।

गांधी जी के जीवन में स्वाभाविक रीति से चर्खे के महत्त्व की चर्चा है—

गूँजने लगा चतुर्दिक् चारु
श्रुति-मधुर चर्खे का संगीत,
हृदय-वीणा की मृदु झंकार
ध्वनित-सी उसमें हुई प्रतीत।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सत्याग्रह-आन्दोलन का उत्तर ब्रिटिश शासन के स्वरूप में दिया, परन्तु—

यथा प्रभंजन से होता है
तीव्र और भी दावानल,
तथा दमन से हुआ प्रवर्धित
असहयोग का नैतिक बल।

सत्याग्रह का बल बढ़ता गया—

अन्य महाभारत समान वह
असहयोग - संग्राम हुआ,
उसके कारण प्रथित विश्व में
फिर भारत का नाम हुआ।

× × ×

थे अभिमन्यु सदृश बालक भी
रहे द्रोण - से सेनानी,
धर्मराज - से सत्यसन्ध थे
कर्ण समान स्वाभिमानी।
कुन्ती-सी अनेक माताएँ
हुईं गर्व से आनन्दित,
स्वतन्त्रता-रण में जब उनके
पुत्रों को यश मिला अमित।

इस सहयोग संग्राम में वीर रमणियों का ऊँचा स्थान था—

निराभरण कमनीय शरद की
चन्द्रकला-सी अम्बर में,
अनलंकृत मंजुल नव विकसित
विमल पद्मिनी-सी सर में।

सत्याग्रहियों पर कठोरता बढ़ती गयी और कारागृह भरने लगे—

देश-सेवियों का बन्दीगृह
शीघ्र बन गया एक नगर,
करने लगे वास यमपुर में
सुरपुर-वासी सुर किन्नर।

× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कारागृह न रहा कारागृह
हुआ शौर्य साहस का घर,
मनस्विता, दृढ़ता, निर्भयता
त्यागशीलता का आकर।

फिर चौरी-चौरा काण्ड और गांधी जी को ६ वर्ष के कारागृह-दण्ड की कथा है। यहाँ पर कवि के उद्‌गार पुनीत और करुणापूर्ण हैं—

वह बन्दी था कारागृह में
जिसमें न तनिक भी रहा स्वार्थ,
जिसने अर्पित सर्वस्व किया
परमार्थ-भाव से जग-हितार्थ।

× × ×

वह गांधी था कारागृह में
जिसका पावन उज्ज्वल चरित्र,
इस पापमयी वसुधा में था
स्वर्गिक जीवन का चारु चित्र।
बन्दीगृह में था दिव्यात्मा
करुणावतार वह देवदूत,
हो जिसके दृग-गंगाजल से
सिंचित अछूत भी हुए पूत।

× × ×

बन्दी था वह मानव-पुंगव
जिसका प्रातःस्मरणीय नाम,
करता था भारत में गुंजित
गिरि-गह्वर, कानन, नगर, ग्राम।

दो वर्ष बाद गांधी जी बन्दी-जीवन से मुक्त होते हैं और हिन्दू-मुस्लिम स्थिति को देखकर २१ दिन का अनशन करते हैं। फिर साइमन कमीशन के आने का कथन है और ब्रिटिश नीति की चर्चा और उसके परिणामस्वरूप लाहौर कांग्रेस की स्वतन्त्रता-घोषणा है। अहिंसक रीति से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के इतिहास में गांधी जी की दांडी-यात्रा प्रसिद्ध है। कवि ने इस यात्रा का हृदयग्राही चित्रण किया है—

बापू ने प्रस्थान किया जब
आश्रम से दांडी के पथ पर,
प्राची ने उनको दिखलाया
रवि रूपी मंगल घट सुन्दर।

× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ज्यों दिनमणि के शुचि प्रकाश से
होते हैं नक्षत्र प्रकाशित,
त्यों बापू के विमल तेज से
थे सब सत्याग्रही प्रफुल्लित।
मानो तिमिर-तोम हरने को
इने-गिने तारों को लेकर,
मार्तण्ड थे स्वयं चल रहे
उत्तर व्योम-मण्डल से भू पर।

× × ×

ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते थे
त्यों-त्यों यह होता था भासित,
निकट आ रही थी स्वतन्त्रता
हो उनके तप से आकर्षित।

गांधी जी के प्रति प्रकृति के मनोभाव का दिग्दर्शन आकर्षक है—

मृदुल मनोहर वल्लरियों के
सुन्दर बन्दनवार सजाकर,
भ्रमरावलि के गुंजन के मिस
वंशी-सा मृदु वाद्य बजाकर।
कम कोमल किंशुक-कुसुमों के
लाल-लाल पाँवड़े बिछा कर,
यात्रा में बापू का स्वागत
प्रकृति-वधू करती थी सादर।
लहरों द्वारा प्रेम प्रकट कर
उत्सुकता से होकर चंचल,
बापू की आगमन प्रतीक्षा
करता था रत्नाकर पल-पल
तट की ओर अधीर भाव से
बार-बार आता-जाता था,
पावन चरण-धूल धोने को
आह्लादित हो लहराता था।

उसके पश्चात् लवण-सम्बन्धी आन्दोलन का वर्णन है। गांधी जी कारागृह भेजे जाते हैं, फिर मुक्त होकर इंग्लिस्तान जाते हैं और वहाँ भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि का इस विषय में यह उद्‌गार है—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वे चालीस कोटि मनुजों के
उर-वल्लभ जीवन - धन,
थे इंग्लैण्ड जा रहे करने
भारत - हित - सम्पादन।

× × ×

एकमात्र प्रतिनिधि भारत के
रहे न बापू केवल,
अखिल विश्व के विमल हृदय का
उन्हें प्राप्त था सम्बल।

गांधी जी इंग्लिस्तान जाकर कोई विशेष सफलता नहीं पाते। लार्ड विलिंगडन की नीति का कवि ने वर्णन किया है। गांधी जी को यरवदा जेल जाना पड़ता है। फिर ब्रिटिश शासन की ओर से हरिजनों को हिन्दुओं से अलग प्रतिनिधित्व देने और गांधी जी द्वारा उसके विरोध का इतिहास है। गांधी जी के साबरमती से सेवाग्राम आने की भी यहाँ कथा है। इसके बाद यूरोपीय युद्ध, व्यक्तिगत सत्याग्रह, क्रिप्स-योजना आदि ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है। 'भारत छोड़ो' की जो धुन गांधी जी ने उठायी, उसके सम्बन्ध में कवि कहता है—

'भारत छोड़ो' हुआ वाक्य वह
स्वतंत्रता के रण का गीत,
शीघ्र बन गया वह भारत की
विजय-प्राप्ति का मंत्र पुनीत।

इसके पश्चात् गांधी जी के आगा खाँ महल में बन्दी किये जाने का प्रकरण है। आगा खाँ के भवन में महादेव भाई तथा पूजनीया बा के देहावसान पर कवि का शोकोद्‌गार है। बा के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

संख्यातीत भारतीयों का
बा को प्राप्त हुआ था प्यार,
मरणान्तर भी उन्हें मिला था
श्रद्धाञ्जलियों का उपहार।

फिर गांधी जी के रोग-ग्रस्त होने के कारण छूटने और सेवाग्राम पहुँचने की चर्चा है। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न जटिल हो गया था। गांधी जी जिन्ना से मिलते हैं—

पर बापू के स्वर्गीय राग
मिल सके न जिन्ना के स्वर में,
खिल सके नहीं राष्ट्रीय कमल
जल-हीन साम्प्रदायिक सर में।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इंग्लिस्तान में मजदूर गवर्नमेण्ट के आने के सम्बन्ध में कवि ने कहा है—

युद्धोपरान्त कल्पनातीत
हो गया ब्रिटेन में परिवर्त्तन,
जनमत ने स्थापित किया वहाँ
उन्नत समुदार श्रमिक शासन।

इसका प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ा—

मेघावलि से विमुक्त होकर
फिर से निर्मल आकाश हुआ,
आ गया शरद-सा भारत में
जन-मन-राजीव विकास हुआ।

इसके पश्चात् लन्दन से सम्भ्रान्त मंत्रिदल आता है किन्तु मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक भावनाएँ बढ़ती जाती हैं। घोर उपद्रव की आँधी आती है, कलकत्ते में बर्बरता का नृशंस-नर्तन दिखायी पड़ता है—

मानव द्वारा ही मानव का
निष्करुण निठुर संहार हुआ,
अबलाओं शिशुओं के भी प्रति
दानवता का व्यवहार हुआ।
फिर कलकत्ते से चिनगारी
उड़ कर पहुँची नोआखाली,
वह हुई कराल ज्वालमाला
नभ में छिप गया अंशुमाली।

नोआखाली की करुण-कथा का वर्णन है। इसी बीच भारत-विभाजन का प्रश्न उठा—

सब देशभक्त नेताओं को
वह दशा देखकर खेद हुआ,
अनिवार्य अभागे भारत का
शीघ्र ही अंग-विच्छेद हुआ।

शरणार्थियों की दर्द-भरी आह उठती है। नोआखाली में महात्मा गांधी के अद्भुत कार्य का दिग्दर्शन है—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बापू ने नोआखाली में
जिसका सविशेष प्रयोग किया,
अविवेकी हिंस्र जनों पर भी
जिसका प्रभाव था दिखा दिया।

× × ×

कुछ उन्हें मानते रहे बुद्ध
कुछ देवदूत, कुछ पैगम्बर,
पर सभी धर्म के अनुयायी
कहते थे उन्हें दया सागर।

× × ×

हिन्दू-मुस्लिम दोनों मिलकर
बापू का स्वागत करते थे,
निर्भीक हो गये थे वे भी
जो दो दिन पहले डरते थे।

अब भारत की स्वतन्त्रता का जन्म-दिवस आता है—

फैल गयी है प्रभा देश में
नव-प्रभात की बाँकी,
हुई दृष्टिगोचर है सुन्दर
स्वतंत्रता की झाँकी।

× × ×

नयी भावना है अब जाग्रत
नये भाव हैं मन में,
हुआ पूर्ण विश्वास देश को
अपने अपनेपन में।

× × ×

जो न कभी मुरझाने पायी
होकर भी तप-तापित,
वह स्वतंत्रता लता हुई है
आज फलवती विकसित।

× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गांधी जी की दिव्य साधना
सफल हुई है अनुपम,
विजयी हुए विश्व में फिर से
सत्य - अहिंसा - संयम।
× × ×
होता था जो ज्ञात असम्भव
हुआ आज वह सम्भव,
उनकी कठिन तपस्या ने कर
दिया उपल को भी द्रव।
× × ×
हृदय-हृदय में उमड़ रहा है
देश-प्रेम का सागर,
कण्ठ-कण्ठ से निकल रहा है
राष्ट्रभावना का स्वर।

इसके पश्चात् पंचनद की भूमि में क्रूरता का प्रदर्शन होता है—

घूमते पंजाब में सब ओर दैत्य पिशाच थे,
नित्य ही होते वहाँ बस दनुजता के नाच थे।
हो रही हत्या वहाँ थी देश के सम्मान की,
पी रही पुण्यस्थली थी रुधिर निज सन्तान की।
× × ×
छिड़ गया फिर साम्प्रदायिक युद्ध सीमा-प्रान्त में,
अरुण शोणित से हुआ वह गगन-सा दिवसान्त में।
हो गया भीषण वहाँ भी काण्ड जन-नाश का,
देख जिसको था चुका पंजाब उसके पास का।

इसी बीच गांधी जी नोआखाली से दिल्ली आते हैं और हिन्दू-मुसलमानों की आपसी हत्या को रोकने में यत्नशील होते हैं।

यहाँ तक सोलह सर्गों का संक्षिप्त विवरण हुआ। सत्रहवें सर्ग में गांधी जी की प्रार्थना-सभा का चित्रण है। कवि-निर्मित प्रार्थनाएँ, जिनमें ऊँचे भाव और ईश्वर की भक्ति है।

गांधी जी के सम्बन्ध में कवि का यहाँ निम्न उद्‌गार है—

देख उन्हें तेजोमय मुनि-सा
होता था यह भान वहाँ,
मानो थे आसीन सभा में
मूर्तिमान भगवान वहाँ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अठारहवें सर्ग में उस नीच कार्य का वर्णन है जिसने गांधी जी का प्राण हर लिया—

गांधी जी अति शान्त भाव से हाथ उठाकर,
हत्यारे को क्षमा-दान कर गिरे धरा पर।
करके मुख से राम-नाम का फिर उच्चारण,
किन्तु अन्त में रामचन्द्र को आत्म-समर्पण।

× × ×

जिसके स्वर में अखिल राष्ट्र का भाव विमल था,
कोमलता के साथ ओजमय आत्मिक बल था।
जिसकी वाणी विज्ञ विश्व की थी वर वाणी,
हुआ सदा के लिए मौन वह अनुपम वाणी।

× × ×

उसने करके छिन्न निखिल भारत के बन्धन,
गौरवमय कर दिया भारतीयों का जीवन।
थी सनाथिनी भरत-भूमि बल जिसका पाकर,
अकरुण कर से निहत हुआ वह करुणा-सागर॥

यहाँ गांधी जी के सम्बन्ध में कवि के भाव कुछ उत्कृष्ट पंक्तियों में आये हैं—

ईसा जग में अमर हुए चढ़कर सूली पर,
गांधी ने चिर शांति प्राप्त की गोली खाकर।
दोनों की निष्काम विश्व के प्रति ममता थी,
जीवन में ही नहीं मरण में भी समता थी।

× × ×

जिसने निज चिर सुप्त देश को पुनः जगाया,
अन्धकार में उसे मार्ग जिसने दिखलाया।
सहसा आज विलीन विमल वह ज्योति हो गयी,
भारत की नव शक्तिदायिनी शक्ति खो गयी।

उन्नीसवें सर्ग में हत्या के दूसरे दिन के शोक-प्रदर्शन तथा शव-दाह का वर्णन है—

जो विहग-वृन्द करता था
प्रतिदिन प्रभात में वन्दन,
होता था ज्ञात सभी को
वह आज कर रहा क्रन्दन।

× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

निकला निज व्योमालय से
रवि ले किरणों की माला,
पर वह आलोक न आया
जिसको जग ने खो डाला।
× × ×
गांधी जी जहाँ गिरे थे
गोली से आहत होकर,
होता था वहाँ प्रवाहित
करुणा का स्रोत निरन्तर।
× × ×
देखा सबने पावक में
उस दिव्य पुरुष का जलना,
जिसने सदैव सिखलाया
जग को सत्पथ पर चलना।
× × ×
जिसके श्रम-जल से सिंचित
रहता था भारत-उपवन,
हो गया भस्म बापू का
वह दिव्य विमल कोमल तन।

बीसवें सर्ग में प्रातःस्मरणीय गांधी जी के प्रति कवि के वे करुणरस-पूर्ण उद्‌गार हैं जो हृदय पर पवित्र प्रभाव डालते हैं। नीचे कुछ नमूने देता हूँ—

चिर सुन्दर के शुचि शुभादर्श,
मानव-महिमा के समुत्कर्ष,
जग-जीवन के स्वर्गिक विमर्श,
तुम थे आत्मा के विमल हर्ष,
तुम रहे एक पर थे अनेक
थे अन्तर् रवि के रश्मि-हार,
हे विश्ववन्द्य बापू उदार।
छिपी थी मानव में जो शक्ति
दिया तुमने उसका आभास,
नहीं था जग को जिसका ज्ञान
दिखाया वह अव्यक्त प्रकाश।
× × ×

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रहे तुम नहीं किसी के शत्रु
तुम्हें था मनुज-मात्र से प्रेम,
तुम्हें था भारत से अनुराग
किन्तु था इष्ट विश्व का क्षेम।

× × ×

अकिंचनता को तुमने साधु,
दिया कितना कमनीय महत्त्व,
क्षुद्र जो था जग में मनुजत्व
दिया तुमने उसको अमरत्व।

× × ×

छिपी थी उर में जिसकी ज्योति
किन्तु था सबको जो अज्ञात,
दिखाया अन्धकार में लीन
देश को तुमने विमल प्रभात।

इस प्रकार, मैंने ऊपर 'जगदालोक' काव्य का कुछ दिग्दर्शन कराया है। गांधी जी युग-पुरुष थे। हमारे देश की और जगत् की ऊँची-से-ऊँची परम्परा के वह प्रतिनिधि थे। उनको देखना, उनके साथ सम्भाषण करना, उनके उद्‌गारों को उनके मुँह से सुनना, यह मूल्यवान् अधिकार हममें से बहुतों को प्राप्त हुआ। आने वाली पीढ़ियाँ भावुकता से गांधी जी के सम्बन्ध में चर्चा करेंगी, उनकी अद्‌भुत कहानी कहेंगी।

कवि का यह महत्त्व है कि वह शब्दों द्वारा अपने समय का चित्रण करे। वह भी अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है। गांधी जी ने संसार के लिए अपने जीवन का जो अनुपम उदाहरण रखा है, वह सूक्ष्मदर्शी कवि की अमूल्य थाती है। कवि इस भावमय सम्पत्ति का उपयोग कर समाज की गहरी सेवा कर सकता है। साधारण मनुष्य प्रायः ऊँचे सिद्धान्तों को कार्य में देखकर भी उनकी गम्भीरता और उनके मर्म को समझ नहीं पाता। उसकी आँखें तह तक पहुँच नहीं पातीं। वस्तुओं और क्रियाओं में रत्न मार्मिक सिद्धान्तों के रूप में पड़े रहते हैं, उनको वह पहचान नहीं पाता। किन्तु रवि की पैनी दृष्टि उन रत्नों को खोज लेती है और उनका ज्ञान दूसरों को कराती है। कवि की यही मुख्य महिमा है।

प्रातःस्मरणीय गांधी जी के जीवन-सिद्धान्तों को भावमय, सरल और मधुर शब्दों में ठाकुर गोपालशरण सिंह ने देश के सामने रखा है। उनकी कृति पर मैं उन्हें सप्रेम बधाई देता हूँ।

प्रयाग
२३-१२-५१

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

॥ भारतीय संस्कृति ॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

देवी वीरा

⊙⊙

इस पुस्तक के लेखक पण्डित सुरेन्द्र शर्मा से मुझे ज्ञात हुआ कि स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी ने इसकी भूमिका लिखने का वचन दिया था, परन्तु कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में उनके बलिदान के कारण यह भूमिका न लिखी जा सकी। शर्मा जी ने आग्रह किया कि जो काम विद्यार्थी जी करनेवाले थे, उसे मैं करूँ। साधारण अवस्था में तो मैं इस काम से क्षमा माँगता, किन्तु मेरे प्रिय मित्र विद्यार्थी जी की याद दिला कर उनके नाम पर जब यह काम मेरे सामने रखा गया, तो उसे स्वीकार करना ही पड़ा।

यह पुस्तक वीरा फ़िगनर की लिखी हुई पुस्तक के अंग्रेज़ी अनुवाद Memories of A Revolutionist के आधार पर लिखी गयी है। शर्मा जी ने मुझे अंग्रेज़ी पुस्तक भी देखने को दी थी। मैंने उसे पढ़ लिया था। वह पुस्तक लम्बी है। उसकी मुख्य बातें और मुख्य विचार कम स्थान में लिखे जा सकते थे। शर्मा जी ने हिन्दी पढ़ने वालों के लिए उसकी मुख्य बातें ले ली हैं। इस पुस्तक में पुराने रूसी क्रान्तिकारियों के काम का चित्र प्रेम और उत्साह से खींचा गया है। रूस के क्रान्ति की पुरानी आग बहुत दिनों से सुलग रही थी। रूस के ज़ारों ने क्रान्तिकारियों के मार्ग बदलने के अवसरों को किस प्रकार छोड़ दिया, यह भी इस पुस्तक में चित्रित है, किन्तु साथ ही इसके पढ़ने के बाद हृदय पर यह असर नहीं पड़ता कि छिप-छिप कर जो काम क्रान्तिकारियों ने करना चाहा उसमें उन्हें उनके त्याग के अनुकूल सफलता मिली। रूस का पीछे का इतिहास यह प्रकट करता है कि क्रान्ति की सफलता वहाँ तब दिखायी पड़ी जब, कुछ विशेष अधिकारियों की जान लेने की फिक्र छोड़कर, क्रान्तिकारियों का ध्यान, जनता को समझाने, उनमें अपने अधिकारों और अपनी उन्नति के विचारों को उत्पन्न करने और उनको कष्ट-सहन के लिए तैयार करने में लगा। वास्तव में, सब ही स्थायी क्रान्तियों के भीतर विचार-परिवर्त्तन का काम सदा मुख्य होता है। विचार-परिवर्त्तन करने में क्रान्तिकारी को जो कुछ भी खुले तौर पर कष्ट सहना पड़े, वह उसके कार्यों में मदद देता है और उसके विचारों को और फैलाता है। क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक, क्रान्तियाँ सब इसी प्रकार होती हैं। लूथर, कार्ल मार्क्स, लेनिन, गांधी—इन सब क्रान्तिकारियों के भिन्न-भिन्न रास्ते हुए हैं। किन्तु इन

---

* देवी वीरा : मूल लेखिका—वीरा फ़िगनर, भाषान्तरकार—श्री सुरेन्द्र शर्मा, प्रकाशक—नरेन्द्र पब्लिशिंग हाउस, रैन बसेरा, देहरादून, मार्च १९३४ (दूसरा संस्करण)।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सबों ने ही जनता के खुले क्षेत्र में निडर होकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना और जनता को जगाना—इन कामों को, बम या पिस्तौल से दस-बीस आदमियों को मारने की अपेक्षा, अधिक उपयोगी देखा।

हिंसा और अहिंसा के विवाद को छोड़कर भी, यह अनुभव से देखा गया है कि एक ऐसे आदमी का त्याग और बलिदान, जो अपने सिद्धान्तों पर बराबर दृढ़ रहता है और अपने सिद्धान्तों को खुलेआम पुकारता हुआ उनके लिए कष्ट सहन करता है, अन्य बहुत-से आदमियों को उसकी ओर खींच लेता है और उसी के समान बलिदान करने को तैयार कर देता है। इस प्रकार, बढ़ता हुआ यह चक्र ज़बर्दस्त साम्राज्यों के रोके भी नहीं रुकता और दुष्टता और अन्याय को अपने भ्रमण में समाप्त करता जाता है।

भारतवर्ष में आज क्रान्ति की चारों ओर चर्चा है। इसलिए दूसरे देशों के क्रान्तिकारियों की कथाएँ स्वभावतः रोचक होती हैं। यह पुस्तक भी इसी आधुनिक समय की लहर में लिखी गयी है। पाठकगण इसे पढ़कर रूस के सम्बन्ध में अपनी जानकारी बढ़ावेंगे। किन्तु रूस के क्रान्तिकारियों के कार्यों को अपने अनुभव की तराज़ू पर तौलना होगा। संसार में जिस प्रकार दो मनुष्य बिलकुल एक नहीं होते, उसी प्रकार संसार के इतिहास में दो घटना-समूह भी कभी एक नहीं हुए। एक ही मार्ग सब स्थलों में नहीं चल सका। हमें भी सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष की स्थिति में रास्ता खोलने वाले के लिए किसी की नक़ल शक्तिदायिनी न होगी। हमें अपने जल-वायु, स्वभाव, अपनी मर्यादा और संस्कृति के अनुकूल रास्ते निकालने होंगे और रास्तों पर खुली रीति से जनता को ले चलना होगा। उभरी हुई, सुलझी हुई, बलिदान देने के लिए तैयार शक्तिवान् जनता पर ही हमारा अन्तिम भरोसा है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति और कुम्भ मेला

⊙⊙

कुम्भ मेला भारतीय संस्कृति का एक अंग है। प्रयाग में त्रिवेणी, गंगा, जमुना और सरस्वती का संगम है। यह स्थल बड़ा पवित्र है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी संगम-क्षेत्र में तपश्चर्या की थी। प्राचीन ग्रन्थों में इसकी पवित्र महिमा का वर्णन बड़े भावपूर्ण ढंग से किया गया है। प्रयाग में १२ वर्ष में कुम्भ तथा ६ वर्ष में अर्द्ध कुम्भ का मेला लगता है। इसी प्रकार, अन्य तीर्थों में भी कुम्भ मेला परम्परा के अनुसार यथासमय होता रहता है। यह मेला भारतीय जनता की मनोभावना का प्रतीक है। इस मेले में आने तथा त्रिवेणी में स्नान के लिए भारत के ही नहीं, विदेशों से भी लाखों नर-नारी श्रद्धा और भक्ति से आते हैं। किसी को यहाँ आने का निमन्त्रण नहीं दिया जाता। भारतीय संस्कृति की भक्ति और श्रद्धा से व्याप्त यह भावना है, जो मानव-हृदय की पवित्रता की द्योतक है। किन्तु आजकल देश में पश्चिम का प्रभाव अधिक व्यापक हो रहा है। भक्ति और श्रद्धा में गिरावट आती जा रही है। भारतीय संस्कृति को पश्चिमी नकल से बचाना है।

हमारे सामने आज दो रास्ते हैं, जो भयावह हैं, डर के रास्ते हैं। मैं भारतीय संस्कृति का उपासक हूँ, परन्तु भारतीय संस्कृति को दो रास्तों से बचाना है। एक रास्ता वह है जिस पर हमारे पश्चिम की नकल करने वाले भाई चलते हैं। पश्चिमी ढंग की चीजों को, रीति-रिवाज को, उनकी भाषा को अपना कर पश्चिम की नकल करना या उसकी प्रतिलिपि बनाना—यह हमारे देश को शोभा नहीं देता। मैं इसका रूप नयी दिल्ली में देखता हूँ। देश को नयी दिल्ली का मानसिक रूप नहीं देना है, क्योंकि यह भी एक मूढ़ाग्रह है। यह मत समझिए कि मूढ़ाग्रह, सुपर्स्टिशन, बेपढ़े-लिखे लोगों में ही होता है। अंग्रेज़ीदाँ लोगों में मुझे बड़ा गहरा सुपर्स्टिशन दिखायी देता है। वे मरे हुए हैं, मूढ़ाग्रहयुक्त हैं। कपड़े पहनने का मूढ़ाग्रह है कि ऐसे कपड़े पहनेंगे तो हमारी ज्यादा इज्जत होगी। खाने-पीने में, रहन-सहन में मुझे सुपर्स्टिशन दिखायी देता है। उस मूढ़ाग्रह से हमें देश को बचाना है। भारतीय संस्कृति की रक्षा हमें करनी है। इसका मतलब यह नहीं कि हम अच्छी बातों को भी विचारपूर्वक न लें।

मेरी मान्यता है कि हमारा देश बौद्धिक रहा है। मैं इस पर बल देता हूँ। बहुत-से अंग्रेज़ इतिहासकारों ने कहा है कि हमारे यहाँ परिपाटी को पूजने वाले बहुत हैं, कंजर्वेटिज्म बहुत है। इसमें आंशिक सत्य है, पूरा सत्य नहीं है। हमारा देश अपने आन्तरिक तल में बौद्धिक रहा है, बुद्धि का पुजारी रहा है। बुद्धि के ऊपर उसने किसी किताब को नहीं रखा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

है--"यो बुद्धेः परतस्तु सः।" बुद्धि के ऊपर केवल ईश्वर को माना है। ईश्वर के बाद संसार में बुद्धि ही तत्त्व है। मैं बुद्धिवादी हूँ। बुद्धि के ऊपर सब पुस्तकों को, ट्रेडिशन्स को, नापने-तौलने के लिए तैयार हूँ। यही हमारे यहाँ का क्रम प्राचीनों का था। हाँ, दो-चार-पाँच सौ वर्ष पहले एक अँधेरी रात आयी हमारे देश में, उसमें हमने इन मूढ़ाग्रहों और परिपाटियों और ट्रेडिशन्स को पूरी तरह से पकड़ा। परन्तु हमारा देश अपने मार्गों को बदलने में, परिपाटियों को सुधारने में पीछे नहीं रहा है। हमारे देश का ही एक वाक्य है---वैसा संसार में और कहीं मैंने नहीं सुना। कथा है, जब यास्क मुनि के शरीर छोड़ने का समय आया तब उनके चेलों ने उनसे पूछा--- "महाराज, आप जाते हैं, अब वेदों का अर्थ कौन करेगा? ध्यान रखिए वेदों का?" यास्क मुनि निरुक्त के कर्त्ता हैं। निरुक्त वह शास्त्र है, जो वेदों के शब्दों को सामने रखता है और उनका अर्थ निकालता है। चेलों ने पूछा, "अब आप जा रहे हैं तब वेदों का अर्थ कौन करेगा? हम लोग किस ऋषि के पास जायें?" यास्क ने जवाब दिया, "तर्को वै ऋषिरुक्तः।" इसका क्या अर्थ है? "तर्क---लाजिक, सिलोजिज़्म, यही ऋषि हैं, वेदों का अर्थ करने के लिए।" यह वाक्य था कि तर्क ही ऋषि हैं। तर्क का मतलब बुद्धि, क्योंकि तर्क का सहारा तो बुद्धि के बिना बढ़ता नहीं। बुद्धि को ही ऋषि बनाना---यह वाक्य हमारे देश की पुरानी परिपाटियों का दास नहीं। परिपाटियाँ अवश्य बनती हैं। किस देश में नहीं हैं। आज क्या अमरीका और इंग्लैण्ड परिपाटियों से बँधे नहीं हैं? बहुत जगह परिपाटियों की बहुत गुलामी रहती है। अगर बुद्धि भी साथ हो तो वे ठीक होती रहती हैं। हमारे यहाँ परिपाटियाँ चलती हैं, लेकिन बौद्धिकता पुराने समय से समाज पर प्रभाव डालती रही है।

आज हमें जहाँ एक ओर पश्चिमी नकल से बचना है, वहाँ अपने देश की परिपाटियों का भी, जो कि धर्म के नाम पर चलती हैं, विश्लेषण करना है। "यह माघ मेला" किसी ने यहाँ पर कहा था, मैं उनका आदर करता हूँ "श्रद्धा और भक्ति का सूचक है।" मैं प्रयाग का रहने वाला हूँ। गंगा में बड़े-बड़े घड़ियाल रहते हैं, क्रोकोडाइल रहते हैं। क्या वह, वहाँ बुद्धि-श्रद्धा से रहते हैं? नहीं। मल्लाह दिन भर गंगा में रहता है। मेरे मन में गंगा की उपासना इसलिए है कि गंगा के किनारे तपस्वियों ने तप किया था। गंगा का जल पवित्र है। परन्तु इस भेड़ियाधसान को, एक छोटी-सी जगह में जहाँ संगम है, जहाँ हजारों आदमी एक साथ स्नान करें, प्रोत्साहन देना उचित नहीं है। यह बुद्धि के विरुद्ध है। मैं इसको भारतीय संस्कृति का विरोधी समझता हूँ। जो लोग इस प्रकार की तबीयत को प्रोत्साहन देते हैं, वे सही नहीं करते हैं, वे भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं करते।

वास्तविकता यह है कि हमें इन दोनों भयावह रास्तों से बचना चाहिए। एक ओर पश्चिमी नकल और दूसरी ओर अपने यहाँ की सब रीतियों को बिना समझे-बूझे प्रोत्साहन देना। हमारी संस्कृति प्राचीन है, लेकिन बौद्धिक है। जिस तरह का हमारा यह मेला है, इस तरह के मेले मुसलमानों में भी चलते हैं। हिन्दुओं के जो मेले चलते हैं, उनमें श्रद्धावान् बहुत थोड़े आते हैं। प्राचीन समय में यह इसलिए होते थे कि वहाँ अच्छे लोग इकट्ठा होते थे। अच्छे विचार करते थे। आज भी विचार के लिए कुछ थोड़ी-सी सभाएँ होती हैं। वह ठीक है,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वहाँ लोग जायें। हमारी प्राचीन मर्यादा के अनुसार सत्य और तप भारतीय संस्कृति के मुख्य अंश हैं। जहाँ तप और सत्य नहीं हैं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं है।

धर्म का आधार मुक्ति है। भारतीय संस्कृति को बिना समझे-बूझे कीचड़ में नहीं घसीटना चाहिए। भारतीय संस्कृति मूढ़ाग्रहों या सुपर्स्टिशन्स का बण्डल नहीं है। जो भारतीय सस्कृति को नहीं समझते, वे उसकी समय-समय पर बुराई कर देते हैं। वे लोग भी उसको गलत समझते हैं, जो उसे अन्धविश्वासों का बण्डल समझते हैं। भारतीय संस्कृति बौद्धिक है, बुद्धि के ऊपर निर्भर है। जहाँ बुद्धि नहीं, वहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं, वहाँ धर्म नहीं। वृहस्पतिस्मृति का एक वाक्य याद आ गया—

"केवलम् शास्त्रमाश्रित्य, न कर्त्तव्यो विनिर्णयः।"

केवल किताबों का, जिसको शास्त्र कहते हैं, सहारा लेकर धर्म का निर्णय नहीं हुआ करता।

"युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते।"

जहाँ बुद्धि नहीं है, युक्ति नहीं है, ऐसे विचार से धर्म की हानि होती है; चाहे वे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान हों, चाहे ईसाई हों। जो धर्म, युक्ति पर आधारित नहीं है, वह धर्म कहलाने योग्य नहीं है। भारतीय धर्म बौद्धिक है और युक्ति पर निर्भर है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वाटिका-गृह-ग्राम-योजना

⊙⊙

आज देश में ग्रामों के पुनरुत्थान के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की गयी हैं, किन्तु मेरी कल्पना के अनुसार सुन्दर रचना और व्यवस्था की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है, जितना देना चाहिए। कहीं-कहीं कुछ सामूहिक प्रयत्न ग्रामों के बारे में उठाये गये हैं, परन्तु साधारणतः देश भर के ग्रामों की दशा सुधारने के लिए व्यावहारिक चिन्तन और कार्य उचित गम्भीरता और लगन से, स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पीछे भी उठाया नहीं गया है। हमारे ग्राम आज भी पहले की भाँति गन्दे, छोटे स्थान में बसे हुए और बेकारी तथा मूढ़ता के ग्रास में फँसे हुए हैं। आवश्यकता यह है कि वे विचारक और कार्यकर्त्ता, जो देश की स्थिति को सुधारना चाहते हैं, ग्रामों और छोटे नगरों में सौन्दर्य, स्वास्थ्य और सुख फैलाने की ओर तुरन्त ध्यान दें।

ग्राम-जीवन का स्तर ऊँचा करने के लिए यह आवश्यक है कि हम बस्तियों को स्वस्थ और फैली हुई तथा घरों को खुला हुआ, एक-दूसरे से अलग और इस प्रकार का बनायें, जिनमें जन और पशु ठीक रीति से रह सकें और जिनमें न केवल साधारण कामों के लिए भूमि हो, वरन् इतनी भूमि हो, जिनमें एक सुन्दर वाटिका बन सके। मेरा सुझाव है कि प्रत्येक घर के साथ आधा एकड़ भूमि होनी चाहिए। घर छोटा हो या बड़ा, कच्चा हो अथवा पक्का, खुली भूमि कई दृष्टियों से न केवल लाभदायक अपितु आवश्यक भी है। इस प्रकार, बच्चों को खेलने के लिए भूमि मिलेगी और पुरुषों तथा स्त्रियों को साधारण काम के बाद अपने घर में भी कुछ खाद्य—शाक, फल आदि के लगाने में लाभ-मिश्रित मनबहलाव का मार्ग मिलेगा। पशुओं और मनुष्यों के मल-मूत्र को खाद में परिवर्तित करने और इस प्रकार उनकी उपयोगिता को बढ़ाकर भूमि को समृद्ध करने का अवसर मिलेगा और सब ही तरह के कामों के लिए चौमुखी सुविधा होगी।

आज जो बहुत घने बसे हुए गाँव हैं, वहाँ इस प्रकार की योजना तब ही चलेगी, जब नयी भूमि में चारों ओर से उसी प्रकार की तोड़-फोड़ की जायगी जिस प्रकार कि कुछ नगरों में सुधारक-न्यासों द्वारा की गयी है। परन्तु सब ही जिलों में कुछ ऐसे नये ग्राम तो बिना कठिनाई के बनाये जा सकते हैं, जिनमें किसी निश्चित योजना के अनुसार तीस या चालीस फुट चौड़ी एक-दो या अधिक सड़कें हों और सड़कों के दोनों तरफ आध-आध एकड़ के भूमि-खण्ड धनी तथा दीन कुटुम्बों को बिना किसी जाति-पाँति के विचार से दिये जायें। हरिजनों और पिछड़ी जातियों के परिवारों को भी इसी प्रकार की भूमि दी जाय। जिन लोगों को कुछ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

धन की सुविधा है, वे अपने पास से धन लगाकर घर बनवायें, जो धनहीन हैं, उन्हें थोड़े धन की सुविधा दी जानी चाहिए और सामूहिक परिश्रम द्वारा उनके घरों के बनाने का कार्यक्रम हो।

जो खेतिहर हैं और खेती द्वारा जिनकी जीविका है, उनकी खेती की भूमि अलग होगी। लोहार, बढ़ई, कुम्हार, बुनकर तथा छोटे उद्योगों में लगे हुए लोगों को खुली भूमि से अपने उद्योगों को विकसित करने में सुविधा होगी तथा शाक, फल, फूल अपने घरों के चारों ओर लगाने में उनका चित्त प्रसन्न होगा और साथ ही घर की वाटिकाएँ ग्राम को सौन्दर्य प्रदान करेंगी।

हमारे किसी ग्राम में कभी आग लग जाती है, तब किस प्रकार वह चारों ओर फैलकर शीघ्रता से गाँव को घेर लेती है और पशु तथा सामग्री की हानि करती है, इसका कुछ अनुभव गाँव वालों को कभी-कभी हो जाता है। मेरी योजना को यदि क्रियात्मक रूप दिया जाय, तो ग्राम में आग लगने की सम्भावना ही नहीं है।

किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, तो इस प्रकार के वाटिका-गृह-ग्राम न केवल सुन्दर होंगे बल्कि जीवन के पहलुओं में लाभदायक सिद्ध होंगे। ऐसे ग्रामों में जल की योजना अवश्य ही करनी होगी। ग्राम की रक्षा के लिए ग्रामवासियों को स्वयं अपने में से एक सजग स्वयंसेवक मण्डली बनानी होगी। यह काम भी ग्राम-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने वाला होगा।

बेकारी दूर करने के लिए ग्राम-आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त, जिस पर प्रातःस्मरणीय गांधी जी ने बल दिया था, अपनाना होगा। उसमें खादी तथा ग्रामोद्योग का मुख्य स्थान होगा, परन्तु वाटिका-गृह-ग्राम-योजना सब ही के कामों में सहायक होगी।

इस सम्बन्ध में लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि कभी व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव है कि प्रत्येक परिवार को रहने का घर बनाने के लिए आधा एकड़ भूमि दी जा सके। मेरा कहना है कि देश भर में सब नगर और ग्रामों को मिला कर लगभग १४ करोड़ परिवार होंगे। यदि इस कुल संख्या के लिए भी आधा-आधा एकड़ भूमि दी जाय तो अधिक-से-अधिक लगभग पाँच करोड़ एकड़ भूमि की आवश्यकता होगी। हमारे देश की लगभग ६०-७० करोड़ एकड़ भूमि में से इतनी भूमि वाटिका-गृह-ग्राम-योजना को चलाने के लिए देना पर्याप्त और व्यावहारिक है। स्थानीय आवश्यकताओं का अवश्य समन्वय करना होगा और किसी के पास यदि ज्यादा भूमि है तो समझौते से उससे लेकर उपभोग में लाना पड़ेगा। इस रीति से घरों के साथ जो भूमि लगी रहेगी, उसकी उपजाऊ शक्ति साधारण से बहुत अधिक बढ़ जायगी और वह हरियाली और सौन्दर्य की छटा दिखाती हुई समृद्धि की अग्रगामिनी होगी।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारवि कौन थे ?

⊙⊙

भारतीय महाकवियों की नामावली में महाकवि कालिदास के बाद महाकवि भारवि को स्थान देना उचित है। भारवि की रचना ऐसी सुन्दर है कि स्थान-स्थान पर उनके पदों का पाठ करते-करते मन विह्वल हो जाता है। सहृदयता और अर्थ-गाम्भीर्य में तो उन्होंने महाकवि कालिदास का भी अतिक्रम कर डाला है। यह दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे प्रतिभाशाली महाकवि का कोई लिखित जीवन-चरित भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। अन्यान्य कवियों की जीवन-घटनाओं का आभास किसी-न-किसी रूप में प्राप्त है, परन्तु भारवि का जीवन-वृत्तान्त सर्वथा विलुप्त है। 'काव्यमाला' में यत्किञ्चित् भारवि का वर्णन प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है कि महाकवि भारवि ईसवी की सप्तम शताब्दी के आरम्भ में महाकवि कालिदास के समान ही प्रसिद्ध थे। नितान्त अल्प समय में किसी कवि की इतनी अधिक प्रसिद्धि किसी प्रकार सम्भव न थी, अतएव पुरातत्त्ववेत्ताओं का अनुमान है कि सप्तम शताब्दी के प्रथम ही महाकवि भारवि की प्रतिभा का प्रादुर्भाव हो चुका था।

'ह्विना ओरियण्टल जर्नल' नामक मासिक पत्र के तृतीय भाग में शर्मण्य देशीय अध्यापक जाकीबी ने भारवि के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं, जिनका सार-धर्म यह है कि "महाकवि माघ ख्रीष्टीय षष्ट शताब्दी के मध्य भाग में विद्यमान थे, भारवि माघ की अपेक्षा प्राचीन हैं।" शर्मण्य अध्यापक की इस उक्ति में कोई विशेष नवीनता नहीं है। अतिकाल से भारतीय पण्डित-समाज की यह धारणा रही है कि भारवि माघ की अपेक्षा प्राचीन हैं, और भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' का अनुकरण करते हुए माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल-वधम्' की रचना की है। विद्वद्वर्य विद्यासागर ने भी इस मत का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त, कोई भी विद्वान् व्यक्ति क्रमशः 'किरातार्जुनीयम्' तथा 'शिशुपाल-वधम्' का पाठ करके यह समझ सकता है कि भारवि माघ से बहुत पहले आये हुए हैं। भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' काव्य के तृतीय सर्ग की अनेक कविताओं के भाव, बल्कि शब्द-पर्यन्त, माघकृत 'शिशुपाल-वधम्' के प्रथम सर्ग में परिगृहीत हुए हैं। अतएव शर्मण्य अध्यापक ही क्या, प्रत्येक पण्डित के लिए यह अनुमान कर लेना सर्वथा सहज है कि भारवि माघ के पूर्ववर्त्ती हैं, और माघ ने उनकी रचना का अनुकरण करके 'शिशुपाल-वधम्' काव्य की रचना की है। इस आलोचना से निश्चय प्रतीत होता है कि महाकवि भारवि ख्रीष्टीय पञ्चम शताब्दी के शेष भाग में अथवा षष्ट शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारवि के सम्बन्ध में दूसरा आलोच्य विषय उनके निवास-स्थान का निरूपण है। महाराष्ट्र के श्री राजाराम रामकृष्ण पण्डित ने स्वरचित 'मराठाच्या सम्बन्धा ने चार उद्गार' नामक निबन्ध में लिखा है कि "भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने महाराष्ट्र अथवा द्रविड़ प्रदेश में जन्म ग्रहण किया था।" प्रमाणपत्र के लिए उन्होंने 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के अठारहवें सर्ग का पाँचवाँ श्लोक उद्धृत किया है—

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहता ययुरर्जुनमुष्टयः।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

अर्थात्—"समुद्र की ऊर्मिमाला जिस प्रकार सह्य पर्वत के तटों से टक्कर खाती है, उसी प्रकार अर्जुन का मुष्टि प्रहार महादेव के वक्षस्थल को बारम्बार आहत कर रहा था।"

सह्य पर्वत-मालाएँ महाराष्ट्र ही में हैं, अतएव उपर्युक्त पद्य पढ़ने पर कवि की जन्मभूमि महाराष्ट्र देश होने में कोई सन्देह नहीं रहता। बम्बई के तुकाराम जावजी द्वारा प्रकाशित 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के संशोधक महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद का कथन है कि "यदि सह्य पर्वत का नामोल्लेख पाकर ही भारवि को दक्षिण प्रदेशवासी मान लिया जाय तो दक्षिण भारत के प्रसिद्ध मलय, सह्य आदि पर्वत और गोदावरी, ताम्रपर्णी, कावेरी प्रभृति नदियों का वर्णन करने वाले सुप्रसिद्ध कश्मीरी कवि 'हर विजय' काव्य के रचयिता, महाकवि रत्नाकर को भी दक्षिण प्रदेशवासी कहना उचित होगा। इसी प्रकार, विन्ध्यारण्य के वर्णयिता महाकवि बाण को भी विन्ध्यारण्य-निवासी एक भील समझ लेना पड़ेगा। तदतिरिक्त जिन महाकवियों ने स्वर्ग और पाताल प्रभृति के विविध वर्णन किये हैं, उन्हें भी स्वर्ग अथवा नाग लोक का अधिवासी अंगीकार करना पड़ेगा।" परन्तु अनेक संस्कृत ग्रन्थों के संशोधक महा-महोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद से इस विषय में हमारा मतभेद है। कारण कि कविमात्र पूर्ण परिचित नित्यदृष्ट वस्तुओं की ही उपमा दिया करते हैं। 'किरातार्जुनीयम्' काव्य के अष्टादश सर्ग की कविताओं में विविध उपमाओं का पाठ करने पर सहज ही यह अनुमान होता है कि कवि ने सह्य पर्वतमाला के पाददेश में अनेक बार समुद्र की शोभा का दर्शन किया था। निकटवर्ती स्थान-निवासी कवि के लिए बारम्बार समुद्र-दर्शन जैसा सुलभ है, वैसा सुदूर-प्रान्त निवासी काव्य रचयिता के लिए कदापि नहीं। पण्डित दुर्गाप्रसाद 'हर विजय' के प्रणेता कश्मीरी कवि और महाकवि बाण और स्वर्ग एवं पाताल का दृश्य वर्णन करने वाले कवियों की बात का उल्लेख करके विशेष चिन्ताशीलता का परिचय न दे सके। कश्मीरी कवियों का दक्षिण भारत में आगमन सदा से प्रसिद्ध है। बाण ने अपने 'हर्षचरितम्' काव्य में महाराज श्रीहर्ष का जीवन-चरित लिखते-लिखते कौशलक्रम से अपना ही जीवन-वृत्तान्त लिपिबद्ध कर दिया है। स्वर्ग और पातालवासी जन लौकिक काव्य-रचना के लिए नहीं आते। अतएव पण्डित महाशय की उक्ति में विशेष सारवत्ता प्रतीत नहीं होती।

एक बार अध्ययन-काल के समय इस सम्बन्ध में एक ब्रह्मचारी वेशधारी विद्यार्थी ने मुझे निम्नलिखित किम्वदन्ती सुनायी थी—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

"विदर्भ देश में एक दीन ब्राह्मण के घर में भारवि ने जन्म ग्रहण किया। उनके पिता निर्धन होने पर भी एक सुपण्डित और तेजस्वी ब्राह्मण थे। जन्म के थोड़े ही दिनों बाद पिता ने पुत्र की प्रतिभा का परिचय पाकर उसका नाम भारवि रखा। भारवि ने विद्यारम्भ के अनन्तर कुछ वर्षों तक विविध शास्त्रों का अध्ययन किया, परन्तु बाद में यौवन का पदार्पण होते ही कुसंगियों के संसर्ग से वह उच्छृंखल हो उठा। तेजस्वी पिता कठोर शासन के द्वारा भी पुत्र को सुमार्ग पर न ला सका। इसी प्रकार बहुत समय बीत गया। अत्यन्त दुःखी होकर वृद्ध पिता अन्त में भारवि को 'दुर्विनीत' नाम से पुकारने लगे। एक दिन पिता की अनुपस्थिति के समय भारवि जब घर में आये तो वृद्धा जननी ने नयनों से अश्रु बरसाते हुए पुत्र से कहा—"वत्स, मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती हूँ, एकमात्र यही मेरी हार्दिक कामना है कि तुम्हें विनीत और सुपथ-गामी देखकर मेरे जीवन का अन्त हो। विधाता ने मेरी यह आशा अब तक पूरी नहीं की।" माता के कातर वाक्यों से भारवि को चेत हुआ। उस दिन से उन्होंने समस्त कुसंगतियों का परित्याग कर दिया और मननपूर्वक पुनः अध्ययन आरम्भ किया। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में उनके पाण्डित्य और कवित्व का सौरभ चारों ओर फैल गया। परन्तु वृद्ध पिता उससे पूर्व ही के सदृश व्यवहार करता रहा। स्नेहपूर्ण वाक्यों के द्वारा प्रसन्न करना तो दूर रहा, किसी स्थान पर भारवि की प्रशंसा सुनने पर पिता यही कह दिया करते थे कि "आप उसकी प्रशंसा न करें, उसके चरित्र में अभी कुछ भी सुधार नहीं हुआ है। अब भी उसे आप एक भीषण जन्तु के समान ही दुष्ट जानें।" इस प्रकार पिता के कटु वाक्य सुनते-सुनते भारवि को एक दिन बड़ा क्रोध आया और वह मन-ही-मन सोचने लगे कि सम्पूर्ण रूप से सच्चरित रहते और नियत शास्त्रानुशीलन करते हुए भी पिता के व्यवहार के कारण मैं जन-समाज में मुख दिखाने योग्य न बन सका। अतएव अब पहले पिता के प्राणों का नाश करके पीछे अपना जीवन भी त्याग देना चाहिए।

इसी निश्चय के अनुसार एक दिन रात्रि को भोजन के उपरान्त पिता का गुप्त भाव से वध करने के अभिप्राय से भारवि एक बड़ा पत्थर लेकर घर के ऊपरी भाग में चढ़ गये और पिता के निद्रित होने की प्रतीक्षा में वहीं बैठ गये। अभिप्राय यह था कि जब पिता सो जाएँगे तो छप्पर का फूस हटाकर उनके मस्तक पर पत्थर डाल देंगे। इस ओर वृद्ध पिता सोने के लिए पलँग पर लेटे थे, वृद्धा जननी नीचे बैठी हुई स्वामी के साथ कुछ वार्तालाप कर रही थीं। उस समय वे कहती थीं—"देखो, भारवि का चरित्र सम्पूर्ण रूप से सुधर चुका है, अनेक शास्त्रों का उसने ज्ञान प्राप्त किया है, पाण्डित्य के कारण जन-समाज में उसका विशेष सम्मान है, परन्तु तुम्हारे विचारों में अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तुम उसके प्रति अब तक वैसे ही कठोर बने हो, इसका क्या कारण है?" उत्तर में स्वामी ने कहा—"तुम हमारे मानसिक भाव को न समझ सकी, इसीलिए ऐसा कह रही हो। मैं भारवि की हित-कामना से उसके साथ बाहर ऐसा कठोर व्यवहार करता हूँ अवश्य, परन्तु वह मेरा एकमात्र पुत्र है, उसे मैं प्राणों के सदृश प्यार करता हूँ। अभी यदि मैं उसका आदर करूँ तो वह अपने आचार की ओर पुनः ध्यान न देगा और शास्त्र के अध्ययन में भी विशेष रुचि लेना त्याग बैठेगा एवं समझ लेगा कि मैंने अपना

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कर्त्तव्य पूरा कर लिया। उसमें जैसी असाधारण प्रतिभा है, मैं चाहता हूँ कि वैसा ही प्रगाढ़ पाण्डित्य वह प्राप्त करे।"

ये बातें जब भारवि के कानों में पहुँचीं तो दुःख से उसका हृदय व्याकुल होने लगा। पत्थर अलग फेंककर वह ऊपर से नीचे उतरा और रोते-रोते माता से द्वार खोलने के लिए निवेदन किया। जननी के द्वार खोलते ही पुत्र उन्मत्त की भाँति दौड़कर पिता के चरणों में गिर पड़ा। माता-पिता उसकी अवस्था देखकर विस्मित होने लगे। कुछ देर में सावधान होने पर भारवि ने कहा—"पितृदेव ! मैं घोर पापी हूँ, मुझे क्षमा करो। कहिए, मेरे इस पाप का प्रायश्चित्त क्या है ?" माता-पिता ने पुत्र के समस्त अपराध क्षमा कर उसे सान्त्वना दी। कुछ दिन में भारवि ने अपने 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य की रचना आरम्भ की। कहा जाता है कि इस काव्य की समाप्ति के पहले ही कवि के माता-पिता का परलोकवास हो चुका था और काव्य समाप्त हो जाने पर कवि ने अपने जीवन के मध्यकाल से ही इस लोक से बिदा ली।

सुना है कि अन्तिम समय में भारवि ने अपने काव्य से एक कविता उद्धृत करके अपनी सहधर्मिणी के हाथ में समर्पित की और कहा कि, "अधिक आवश्यकता के समय इसी कविता को बेंचकर अपना जीवन निर्वाह करना।" कवि के देहत्याग के बाद कवि की पत्नी बड़े संकट में पड़ गयी। जीविका का कोई उपाय न कर सकी। इसी समय एक सन्निकट ग्राम-निवासी धनी वणिक्-पुत्र ने निश्चय किया कि जो चीजें बाजार में न बिकेंगी, उन सबको मैं स्वयं खरीद लिया करूँगा। कवि-पत्नी ने जब यह सुना कि बाजार की समस्त न बिकने वाली वस्तुएँ वणिक्-पुत्र नित्य खरीद लेता है, तो उसके मन में भी आशा का संचार हुआ। वह स्वामी की हस्तलिखित कविता लेकर बाजार में गयी और लज्जा से बाजार के एक कोने में वटवृक्ष के नीचे बैठ गयी। धीरे-धीरे बाजार समाप्त हुआ। सब लोग अपने घर चले गये। कवि-पत्नी वहीं बैठी रही। वणिक् के कर्मचारी संध्या को अविक्रीत वस्तुएँ क्रय कर कवि-पत्नी के निकट पहुँचे और पूछा—"माँ ! तुम्हारी कौन वस्तु नहीं बिकी ?" कवि-पत्नी ने कुछ उत्तर न देकर वही कविता उनके सामने रख दी। कर्मचारियों ने मूल्य पूछा। कवि-पत्नी ने कहा, "बीस सहस्र रजत-मुद्रा।" इतने अधिक मूल्य की चीज खरीदने का अधिकार कर्मचारियों को नहीं था, अतएव वे कविता लेकर अपने स्वामी के निकट उपस्थित हुए। वणिक्-पुत्र ने सोच-विचार कर बीस सहस्र मुद्रा देकर कविता ले ली। बहुमूल्य कविता विनष्ट न हो, इसलिए उसे अपने महल में शयन-गृह के चाँदी से निर्मित दरवाजे के ऊपरी भाग में बड़े-बड़े स्वर्णाक्षरों में लिखाकर रख छोड़ा।

कुछ दिन बाद, वणिक्-पुत्र को व्यापार के लिए सिंहल-यात्रा करनी पड़ी। उसी समय उसकी नव-वधू पहले-पहल गर्भवती हुई थी। जो भारतीय उस समय सिंहल से व्यापार करते थे, उन्हें वहाँ जाकर अपनी वस्तु बेंचने और वहाँ की चीजें लेकर घर लौटने में एक वर्ष लगता था। वणिक्-पुत्र ने अपने पिता की मृत्यु के बाद पहले-पहल सिंहल की यात्रा की थी, अतः अनुभव और सावधानी के अभाव में वह राजकर्मचारियों के चक्र में पड़कर बन्दी हो

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गया। उसके अपराध के निर्णय में चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। अन्त में वणिक्-पुत्र निर्दोष ठहराया गया और उसका माल-असबाब, जो ले लिया गया था, लौटा दिया गया। वणिक्-पुत्र स्वदेश को लौटा। पहले से अपने आने का कोई सम्वाद घर पर न भेजा था। नगर में पहुँच कर अँधेरी रात में गृह-प्रवेश किया। द्वारवानों को किसी प्रकार का गड़बड़ करने का निषेध करके एकदम अन्तःपुर में उपस्थित हुआ। गर्मी का समय था, खिड़की खुली थी, घर में उजाला था। पलँग के ऊपर उसकी पत्नी सो रही थी। एक पुरुष उसके वक्षःस्थल में मुँह छिपाये सो रहा था। उसका मुख दिखायी न पड़ता था। पीछे से देखने पर युवा पुरुष प्रतीत होता था। घर में एक नौकरानी सो रही थी। यह देखकर वणिक्-पुत्र क्रोधाग्नि से जलने लगा। खिड़की के मार्ग से एक लकड़ी डालकर नौकरानी को जगाया और विचार किया कि नौकरानी के द्वार खोलते ही कमर से तलवार उन्मुक्त करके लेटे हुए पुरुष के शरीर पर आघात करूँगा, पर ज्यों ही घर में प्रवेश करना चाहा कि इतने में शयन-गृह के चाँदी से निर्मित द्वार पर बड़े-बड़े स्वर्णाक्षरों में अंकित निम्नलिखित कविता दिखायी पड़ी—

"सहसा विदधीत न क्रियाम्, अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणु तेहि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

अर्थात्—"सुबुद्धि वाले मानव सहसा कार्य नहीं करते। अविवेक सब तरह से विपत्ति का कारण है। गुण के लोभ से विवेकी जनों के निकट लक्ष्मी स्वयं चली आती है।"

वणिक्-पुत्र संस्कृत भाषा का अच्छा पण्डित था। कविता पढ़कर कुछ देर खड़ा रहा। उस समय उसके मन में आया कि—"अपराधी इस समय हाथ में है, अतएव सहसा कायर पुरुषों की भाँति सोते हुए व्यक्ति के शरीर पर आघात करना अनुचित है, पीछे इसको देखूँगा।" इस ओर वणिक्-वधू भी जाग पड़ी और बहुत दिनों बाद पति को घर में देखकर आनन्दित हो पुत्र को जगाकर स्वामी की गोद में समर्पित किया। वणिक् ने देखा कि जिसे मैं परपुरुष समझकर वध करने के लिए उद्यत हुआ था, वह मेरा ही प्राणप्रिय पुत्र है। मेरी सिंहल-यात्रा के समय पत्नी गर्भवती थी उसके स्मृतिपथ में यह बात उपस्थित हुई। वणिक् की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह कहने लगा—"मैंने बीस सहस्र मुद्रा में जो कविता क्रय की थी, वह आज सार्थक हुई। बीस सहस्र ही क्यों, अनेक लक्ष मुद्रा भी इन अक्षरों से तुच्छ हैं।"

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लोक-कल्याणकारी राज्य

⊙ ⊙

आज सारी दुनिया में संघर्ष की लहरें व्याप्त हो रही हैं। चाहे बड़ा राज्य हो चाहे छोटा, सभी के सिर पर किसी-न-किसी प्रकार के अशांति के बादल मँडरा रहे हैं। जो राज्य जनतन्त्र की दृष्टि से स्वतन्त्र कहे जाते हैं, वहाँ तो किसी कदर कम, किन्तु जो तानाशाही के शिकार हैं, वहाँ तो खुलेआम अराजकता का बोलबाला है। हिंसक भावनाएँ और वृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। मानवता पर विजय पाने के लिए शक्तियों की आपसी होड़ लगी हुई है। राज्यों में उलट-फेर हो रहा है। मानव जाति लोक-कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत वातावरण में उन्मुक्त होकर साँस लेने के लिए उतावली हो रही है। मानवमात्र यह अनुभव कर रहा है कि लोक-कल्याण ही मानवता का वास्तविक प्रतीक है और लोक-कल्याणकारी राज्य में ही मानवता की रक्षा हो सकती है।

लोक-कल्याणकारी राज्य का क्या अर्थ है? लोक का अर्थ है जनता, अर्थात् ऐसा राज्य जहाँ जनता का कल्याण हो। जिस राज्य में जनता के हितों का ध्यान रखकर शासन हो, वही कल्याणकारी राज्य कहा जाता है। जहाँ जनता यह अनुभव करे कि शासनसूत्र उसी के प्रतिनिधियों के हाथों में है, और उसके हितों की भली-भाँति सुरक्षा हो रही है, वही राज्य कल्याणकारी है। जहाँ समानता का वातावरण हो और मानव की मानव से न घृणा हो और न द्वेषभाव; जहाँ न ऊँच हो न नीच; ऊपर वाले नीचे की ओर और नीचे वाले ऊपर की ओर इस प्रकार सद्भावना से बढ़ें और मिलें, जहाँ दोनों का सामंजस्य, संतुलन और मेल हो; जहाँ आर्थिक दृष्टि से जीवन में एक-दूसरे के प्रति शिकायत न हो; धनी और निर्धनता का विभेद मिट जाय; जहाँ सामाजिक एकरूपता हो और स्त्री-पुरुषों के समान अधिकारों की एक भावना ; पूँजी और श्रम का सन्तुलन हो; जहाँ प्रत्येक को, मानवमात्र को, जीवन में आगे बढ़ने तथा उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त हो; जहाँ विचार-स्वतन्त्रता की कीमत समझी जाय और उस संस्कृति का प्रचलन हो, जिसका आदर्श और उद्देश्य मानवता का उत्थान, उत्कर्ष और कल्याणकारी हो, वही राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य कहलाने का अधिकारी है।

इसी प्रकार के लोक-कल्याणकारी राज्यों की एक सामूहिक कल्पना सारे संसार में फैल रही है। जिसकी भावना है कि दबे हुए को दबाया न जाय, सचमुच जो जरूरतमंद हैं, उनकी जरूरतें पूरी हों, जो गिरे हुए हैं, चाहे उसका कारण कुछ भी हो, वह ऊपर उठें और मानव तथा मानव के बीच जन्म से मरण तक जो विभेद उत्पन्न हो गया है, वह दूर किया जाय। मध्यम-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वर्गीय और ग्रामीण समुदाय का मानव लोक-कल्याण के आदर्शों की ओर दिन-प्रति-दिन संघर्ष करता हुआ सफलता की ओर अग्रसर हो रहा है।

एक बार गांधी जी से किसी ने एक प्रश्न किया कि लोक-कल्याणकारी राज्य की क्या परिभाषा है या आपकी कल्पना का लोकराज्य अथवा स्वराज्य क्या है ? गांधी जी ने उत्तर दिया—"अगर कभी इस दुनिया में रामराज्य जैसी कोई चीज थी, तो उसकी स्थापना आज भी सम्भव होनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि रामराज्य था। राम यानी पंच, पंच यानी परमेश्वर। पंच यानी लोकमत। स्वराज्य, धर्मराज्य, रामराज्य और लोक-राज्य की मेरी कल्पना एक है। वहाँ अमीर और गरीब के जीवन में एक उचित साम्य होगा। इन्सान, इन्सान का मित्र होगा; हर एक एक-दूसरे के सुख-दुःख में काम आयेगा। प्रत्येक एक-दूसरे की मदद करेगा। मालिक और मजदूर के बीच एक सन्तुलन होगा, अपनी-अपनी जरूरतें पूरी करके प्रत्येक को ग्रहण करना पड़ेगा। मेरी कल्पना का यही स्वराज्य और लोक-राज्य है।"

महात्मा गांधी के त्याग, तपस्या और बलिदान से भारत स्वतन्त्र हुआ—हिंसा से नहीं अहिंसा के द्वारा। अंग्रेज भारत छोड़ कर चले गये। आज संसार के गणतन्त्र-राज्यों में भारत भी अपना उच्च स्थान रखता है। सन् १९५० में भारतीय संविधान के अनुसार गणतन्त्र की घोषणा हुई। भारत के इस संविधान का आदर्श लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना ही है। गांधी जी ने जिस लोक-राज्य की कल्पना की थी, उसकी पूर्ति के लिए पिछले अनेक वर्षों से कार्य हो रहा है। कुछ अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई है।

भारतीय संविधान भाग ४, धारा ३८ में राज्य की नीति इस प्रकार निर्धारित की गयी है—

"राज्य ऐसी सामाजिक अवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा (लोक-कल्याण की उन्नति हेतु राज्य सामाजिक व्यवस्था बनायेगा)। धारा ३९ के अनुसार राज्य अपनी नीति का, विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) समानरूप से नर-नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का, समान कार्य के लिए समान वेतन हो, आदि।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संविधान की उक्त धाराओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका भावी लक्ष्य लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना ही है। ऐसा लोक-कल्याण जिससे जनता अधिक-से-अधिक सुखी हो और जीवन-यापन में उसे सहायता प्राप्त हो। सच तो यह है कि पिछले डेढ़-सौ वर्षों में विदेशियों की गुलामी से देश की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति का जिस प्रकार पराभव हुआ है, उसका पुनरुद्धार इतने थोड़े अर्से में कैसे हो सकता है? उसकी पूर्ति तो धीरे-ही-धीरे, धैर्य से और सक्रिय कार्यों द्वारा ही होगी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से लोक-कल्याण की दृष्टि से देश में कई क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए हैं, विशेषकर ग्रामीण जनता तथा किसानों के लिए। जमीन्दारी-उन्मूलन से किसानों को जमीन्दारों के संघर्ष से मुक्ति प्राप्त हुई। सारे देश में राजा और जमीन्दार नाम का वर्ग साधारण जीवन के मानव के साथ मिल गया है। अब न कोई राजा है, न प्रजा। जनतन्त्र के अनुसार भारतीय जनता को विभिन्न परिस्थितियों में समान अधिकार प्राप्त है। देश की आर्थिक स्थिति को अधिक-से अधिक दृढ़ और मजबूत बनाने के लिए बड़े-बड़े कारखाने खोले गये हैं और अब रेल के डिब्बे, साइकिल, मोटर आदि ऐसी-ऐसी वस्तुओं का निर्माण हो रहा है, जिससे देश का करोड़ों रुपये विदेशों में जाना बन्द हो गया है। बड़े व्यवसाय ही नहीं, कुटीर उद्योगों का भी अधिक-से-अधिक और प्रचलन किया जा रहा है। आज दैनिक जीवन में प्रतिदिन काम आने वाली कितनी उपयोगी चीजें बाजारों में बिक रही हैं और भारतीय जनता उससे लाभ उठा रही है। किसानों, श्रमिकों और बेरोजगारों के लिए ऐसे उपाय किये जा रहे हैं, जिससे उनकी आर्थिक समस्या का सुलझाव हो; आर्थिक और सामाजिक विषमता का निराकरण हो। इस प्रकार, राष्ट्र, अनेक दृष्टि से लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्शों की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

जहाँ एक ओर विधान तथा शासन-यंत्र द्वारा राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि हो रही है, वहाँ दूसरी ओर महात्मा गांधी के अनुयायी आचार्य विनोबा अपने भूदान, श्रमदान और सम्पत्तिदान आन्दोलनों के द्वारा मध्यवर्ग तथा ग्रामीणों के आर्थिक संतुलन में योगदान दे रहे हैं। आचार्य विनोबा को अपने कार्य में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। हजारों एकड़ जमीन भूदान द्वारा न जाने कितने बिना भूमि के किसानों में वितरित की गयी है। सन्त विनोबा का यह कार्य एक नैतिक स्तर पर हो रहा है। भारतीय जनता का इस ओर विशेष आकर्षण है। आचार्य विनोबा की पदयात्रा भूदान आन्दोलन को व्यापक बना रही है। भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार में आचार्य विनोबा की यह देन इतिहास में सदा अमर रहेगी। इस प्रकार, आचार्य विनोबा के आन्दोलन और कार्यों का लक्ष्य एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना है। आचार्य विनोबा भारत में विदेशीपन को अलग करने के इच्छुक हैं। आचार्य विनोबा समझते हैं कि भारत को पश्चिम की नकल नहीं करनी चाहिए। अपना स्वयं का आदर्श ही इतना ऊँचा है कि केवल उसी की रक्षा से राष्ट्र का भावी कल्याण बहुत अंशों में सफल हो सकता है।

लोक-कल्याण की भावना से सरकार और आचार्य विनोबा के योग से जो कार्य हो

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रहा है, वह राष्ट्र के लिए कल्याणकर तो है ही, साथ ही उस भविष्य की सूचना देता है, जिसका आदर्श है सामाजिक समानता, जहाँ मध्यम वर्ग और ग्रामीणों की स्थिति दृढ़ होगी और आज की सामाजिक तथा आर्थिक विषमता से उन्हें मुक्ति मिलेगी।

लोक-कल्याण की यह भावना पश्चिमी देशों में भी व्यापक रूप से फैल रही है। वहाँ भी लोक-कल्याणकारी विचारधारा प्रगति पर है। भारतीय आदर्श आज उनके भी सामने है। पश्चिमी देशों की जनता भी लोक-कल्याणकारी राज्य से ही अपने उद्धार का अनुभव कर रही है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हमारा नया वर्ष

⊙ ⊙

पाठकगण ! इस संख्या के साथ हम अपना नया वर्ष जयध्वनि और हर्षनाद के साथ आरम्भ करते हैं। कड़ी-से-कड़ी सर्दी के पीछे वसन्त आ ही गया। चारों ओर उमंग और आनन्द छा रहा है। प्रकृति ने नया रूप धारण किया है। वृक्ष नये वस्त्र पहन रहे हैं। नये उत्साह से भरे अपने पहले संग्राम में जाने वाले वीर सुकुमार के समान पुलकित और सुसज्जित, भाँति-भाँति के फूल अपनी छटा दिखा रसिकों के चित्त को मोहित कर रहे हैं। खेतों से सरसों के फूल और गेहूँ के उठते हुए पौधे किसानों के चित्त को मुदित कर रहे हैं और अकाल के विशाल और कराल गाल के भय को दूर कर उन्हें ढाढ़स दे रहे हैं कि तुम्हारी पीड़ा को शान्त करने के लिए हम आ गये हैं। भारतवर्ष के देशभक्तों के हृदय में एक नया आनन्द समा रहा है, एक नयी शक्ति के फल का वे स्वाद चख रहे हैं। बहुत समय से भारतवर्ष का बराबर पतन ही होता गया था। एक देश के पीछे दूसरा देश विदेशियों के चंगुल में आता गया और अन्त में प्रायः समस्त भारतवर्ष उनके अधिकार में चला गया। भारत का अन्न, धन, हीरा, मोती, विलायत को ढो-ढो कर जाने लगा। भारत में—उस भारत में जहाँ की सम्पत्ति और देशों के किस्से-कहानियों में और कहावतों में प्रसिद्ध थी, जहाँ के हीरे और मोतियों की आभा ने अंग्रेजों के प्रसिद्ध कवि मिल्टन की कल्पनाशक्ति को भी चकाचौंध कर दिया था, जहाँ की सभ्यता और जहाँ के धर्मपरायण लोगों की प्रशंसा भिन्न देशों के यात्रियों ने एकमत होकर की थी, जहाँ के वीर योद्धाओं के पराक्रम से तीनों लोक के पापी काँपा करते थे, जहाँ के ऋषियों के एक-एक शब्द में सेनाओं से अधिक बल था, जहाँ के तपस्वियों के तपोबल का तेज त्रैलोक को पवित्र कर रहा था—हा ! उस भारत में अकाल ने अपना पैर जमाया, पराधीनता ने विष की थैली खोली और उनका नाश करने वाला कोई न रहा। यही जान पड़ता था कि—

जिन दिन देखे वे दिवस,
गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की,
अपत कटीली डार॥

धीरे-धीरे भारतवर्ष की सुन्दर वाटिका उजड़ गयी, चम्पा, चमेली, केतकी, गुलाब, बेला और जूही की सुगन्ध पहुँचाने वाले वृक्ष मुरझा गये, बड़े-बड़े अन्धड़ों का सामना करने वाले नीम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और साखू, शीशम और बाँस भी छोटे-छोटे पौधों को छाया देने के लिए न रह गये। इनके स्थान में धतूरे दिखलायी पड़ने लगे। श्यामा, पपीहा और कोकिलों ने भी उजड़ी वाटिका छोड़ दी। मोर भी दूसरे स्थानों को उड़ गये, इनके मधुर-गान के स्थान में कौओं की काँव-काँव रह गयी। अरे भारत! क्या सदा तेरी यही गति रहेगी? क्या फिर कभी तेरा वह तेज दिखायी पड़ेगा जो हरिश्चन्द्र, नल और युधिष्ठिर के मुख पर चमकता था? क्या तेरी वह झन्कार कभी सुनायी पड़ेगी जो अर्जुन के गाण्डीव से निकल शत्रुओं के हृदय को कम्पायमान कर देती थी? क्या फिर तेरी वाटिका में धर्म, ज्ञान और वीरता के वृक्ष दिखलायी पड़ेंगे? क्या फिर तेरी प्राचीन कलाओं के पुष्प पृथ्वी मंडल को सुगन्धित करेंगे? क्या फिर सामवेद उच्चारने वाले पक्षी तेरी वाटिका में मधुर ध्वनि करेंगे? अवश्य, अवश्य!

यहि आशा अटको रह्यो
अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं बहुरि बसन्त ऋतु,
इन डारन वे फूल॥

वह देखो, वसन्त आ गया। भारतवासियों की जयध्वनि दूर देश ट्रांसवाल से आ रही है और शिक्षा दे रही है कि—"बहुत दिनों पीछे हम लोगों ने विजय का मार्ग ग्रहण किया है। आज हम कुछ अपनी-सी कर पाये हैं, वसन्त ऋतु में यह पहला फूल खिला है। उठो, इसकी सुगन्ध से अपने मुरझाये हुए चित्त को हरा करो और अपने शिथिल शरीर में बल डालो।" भारतवासियों, चेत जाओ। कोकिल तुम्हें अँगुलियों के सहारे अपनी ओर बुला रही है, जमाना देखे हुए वृक्ष सिर हिला-हिला कर तुम्हें शिक्षा दे रहे हैं—उठो, वसन्त आ गया।

'अभ्युदय' का जन्म बड़े कठिन समय में हुआ था। अपने जन्म के पहले ही वर्ष में अभ्युदय को ऐसी घटनाएँ देखनी पड़ीं जैसी कि भारतवर्ष के इतिहास में पहले देखने में नहीं आयी थीं। सन् १८५७ के बाद कोई वर्ष सन् १९०७ के समान कठिन यंत्रणाओं से भरा हुआ नहीं हुआ।

परन्तु, यद्यपि भारतवासियों को गत वर्ष बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े तथापि सन् १९०७ और १८५७ में इतनी भिन्नता थी जितनी कि प्रकाश और अन्धकार में है। हमारा गत वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। हमारा जन्म २९ जनवरी १९०७ को हुआ था। उस समय से लेकर तारीख २८ जनवरी सन् १९०८ तक देश ने भाँति-भाँति की घटनाएँ देखी हैं। सबसे पहले पंजाबी पत्र के स्वामी और सम्पादक का कारागार भेजा जाना था। इन सज्जनों के साथ जो बुरा व्यवहार जेलखाने में किया गया, उससे देश भर में क्रोध छा गया था! इनके साथ सहानुभूति करने के कारण लाहौर के पुलिसवालों ने कुछ लोगों को मारा-पीटा और इसका परिणाम यह हुआ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कि वहाँ पुलिस और लोगों में कुछ दंगा-फसाद हुआ। अंग्रेजों के चित्त में भय समा गया, उनको बलवे की और अपने बचने के उपाय की चिन्ता होने लगी।

चीफ़ कोर्ट के जज, शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर, कालिजों के प्रोफ़ेसर, वालण्टियर की सेना में साधारण सिपाही के पद पर अपने को भरती कराने लगे। नया कारतूस इन लोगों को बाँटा गया। तात्पर्य यह कि कुछ थोड़े-से लोगों के दंगा-फसाद ने अंग्रेजों में ऐसा हौलदिल पैदा कर दिया कि वे रात-दिन बलवे का स्वप्न देखने लगे। भय की अवस्था में कायर मनुष्य बड़े-बड़े अपराध करता है। इसी डर का यह परिणाम हुआ कि ४ मई को रावलपिण्डी के ६ प्रतिष्ठित वकील—तोपों और सेनाओं के बड़े समारोह के साथ—यह अपराध लगाकर पकड़े गये कि उन्होंने बलवा करने और आग लगाने में सहायता दी थी। इनकी जमानत तक नहीं स्वीकार की गयी, क्योंकि नगर के सबसे बड़े सैनिक इस बात के भय से काँप रहे थे कि यदि वे छोड़ दिये गये तो फिर बलवा हो जायगा। अन्त में ९ मई को इन बहादुर अंग्रेजों का डर इस पराकाष्ठा को पहुँचा कि लाहौर में सभाओं का होना बन्द कर दिया गया और पूजनीय लाला लाजपत राय का, बिना किसी प्रकार की जाँच के, देश-निष्कासन किया गया। ११ मई को यह बहुत अद्‌भुत और नया कानून वाइसराय साहब ने जारी किया जिससे सभाओं का होना पंजाब के उन पाँच जिलों में बन्द कर दिया गया जिन्होंने अपने ऊपर जो अत्याचार हो रहा था, उसके सम्बन्ध में मुँह खोला था। यह कानून पूरे बंगाल में भी २० मई को जारी कर दिया गया, क्योंकि वहाँ के लोगों में कुछ आत्मनिर्भरता आ चली थी। रावलपिण्डी में ४५ और मनुष्य बलवा करने के अपराध में १४ मई को पकड़े गये। परन्तु, यद्यपि लोग जेलखाने भेजे गये तो भी उन्होंने अपना कार्य कर ही लिया। गवर्नमेण्ट को लाचार होकर उस कानून को, जिसके कारण ही लोगों में द्रोह फैल गया था, २७ मई को मेटना पड़ा। यह परिणाम पंजाब के आन्दोलन का हुआ। इसी आन्दोलन के सम्बन्ध में सरदार अजीत सिंह ३ जून को पकड़े गये और मांडले जेल भेज दिये गये। अप्रैल, मई और जून में पूर्वी बंगाल में हिन्दू और मुसलमानों का आपस में बहुत झगड़ा हुआ। यह बात स्पष्ट थी कि ढाका के नवाब सलीमुल्ला इन झगड़ों में आहुति दे रहे थे और इसीलिए गवर्नमेण्ट के कृपापात्र बने और पारितोषिक के रूप में बहुत कम ब्याज पर उनको कई लाख रुपये सरकार से उधार मिल गये और उनकी रियासत बच गयी। यद्यपि यह बात विदित थी कि यह आपस की लड़ाई मुसलमानों ही की ओर से कुछ बड़े अफसरों के उसकाने पर आरम्भ हुई थी, तो भी दण्ड हिन्दुओं को दिया गया। वह मनुष्य जिसने वह लाल पत्र छपवाया था जिसमें यह खोल कर कहा गया था कि मुसलमानों को सरकार हिन्दुओं पर अत्याचार करने में सहायता दे रही है, जिसमें मुसलमानों को हिन्दुओं पर चोट करने के लिए उत्तेजना दी गयी थी, ७ जून को पकड़ा गया और तुरन्त जमानत पर छोड़ दिया गया और अन्त में, बिना किसी प्रकार का दण्ड पाये हुए, केवल मुचल्का देकर छूट गया। अदालतों का स्वतन्त्र न्याय इन उदाहरणों से बिलकुल स्पष्ट था। मद्रास में भी जून मास में बहुत असंतोष फैल रहा था। वहाँ भी राजमहेन्द्री और कोकोनड़ा में गोले और बारूद से सजी हुई पुलिस और सेनाओं का बल और प्रभाव

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दिखाया जा रहा था। सम्पादकों की ओर भी गवर्नमेण्ट की टेढ़ी दृष्टि पड़ रही थी। बगाल के 'युगान्तर' और पंजाब के 'हिन्दुस्तान' और 'इण्डिया' को बड़े दण्ड राज-विद्रोही लेखों के छापने के लिए दिये गये। 'इण्डिया' और 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकों को पाँच वर्ष का कठिन कारावास दिया गया। ऐसी कड़ी सजा, जो पुराने अपराधियों को घोर पाप के लिए दी जाती है, पहले किसी सम्पादक को नहीं दी गयी थी।

यह स्पष्ट था कि इस विषय में अदालतों ने न्याय के तराज़ को एकंगा करने का निश्चय कर लिया था। २५ जुलाई को सात बड़े प्रतिष्ठित मनुष्यों को बरीसाल में कारावास इस अपराध के लिए हुआ कि "उन्होंने विलायती नमक को नदी में बहा दिया और विलायती माल को नष्ट कर दिया जिसके कारण बाजार उखड़ गया।" ३० जुलाई को उन मनुष्यों में से, जो लाहौर के बलवे के सम्बन्ध में पकड़े गये थे, ६ को ९ मास के लिए कठिन कारावास हुआ और एक बालक को तीस बेंत मारने की आज्ञा हुई। भारतवर्ष भर में इस दण्ड से क्रोध और असन्तोष छा रहा था परन्तु फिर भी लाहौर के सेशन जज ने इन लोगों की अपील खारिज की। मुलजिम यह साफ़ दिखला रहे थे कि उनके विरुद्ध जो गवाही थी, वह या तो मुसलमानों की थी जो जाति-द्रोह से गवाही दे रहे थे, या पुलिस के सिखलाये हुए उन मनुष्यों की थी जिनका यही काम था कि वे पुलिस की ओर से गवाही दिया करें। पूर्वी बंगाल में गवर्नमेण्ट के उत्कट उपाय बराबर जारी रहे। फरीदपुर में जिले की सभा इस कारण से नहीं होने पायी कि वह स्वदेशी और गवर्नमेण्ट की करतूतों के सम्बन्ध में प्रस्ताव किया चाहती थी। 'वन्देमातरम्' पत्र पर मुकदमा चलाया गया, कलकत्ते में पुलिस के साथ उपद्रव करने के लिए कई युवकों को कठिन कारागार का दण्ड मिला, संयुक्त प्रान्त में भी एक का देश-निष्कासन होने वाला था परन्तु इस कारण से कि जाल खुल गया, वह नहीं होने पाया। हमारा निज सम्वाददाता का भेजा हुआ हाल जो 'अभ्युदय' में छपा था, उससे स्पष्ट था कि मुसलमान कर्मचारियों का ही यह जाल बिछाया हुआ था, परन्तु गवर्नमेण्ट ने उनको किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया। सितम्बर मास में 'सन्ध्या' के सम्पादक पकड़े गये और बाबू विपिनचन्द्र पाल को 'वन्देमातरम्' के मुकदमे में गवाही न देने के अपराध में ६ मास का सरल कारावास हुआ। विद्यार्थियों को पुलिस से लड़ने-भिड़ने के अपराध में दण्ड दिया गया। पाँच महीने की कठिन यंत्रणा के बाद अन्त में पहली अक्टूबर को रावलपिण्डी के छहों वकील छोड़े गये। मजिस्ट्रेट ने यह कहा कि उनके विरुद्ध कुछ भी गवाही नहीं थी और उनका फँसाया जाना अन्याय हुआ था। परन्तु उन लोगों को, जिन्होंने झूठी गवाही देकर उन प्रतिष्ठित सज्जनों को फँसाया था, किसी प्रकार का गवर्नमेण्ट की ओर से दण्ड नहीं दिया गया। दो अक्टूबर को एक सभा, जो उन बालकों के साथ सहानुभूति प्रकाश करने के लिए होने वाली थी जिन्हें पुलिस से लड़ने के अपराध में कारागार हुआ था, नहीं होने पायी। पुलिस ने मार-पीट कर सभा को नहीं होने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पुलिस से और लोगों में लड़ाई हुई। कई सज्जनों पर पुलिस ने वार किया। प्रजा की ओर से जो कमीशन जाँच के लिए नियत किया गया, उसमें यह प्रकाशित हुआ कि पुलिस ने स्वयं लड़ाई आरम्भ की और

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कई एक दूकानें लूटी थीं। २९ अक्टूबर को ऐसी घटना हुई जो भारतवर्ष के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। 'सन्ध्या' के सम्पादक बाबू ब्रह्मबान्धव उपाध्याय का देहान्त हो गया और उनके शरीर का ह्रास हुआ। उनके मृत शरीर के साथ इतने मनुष्यों की संख्या जितनी आधुनिक समय में किसी मृत शरीर के साथ नहीं गयी। यह जान पड़ता था कि सारा कलकत्ता उमड़ पड़ा है। देश भर में इनकी मृत्यु से शोक छा गया। ऐसा कोई भी मनुष्य न रहा होगा जिसने, चाहे वह बाबू ब्रह्मबान्धव के कामों के साथ सहानुभूति रखे या नहीं, उनके वीर भाव की प्रशंसा और उनकी अकाल मृत्यु पर शोक न किया हो।

पहली नवम्बर को अर्थात् उसी दिन जिस दिन सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने अपने चित्त के उदार भाव को प्रकाश करते हुए भारतवासियों से प्रतिज्ञा की कि "हिन्दुस्तानी और अंग्रेज सब बराबर समझे जायेंगे और गवर्नमेण्ट प्रजा के हित के लिए होगी", उसी दिन सन् १९०७ में भारतवासियों के स्वत्वों को दबाने के लिए लार्ड मिण्टो ने सभाओं के रोकने वाला कानून लेजिस्लेटिव कौन्सिल में पास किया और इस बात का आभास दिया कि अंग्रेज गवर्नमेण्ट प्रजा की सम्मति का कुछ भी आदर नहीं करती। लेजिस्लेटिव कौन्सिल में जितने हिन्दुस्तानी उपस्थित थे, सबों ने इस कानून के जारी किये जाने का विरोध किया था, परन्तु उनकी मर्म-भरी वक्तृताओं का कुछ भी असर न हुआ। कर्मचारियों की सम्मति से यह कानून, जिसका अन्य किसी सभ्य देश में जारी करना सरल न होता और जिसके विरोध में अन्य देशों में खून बह गया होता, तीन वर्ष के लिए जारी किया गया। लाला लाजपत राय के सम्बन्ध में अन्त में गवर्नमेण्ट ने अपनी मूर्खता और भूल देखी। लोगों के इस बात को पुकार-पुकार कर कहने पर—कि जब लाला लाजपत राय पर किसी प्रकार का दोष न हो तो गवर्नमेण्ट किसी प्रकार का दोष न लगावे—जनवरी मास में नये और पुराने दलों में इस बात का वाद-विवाद होता रहा कि कांग्रेस में झगड़ा करने का दोष किस प्रकार है। इसके सम्बन्ध में हम अपने निज सम्वाददाता का पत्र छाप चुके हैं जिसमें सही-सही जो बातें उन्होंने अपने आँखों से देखी और कानों से सुनी, दी गयी हैं। इसी मास वृद्ध मौलवी लियाकत हुसेन को, जिनके ऊपर गवर्नमेण्ट की बहुत दिनों से दृष्टि थी, राज-विद्रोह के लिए तीन वर्ष का कठिन कारावास दिया गया। यह हमारे गत वर्ष का संक्षिप्त इतिहास है। इसमें सबसे बड़ी बात जो आँख के सामने आती है, वह यह है कि गवर्नमेण्ट का उत्कट उपायों का प्रयोग करना। इन उपायों का जो फर्ज हुआ है, वह भी स्पष्ट है। इन उपायों से शान्ति के स्थान में अशान्ति बढ़ती ही गयी; जितना अधिक प्रजा को कष्ट पहुँचा उतना ही उनके विचारों और लेखों में कड़वापन आता गया। आपत्ति पड़ने पर प्रायः बुरे-से-बुरे मनुष्य का चित्त ईश्वर और भलाई की ओर झुकने लगता है। आपत्ति ने दुर्व्यसनी मनुष्यों में भी वैराग्य और ईश्वर-भक्ति उत्पन्न कर दी है। हमारे ऊपर भी कष्ट-पर-कष्ट पड़ने का एक अच्छा परिणाम यह हुआ है कि हममें जातीयता और देशभक्ति का भाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यत्न किया है कि जो 'अभ्युदय' को पहली संख्या में लिखे गये थे, हम उन्हीं उद्देश्यों में विश्वास करते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसी सुबुद्धि, धैर्य, दृढ़ता और निर्भयता और आशा दिखाता रहे कि अब हमारे देश के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अच्छे दिन दूर न रहें। हमने भी बराबर उन उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास किया है। दिल्ली जेल में १९३१ में पूज्य मालवीय जी के सामने और पहिले से भी अधिक कार्य करने की आज्ञा में दृढ़—हम वसन्त के शुभागमन के साथ अपने दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं कि हम अपने पाठकों के चित्त में देशभक्ति और आत्मनिर्भरता के भाव उत्पन्न कर कल्याण का मार्ग दिखा सकें।

—'अभ्युदय', वसन्त पञ्चमी, १९०८

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

धन और उसका उपयोग

⊙⊙

विचार यह उठता है कि धन है क्या वस्तु? किसी साधारण मनुष्य से पूछिए तो वह यही उत्तर देगा कि धन के अर्थ हैं—रुपया, पैसा, मोहर, सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि। फिर उससे पूछा जाय कि क्यों जी, इन्हीं पदार्थों को धन क्यों कहते हैं? क्या तुम्हारे घर की और वस्तुएँ धन नहीं हैं? तो कदाचित् वह यह कहेगा—"हाँ, एक प्रकार से वे भी धन हैं, परन्तु विशेषकर धन इन्हीं पदार्थों को कहते हैं, क्योंकि साधारण रीति से इनके ही द्वारा हम अन्य वस्तुओं को ले सकते हैं।" यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के अनुसार युक्तिपूर्वक धन की परिभाषा वह मनुष्य न दे सके, तथापि वह यह जानता है कि धन उसी को कहते हैं, जिसको देकर उसके बदले कोई पदार्थ मिल सके। वास्तव में धन व सम्पत्ति के अर्थ बहुत बड़े हैं और इन शब्दों से उन समग्र पदार्थों का बोध होता है, जिनसे मनुष्य की इच्छाओं को पूरा करने का साधन प्राप्त होता है और जिनके बदले में मनुष्य अन्य पदार्थों को दूसरों से पा सकता है, अर्थात्, 'धन' से उन सब पदार्थों का बोध होता है, जिनके द्वारा मनुष्य औरों की शक्ति को व उनकी शक्ति के फल को अपने काम में ला सके। परन्तु साधारण बोलचाल में 'धन' और 'धन' की माप के पदार्थ व सिक्कों में अन्तर नहीं किया जाता। मनुष्य धन की इच्छा केवल इस प्रयोजन से करता है कि वह ऐसा मन्त्र है, जिसको सिद्ध कर अपने पास रखने से मनुष्य औरों की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश में कर सकता है और जिस प्रकार मंत्र की सिद्धि, यदि उससे काम न लिया जाय तो व्यर्थ है, उसी प्रकार धन का उपार्जन करना व्यर्थ है, यदि उसके द्वारा काम न लिया जाय। वास्तव में, सोना या चाँदी में स्वयं मनुष्य की इच्छाओं को पूरा करने का सामर्थ्य नहीं है। वे केवल अन्य पदार्थों के समान पञ्चभौतिक पदार्थ हैं और उन पदार्थों में भी उस श्रेणी के नहीं हैं, जो मनुष्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक और लाभदायक है। किन्तु जिस प्रकार से मेसमेरिज़म करने वाला (अर्थात् अपने चैतन्य से दूसरे के चैतन्य पर प्रभाव डालने वाला) एक अज्ञात बालक में अपनी शक्ति के द्वारा वह शक्ति उत्पन्न कर देता है, जो स्वयं उस मनुष्य में नहीं है, और ऐसी अद्भुत बातें कहला देता है, जो वह स्वयं नहीं कर सकता। इसी प्रकार बहुत काल से मनुष्य-मात्र की एकत्रित शक्ति ने मिलकर इन धातुओं को वह शक्ति प्रदान कर दी है, जो वास्तव में उन धातुओं में नहीं है और मनुष्य उनसे वह काम करा लेता है, जो वह साधारण दशा में स्वयं नहीं कर सकता। जिस प्रकार से मेसमेरिज़म के लिए कोई बालक या पुरुष औरों की अपेक्षा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विशेष उपयुक्त होते हैं, उसी प्रकार सोना, चाँदी, हीरा, मोती इत्यादि पदार्थों में विशेष कारणों से मनुष्य ने यह शक्ति दे दी है कि ये जहाँ जाते हैं, उन्हें सब कोई चाहता है और उनके बदले में सब प्रकार के पदार्थ मिल सकते हैं और व्यावहारिक काम हो सकते हैं, अर्थात् उन धातुओं में कुछ गुण ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य को यह सुविधा होती है कि उन्हें अपने व्यवहार का द्वार बना ले।

हमारी प्राचीन पुस्तकों से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में 'गो-वंश' से वह काम लिया जाता था जो आजकल सोना और चाँदी कर रहे हैं। अर्थात् मनुष्य की सम्पत्ति की माप गो-वंश के संकेत से की जाती थी। अब भी भारतवर्ष के उन कोनों और कन्दराओं में, जहाँ उस सभ्यता का असर नहीं है जिसमें हम और आप रह रहे हैं, और कुछ अंश तक हमारे सब ही ग्रामों में मनुष्य के धन की गणना उसके 'ढोर' (गाय, भैंस इत्यादि) से की जाती है और अन्य पदार्थों का मूल्य गाय और भैंस की तुलना से किया जाता है। योरप के देशों में भी उस समय के पश्चात्, जब मनुष्य केवल आखेट से निर्वाह करता था, जब लोगों ने कृषि-कार्य सीखा, तब वहाँ भी गाय, बैल, बकरी इत्यादि पशुगण ही 'धन' समझे जाते थे। यूनानी कवि होमर के काव्य से स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके समय में अन्य पदार्थों का मूल्य 'गो-वंश' की तुलना से किया जाता था, जैसे वीरों के शस्त्रों के मूल्य ९ बैल, २० बैल, १०० बैल—इस प्रकार के बतलाये गये हैं। एक दासी का मूल्य ४ बैल कहा गया है, इत्यादि। पारसियों के पवित्र ग्रन्थ 'जेन्द अवेस्ता' से भी इसी परिपाटी का प्रमाण मिलता है।

कहीं-कहीं, जहाँ दासों का व्यापार होता है और उनके साथ पशुओं का-सा व्यवहार किया जाता है, उनकी संख्या से अन्य पदार्थों के मूल्य की गणना की जाती है। इसी प्रकार वे पदार्थ भी, जिन्हें मनुष्य ने शोभा की वस्तु समझा है, सदा से धन का काम देते आये हैं। हमारे यहाँ 'कौड़ी' की गणना अब भी प्रचलित है। फीजी टापू के रहने वालों में ह्वेल के दाँतों से यही काम लिया जाता था। तेल, तमाखू, नमक, अन्न और इसी प्रकार के बहुत-से पदार्थों ने भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न समय में वही काम किया है, जो आजकल हम चाँदी, सोने से ले रहे हैं। ऐसा भी सन्देह होता है कि कभी कहीं-कहीं लकड़ी के सिक्के चले हैं।

थोड़ा-बहुत विचार प्रत्येक मनुष्य को इस बात का रहता है कि वह अपने धन से अधिक-से-अधिक लाभ किस प्रकार उठाये और जितना ही अधिक विचार इस विषय पर मनुष्य करता है, उतना ही अधिक वह अपने धन से सुख उठाता है। तो विचार इस समय यही है कि मनुष्य-मात्र किस प्रकार से अपने धन का उपयोग करे, जिससे अधिक-से-अधिक सुख होने की सम्भावना हो? इस विचार में भी दो शाखाएँ उपस्थित होती हैं—एक तो प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने अधिक-से-अधिक सुख की सम्भावना, और दूसरे, मनुष्य जाति के अधिक-से-अधिक सुख की सम्भावना। दूसरा विचार बहुत सूक्ष्म है। एक मनुष्य के कर्मों का असर दूसरे पर किस प्रकार से पड़ता है, एक मनुष्य के थोड़े सुख में दूसरे मनुष्यों का कितना असीम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सुख नाश होता है, एक मनुष्य के थोड़े-से सुख छोड़ने से संसार में उस थोड़े सुख की अपेक्षा कितना गुना सुख उत्पन्न होता है, यह बहुत ही रोचक और विचार-योग्य विषय है, परन्तु इतना सूक्ष्म है कि उसको यहाँ पर नहीं उठायेंगे। यहाँ केवल इस बात की ओर हम ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही अधिक-से-अधिक सुख के लिए व उनके सुख के लिए जिनका सुख वह चाहता है, किस प्रकार धन का उपयोग करना उचित है?

सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य को भोजन की है। आदिकाल से लेकर आज तक सबसे पहला उद्योग मनुष्य को इसी के लिए करना पड़ता है। क्या उस काल में जब मनुष्य केवल आखेट के सहारे रहता था, क्या उस समय जब वह केवल खेती, फल और पशुओं के दूध के ऊपर निर्भर रहता था, क्या आजकल जब वह इन कामों के साथ ही सहस्रों प्रकार के काम करता है, सबसे पहला ध्यान उसका अपने शरीर के पालन की ओर रहता है? यह इच्छा छोटे बच्चों से बूढ़े तक में प्रकृति की ही प्रविष्ट की हुई है और सृष्टि की स्थिति इसी के ऊपर निर्भर है। इसी से, सबसे पहला सुख जो मनुष्य-मात्र अनुभव करता है, इसी आवश्यकता के पूरी करने में होता है और इस कारण धन का पहला उपयोग प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी कार्य के निमित्त उचित है। परन्तु यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि धन की उपयोगिता उसी भोजन के लिए व्यय होने में है, जिससे शरीर का पालन और उसकी पुष्टि हो, क्योंकि शारीरिक सुख इसी में है कि शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे। वह भोजन, जो प्रायः केवल जिह्वा के स्वाद के लिए अथवा इन्द्रियों को प्रबल करने के लिए किया जाता है, वास्तव में सुखदायी नहीं है। उसमें क्षणमात्र का सुख हो, परन्तु उससे यदि शरीर या बुद्धि को हानि पहुँची, तो प्रत्यक्ष है कि वह सुखदायी नहीं हो सकता। इससे भोजन के निमित्त धन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता उसी में है, जिससे शरीर का पालन हो, शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़े। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक का भोजन उसके कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने वाले योगियों का भोजन वही नहीं हो सकता, जो अपने देश की रक्षा करने वाले और संग्राम में लड़ने वाले सिपाही का। परन्तु यह सिद्धान्त अवश्य प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसके भोजन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता उस प्रकार के खाद्य पदार्थों में है, जो उसके उस कर्म में सहायक हो, जो उसका उद्देश्य है।

दूसरी आवश्यकता मनुष्य को व्यवहार के अनुसार कपड़े पहनने की होती है। वस्त्र के सम्बन्ध में इस बात का कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता कि किस मनुष्य को किस वस्त्र में धन लगाने से अधिक सुख मिलता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी दशा के अनुसार वस्त्र पहनने पड़ते हैं, परन्तु धन अधिक-से-अधिक सुख लेने के लिए कहाँ तक वस्त्रों में लग सकता है, इसकी सीमा अवश्य होती है, और सीमा मेरे विचार में यह है कि वस्त्रों से शरीर स्वस्थ रहे और उन्हें देखकर चित्त में प्रसन्नता हो, उनके कारण चित्त में कभी ग्लानि न उत्पन्न हो और उस मण्डली के लोग, जिसमें वह मनुष्य रहता है, पहनने वाले वस्त्र पर आक्षेप कर उसके चित्त को मलिन न करें। इसमें सन्देह नहीं कि इस सीमा के परे होकर भी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मनुष्य धन के द्वारा सुख उठा सकता है। परन्तु वह धन का सबसे अच्छा उपयोग नहीं होगा, क्योंकि वही धन उसी मनुष्य के और कामों में लगकर अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है।

तीसरी आवश्यकता मनुष्य की यह है कि कोई ऐसी कारीगरी, हुनर अथवा व्यवसाय सीखे और करे, जिससे भोजन और वस्त्र की आवश्यकताएँ तथा अन्य स्वाभाविक इच्छाएँ पूरी हो सकें, अर्थात् जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार धनोपार्जन हो। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उस व्यवस्था के सीखने और उसकी सामग्री इकट्ठा करने में धन का लगना बहुत ही उपयोगी और सुख का बढ़ाने वाला है।

पूर्वोक्त शारीरिक इच्छाओं में और इन इच्छाओं को पूरा करने के लिए धन पैदा करने के यत्न में धन लगाने के पीछे मानसिक इच्छाओं को पूरा करने की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य और पशु में यही समानता और अन्तर है कि कुछ दूर तक तो दोनों के कर्म एक ही हैं, अर्थात् सबसे पहले दोनों की शारीरिक इच्छाओं को पूरा करने की आवश्यकता रहती है। इन इच्छाओं को पूरा करने में ही पशुओं की तृप्ति और उसका सुख है, परन्तु मनुष्य की अर्थात् साधारण मनुष्य की और उनकी नहीं जिनमें और पशुओं में केवल सूरत ही का भेद है—तृप्ति शारीरिक इच्छाओं को पूरा करके नहीं होती। मनुष्य प्रकृति की अद्भुत कारीगरी को देखता है और स्वभाव से उसके चित्त में प्रश्न उठते हैं—"यह क्या है? यह किस प्रकार होता है?" ज्ञान की जिज्ञासा मनुष्य-मात्र का लक्षण है और इस जिज्ञासा के पूरा करने में जो आनन्द होता है, वह शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थायी होता है। इसलिए इस जिज्ञासा को पुस्तकों अथवा गुरु-शिक्षा अथवा अपनी विचार-शक्ति द्वारा पूरा करना मनुष्य का चौथा कर्म है, और उसमें धन लगाना धन की चौथी उपयोगिता है।

शरीर को अच्छा, स्वस्थ रखने के लिए भोजन और कपड़े के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अंगों को काम में लाने के लिए व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है और वह इस कारण से कि शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक उसका शरीर के ऊपर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे शारीरिक आमोद-प्रमोद में धन लगाना पड़ता है, जिनसे शरीर को लाभ हो और मन को भी प्रसन्नता हो। जिस प्रकार से केवल भोजन और कपड़े से शारीरिक आवश्यकता समाप्त नहीं होती वरञ्च और आनन्द देने वाले खेलों की खोज होती है, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त भी मानसिक खेलों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् जिनमें कुछ बुद्धि का काम हो, परन्तु बुद्धि को अधिक कष्ट करने की आवश्यकता न पड़े। कभी-कभी शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्यों के लिए एक ही कर्म उपयोगी होता है। जैसे, पहाड़ पर अथवा नदी किनारे पर्यटन करना, इससे शरीर को लाभ होता है, परन्तु उसके साथ ही मन में भी अनेक कल्पनाएँ उठती हैं और उनमें मग्न होकर मन को आनन्द मिलता है और कठिन मानसिक परिश्रम से जो मानसिक थकावट होती है, वह दूर हो जाती है। परन्तु बहुत-से ऐसे मानसिक आनन्द की वस्तुएँ होती हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध मन और बुद्धि से है, जैसे संगीत, कविता, चित्रकारी इत्यादि। इन मानसिक स्वास्थ्य के पदार्थों में जो सुख मिलता है, वह शारीरिक स्वास्थ्य के द्वारा जो सुख

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मिलता है, उससे कहीं अधिक बढ़कर और स्थायी होता है, उसी प्रकार जैसे मानसिक भोजन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने में (जिसको हमने चौथी आवश्यकता बतलायी है) जो आनन्द मिलता है, वह उस आनन्द से बढ़कर और स्थायी होता है, जो शरीर की रक्षा के निमित्त भोजन करने में होता है। सारांश यह कि शारीरिक और मानसिक आनन्द-प्रमोद मनुष्य की पाँचवीं आवश्यकता है और इसमें धन लगाना उपयोगी है।

उपर्युक्त धन के उपयोगों में सब ऐसे हैं, जिनमें धन नष्ट (बुरे अर्थ में नहीं, किन्तु केवल काम में आकर न रह जाने के अर्थ में) होता है और जैसा हम कह आये हैं, धन इसीलिए है और उसका सुख इसी में है कि उसे 'नष्ट' यानी खर्च या व्यय किया जाय। परन्तु धन खर्च होने के लिए धन की स्थिति चाहिए—अर्थात् धन का उपार्जन चाहिए। इसी कारण धन के उपार्जन में धन लगाने को हमने धन का तीसरा उपयोग बतलाया है। यदि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य और अपनी स्थिति रख सकता, तो पूर्वोक्त तीसरी उपयोगिता में एक बार धन लगा कर कदाचित् वह निश्चिन्त हो जाता और आवश्यकता के अनुसार धन पैदा कर अपने काम किया करता, परन्तु वास्तव में मनुष्य के स्वास्थ्य अथवा उसकी आयु के सम्बन्ध में स्थिरता नहीं है। आज मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है और वह शक्तिवान् है तो धन उपार्जन के लिए परिश्रम कर सकता है। कल रोगग्रस्त है, बुढ़ापा आ गया, कठिन परिश्रम की शक्ति नहीं रह गयी, परन्तु आवश्यकताएँ वैसी ही हैं। अपने लिए और कुटुम्ब के लिए धन अवश्य चाहिए। इस कारण जिस समय मनुष्य परिश्रम कर धनोपार्जन कर सकता है, उसके धन का छठा उपयोग धन का इकट्ठा करना है। ऊपर कहे हुए पाँचों उपयोगों का सम्बन्ध न केवल अपने से ही है, वरन् उनसे भी है, जिनके सुख से मनुष्य सुखी होता है और जिनका पालन वह अपना धर्म समझता है।

धन का ऐसा उपयोग कि जिसमें उसकी आवश्यकता पड़ने पर और उपार्जन के अभाव में, दुःख न हो, सुख का बढ़ाने वाला है और कुछ अंश तक आवश्यक भी है—परन्तु जिस प्रकार से अन्य आवश्यकताओं में धन की उपयोगिता की प्रत्येक पुरुष के लिए अवस्था-भेदानुसार सीमा है, उसी प्रकार धन के इकट्ठा करने में अथवा इस नीयत से उसको कहीं लगाने में जिसमें आवश्यकता के समय मिल जाये धन की उपयोगिता की सीमा है।

अब देखना है कि किस सीमा तक धन इकट्ठा कर मनुष्य किस प्रकार से अपनी आवश्यकताओं से बचने वाले धन को लगावे, जिसमें उसको सबसे अधिक सुख हो? जब कोई मनुष्य धन इकट्ठा करने की इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब प्रायः यह देखा जायगा कि वह आगे अपने पास बचने वाले धन के कुछ अंश को उपर्युक्त आवश्यकताओं में से ऐसे कार्यों में लगावेगा जो बिना हानिकारक हुए और सुख पहुँचाते हुए बढ़ाये जा सकते हैं, जैसे विद्या के उपार्जन में। परन्तु बचने वाले धन का बहुत थोड़ा अंश प्रायः इस प्रकार वह लगा सकेगा। शेष की उपयोगिता इसी में होगी कि वह अन्य मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरी करने में लगाया जाय। इस प्रकार धन लगाने में एक ऐसा अकथनीय आनन्द होता है, जिसका स्वाद साधारण रीति से प्रायः सब ही मनुष्य जानते हैं, किन्तु अच्छे प्रकार से सहृदय पुरुष ही उसका

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सुख उठा सकते हैं। वास्तव में मनुष्य की सातवीं आवश्यकता यह है कि वह अन्य लोगों के सुख के लिए यत्न करे और धन की भी बहुत बड़ी उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए इसी में है कि वह एक सीमा के परे, दूसरों के लाभ और सुख के लिए अपना धन लगावे और इस प्रकार से स्वयं धन के द्वारा सुख प्राप्त करे।

यहाँ पर मैंने जो कुछ लिखा है वह केवल स्वार्थ अर्थात् अपने सुख के भाव से है--धर्म और पुण्य के विचार से उसका सम्बन्ध नहीं। और न महान् पुरुषों की शैली की मैंने व्याख्या की है, क्योंकि ऐसे पुरुषों के हृदयों में 'अपने' सुख का विचार नहीं होता। वहाँ धन की अधिक-से-अधिक उपयोगिता देश व संसार के सुख के भाव से देखी जाती है। महान् पुरुषों के हृदय दूसरों के दुःख को देख ही नहीं सकते। यदि उनके पास दूसरों के दुःख को दूर करने की कोई शक्ति है तो वे 'अपना' आगा-पीछा नहीं देखते, वे 'अपनी' आवश्यकताओं का ब्यौरा नहीं फैलाते। उनको आनन्द इसी में आता कि वे दूसरों की सहायता कर सकें और औरों को सुखी देखने ही में उनका सुख है। साधारण लोग भी थोड़ा-बहुत इस सुख का कभी-कभी अनुभव करते हैं।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बाल-विवाह और विधवाएँ

⊙

'चाँद' के सम्पादक महोदय ने विधवा-विवाह प्रश्न पर मेरी सम्मति माँगी है। उनकी आज्ञा का पालन मैं बहुत थोड़े शब्दों में करना चाहता हूँ। मैं सिद्धान्त रूप से विधवा-विवाह का पक्षपाती नहीं हूँ किन्तु सम्भव है कि कुछ अवस्थाओं में आपेक्षिक कर्म की दृष्टि से मैं ऐसे विवाह का विरोध न करूँ। मेरी यह धारणा है कि आर्य सभ्यता और साहित्य का एक मूल अंश पातिव्रत धर्म है और हिन्दू स्त्री का पातिव्रत धर्म केवल इसी संसार में समाप्त नहीं होता वरन् उसकी डोर अन्य लोकों से लगी है। उच्च पातिव्रत धर्म और विधवा-विवाह, जहाँ तक मेरी बुद्धि दौड़ती है, एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस कारण से स्पष्ट है कि मैं विधवा-विवाह को आदर की दृष्टि से नहीं देख सकता।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि विधवा-विवाह का प्रश्न केवल इस कारण से इतना प्रबल रूप धारण करता है कि हिन्दुओं में छोटी अवस्था में विवाह की शास्त्र-विरुद्ध प्रणाली चल पड़ी है। जो जाति विधवा-विवाह का विरोध करती है, वह आत्म-रक्षा के विचार से कदापि बाल-विवाह की पोषक नहीं हो सकती। हमारे यहाँ एक ओर विधवा-विवाह का विरोध दूसरी ओर बाल-विवाह का समर्थन! यह पूर्ण रीति से इस बात का द्योतक है कि बहुत दिनों से हिन्दू जाति की बुद्धि और कल्पना शक्ति नष्ट हो गयी है। जो लोग कुछ भी जीव-विज्ञान जानते हैं वे इस बात से परिचित हैं कि मनुष्य-मात्र में सबसे अधिक मृत्यु बालकपन में और अधेड़ अवस्था को पार करने के बाद हुआ करती है और सबसे कम मृत्यु लगभग अट्ठारह और पच्चीस वर्ष के भीतर के युवकों में होती है। ऐसी दशा में बुद्धि यही कहती है कि विवाह उस समय किया जाय जब मृत्यु का भय कम-से-कम है, अर्थात्, युवावस्था में। जितनी ही छोटी अवस्था में विवाह होता है उतनी ही मृत्यु की आशंका अधिक है, इस सार्वभौमिक सिद्धान्त से हमारा विवाह सम्बन्धी कर्तव्य निश्चित रूप से प्रकट है। यदि हम इसकी अवहेलना करें और फिर अपने भाग्य को रोवें तो इसमें हमारी बुद्धि का ही दोष है।

मृत्यु की आपेक्षिक सम्भावना को छोड़कर भी बाल-विवाह अन्य कारणों से अनावश्यक और निन्दनीय है किन्तु उन कारणों की चर्चा न कर केवल विधवाओं की संख्या बिलकुल घटा देने के विचार को ही यदि हम सामने रखें, तो बाल-विवाह की पाप-प्रथा को रोकना ही विधवा-विवाह करने की अपेक्षा हमारा अधिक महत्त्व का कर्तव्य सिद्ध होता है। विधवाओं के प्रश्न की जटिलता इसी कारण से बढ़ जाती है कि वे अधिकांश ऐसी अवस्था में विधवा होती

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हैं जब दाम्पत्य-प्रेम और सुख का सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त होता और पति की ओर श्रद्धा का बीज अंकुरित भी नहीं होने पाता। ऐसी दशा में युवावस्था प्राप्त करने पर कुमार्ग में जाने की सम्भावना अधिक हो जाती है और इसी बुराई को रोकने के लिए विधवा-विवाह का प्रश्न उठता है। उस स्त्री के सम्बन्ध में जो चार-पाँच वर्ष भी अपने पति के साथ रह लेती है और तब अकस्मात् विधवा होती है, विधवा-विवाह का प्रश्न उसके पक्षपाती भी प्रायः नहीं उठाते, क्योंकि वह समझते हैं कि स्त्री के लिए उस पति की स्मृति, जिसके साथ उसने कुछ दिन भी दाम्पत्य-प्रेम का आनन्द उठाया है, संसार-यात्रा के लिए बहुत सहारा देने वाली होती है। और यदि इस प्रेम के बन्धन को दृढ़ करने वाली कोई सन्तान उत्पन्न हो गयी (जिसकी अधिक सम्भावना युवावस्था में विवाह करने में होती है) तो स्त्री के पास विधवा हो जाने पर भी, एक बड़ी शक्ति कुमार्ग से बचने के लिए हो जाती है। कोई समाज-सुधारक ऐसी विधवा के पुनः विवाह करने का पोषक न होगा। सारांश यह है कि मुझे तो बिना तनिक भी सन्देह के यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज में समाज-सुधार का काम करने वालों के लिए बाल-विवाह की प्रथा को रोकना विधवा-विवाह के प्रचार की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व का प्रश्न है। पहले प्रश्न के हल कर लेने पर दूसरा प्रश्न रह ही नहीं जाता। बाल-विवाह को रोकना, युवावस्था में विवाह करना, यह हमारी सभ्यता और मर्यादा के अनुकूल है। इसके विरुद्ध जो दन्तकथाएँ (विशेषकर छोटी कन्याओं के विवाह के सम्बन्ध में) चल पड़ी हैं, वे सरलता से काटी जा सकती हैं किन्तु विधवा-विवाह का प्रचार, हमारी सभ्यता, हमारे साहित्य और हमारे समाज संघटन के मुख्य आधार, पातिव्रत धर्म के प्रतिकूल है।

---

* यह लेख राजर्षि टण्डन जी ने अप्रैल, १९२३ ई० में 'चाँद' मासिक पत्रिका के सम्पादक के विशेष आग्रह पर लिखा था। उस समय बाल-विवाह और विधवाओं की समस्या पर एक सामाजिक आन्दोलन चल रहा था। टण्डन जी के महत्त्वपूर्ण विचार संग्रहणीय हैं क्योंकि यह उस समय के मानसिक भाव को व्यक्त करते हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

॥ महापुरुष ॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लौह पुरुष पटेल*

⊙

सरदार वल्लभ भाई पटेल को समझने के लिए जिनको अंग्रेज़ी में कभी-कभी भारत का 'लौह नर' कहा जाता है, उनको अंतरंग रूप से जानना आवश्यक है।

उन्हें केवल देखने भर की आवश्यकता है। उनके विस्तृत ओष्ठ, उनका दृढ़ चेहरा और उनकी विशाल आँखें आप में एक दहशत पैदा करती हैं। वे बहुत अधिक बातें नहीं समझाते। वे बहुत बहस भी नहीं करते। वे आपकी बात सुनते हैं, एक परिणाम पर पहुँचते हैं और कुछ कर दिखाते हैं। उनका शारीरिक गठन उनकी शक्ति का परिचायक है। "ऊँची ठोंड़ी की हड्डियों के ऊपर सुस्थिर मुँह और जबड़ों की गहरी रेखाएँ मनीषी नहीं बल्कि कर्मठ व्यक्ति के लक्षण हैं। उनकी भारी पलकों वाली आँखें कुछ गोपनीयता का संकेत करती हैं। यह एक ऐसा मनुष्य है जो अपने हृदय को अपने कन्धों पर लटका कर नहीं चलता।" अगर आप उनको कुछ देर तक देखें तो आप पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का रोब छा जाता है। वे अपनी उपस्थिति मात्र से आप में विश्वास और हिम्मत पैदा करते हैं। "उनके चेहरे के भाव पर कर्मठता छायी हुई रहती है—लेनिन और तिलक के चेहरों का एक अजीब सम्मिश्रण-सा नारी के कुचों की-सी अवज्ञापूर्ण ऊँची बनावट समझौता न करने वाले मुँह तक चली जाती है।" आपको तुरन्त ऐसा आभास होता है कि विपत्ति काल में आप नेतृत्व और साहस के लिए उनका मुँह ताक सकते हैं। अगर आप स्वयं एक नेता नहीं हैं तो आपका जी करता है कि फौरन उनको अपना नेता चुन लें।

बम्बई में सन् १९४२ के अगस्त में जब ऐतिहासिक "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पर बहस चल रही थी मैंने पटेल को अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ़ आग उगलते हुए, व्यंग्य, भर्त्सना और हिकारत बरसाते हुए देखा और सुना। मेरे बगल में, पत्रकारों के पक्ष में, कुछ विदेशी संवाददाता बैठे हुए थे, जो इस देश में नवागन्तुक थे और उनको बड़ा विस्मय हो रहा था कि श्रोतागणों से पटेल कितना गरजता हुआ अनुमोदन पा रहे थे। उनमें से एक ने यह पूछ कर हमको

---

* पटेल अभिनन्दन ग्रंथ (राजनीतिक स्मृति ग्रंथ) : माननीय सरदार वल्लभ भाई पटेल की ७८वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में प्रकाशित, भूमिका लेखक—राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, संपादक—ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' (प्रधान संपादक देशदूत), प्रकाशक—भृगुराज भार्गव, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ (पृष्ठ ४५-४८)।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विस्मित किया—"जनता इन पर इतने जोर-जोर से ताली क्यों बजा रही है? क्या यही मिस्टर गांधी हैं?" उस विदेशी संवाददाता को बतलाया गया कि वे गांधी नहीं, पटेल हैं। "ठीक, ठीक, अब मैं समझा यही वह आदमी है, जो निर्दयता के साथ पार्टी का संचालन करता है और जिसका जॉन गन्थर ने जिम फार्ले कहकर वर्णन किया है।"

"जी आप ठीक समझे"। मैंने उत्तर दिया।

पटेल ने पार्टी के निर्दय नेता और लगनपूर्ण संगठनकर्ता की ख्याति प्राप्त कर ली है। भारत और विदेश में भी उनका केवल नाम लेने से दृढ़ता और निर्दयता का संकेत लोगों में हो जाता है। यह उनको थोड़ा-सा अप्रिय (Unpopular) बनाता है क्योंकि कई लोगों को संयमन कष्टदायक प्रतीत होता है और जब एक व्यक्ति संयम को माँगता है और उसको जबर्दस्ती पा लेता है तो वह घृणा और अप्रियता का प्रतीक हो जाता है। सरदार की अप्रियता लोगों में उस समय चरम सीमा में थी जब उसने नारीमैन और खरे को निकाल डाला और जब उसने सुभाषचन्द्र बोस का विरोध किया। यदि उस समय वोट ली जाती तो शायद पटेल को लोग सबसे अधिक अप्रिय और सबसे अधिक घृणित करार कर देते। पर बाद की घटनाओं और इतिहास ने उनको सही साबित किया। सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश (वर्किंग कमेटी) कार्य-कारिणी समिति के जिन कामों को लोग नापसन्द करते हैं उन सब का दोष सरदार पटेल पाते हैं। एक बार एक पत्रकार ने सरदार से कहा, "आपको लोग फासिस्ट कहते हैं, इस विषय में आपको क्या कहना है?" सरदार ने उत्तर दिया, "हाँ, मैं फासिस्ट कहलाता हूँ। मुझे यह मालूम है। पार्लियामेण्टरी बोर्ड के अधिनायक की हैसियत से सार्वजनिक आक्रमण का लक्ष्य मैं ही हूँ। मुझको सब चीज समझाने दीजिए। मेरे हाथ में तमाम देश भर में चुनाव के लिए कांग्रेस के उम्मीदवारों को खड़ा करने की ताकत है। और, आप हर किसी को खुश नहीं कर सकते। एक आदमी को छाँटने के अवसर के मानी हैं, कई आदमियों को अप्रसन्न करना। पर किसी-न-किसी को छाँटना पड़ता है और वह छाँटा जाता है। और तब क्या होता है? वल्लभ भाई ने यह कर दिया और वह कर दिया। वे फौरन दोषारोपण करने लगते हैं। परिणाम क्या होता है? वल्लभ भाई के विरोधी गुट यहाँ-वहाँ और सब जगह बनने लगते हैं। इसको सौगुना कर दीजिए और आपको सारे देश में वल्लभ भाई की विरोधी भावना की एक लहर मिलती है। पर, इसको रोका नहीं जा सकता।"

पटेल का खुरदरा, बेमुलायम और करीब-करीब खूँख्वार बाह्य आवरण आप पर ऐसा प्रभाव डालता है कि मानो वे बिल्कुल हृदयहीन हैं और मानवी भावनाओं का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह कठोर व्यक्ति, जो यह जानता है कि काम कैसे करवाये जाते हैं और उनको कृपारहित होकर करता है, अपना एक बहुत कोमल अभ्यन्तर छिपाये हुए है। जो उसको जानते हैं वे बतलाते हैं कि वह बहुत दयावान् मनुष्य है और मौका पड़ने पर बहुत कोमल हृदय प्रदर्शित करता है। उनसे बढ़कर अधिक मित्रपरायण और भरोसा करने लायक साथी पाना मुश्किल है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कई साल पहले, मैंने उनको स्वराज-भवन में आचार्य कृपलानी के निवास-स्थान में खड़े देखा। वहाँ वे कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक में शामिल होने के लिए गये थे और कृपलानी जी के अतिथि थे। कुछ विद्यार्थी उनको एक सभा में भाषण देने के लिए आमन्त्रित करने को गये। वे बोले, "आप जानते ही हैं मैं लोकप्रिय नेता नहीं हूँ, आप मुझे क्यों बुलाते हैं? मैं आप लोगों की सभा में जाऊँगा और कुछ कठोर बातें कहूँगा, जिनको आप पसन्द नहीं करेंगे।" विद्यार्थियों ने आग्रह किया कि उन्हें चलना ही चाहिए और भाषण देना चाहिए, और वे राजी हो गये। उन्होंने अपना वादा पूरा किया और खुल कर विद्यार्थियों की आलोचना की। उनको ध्यानमग्न होकर सुना गया। उन्होंने अप्रिय बातें कहीं, पर श्रोताओं को वे अच्छी लगीं, क्योंकि वक्ता की निस्पृह यथार्थवादिता से वे प्रभावित हो गये थे। सरदार कभी लोकप्रिय नहीं हो सकते—लोकप्रियता उस अर्थ में, जो नेहरू पर लागू है। उनमें उस मानवीय स्पर्श की कमी है, और उस नाटकीय भावना तथा प्रदर्शन की जो जनता को रुचिकर है। सरदार का विश्वास है कि झुण्डों का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता, और यदि उनका उत्तेजनापूर्ण सामूहिक स्वागत नहीं भी होता तो कोई बड़ी हानि नहीं। वे इसी से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि उनकी योजनाओं के अनुसार कार्य होता रहे और अनुशासन भंग न हो। वे एक आदर्श परदे की आड़ वाले व्यक्ति हैं। अशुद्धियों के आचार्य तथा गन्दे पनाले के इन्सपेक्टर बेवर्ली निकोलस ने सरदार के बारे में लिखते हुए कहा है, "पटेल का नाम अक्सर समाचारपत्रों में प्रकाशित नहीं हो पाता—विशेषतः पाश्चात्य उदार पत्रों में कांग्रेस के प्रचार-विशेषज्ञ इसका ध्यान रखते हैं।" अगर इन हजरत ने सच्ची बात का पता लगाने का प्रयास किया होता तो इन्हें विदित हो जाता कि यदि पटेल का पाश्चात्य-पत्रों में प्रचार नहीं होता था तो उसका कारण यह नहीं है कि कांग्रेस ऐसा नहीं चाहती थी, बल्कि बात यह थी कि सरदार पटेल स्वयं उन पाश्चात्य संवाददाताओं को पास नहीं फटकने देते थे, जो इस देश में फुदकते फिरते थे। बेवर्ली निकोलस ने एक स्थल में सरदार पटेल को "खूंख्वार" और "कांग्रेस का फाँसी देने वाला" कहा है। हाँ, वह खूंख्वार है, मगर उन लोगों के लिए जिनको वह हिकारत की दृष्टि से देखता और घृणा करता है, और वह उन सबको सूली पर चढ़ा सकता है, जो भारत के शत्रु हैं। और क्या वह सरदार पटेल ही न था जिसने अहमदनगर किले से छूटते ही कहा कि अगर भारत में किसी को फाँसी की सजा मिलनी चाहिए थी तो वह लार्ड लिन्लिथगो थे, जिन्होंने बंगाल के ऊपर भयंकर भुखमरी ढा दी, न कि वे देशभक्त जिन्होंने १९४२ की लड़ाई में वीरों की तरह हिस्सा लिया।

सरदार पटेल का जन्म गुजरात के खेदा जिले में २८ अक्टूबर, सन् १८७५ को हुआ। उनके पिता ने सन् १८५७ के गदर में भाग लिया था। वल्लभ भाई बचपन में अपने शिक्षकों और अभिभावकों के लिए सरदर्द था। उसकी विद्रोही आत्मा का दमन मुश्किल था जो काम चाहती और आज्ञाकारिता माँगती थी। सरदार ने वकालत पेशे के योग्य अपने को बना लिया और बाद में विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करके लौटे। उनकी वकालत अच्छी चलती थी और अफसरों तथा सहयोगियों दोनों के बीच उनका एक-सा मान होता था। वे गांधी जी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के सम्पर्क में सन् १९१६ में आये और तभी से वे उनका अनुगमन करते थे। बहुत आनुषंगिकता के साथ, करीब-करीब आँख बन्द करके, क्योंकि गांधी जी के विवेक पर उनको पूर्ण श्रद्धा थी और वे सोचते हैं कि गांधी जी की चेतना अत्यन्त निर्दोष थी। महात्मा के प्रति सरदार का अनपायी अनुवर्तित्व था। गांधी जी को केवल आज्ञा मात्र देनी पड़ती थी और एक सच्चे सरदार की तरह वे उसका पूर्ण तत्परता के साथ पालन करते थे। गांधी जी का सरदार की स्वामिभक्ति और अनिषंग संगठन-सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास था। सरदार की ख्याति सन् १९२८ में परम उत्कर्ष पर थी जब उन्होंने ऐतिहासिक और वीरतापूर्ण बारदोली सत्याग्रह का सफल नेतृत्व किया। इसका उल्लेख करते हुए नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"इस लड़ाई को वीरता के साथ सम्पादित किया गया और भारत भर में इसकी प्रशंसा हुई। बारदोली के किसानों को सफलता काफी मात्रा में मिली, पर उनके आन्दोलन की वास्तविक सफलता उस प्रभाव की थी जिसका प्रभाव भारत भर के किसानों पर पड़ा। भारतीय जनता के लिए बारदोली आशा, सामर्थ्य और विजय का एक चिह्न और प्रतीक बन गया।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् १९३१ में सरदार को राष्ट्रपति निर्वाचित किया और उस दिन से वे अखिल भारतीय मूर्ति बन गये और आज वे इस देश के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों में से हैं। सरदार स्वयं बहुत शासनशील व्यक्ति हैं पर उनसे भी अधिक शासनशीला उनकी पितृपरायणा पुत्री मनी बहन हैं जो उनके ऊपर नियन्त्रण रखती हैं। आगन्तुकों को सरदार से उतना अधिक डर नहीं लगता जितना मनी बहन से। सरदार भी अपनी पुत्री पर बहुत आसक्त हैं, जो उनकी साथी, अंगरक्षक और मित्र हैं। मुझे एक पत्र का स्मरण हो आया है जो सरदार ने अहमदनगर किले से मनी बहन को लिखा था। उस पत्र में उन्होंने कहा था कि अब उनकी पुत्री के लिए समय आ गया है जब उसको इस बात की दीक्षा अपने को देनी चाहिए कि अपना स्नेह और भक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर संदर्शित करे, क्योंकि वे स्वयं जराग्रस्त हो रहे हैं, उनका स्वास्थ्य गिर रहा है और किसी भी दिन वे परलोक-यात्रा कर सकते हैं। मुझको एक दूसरे पत्र की भी याद आती है जो ८ जून, सन् १९४२ में उन्होंने आचार्य कृपलानी को लिखा था। इस पत्र में उनका अत्यन्त स्नेहमय स्वभाव और कुशाग्र विवेचन-शक्ति अंकित है। कृपलानी परिवार कुछ दिनों के लिए जून, सन् १९४२ में नैनीताल गया हुआ था और वहाँ एक दिन कृपलानी जी ने कहा कि उनको भयंकर आपत्ति का सामना करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। श्रीमती कृपलानी ने पूछा, "क्यों?" आचार्य कृपलानी ने कहा कि "वल्लभ भाई ने एक पत्र भेजा है जिसमें उनसे और सुचिता देवी से बम्बई आकर कुछ दिन उनके साथ रहने के लिए कहा गया है क्योंकि उन्हें नहीं मालूम अ० भा० कां० क० (१९४२) की मीटिंग के बाद वे कब मिलेंगे, और सम्भवतः कभी न मिल सकें।" सरदार के मानस-पटल पर भावी घटनाओं का वास्तविक चित्र खिंचा हुआ था।

गांधी जी का सरदार के प्रति बहुत स्नेह-भाव था। उन्होंने अपने पुत्र की तरह उनके साथ बरताव किया। कई बार गांधी जी पर सरदार की राय का प्रभाव पड़ा और उनको

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सरदार की लौकिक प्रज्ञा की उत्कृष्टता पर बड़ा विश्वास था। पटेल के स्नेहपरायणता की अभ्यर्चना करते हुए गांधी जी ने एक समय लिखा—

"सरदार वल्लभभाई पटेल का सहवास मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। मुझको उनके अद्वितीय शौर्य का पता था, पर मैं कभी उनके साथ नहीं रहा था, जिसका सौभाग्य मुझे इन १६ महीनों में प्राप्त हुआ। जिस स्नेह से उन्होंने मुझे प्लावित कर दिया उससे मुझको अपनी स्नेहमयी माता का स्मरण हो जाता है। मुझे यह नहीं मालूम था कि उनमें मातृतुल्य गुण हैं। यदि मुझे कुछ भी हो जाता था, तो वे अपनी शैय्या छोड़कर आ जाते थे। मेरे आराम के सम्बन्ध में वे प्रत्येक विवरण का निर्देशन करते थे।"

आज पटेल की अब्द पूर्ति है और भारत उनकी ७२वीं वर्षगाँठ मना रहा है। यह एक वास्तविक आनन्द का अवसर है कि सत्तर वर्ष से ऊपर आयु होने पर भी यह वृद्ध नर अभी इतना युवा है, इतना सजीव है और इतना सक्रिय है। वह अपने शत्रुओं के लिए जीवित त्रास है और मित्रों तथा सहयोगियों के लिए अमूल्य निधि। हमारा यह योद्धा अभी शक्तिसम्पन्न है और अपने लोकहित के कर्त्तव्यपालन में दत्तचित्त होकर लगा हुआ है। अपने देशवासियों के लिए यह महान् नेता एक सशक्त मीनार है। आज भी उसकी अन्तर्ज्वाला उतनी ही तेजमय है जितनी सदा थी। वह न तो डिगता है न लड़खड़ाता है। उसको मालूम है कि उसके मन में क्या है और वह जानता है कि कब और किस तरह कार्य करना चाहिए। इस उम्र में भी वह बड़े उत्तरदायित्वों और भारी बोझों से नहीं घबराता। उसके स्कन्ध इतने विशाल हैं कि किसी भी संकट का सामना कर सकते हैं। भारत को इस नायक की आवश्यकता है और हम आशा करते हैं कि आगामी कई वर्षों तक वह हमारे साथ रहेगा, हमारा पथ-प्रदर्शन करेगा और हमारी सहायता करेगा।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वामी विवेकानन्द

⊙⊙

भारत में समय-समय पर ऐसे महात्मा, महापुरुष, ज्ञानी और सन्त जन्म लेते रहे हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन देश और समाज की भलाई में लगा दिया। स्वामी विवेकानन्द की गिनती भी ऐसे ही महापुरुषों में होती है। उन्नीसवीं सदी का आखिरी दौर इस देश के लिए राष्ट्रीय और सामाजिक उथल-पुथल का था। स्वामी विवेकानन्द ने ऐसे ही कठिन समय में भारतीयों का मार्ग-प्रदर्शन किया था।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी, सन् १८६३ ई० में कलकत्ता शहर के उत्तरी हिस्से में सिमुलिया नामक मुहल्ले में हुआ था। इनका असली नाम नरेन्द्रनाथ था। इनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त साधारण वकील थे। माता श्रीमती भुवनेश्वरी देवी बड़ी सीधी-सादी और भक्त महिला थीं।

बचपन से ही नरेन्द्र की बुद्धि बड़ी तेज थी। साथ ही, वह बड़ा नटखट और खिलाड़ी भी था। देखते-देखते उसने मैट्रिक, एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाएँ भी पास कर लीं। उसी समय पिता का स्वर्गवास हो गया। घर का सारा भार नरेन्द्र के कन्धों पर आ पड़ा। गृहस्थी चलाने के लिए कलकत्ता के विद्यासागर कालेज में वह अध्यापक का काम करने लगा।

संयोग से युवक नरेन्द्र की भेंट बंगाल के प्रसिद्ध त्यागी सन्त श्री रामकृष्ण परमहंस से हो गयी। वह प्रायः स्वामी जी के पास जाने और उनसे उपदेश ग्रहण करने लगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस को युवक नरेन्द्र में कुछ ईश्वरी प्रतिभा दिखायी दी। उन्हें ऐसा लगा कि इसके द्वारा देश और समाज का कल्याण अवश्य होगा। स्वामी जी के उपदेशों का युवक नरेन्द्र के हृदय पर गहरा असर पड़ा। उसने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की। स्वामी जी ने नरेन्द्रनाथ को अपना शिष्य बना लिया और उसे संन्यास की दीक्षा दे दी। उसका नाम नरेन्द्र से विवेकानन्द हो गया।

सन् १८९० ई० में स्वामी विवेकानन्द ने भारत के सभी प्रसिद्ध शहरों और स्थानों की पैदल तथा सवारी से यात्रा की। उन्हीं दिनों अमरीका के शिकागो नगर में संसार के सभी धर्मों के नेता इकट्ठा हो रहे थे। स्वामी जी ने भारत की पुरानी संस्कृति के प्रचार के लिए यह सुनहला अवसर देखा। वहाँ सर्व-धर्म सम्मेलन में स्वामी जी के कई व्याख्यान हुए। विदेशी नेताओं पर आपके व्याख्यानों का गहरा प्रभाव पड़ा। वे वहाँ से इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी भी गये। सभी देशों के विद्वानों ने आपका बड़ा सम्मान और आदर किया। स्वामी जी ने तीन साल तक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अमरीका और योरप का भ्रमण करके वहाँ के रहने वालों को यह सन्देश दिया कि भारत सदा से विश्व-शान्ति का पुजारी रहा है। मानवता की उन्नति और रक्षा उसका मुख्य आदर्श है।

स्वामी विवेकानन्द ने ७० साल पहले भारत के रहने वालों को सन्देश दिया था कि राष्ट्र और समाज को जिन्दा रखने के लिए चरित्र-बल, त्याग और सेवा की आवश्यकता है। भारत का राष्ट्रीय गौरव हजारों वर्षों से ऊँचा रहा है। उस गौरव की रक्षा करने ही से सच्ची राष्ट्रीयता कायम रह सकती है। हर एक को अपना मित्र और भाई समझना, दरिद्रनारायण की सेवा करना, मेल-मिलाप को बढ़ाना, विदेशियों की गुलामी के बन्धन से भारत को स्वतन्त्र बनाना, सही अर्थ में समाज और देश की सच्ची सेवा है।

स्वामी विवेकानन्द हमारे देश के उन महापुरुषों में थे, जिन्होंने भारत की कीर्ति और बड़ाई ऐसे समय में संसार में फैलायी थी, जिस समय यहाँ अंग्रेज़ी-राज्य का दबदबा था। विदेशियों में भारत के प्रति अच्छी धारणा नहीं थी, किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने भारत की संस्कृति की पुरानी पुस्तकों, वेद-वेदान्त और दर्शन के उपदेशों द्वारा उनकी धारणा बदल दी। विदेशों के कई विद्वान् स्वामी जी के भक्त और शिष्य भी हो गये। भारत में तो उनके व्याख्यानों और उपदेशों ने एक नयी जिन्दगी और हलचल उत्पन्न कर दी। लोग अपनेपन के साथ-साथ राष्ट्रीय गौरव का भी अनुभव करने लगे। देश-भक्ति की लहर चारों ओर दौड़ने लगी।

लेकिन भारत तथा मानव जाति का दुर्भाग्य, स्वामी विवेकानन्द अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके। केवल ४० वर्ष की छोटी आयु में ४ जुलाई, सन् १९०२ ई० को उनका स्वर्गवास हो गया। फ्रान्स के प्रसिद्ध विचारक रोम्या रोलाँ ने स्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा था—"स्वामी विवेकानन्द ने भारत में जिस बीज को बोया था, गांधी, रवीन्द्र और अरविन्द उसी की देन हैं।" यह सच है भारत आज स्वतन्त्र है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

॥ रक्षमाए ॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वतन्त्रता

⊙⊙

(१)

हे स्वतन्त्रता प्यारी तू क्यों हमको इतना बिसर गयी,
भारत छोड़ किधर को भागी हमको इकला छोड़ गयी।
ईश्वर पुत्री जग की प्यारी गुण की आगर कहाँ गयी,
हाय हाय कह रोवैं भारतवासी तेरा नाम लयी।

(२)

जीवन फुलवारी का तू ही तो इक पुष्प सुगन्धित है;
तेरे बिन यह सूनापन है जग सुख सारा खण्डित है।
किसी भाँति की रोक-टोक जब मानव चित्त पर रहती है;
नहीं काम कर सकता पूरा जिसमें तबियत लगती है।

(३)

विद्या बुद्धि शिल्प अरु सूनृत का कदापि नहिं वास यहाँ,
सब ही गुण इक-इक कर भागैं स्वतन्त्रता है नहीं जहाँ।
जैसा कि एक छोटा पौधा दब कर नहीं उभड़ता है,
वैसा ही यह चित्त मनुष्य का उठै नहीं जब गिरता है।

(४)

पर वे वीर सही हैं जो गिर कर भी नहिं हुए निरास,
कमर बाँध लड़ने पर तत्पर एक शस्त्र रख केवल आस।
प्रकृति ने यह ढंग रचा है जीव सभी होवैं स्वाधीन,
उसकी देन सबहिं को एकसाँ क्या धनाढ्य अरु क्या धनहीन।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

(५)

हेमाचल के पर्वत पर अरु सहरा के भी जंगल में,
सबहिं ठौर भोजन तो मिलता सबहिं कटै सुख मंगल में।
ईश्वर की समस्त रचना में ऐसा है स्थान नहीं,
जहाँ श्रमी उद्योगी को है जीवन का सामान नहीं।

(६)

यदि विपत्ति अरु काल कहीं पर कहीं दिखायी पड़ते हैं,
एक मूल उनकी अधीनता जिससे सबही डरते हैं।
एकहि भाँति मनुज हैं आये उसी भाँति वे जाते हैं,
समदर्शी निर्गुण के आगे सब समान दिखलाते हैं।

(७)

तब किसको अधिकार कहें यह हम धनाढ्य अरु धनहीन,
औरों के कर्मों को रोकैं देन प्राकृतिक लेवैं छीन।
क्या ही अद्‌भुत वस्तु मनुज भी श्रेष्ठ कहावै सृष्टी में,
पर भरे हुए औगुन इतने जो नहिं देखे पशुओं में।

(८)

नहीं कभी एक घोड़ा कहता मेरी मूल्यवान है जीन,
गर्व नहीं उसको यह होता मेरा चमड़ा है रंगीन।
यदि घमण्ड वह करता है तो केवल अपनी तेजी का,
पर हाय नीचता मनुष्य की कैसी अभिमानी धन सम्पति का।

(९)

एक एक के गुण नहिं देखे ज्ञानवान का नहिं आदर,
लड़ैं-कटैं धन पृथ्वी छीनैं जीव सतावैं लेवें कर।
भई दशा भारत की कैसी चहूँ ओर विपदा फैली,
तिमिर अज्ञान घोर है छाया स्वारथ साधन की शैली।

(१०)

हा! वही भूमि यह भारत की जहँ भये एक-से-एक सुधीर,
जहाँ कपिल, पातंजलि उपजे द्रोण और अर्जुन सम वीर।
जहाँ धर्म में प्रौढ़ युधिष्ठिर, राम, वासुदेव, हरिश्चन्द्र,
व्यास, वाल्मीकि से कितने जन्मे श्रेष्ठ कविन के वृन्द।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

(११)

जहाँ भरत, गौतम, शंकर ने अद्भुत छटा दिखायी,
जहाँ भोज, विक्रम के यश से रही सम्पदा छायी।
हुई दशा है उसी भूमि की हाय आज कैसी न्यारी,
विद्या गुण तो घटते जाते पर अभिमान रहा भारी।

(१२)

अपनी-अपनी चाल-ढाल को सब कोउ धर-धर छप्पर पर,
चले लुढ़कते बुरी प्रथा पर जिसका कहीं पैर नहिं सिर।
धनी दीन को दुःख अति देवै हमदरदी का नाम नहीं,
धन मदिरा, गनिका में फूंकै करै भला कुछ काम नहीं।

(१३)

कभी-कभी संशोधक होने का यदि किसी को आया ध्यान,
समझ लिया एक स्पीच झाड़ना है बस मेरा पूरा ज्ञान।
लोग नहीं उनको पतियाते सच पूछो तो बात यही,
देश-उपकार करेगा वह क्या जिसका मन है विमल नहीं।

(१४)

ऐसी भूमि में हे स्वतन्त्रते हो नहिं सकता तेरा वास,
जहाँ कुटिल अरु नीच प्रकृति हो बने सभी स्वारथ के दास।
तेरे रहने को प्यारी उज्ज्वल हृदय भवन चहिए,
तो भी दशा देख भारत की अब तो दया-दृष्टि करिये।

(१५)

भरा स्वार्थ से हृदय हमारा दीजै हमको दान यही,
तेरी मूर्ति मोहनी प्यारी रहै सदा चित माँहि बसी।
जिसे देख-देखकर मुझमें बल अरु साहस अधिक बढ़ै,
कि तेरा गुण मैं जग-जग में गाऊँ जिसमें भारत कष्ट कढ़ै।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बन्दर सभा महाकाव्य

⊙⊙

[तीन चुटकी माँ]

पहली चुटकी

एक बात अद्‌भुत हम कहही; यारो सुनियो कान लगाय।
इतने दिन वहिका भा बीते, अता-पता कोउ सकय न पाय॥१॥

कलयुग द्वापर त्रेता सतयुग, इन सब से पहिले की बात।
भये न ईश पैगम्बर देवा, और रही नहिं जात अरु पाँत॥२॥

लाख-लाख जोजन कै बसती, बने बहुत बड़वार मकान।
बड़े-बड़े ऊँचे तरु जामे, टीले विकट पहाड़ महान॥३॥

यही पेड़ टीलन कै चोटी, बसत रहे बन्दर बलवान।
नाम देश कै गढ़ बन्दर औ, मल्लू था राजा कै नाम॥४॥

सारा देश उजाड़ परा रह, दीखत कछू न कहूँ निसान।
ऊँची चोटी थलन माँहि बस, बनी इमारत आलीसान॥५॥

इनहि घरन के बीच-बीच महँ, लम्बे-लम्बे बाँस दिखायँ।
वाही ऊपर हवा खान को, घूमन सिगरे बन्दर जायँ॥६॥

घर में टेबुल-मेज सजे हैं, उन पै चुने अनेक गिलास।
तामे टूटे-फूटे बहुत हैं, और धरी बोतल हैं पास॥७॥

भाँति-भाँति सज-धज के कमरे, तितिर-बितिर पै सबै समान।
यहि ते एक निमिख में जानो, यहाँ बसैं बन्दर बलवान॥८॥

चिलमन परदे रंग-ढंग के, खिंचे द्वार-द्वार के बीच।
फटे-चिथे पै बहुत ठौर वे, देत गवाही आदत नीच॥९॥

यक मैदान म भारी तखता, वापै चुनी रकाबी पास।
कुर्सिन पै बहु बानर बैठे, कलछिन लै-लै खावैं मांस॥१०॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

यह कौतुक अचरज हम देखा, पूछा एक बानर से जाय।
बोला बानर सुनो विदेसी, यह सब केवल माँसै खायँ ॥११॥

घासौ-पत्ती खाय लेत हैं, कबहूं लोहू करैं अहार।
बानर मिलै वहू का खावैं, खान-पान को नहीं विचार।
यह बातैं कोइ विरला समझै, यहँ की लीला अपरम्पार ॥१२॥

दूसरी चुटकी

हियाँ की बातैं हियनै रह गयिं, अब आगै कै सुनौ हवाल।
गढ़ बन्दर के देश बीच माँ, पड़ा रहा एक खेत बिसाल ॥१३॥

सौ जोजन लम्बा अरु चौड़ा, अरबन बानर जायँ समाय।
तामे बानर भये इकट्ठा, जौन बचे वे आवैं धाय ॥१४॥

जब सगरा मैदनवाँ भरि गा, पूँछे टोपी लगी दिखाय।
सब के सब कुरसिन से उछले, हाथ-पाँव से ताल बजाय ॥१५॥

इतने में मल्लूसा आये, बंदरी और मुसाहब साथ।
बंदरी बड़ी चटक-चमकीली, थामे मल्लूसा को हाथ ॥१६॥

ओढ़े गउन लगाये टोपी, हीरे जड़े पाँत के पाँत।
मटकत आवत भाव दिखावत, आखिर मेहरारू की जात ॥१७॥

मल्लूसा झट कुर्सी चढ़िगे, धरी एक ऊँचे मस्तूल।
रानी भी दुम झाड़ बगल भइ, तब बोले बातें निरमूल ॥१८॥

तीसरी चुटकी

सुनौ, मुसाहब सबै सभ्यगन, अरु राजे फौजी कप्तान।
न्याय धर्म उद्यम कौन्सिल के, शस्त्र विदेश कार मेम्बरान ॥१९॥

हम राजा इस गढ़ बन्दर के, कैसर किंग जार सुल्तान।
हमरै हुकुम हियन पर चालै, जानो हमें ईश रहिमान ॥२०॥

आज बरस दिन फेर मिले हम, तुम्हैं सुनावें निज करतूत।
कठपुतली सम प्रजा नचावैं, फैलावें स्वारथ के दूत ॥२१॥

यह तुम सब तो जानत हइहौ, आपन एकै यही उसूल।
जौन भाँति से रुपया आवै, वो ही धर्म न्याय को मूल ॥२२॥

येही बात विदित संसारै, एक जात रहती यहि ठौर।
जिन के दुम उन तन को नाहीं, हमरा लाल रंग उन और ॥२३॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

येही ते दुइ न्याय धर्म दुइ, दुहरी सगरी बात हमार।
मुँह कुछ धरे पेट कुछ धारे, दगा कूट को करै अहार।
येहू से जो काम न निकले, तो फिर कैद मार फिटकार॥२४॥

पाँच बड्ड-बड्ड भागन माँ, देस भार की भई तकसीम।
पहिले न्याय बनाया अचरज, पी अफीम सब नीम हकीम॥२५॥

वणना करौ कहा यह कल की, रुपया असकै खींचै पास।
घनी दीन पण्डित अरु मूरख, सब ही फँस गये याके फाँस॥२६॥

तेहि पर बेदुम के जौ बानर, उनका असकै जकड़ा जाय।
तनिकौ हाँथ-पाँव फटकारैं, हन कै थप्पड़ दिया लगाय॥२७॥

यह तो बन्दर न्याय बखाना, एक और कुंजी है हाथ।
न्याय वाय सबही के ऊपर, सबहि घुमावै अपने साथ॥२८॥

ओकर नाम गुपुत राखैंगे, यह तो भीतर मन की बात।
ऊपर हमरी खुली कचहरी, रुपया देत न्याय लै जात॥२९॥

दूसर धर्म बड़ा फन्दा यह, जो जो हमसे करैं विरोध।
जहाँ ग्लास एक हमसे लेवैं, आवै तुरतहि उन कहँ बोध॥३०॥

सबहि लड़ाई छूट जात है, लेकचर देन जायँ सब भूल।
झूठी दुमहु लगाय लेत हैं, औरहु बातैं करैं फजूल॥३१॥

जूठहु खाय नहीं सकुचावै, पूजहिं खर जो हमरा देव।
खरही खर चिल्लात फिरत हैं, लेव स्वर्ग मुफते लै लेव॥३२॥

बिना कसाले का बिहिस्त है, ऐसन अवसर फिर नहिं आय।
हमरो खर जो चढ़ा अकासा, सब कोउ पूँछ थाम चढ़ि जाय॥३३॥

जो नहि मानै बात हमारी, ऊ, बस सीधा नरकहि जाय।
चार पाँव से चलन न पइहै, दुइये से घिसलावत जाय॥३४॥

हुआँ न कूदन को तरु मिलिहै, और न मिलिहै बंदरी संग।
कपड़ौ चौथे का नहि मिलिहै, नहीं घास मास कै रंग॥३५॥

मरन बाद इन सुख कहँ चाहौ, हमरी बात करौ विश्वास।
पढ़नौ लिखनौ पूजन छाँड़ौ, हमरे खर की धारौ आस॥३६॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

यही भाँत हम धरम चलावा, दूसर कै सिखवन के काज।
धन स्त्री अरु मान लोभ दै, फाँसा जेहि नहिं सकता भाज।
आपन देब एक रुपया पै, जाहै बाढ़े हमरा साज॥३७॥

तीसर उद्यम भाग गिनाऊँ, एकर केवल मनसा येह।
जितना धन अन पैदा होवै, सब ढोइ आवै हमरे गेह॥३८॥

जितने वेदुम के हैं बानर, उनका हरी हरी दिखलाय।
चूनी भूसी उन्हें फेंक दें, बढ़िया माल लेय गठियाय॥३९॥

यही भाग उद्यम का ऐसा, जेहि मा रचै किताबी जाल।
और देस कै बानर जेहि सै, नहिं जाने हमरा अहवाल॥४०॥

ऊपर से यह परगट करहीं, सगरी परजा बड़ी अमीर।
लीन लँगोटी छीन छीन कै, हम जानहिं वे फिरैं फकीर॥४१॥

मरैं भूख से जाड़े से वा, हम से येहि से कछु नहिं काम।
हम का खाली मिलै रुपैया, हम घर बैठ करैं आराम॥४२॥

चौथा बड़ा डिपाटमेण्ट है, करे विदेसन को व्यवहार।
रीछ स्यार सूकर बसते जहँ, म सन जिनके हैं सरदार॥४३॥

कबहूँ आँख दाँत दिखलावैं, लें डराय बस काम निकाल।
कबहूँ नम होय सीख सुनावैं, रचै बात कै जाल कराल॥४४॥

ऐसे वैसे तो डर जावैं, वा फँस जावैं हमारे जाल।
जो भै तनकु अकड़ने वाले, तिनके लिए अनेकन चाल॥४५॥

जासूसी में निपुण सिपाही, तब छूटें साधन को कार।
दगा झूठ विष मद मेहरारू, और छिपी तीखी तलवार॥४६॥

उते सरंजाम हैं पूरे, पै येहू जो खाली जायँ।
पँचवा भाग करै तब हलचल, नये शस्त्र तबही दिखलायँ॥४७॥

सबसे बड़ी शस्त्र की कौन्सिल, यहै राज्य को हमरे मूल।
यहिकै बिगड़े सबै चातुरी, एके छन में जावे भूल॥४८॥

याही ते जे लड़ने वाले, उनकै हम बहु करते मान।
सबसे चूस रुपैया लावें, इनही को बस देते दान॥४९॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बड़े वीर हमरे यह सैनिक, पहिले दुम से करैं प्रहार।
दुम जो कटै भाज फिर जावै, गढ़ में घुस करवैं ललकार ॥५०॥

पत्थर की तलवार बनी है, मट्टी की गोली बारूद।
जहाँ चलै यह सैन्य हमारी, और लगावे पैंकी कूद ॥५१॥

बिरवन पैड़न तुरतहि नासैं, धूम मचावैं लूटैं माल।
सीधे जीवन मारैं काटैं, हमहूँ सुन होंय निहाल ॥५२॥

अब हम लेकचर खतम करत हैं, बैठे अपनी कुरसी जाय।
तबही ताली ऐसी बाजी, कानौ की चमड़ी उड़ि जाय ॥५३॥

फिर एक मोटा बानर बोला, धन्यवाद हम देय पुकार।
मल्लूसा को जिनकी परजा, जो धन राखें औरन मार।
जेहि में हम कहँ पालें पोखें, और बढ़ै हम कुल परिवार ॥५४॥

इतना कह वह बानर बैठा, सभा उठी भागी चहुँ ओर।
मोहूँ आल्हा गावत भाग्यों, जे जे सुननि कीन्ह संग मोर ॥५५॥

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड ३

राजर्षि टण्डन के अभिभाषण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अभिभाषण – १

⊙ ⊙

[हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के तेरहवें कानपुर अधिवेशन में सम्वत् १९७९ को सभापतिपद से दिया गया श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का अभिभाषण]

इसके पहिले कि मैं कुछ कहूँ मेरा कर्त्तव्य है कि मातृभाषा के उन वीर्यवान् सुपुत्रों का स्मरण करूँ जिनका इस वर्ष हमसे वियोग हो गया है। सब से पहिले आपके और हमारे हृदय में प्रेमघन जी की पूजनीय मूर्त्ति आ विराजती है। प्रेमघन जी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उस ज्योतिर्मय मण्डल के एक देदीप्यमान नक्षत्र थे जिसने हिन्दी के आधुनिक रूप का निर्माण किया और जिसके अन्य प्रज्ज्वलित तारागणों में मेरे भाषा-गुरु प्रातःस्मरणीय बालकृष्ण भट्ट और श्रद्धेय स्वनामधन्य अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, सुधाकर द्विवेदी, तोताराम, काशीप्रसाद, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी ऐसे नाम आज भी संवत् २० से ४० तक के नवीन युगारम्भ के समय की याद दिलाते हैं। हर्ष की बात है कि आज भी उस प्रतिभान्वित समय के अवशेष-स्वरूप एक सुन्दर और प्रौढ़ स्तम्भ गोस्वामी राधाचरण जी वर्तमान सन्तान को अपना कर्त्तव्य-पथ दिखाने के लिए विद्यमान हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह गोस्वामी जी को अभी बहुत वर्षों तक हम लोगों के उपकारार्थ इस संसार में रहने का अवकाश दे।

इसके बाद अपने प्रियमित्र पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और उनके लघु भ्राता सोमदेव जी की शोकमय चर्चा करनी पड़ती है। चन्द्रधर जी संस्कृत और हिन्दी के प्रचण्ड विद्वान् थे। इसका कुछ पता उनके गवेषणापूर्ण लेखों से चलता है। मुझको लगभग अठारह वर्षों से उनको जानने का सौभाग्य प्राप्त था। इसलिए मैं कह सकता हूँ कि उनके हृदय में हिन्दी भाषा के प्रति कितना अनुराग था और उनकी कितनी उत्कट इच्छा रहती थी कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य सर्वाङ्गसुन्दर होकर संसार के उच्च-से-उच्च कोटि के साहित्य से समानता करे। उनके छोटे भाई भी हिन्दी के सुलेखक थे। इतनी कम अवस्था में इन प्रतिभावान् भाइयों का संसार से उठ जाना हम सबों का ही दुर्भाग्य है।

पण्डित रामेश्वर भट्ट के नाम से भी आप सभी परिचित हैं। कदाचित् ही किसी हिन्दी प्रेमी ने उनकी रामायण की टीका न देखी हो। इस समय तो हिन्दी पाठकों के सौभाग्य से रामायण की कई टीकाएँ प्राप्त हैं और मैंने सुना है कि और टीकाएँ भी तैयार हो रही हैं, विशेषकर पण्डित विनायकराव जी ने अपनी विनायकी टीका लिखकर तुलसीकृत रामायण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का पठन-पाठन अधिक रोचक और साहित्यिक बना दिया है, किन्तु जिस समय ये नवीन टीकाएँ नहीं थीं, पण्डित रामेश्वर भट्ट की टीका ने रामायण के प्रचार में बहुत वर्षों तक सहायता की। विनयपत्रिका की भी टीका कर भट्ट जी ने तुलसीदास जी के इस काव्यरत्न को आभा का साधारण पाठकों में प्रचार कर हिन्दी की अच्छी सेवा की है।

भाषा की उत्पत्ति का रहस्य

जिस भाग्यवान् को आप सम्मेलन के सर्वोच्च आसन पर बैठाते हैं उससे आप साधारणतया आशा रखते हैं कि वह हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में प्रतिभा-सम्पन्न अथवा पाण्डित्यपूर्ण लेख आपके सामने प्रस्तुत करे! मैंने पहिले ही आपकी रक्षा की भिक्षा माँगी है; वह इसीलिए कि मैं आपकी आशा पूरी नहीं कर सकूँगा। तो भी सम्मेलन के एक अल्प सेवक के नाते अपने बिखरे हुए विचार आपके सामने उपस्थित करता हूँ।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, किस वाणी के महास्रोत से उसकी धारा बहती हुई हम तक आयी, मार्ग में किन पर्वतों और वनों के प्राकृतिक रत्नों को अपने साथ लेती और कहाँ-कहाँ उनको छितराती आयी है, अथवा किस प्रकार से उसने अपने निर्मल जल से कूलों पर कुंजलताएँ पोषित कर और उन कूलों के निवासियों को अपने पवित्र जल से मानसिक जीवनदान दे उन्हें सभ्य बनाया है, इसकी चर्चा आपको कतिपय खोज सम्बन्धी ग्रन्थों में और सम्मेलन के कुछ मेरे पूर्ववर्ती सभापतियों के भाषणों में मिलेगी। यह विषय जितना रोचक है उतना ही गंभीर है। आर्यों का आदिम स्थान कौन था, आर्यों का आदिम स्थान क्या भारतवर्ष के बाहर था, क्या उसी स्थान से उनकी कई शाखाएँ पूर्व और पश्चिम की ओर निकल कर फैलीं और वह जहाँ-जहाँ गये अपने साथ अपने आदिम स्थान की प्राचीन आर्यभाषा लेते गये, जिसके ही कारण यूरोप की भाषाओं—जैसे यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मनी—में भी आज हमारे देश के कुछ आदिशब्दों से समानता दिखायी पड़ती है, अथवा क्या भारतवर्ष से ही सभ्यता और भाषा की लहर पश्चिमीय देशों में गयी—इस विषय पर इतिहास और भाषा के उच्चकोटि के पण्डित पिछले लगभग सौ वर्षों से विचार करते आये हैं और अब भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारों का अन्तिम निष्कर्ष निकल चुका। मनुष्य की परिमित शक्ति को देखते हुए यह कहना भी कठिन है कि उसका निकाला हुआ परिणाम कभी भी निश्चयात्मक हो सकेगा। प्रकृति अपने रहस्यों को इस प्रकार से छिपाकर रखती है कि मनुष्य चाहे उसका एक कोना देखकर आनन्द उठा ले, किन्तु किसी बड़े अंश का अच्छी तरह निरीक्षण कर पाना विधाता ने उसके भाग्य में नही लिखा है। अर्जुन का-सा ही कोई कृष्ण का प्रेमपात्र हो, तभी क्षण भर के लिए उसे वास्तविक दशा का दर्शन हो जाता है और तब उसके मुख से ये ही शब्द निकलते हैं—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ, मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं, पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

× × ×

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
अनादिमध्यान्तमनन्त वीर्यं, मनन्त बाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

× × ×

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

—गीता, ११ अध्याय

ईरानी भाषाएँ और संस्कृत

ईरानी भाषाएँ, जैसे परजी, जिससे पहलवी और फिर पहलवी से फारसी निकली, और मीदी, जिसमें पारसियों का धर्मग्रन्थ, 'ज़ेन्द अवस्ता' लिखा गया है—इनका पुरानी संस्कृत और प्राकृत से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी भाषा-तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए बहुत रोचक विषय है। यह तो स्पष्ट ही है कि संस्कृत और अवस्ता और पुरानी फारसी का सादृश्य आकस्मिक नहीं है। अवस्ता की भाषा फारसी के समान दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती है, किन्तु उसकी लिपि बिल्कुल भिन्न है और उसके अक्षर एक-दूसरे से अलग नागरी-लिपि के समान लिखे जाते हैं। उनमें और नागरी लिपि में इतना विशेष अन्तर अवश्य है—जो अन्तर स्वयं हमारी कुछ पुरानी और आधुनिक लिपियों में है—कि अवस्ता में स्वरों के स्थान में मात्रा चिह्न न होकर अलग-अलग अक्षर हैं। यदि आप अवस्ता के छंदों को उठा कर पढ़ें तो आपको यही जान पड़ेगा कि हम वेदों के छंदों के कुछ विचित्र रूप का पाठ कर रहे हैं। आज भी हमारे देश के पारसी भाइयों में अवस्ता का वही स्थान है जो हिन्दुओं में वेदों का। मुझे अपने पारसी मित्रों के कुछ विवाहोत्सवों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके वैवाहिक संस्कार के समय जब मैंने ईश्वरोपासना सम्बन्धी छंदों का उच्चारण सुना, तब मुझे यही जान पड़ता था कि मानो वेदों के अपरिचित छंदों का कोई विचित्र परिवर्तन कर गान कर रहा है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मैं आपके लिए कुछ छंद नीचे उद्धृत करता हूँ :—

यश्त नामक भाग के दसवें अध्याय का छठा मन्त्र इस प्रकार है :—

तम् अमवंतम् यज़तम्
सूरम् दामोहू सविष्टम्
मिथ्रम यज़आइ जव थ्राव्यो ।।

तनिक इस मन्त्र पर विचार कीजिए; देखिये इसके एक-एक शब्द संस्कृत में किस प्रकार लिखे जा सकते हैं—

तम अमवंतम् यजतम्
शूरम् धमसु शविष्टम्
मित्रम् यजाइ होत्राभ्यः

अर्थात् बली शूरवीर मित्रदेव की होत्र से पूजा करता हूँ, जो सब जन्तुओं पर दया करता है।

'ज़ेन्द अवस्ता' में दो प्रकार की भाषा स्पष्ट दिखायी देती है। एक तो यासना (यज्ञ) विभाग में दी हुई पाँचों गाथाओं की, जिनके नाम यह हैं—अहुनवैति, उष्टवैति, स्पन्तामैन्युष, वहिष्टाइहि और वोहुक्षत्र।

दूसरे प्रकार की भाषा 'खुर्द अवस्ता' तथा अवस्ता के अन्य भागों में पायी जाती है। गाथाओं की भाषा के सम्बन्ध में कुछ भाषा तत्त्वविदों का विचार है कि वह वेदों की भाषा के समान प्राचीन है। उष्टवैति गाथा में से दो छंद मैं नीचे उद्धृत करता हूँ, जो पारसियों के आदिपुरुष भगवान् ज़रतुश्त के ही कहे हुए माने जाते हैं—

अत् प्रवक्ष्या नू गूशोदूम् नू सवोता।
य एचा अस्नात् य एचा दूरात् इषथा।
नू ईम वीस्पा चिथूरी मज्द न्होदूम्,
नोइत् दैवितीम् दुशसीस्तश।
अहूम मेरश्यात् अकावरना द्रग्वै हिज्बै आवरतो ।।१।।
अत् प्रवक्ष्यां अन्हउश मइन्यू पोउरूये।
यवैस्पन्यै उइति भ्रवत् यम् अंग्रम्।
नोइत् नाम नै नोइत् संघानोइत् खतवो।
न एदा वरना नोइत् उरुधा न यदाश्यवथना
नोइत् द पनै नोइत् उर्वनो हचइते ।।२।।

इसका अनुवाद, जो अवस्ता भाषा के पण्डितों ने किया है, यह है—

"अब मैं कहूँगा और तुम कान देकर सुनो। जो यहाँ पास से और दूर से आये हो। तुम इन बातों को चित्त में स्पष्ट धर लो। दुष्ट उपदेशकों से अपना आगामी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जीवन नष्ट मत कराओ। और न पतित पापी के झूठे विश्वास से अपनी जिह्वा को॥१॥"

"अब मैं जगत् की दो प्राथमिक आत्माओं का कथन करूँगा जिनमें से पवित्र (आत्मा) ने दुष्ट (आत्मा) से कहा—

न हमारे मन, न हमारी शिक्षा, न हमारे विचार, न हमारे विश्वास, न हमारे शब्द, न सचमुच हमारे कर्म, न हमारी बुद्धि और न आत्माएँ किसी बात में मिलती हैं॥२॥"

भाषा-विज्ञान के सौभाग्य से आज वेदों के अतिरिक्त इतना प्राचीन ग्रन्थ हमें उपलब्ध है। यदि इसी प्रकार से अन्य भाषाओं के प्राचीन और प्राचीनतम स्वरूप हमें हस्तगत होते तो भाषाओं के शृंखलाबद्ध तारतम्य से हम प्राचीन घटनाओं का कुछ निश्चित रूप से निरीक्षण कर सकते। अवस्ता के और प्राचीन संस्कृत के स्वरूप को देख न केवल उनके साधारण शब्दकोश किन्तु उनके व्याकरण में भी सादृश्य की झलक देख आप क्या परिणाम निकालते हैं? न केवल वैदिक 'आर्यमन' अवस्ता का 'ऐर्यमन' है, 'वायु' 'वयु' 'दानव' 'दान' और 'असुर' 'अहुर' है, किन्तु संस्कृत द्वितीया के रूप, 'शूरम्' 'मिथ्रम्' और पंचमी के रूप 'असनात्' 'दूरात्' दिखायी पड़ते हैं, और कुछ संस्कृत सर्वनाम—मे, मम, त्वम्—अवस्ता में भी उन्हीं रूपों में दिखायी पड़ते हैं। संस्कृत के समान ही अवस्ता में भी तीन लिंग और तीन वचन पाये जाते हैं। संज्ञा और विशेषण की आठ विभक्तियाँ भी स्पष्ट दिखायी देती हैं। अवस्ता और संस्कृत के धातु रूपों में भी समानता है। छन्द भी वैदिक छन्दों से मिलते-जुलते दिखायी पड़ते हैं। यह मिलान आकस्मिक नहीं हो सकता। यह अवश्य दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्थापित करता है।

इसी प्रकार पुरानी फारसी और संस्कृत की समानता आश्चर्यजनक है। विचार के साथ यदि आप आधुनिक फारसी भी पढ़ें और उसमें अरबी से आये हुए बहुसंख्यक शब्दों को अलग कर दें, तो पग-पग पर आपको ऐसे शब्दों की भरमार मिलेगी, जिनके रूप-रंग में संस्कृत शब्दों की ही वंशकृति दिखायी पड़ती है। फारसी का पण्डित न होते हुए भी फारसी के प्राचीन काव्यों के पढ़ते समय मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि अरबी के शब्द छोड़ दिये जायँ तो शेष शब्दों में लगभग पचास फीसदी इस समय ऐसे मिलते हैं जिनका रूपान्तर आप संस्कृत शब्दों में देख सकते हैं। फारसी पढ़ते समय कभी-कभी मैंने ऐसे शब्दों को टाँक लिया है। उन्हीं शब्दों में से कुछ इस समय आपके सामने उपस्थित करता हूँ—

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
भूमि	बूम	शर्करा	शक्कर
वारि, वारीणि	वारां	क्षीर	शीर
आप	आब	ताम्बूल	तम्बोल
वात	बाद	शृगाल	शिगाल
मिहिर	महर	शकुन	शुगुन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
सूर	हूर	अहम्	अम
जीवन	जान	नव	नव
अघ	आक	क्षुद्र	खुर्द
कुञ्ज	कुञ्ज	एक	यक
गो	गाव	द्वि	दोह
खनि	कान	चत्वार	चहार
तनु	तन	पंच	पंज
जानु	जानू	षष्ठ	शश
भ्रू	अबरू	सप्त	हफ्त
अभ्र	अब्र	अष्ट	हश्त
मूष	मूष	नव	नह
मूषक	मूषक	दश	दह
अश्वतर	असतर, असतूर	रुह, रोहित	रवीदन, रवीद
अश्व	अस्प	श्रुणु	शुनौ
आपद	आफत	दृ	दरीदन

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हमारे देश की प्राचीनतम भाषा का वैसा संकुचित क्षेत्र न था, जैसा समय पाकर धीरे-धीरे हो गया, वरन् उसका नैसर्गिक घनिष्ठ सम्बन्ध संसार की अन्य शिष्ट भाषाओं से था। यह सम्बन्ध कैसे हुआ और किस प्रकार का था, अन्य देश की भाषा भारतवर्ष में आयी अथवा भारतवर्ष की भाषा अन्य देशों में गयी, यदि आयी तो किन-किन मार्गों से और किसके साथ, यदि गयी तो कैसे और किसके द्वारा, और जहाँ गयी वहाँ की पहिले की भाषा में उसने किस-किस प्रकार परिवर्तन किया, प्राचीन संस्कृत का अन्य प्राचीन भाषाओं के साथ बहिनों का अथवा माता-पुत्री का नाता है, इत्यादि ऐसे प्रश्न बड़े रोचक और आकर्षक हैं। इन पर बड़े-बड़े भाषा-तत्त्वज्ञों ने विचार किया है, किन्तु अब भी बहुत अन्वेषण और विचार की आवश्यकता है। यह अवसर इन प्रश्नों के उठाने का नहीं है और न मुझ में इन पर कोई नवीन प्रकाश डालने की योग्यता ही है। भाषा कितनी व्यापक हो सकती है, किन्तु स्थान-भेद और समय-भेद से उसमें कितना परिवर्तन हो सकता है, इसका अल्प उदाहरण ऊपर कही गयी बातों से मिलता है।

प्राकृत और संस्कृत

ऊपर जिन भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का मैंने संकेत किया है, उनसे कुछ ही कम गहन (कम इसलिए कि उनका क्षेत्र आपेक्षिक दृष्टि से परिमित है और गहन इसलिए कि हज़ारों वर्षों की लम्बी गुफा के अन्धकार में हमें टटोल-टटोल कर बिना भटके चलना दुष्कर है)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

यह प्रश्न है कि हमारी प्राचीनतम भाषा का क्या रूप था, उसके संस्कृत होने में क्या परिवर्तन हुए, इस परिवर्तन ने किस प्रकार साधारण भाषा पर अपना प्रभाव डाला और यह परिवर्तित भाषा किसी श्रेणी विशेष की भाषा ही रही अथवा कभी जनता की बोलचाल की भाषा बनी और हमारी प्राचीन भाषा और इस संस्कृत भाषा ने किस प्रकार धीरे-धीरे अन्य भाषाओं को उत्पन्न किया, जिनसे समय पाकर आधुनिक भाषाएँ निकलीं। इस विषय के सम्बन्ध में दो मुख्य विचार हैं। एक तो यह कि पालि और अन्य प्राकृत भाषाएँ, जिनसे आधुनिक भाषाएँ निकली हैं, संस्कृत की पुत्री थीं, अर्थात् संस्कृत भाषा ही भ्रष्ट होकर प्राकृत बनी और प्राकृत के अपभ्रंश से धीरे-धीरे आजकल की भाषाएँ निकलीं।

दूसरा मत यह है कि संस्कृत कभी साधारण बोलचाल की भाषा न थी, अथवा थी तो केवल शिष्ट और शिक्षित समुदाय की, और साधारण लोगों की भाषा आदिसमय से ही भिन्न थी। इस कारण से प्राकृत भाषाएँ संस्कृत से नहीं, किन्तु प्राचीन प्राकृत से ही निकली हैं, अथवा यों कहा जाय कि प्राचीन भाषा, जिसे मूल प्राकृत कह सकते हैं, समय के प्रभाव से धीरे-धीरे उन रूपों में परिवर्तित हुई, जो संस्कृत और पालि के ग्रन्थों में पाये जाते हैं और उन्हीं से आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ। पहले पक्ष के प्रकृष्ट पोषक हमारे देश के प्रचण्ड विद्वान् रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर हैं। इसी पक्ष का तृतीय सम्मेलन के सभापति परलोकवासी श्रद्धेय बदरीनारायण चौधरी ने समर्थन किया था। दूसरे पक्ष में विल्सन, वेबर, बीम्स आदि संस्कृत के पाश्चात्य विद्वान् हैं। स्वागत-समिति के पूज्य सभापति 'हिन्दी' के अद्वितीय विद्वान् पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तिका देखने से अनुमान होता है कि वह भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं। ऐसे अनुभवी और अन्वेषण-शील विद्वानों के बीच की बात में मेरा कुछ भी कहना बच्चे की बकवाद-सा जान पड़ेगा। किन्तु इस कारण से कि मैं इस विषय में कुछ अपनी सम्मति रखता हूँ, (यद्यपि इस विषय में मेरा अनुशीलन तो बहुत ही थोड़ा है) आपके सामने उसे प्रकट करने की धृष्टता करता हूँ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस विवाद में 'संस्कृत' शब्द के अर्थ पर ही सत्य का निर्णय निर्भर होगा। यदि संस्कृत का अर्थ केवल उस भाषा से लिया जाय, जिसमें हमारी प्राचीन सभ्यता का उत्तुङ्ग उत्कर्ष ढले हुए शब्दों में दक्ष चितेरों की कूँची से चित्रित है और जिसने सैकड़ों वर्ष के संस्कार के बाद पतञ्जलि और कात्यायन के समय में अपना रूप निश्चित किया, तो मुझे भी यह कहना पड़ेगा कि इस भाषा से प्राकृत और हिन्दी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ।

संस्कृत शब्द से यही अर्थ प्रायः उन लोगों ने समझा है जिन्होंने इस मत का पोषण किया है। एक अंश में उनका यह अर्थ करना ठीक भी है क्योंकि संस्कृत शब्द भी उसी भाषा का बोधक है और साधारणतया उसी अर्थ में प्रयुक्त भी होता है। किन्तु यदि संस्कृत शब्द में उन समस्त बोलियों का समावेश हो, जो ऋग्वेद की ऋचाओं और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के समय में बोली जाती थीं और जिनमें स्वभावतः न केवल शिष्ट किन्तु ग्रामीण तथा अशिक्षित जातियों के भी शब्द सम्मिलित थे और आपेक्षिक दृष्टि से जिसका प्रचार बहुत पीछे के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

काल तक होता आया अर्थात् जो सहस्रों वर्ष इस देश में रूपांतरित हो पतञ्जलि के समय तक बोली जाती रही, तो अवश्य यह कहा जा सकता है कि संस्कृत से ही आधुनिक एतद्देशीय भाषाएँ निकली हैं। मुझे तो यही अनुमान होता है कि संस्कृत भाषा की परिभाषा यदि हम निश्चित कर लें तो इस विवाद का निराकरण हो जाय। आप स्वयं तनिक विचार तो कीजिये कि क्या यह कभी सम्भव था कि जब बोलचाल की भाषा का संस्कार कर संस्कृत भाषा बनी, तब क्या वही संस्कृत समस्त जनता की कभी बोलचाल की भाषा हो सकती थी और क्या प्रचलित भाषा का संस्कार होते ही वह उस नयी भाषा में तल्लीन होकर लुप्त हो गयी? उन पाश्चात्य विद्वानों का, जो प्रायः संस्कृत से प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव नहीं मानते, यह मत है कि संस्कृत एक प्रकार की अप्राकृतिक भाषा यज्ञ-पूजन आदि के काम के लिए ब्राह्मणों ने निर्माण की थी और वह कभी बोलचाल की भाषा हुई ही नहीं। उसमें केवल गौरव के लिए शिष्ट समुदाय ने ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। भाण्डारकर जी ने इस मत का खण्डन बड़ी विद्वत्ता से अपने प्रसिद्ध 'भाषा तत्त्व सम्बन्धी व्याख्यानों' में किया है और मेरी भी अल्प बुद्धि उनकी इस विषय की दलीलों को स्वीकार करती है। किन्तु एक बात ध्यान में रखने की यह है कि इस बात के दिखलाने के लिए कि संस्कृत भाषा के साथ-साथ बोलचाल की साधारण भाषा कुछ अन्य थी, पाश्चात्य विद्वानों के इस मत से सहमत होना आवश्यक नहीं कि संस्कृत एक अप्राकृतिक रीति से वैसे ही निर्मित भाषा थी, जैसे कुम्हार के चाक से निकला हुआ कुम्भ, जो केवल यज्ञ की वेदी पर रखने के लिए बनाया गया हो। यह क्यों असम्भव समझा जाय कि वास्तव में जो प्रचलित बोलियाँ बोली जाती थीं, उनमें से ही एक प्रकार की आदर्श भाषा स्वाभाविक रीति से शिष्ट समाज में प्रचलित हुई और उसी से, व्याकरण के मंत्रों से संस्कार करने के पश्चात् संस्कृत बनायी गयी।

इस प्रकार से भाषा बनने और पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यज्ञ-पूजनादि के लिए भाषा बनने में बड़ा अन्तर है। मुझे तो यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सदा एक देश अथवा राष्ट्र में बहुत-सी स्थानीय बोलियाँ रहते हुए भी एक खिचड़ी भाषा कुछ ऐसी होती है, जिसमें साधारण जनता अपने मनोभाव का लेन-देन करती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में भी या तो छोटे-से आर्य समुदाय में एक ही बोली थी अथवा भिन्न-भिन्न समुदाय और उनकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ होने पर भी उनकी एक भाषा इस प्रकार की रही, जो बोलियों से तो भिन्न थी, किन्तु जिसमें बोलियों का समावेश होता था। आज भी यही दृश्य हम अपनी आँख के सामने देख सकते हैं। जिस भाषा में मैं इस समय बोल रहा हूँ, वह हमारे देश की स्थानीय बोलियों से भिन्न है, किन्तु वह केवल शिष्ट जनों की अप्राकृतिक नियमों से गढ़ी हुई भाषा नहीं कही जा सकती। ग्रामीण मनुष्य भी उस भाषा को पहचानता है और उसे अपनी भाषा कहता है, यद्यपि वह उसे उसी रूप में व्यवहृत नहीं करता। हिन्दी साधारण ग्रामीण बोली न होती हुई भी किसी विशेष कार्य के लिए गढ़ी नहीं गयी। वह पूर्ण रूप से और अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के दोषों से बचते हुए जनता की भाषा कही जा सकती है। हाँ, यदि हममें से कुछ चतुर विद्वान् इस भाषा में साधारणतः और गौरवन्यूनता का दोष देख

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इस प्रकार से उसका शोधन करने बैठें कि उसमें आये हुए प्रचलित शब्दों की काट-छाँट कर व्याकरण के ऐसे अकाट्य नियम रखें जिनको बिना सीखे कोई भी शिष्ट-भाषाभाषी न कहा जा सके तो अवश्य ऐसी संस्कृत हिन्दी की सूरत और दशा दूसरी ही हो जायगी। मुझे अपने तात्पर्य को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता जान पड़ती है। मेरा यह विचार है कि आरम्भ से स्थानीय परिवर्तनों के होते हुए भी आर्यों की एक जीती-जागती साधारण भाषा थी, जो संस्कृत न होते हुए भी संस्कृत से बहुत भिन्न न थी। यदि हम इसी भाषा को संस्कृत कहें तो संस्कृत से ही पालि तथा प्राकृत भाषाओं का प्रादुर्भाव कहा जा सकता है और यह विवाद ही नहीं रह जाता कि प्राचीन प्राकृत से मध्यकालीन प्राकृत निकली अथवा संस्कृत से।

इस सिद्धान्तानुसार मूल प्राकृत और संस्कृत एक ही वस्तु के दो नाम हो जाते हैं। किन्तु पीछे से व्याकरण के नियमों द्वारा संशोधित हो शिष्ट समुदाय और ग्रंथकारों की जो भाषा हुई, यदि केवल उसी का नाम हम संस्कृत रखते हैं, तो आर्यों की यह प्राचीन भाषा मूल प्राकृत कही जा सकती है। इस भाषा का वेदों की भाषा तथा ज़ेन्द अवस्ता की भाषा से भी बहुत सादृश्य रहा होगा। इसी जनता की भाषा का संस्कार करते-करते संस्कृत बनी और ज्यों-ज्यों उच्चकोटि के आर्य और साधारण जनता में भेद होता गया, त्यों-त्यों संस्कृत साधारण जनता की भाषा से, उस पर अपना प्रभाव डालती हुई भी, अलग होती गयी। संस्कृत भाषा के निर्माण से अथवा उच्च आर्यों की चर्खी पर चढ़कर मँजे हुए स्वरूप में उसके निकलने से यह तो संभव ही न था कि मूल भाषा अथवा प्राकृत का लोप हो जाता अथवा साधारण जनता इस रीति से मँजी हुई संस्कृत भाषा को बोलने लग जाती। संस्कृत भाषा को इस अर्थ में लेने पर यह भाव उस अर्थ ही में प्रविष्ट है कि वह साधारण जनता की भाषा न थी। ऐसी दशा में जनता की जीती-जागती और चलती भाषा मूल प्राकृत ही रही और उसी के रूपों में धीरे-धीरे परिवर्तन होते हुए वह माध्यमिक काल की उन अठारह प्राकृतों में विभक्त हुई, जिनकी चर्चा संस्कृत और प्राकृत साहित्य में मिलती है। यदि हम हिन्दी भाषा की धारा पर ऊपर की ओर चढ़ते जायँ, तो हमें संस्कृत का स्रोत कहीं नहीं मिलेगा, किन्तु अपभ्रंश भाषा, फिर प्राकृत और फिर मूल प्राकृत तक हम पहुँच जायँगे। संस्कृत की स्वयं बहुत ऊँचे पर जाकर मूल प्राकृत से निकलती हुई एक धारा दिखायी पड़ेगी, जो बहुत दूर तक पृथक् प्रबल वेग से बहती है, और अन्त में ऐसे रेगिस्तान में पहुँच जाती है, जहाँ उसका जल सर्वथा लुप्त तो नहीं हो जाता किन्तु एक गहरे कुण्ड में गिर कर और इकट्ठा होकर आगे बढ़ने का सामर्थ्य खो बैठता है। परन्तु आप यह भी देखेंगे कि कुण्ड में गिरने से पहले उसकी प्रबल धारा अपनी बहुत-सी छोटी शाखाओं से इधर-उधर भूमि को उर्वरा करती है और उनमें से कतिपय शाखाएँ फिर भाषा के मूल प्रवाह में, जिस पर आप अपनी कल्पना में चढ़ते हुए जा रहे हैं, आकर मिल जाती हैं। मैं जानता हूँ कि मेरी इस उपमा पर कुछ सज्जन अप्रसन्न हो सकते हैं, किन्तु भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए, मेरा उनसे निवेदन है कि वे केवल तत्त्व पर ध्यान रखें। यह अवश्य है कि हम बहुत दिनों से सुनते चले आये हैं कि हिन्दी तथा देश की अन्य भाषाएँ संस्कृत की

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पुत्री हैं और मेरे कथनानुसार वह संस्कृत की पुत्री नहीं कही जा सकती, किन्तु भाषा के मर्मज्ञों को पक्षपात में फँसने से बचना कठिन न होना चाहिए।

हिन्दी शौरशेनी की पुत्री

हिन्दी शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है, यह प्रायः सभी मानते हैं; किन्तु शौरसेनी मूल प्राकृत की पुत्री है अथवा संस्कृत की, इसी में विवाद है और यह विवाद जैसा मैंने अभी वर्णन किया है, प्रायः शब्दों के अर्थ में स्पष्टता न होने के कारण है। संस्कृत को केवल संस्कार की हुई भाषा मान लेने से हिन्दी, प्राकृत के कुटुम्ब में से है, यही कहना पड़ेगा। उस परिष्कृत भाषा का रूपान्तर प्राकृत हुआ और उसमें से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा मानना मुझे नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। पण्डित बदरीनारायण चौधरी ने तृतीय सम्मेलन के भाषण में, इस बात को पुष्ट करने के लिए कि संस्कृत से प्राकृत के द्वारा हिन्दी निकली, कुछ शब्दों के उदाहरण दिये हैं, जिनसे संस्कृत शब्द का बिगड़ कर प्राकृत बनना और प्राकृत का बिगड़ कर हिन्दी का बनना प्रकट किया गया है। यह दलील साधारणतः और भी विद्वानों ने दी है। मैं उदाहरण के लिए थोड़े ही से शब्द चौधरी जी की सूची से उद्धृत करता हूँ—

संस्कृत	प्राकृत	भाषा
अहम्	अम्मि	हम, मैं
त्वम्	तुअ	तुम, तू
बातुलम्	बाउलो	बावला
शैय्या	सेज्जा	सेज
उपाध्यायः	उपज्झोओ	ओझा
मृत्तिका	मटिया	मट्टी
घृतम्	घियम्	घी
यष्टिः	लट्ठी	लाठी

इस प्रकार के उदाहरणों से यह अवश्य स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्भव है कि इनमें से बहुत-से शब्द संस्कृत से बिगड़ कर प्राकृत हुए हों। संस्कृत भाषा तो शिष्ट समुदाय की भाषा थी ही और उसका प्रभाव साधारण भाषा पर पड़ना अथवा उसके कुछ शब्दों का बिगड़ कर साधारण भाषा में आ जाना स्वाभाविक था, किन्तु सम्पूर्ण प्राकृत भाषा का संस्कृत भाषा से निकलना इन उदाहरणों से प्रमाणित नहीं होता। सम्बन्ध स्थापित होता है, किन्तु मातृत्व नहीं। इन उदाहरणों से मातृत्व मान लेना तर्क का दोष है, क्योंकि जो सम्बन्ध हमें दिखायी देता है, वह इस प्रकार से भी हो सकता है कि जिन रूपों को माँजकर संस्कृत के रूप हमें ग्रन्थों में दिखायी देते हैं, उन्हीं आदिरूपों से यह प्राकृत के रूप वंश-परम्परा से आये हों। और फिर हमें उन प्राकृत शब्दों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के समूह को न भूल जाना चाहिए, जिनका किसी प्रकार संस्कृत शब्दों से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। ये शब्द न तत्सम हैं और न तद्भव, किन्तु देश्य हैं। यह शब्द तो कुछ ऐसे ही शब्दों से वंश-परम्पराबद्ध होकर आये हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत के अतिरिक्त, जो साधारण बोलचाल की भाषा थी, उसी से हो सकती है। ऊँघना, पेट, बाप, कोट इत्यादि शब्दों का मेल ढूँढ़ने पर भी किसी संस्कृत शब्द से नहीं मिलता, इन शब्दों के आदिरूप प्राकृत में मिलते हैं। केवल इतना कह देने से ही कि यह शब्द पीछे से प्राकृत में जुड़ गये होंगे, न इस विषय का समाधान होता है और न परिष्कृत संस्कृत भाषा से प्राकृत का निकलना ही प्रमाणित होता है।

नाश और विकास

यहाँ पर, भाषा के विकास-क्रम के सम्बन्ध में, मैं एक विशेष बात और कहना चाहता हूँ जो संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध के स्थिर करने में विचारणीय है। इस संसार में जीवन और मृत्यु का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीव मृत्यु के सहारे ही जीवित है। यही सिद्धान्त जीवित भाषाओं के सम्बन्ध में भी लगता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में प्रति दिन कितने ही जीवित कृमि मरते हैं और सहस्रों नये बन कर उनका स्थान लेते हैं और इसी अटूक संग्राम का नाम ही जीवन है, उसी प्रकार जीवित भाषा में भी शब्दों का बिगड़ना और बनना प्रकृतिसिद्ध है। मरे हुए शब्दों के शव से नये शब्द उत्पन्न होकर भाषा-प्रवाह में तीव्र गति से तैरते हैं, और यदि इस प्रकार से शब्दों का बिगड़ना और नये शब्दों का बनना बन्द हो जाय तो जीवधारी के शरीर के समान भाषा का शरीर भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् उसमें से प्रगति-स्वरूप जीव निकल जाने से वह निर्जीव पत्थर के समान हो जाती है। इसीलिए गति-शून्य ऐसी भाषाओं को मृत भाषाएँ कहने का जो चलन है, वह सर्वथा उपयुक्त है। मृत्यु और जीवन जहाँ बराबर है, वहीं वास्तविक जीवन है। नाश और विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ नाश नहीं, वहाँ विकास भी बन्द हो जाता है। जब तक भाषा के रूपों का नाश बराबर होता रहता है, तब तक उसका विकास-क्रम भी चलता रहता है। शारीरिक विद्या के जाननेवाले वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि हमारे शरीर के भीतर लगातार परिवर्तन होता रहता है, जितना ही हम शरीर को काम में लाते हैं उतना ही शीघ्र शरीर के तन्तुओं का नाश होता है और जितना ही शीघ्र इन तन्तुओं का नाश होता है उतना ही शीघ्र स्वस्थ और बलिष्ठ नव तन्तु उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नाश और उत्पत्ति क्रम से मनुष्य स्वस्थ रूप से बलिष्ठ और जीवित रह सकता है। बच्चे को जितना ही आप दौड़ाते हैं, उतना ही उसके तन्तुओं का नाश करते हैं और उतने ही नये तन्तुओं की सृष्टि करते हैं। इसी गति से उसके शरीर की वृद्धि और पुष्टि होती है और जब तक उसमें जीवन है तब तक यही क्रम चला जाता है।

विज्ञानवेत्ता हमें बताते हैं कि प्रत्येक सात वर्ष में शरीर के प्रत्येक तन्तु का परिवर्तन होता जाता है। यदि आप इस मोह से कि बच्चे के शरीर-तन्तु नष्ट न हों उससे शारीरिक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

काम न करायें और उसे प्रकृति के आँगन में कल्लोल करने के लिए न छोड़ दें, तो वह विकसित न होकर धीरे-धीरे मुरझा जायगा। ठीक यही शैली जीवित भाषा के तन्तु-नाश और विकास की होती है। प्रकृति के आँगन में खेलती और दौड़ती हुई भाषा अपने सैकड़ों तन्तुओं का प्रतिदिन नाश करती है और उन्हीं नष्ट तन्तुओं के मसाले से तथा प्रकृति की अन्य शक्ति से नये शब्द-तन्तुओं का निर्माण करती रहती है। यदि आप इस भय से कि कहीं भाषा-शरीर के कुछ शब्द-तन्तु विकृत अथवा नष्ट न हो जायँ, उन्हें व्याकरण के नियमों की आज्ञा से जहाँ-के-तहाँ बैठा दें, तो परिणाम यही होगा कि धीरे-धीरे शरीर कुम्हला जायगा, और वे अपरिवर्तनशील शब्द, जिनकी आपने रक्षा की थी, जीवित शरीर से अलग होकर स्तम्भित रूप में आपको दिखायी पड़ेंगे। मेरी इस उपमा में कुछ अन्तर हो सकता है, किन्तु जिस सिद्धान्त को मैंने आपके सामने इस उपमा द्वारा उपस्थित किया है, वह आप बराबर भाषा के विकास में देखेंगे। संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में भी मुझे तो यही भासता है कि साधारण जनता की भाषा से उसे अलग करने का ही यह परिणाम हुआ कि वह ठिठक गयी और उसकी वृद्धि रुक गयी। नियमों से बँधकर उसके शब्द-रूपों का विकृत और नाश होना बन्द हो गया और उसके साथ ही उसके शरीर की गति भी धीरे-धीरे बन्द हो गयी। किन्तु वह आदि प्राकृत, जो जनता की भाषा थी, अपने पुराने शब्द-समूहों का नाश और नये शब्द-समूहों की उत्पत्ति करती आयी। इस प्रकार नाश के रूप में उसका विकास होता चला आया। उस आदि-प्राकृत से स्वभावतः स्थानीय भेदों के कारण कई प्रकार की प्राकृत भाषाएँ निकलीं।

प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी

वररुचि ने चार प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया है, अर्थात् महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। पीछे आकर इन मुख्य चार प्राकृतों के और भी रूपान्तर हुए, जो भिन्न-भिन्न स्थानीय नामों से विख्यात हुए। मराठी और शौरसेनी प्राकृत के दो-एक उदाहरण मैं आपके सामने रखता हूँ—

"निय आये चिय वा आयापि,
अत्तणो गात्वँ निवेसयन्ता॥
जे यंति पसंसं चिय,
जयंति इह ते महा कइणो॥

इसे भाण्डारकर महाशय ने इस प्रकार संस्कृत में परिवर्तित किया है—

निजयैव वाच आत्मनो, गौरवं निवेशयन्तः।
ये यान्ति प्रशंसामेव जयंति ते महाकवयः॥

एक और उदाहरण शौरसेनी प्राकृत का उपस्थित करता हूँ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कधं अणु गहीदिम्ह। इअमालिङ्गामि। दंसणं उण पियसहीए वाहुप्पीडेण णिरुद्धम् ण लम्भीअदि।

संस्कृत में इसका रूपान्तर यह है—

कथमनुगृहीतोस्मि। इयमालिङ्गामि। दर्शनं पुनः प्रिय सख्या वाष्पोत्पीडेन निरुद्धम् न लभ्यते॥

अधिक समय लेने के भय से मैं और अन्य प्रकार की प्राकृत के उदाहरण नहीं देता। इन्हीं उदाहरणों से आप प्राकृत के स्वरूप का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इन्हीं प्राकृतों से रूपांतर और रूपनाश के क्रमानुसार अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ। वररुचि ने तो अपभ्रंश भाषा की प्राकृत-प्रकाश में कोई चर्चा नहीं की है, किन्तु हेमचन्द्र ने उसको भी प्राकृत का एक रूप माना है और उसका व्याकरण दिया है। इस भाषा में आप आधुनिक हिन्दी का रूप पहचान सकते हैं। अपभ्रंश भाषा में आपको आधुनिक हिन्दी के बहुत छंद मिलते हैं। दो-एक उदाहरण इस भाषा के भी आपके सम्मुख रखता हूँ—

एत्तहे तेत्तहे वारिधरि लच्छि बिसंठुल धाइ।
पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिवि न ठाइ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु हउं कलजुगि दुल्लह हो बलि किज्जउं सु अणस्सु॥

इन रूपों में आपको चंद की भाषा और छंद से भी कुछ मेल मिलता है। वास्तव में, यह अपभ्रंश भाषा शौरसेनी प्राकृत और पुरानी हिन्दी के बीच में आती है और दोनों ही से उसकी समानता है। आपको यह जान पड़ता है कि आप मारवाड़ और ब्रज के पुराने कवियों के समीप पहुँच गये हैं। हिन्दी भाषा के भावी रूप की छटा आपको यहीं दिखायी पड़ने लगती है। इस अपभ्रंश भाषा के साथ मिलान के लिए चंद के छंदों के दो-एक उदाहरण दिये बिना मैं नहीं रह सकता—

पुच्छत बयन सु बोले, उच्चरिय कीर सच्च सच्चाये।
कवण नाम तुअ देस, कवण मन्दकरयपरवेस॥१॥
हसम हयगय देस अति, पति सायर मुज्जाद।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि निसान बहु साद॥२॥
सवा लष्ष उत्तर सयल, कमऊँ गढ़ दुरङ्ग।
राजत राज कुमोद मनि, हय गय द्रिब्ब अभंग॥३॥

आगे भाषा का किस प्रकार से रूप-परिवर्तन हुआ, उसके उदाहरण मैं इस स्थान पर न दूँगा क्योंकि इसके पश्चात् हम तुरन्त ऐसे समय में आ जाते हैं, जो प्रतिदिन के पठन-पाठन से इस समय भी हमारी आँख के सामने है। इन सब परिवर्तनों में आप भाषा के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विकास का वही सिद्धान्त पायेंगे, अर्थात् दिन-पर-दिन कुछ शब्दों का नाश और उन्हीं के शरीर से नवीन शब्दों का प्रादुर्भाव। यह परिवर्तन अब भी बराबर हिन्दी भाषा में जारी है और उसका जारी रहना ही उसकी सजीवता का कारण और द्योतक है।

प्राचीन ग्रन्थों की रक्षा

प्राकृत और अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से मिली हुई पुरानी हिन्दी के ग्रन्थों का प्रायः लोप-सा हो रहा है। जो ग्रन्थ नष्ट हो गये और अब अप्राप्य हैं उनके सम्बन्ध में सिवाय शोक के और हम कर ही क्या सकते हैं? किन्तु मुझे तो ऐसा विश्वास होता है कि अब भी यदि पूर्ण रूप से खोज की जाय तो बहुत-से भाषा-रत्नों का उद्धार हो जाय। अन्य देशों में ऐसे महत्त्व के काम राज्य की ओर से लाखों रुपये व्यय कर किये जाते हैं। हमारे देश में दुर्भाग्य से सैकड़ों वर्षों की राजनीतिक स्थिति के कारण उन ग्रन्थों का पठन-पाठन उड़ गया और वे कहीं देखने में भी नहीं आते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी की अन्य संस्थाओं तथा हिन्दी-सेवियों का एक बड़ा कर्तव्य मुझे यह जान पड़ता है कि इन ग्रन्थों के लिए गहरी खोज की जाय और एक विशाल संग्रहालय बनाया जाय, जहाँ देश भर से इकट्ठा कर ऐसी पुस्तकें सुरक्षित की जायँ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इस ओर जो कुछ काम हुआ है उसके लिए वह धन्यवाद की पात्र है, किन्तु जो काम करना है उसको देखते हुए, जो अब तक काम हुआ है, वह बहुत ही कम प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सार्थकता इस प्रकार की महती आवश्यकताओं के पूरा करने में ही है। यदि इस वर्ष सम्मेलन के कार्य-कर्त्ताओं और सहायकों की संघटित शक्ति इसी काम में लग जाय तो न केवल हिन्दी भाषा का किन्तु देश भर का, ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से, बड़ा उपकार हो जाय। क्या हिन्दी ऐसी विस्तृत भाषा को मातृभाषा कहने वाले सहस्रों धनाढ्यों के लिए यह असम्भव है कि वे तुरन्त दो-चार लाख की पूँजी इकट्ठा कर इस काम में हाथ लगायें?

पुरानी हिन्दी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली

हिन्दी भाषा के क्रम-विकास के सम्बन्ध में एक और बात मैं कहना चाहता हूँ। प्रायः साधारणजनों की यह धारणा-सी जान पड़ती है कि जो भाषा खुमान रासो अथवा पृथ्वीराज रासो में पायी जाती है वहीं से हिन्दी का आरम्भ समझना चाहिये; और वही हिन्दी का आदि स्वरूप है, उसी से ब्रजभाषा निकली और ब्रजभाषा से धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। मेरा निवेदन यह है कि यह बात भाषा-क्रम-विकास के विरुद्ध है और हमें हिन्दी के जो भिन्न-भिन्न रूप अपने पुराने ग्रन्थों में दिखायी पड़ते हैं, वह इस विचार के सर्वथा विपरीत प्रमाण हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि चंद की भाषा में अधिकतर प्रान्तीय भाषा का मिश्रण है। जिस समय चंद राजस्थान में कविता कर रहे थे, उसी समय ब्रज अथवा अवध में वही चंद की भाषा बोली जाती थी, अथवा उसी भाषा में यहाँ के भावुक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रसिकजन अपने आनन्दोत्सव के गीत गाते थे अथवा उसी भाषा के द्वारा माताएँ अपने बच्चों को पालने पर झुलाती हुई लोरियाँ गाती थीं, ऐसा होना प्रमाणित नहीं है। जो बातें ज्ञात हैं वह इसके प्रतिकूल हैं। यह भी नहीं जान पड़ता कि खड़ी बोली ब्रजभाषा में से ही सीधी निकली है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रज में, जो ब्रजभाषा का केन्द्र है, आज भी आप खड़ी बोली का प्रचार देखते। वास्तव में, आप देख यह रहे हैं कि आज भी राजपूताने की भाषा ब्रजभाषा की अपेक्षा चंद की भाषा के अधिक समीप है और जहाँ ब्रजभाषा का साम्राज्य है वहाँ खड़ी बोली साधारण जनता की भाषा नहीं है। खड़ी बोली का प्रचार केवल बोली की रीति से दूसरे ही स्थानों में है। इससे मुझे तो यही प्रतीत होता है कि इन भाषाओं का क्रम-विकास अपभ्रंश भाषाओं से पृथक्-पृथक् हुआ है। अपने पुराने साहित्य पर दृष्टिपात कीजिये, तो भी यही बात प्रकट होती है। चंद का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रायः मध्य में माना गया है। अमीर खुसरो का जन्म संवत् १३१२ सिद्ध है, अर्थात् चंद के अंत और खुसरो के जन्म में केवल चौंसठ या पैंसठ वर्ष का अन्तर था। किन्तु आपको खुसरो की भाषा और चन्द की भाषा में कितना भारी अन्तर दिखायी पड़ता है, जो कदापि ऐसी दो भाषाओं में नहीं हो सकता जिनमें से पहिली से दूसरी निकली हो। चंद के कुछ नमूने मैं ऊपर दे चुका हूँ। खुसरो की कुछ कविताएँ यहाँ उपस्थित करता हूँ—

(१)

सरकंडों के ठट्ठ बँधे और बंद लगे हैं भारी।
देखी है, पर चाखी नाहीं लोग कहैं है खारी॥

(२)

खड़ा भी लोटा पड़ा भी लोटा,
है बैठा और कहैं है लोटा॥
खुसरो कहैं समझ का टोटा॥

(३)

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर भर झोली घर को धावै, उसका नाम पहेला है॥

(४)

सेज पड़ी मेरे आँखों आया,
डाल सेज मुहिं मजा दिखाया।
किससे कहूँ मजा मैं अपना,
ऐ सखि साजन ना सखि सपना॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खुसरो की दो-सखुनी हिन्दी प्रसिद्ध है; दो-एक उदाहरण देता हूँ—

(१)

प्रश्न—रोटी जली क्यों ?
घोड़ा अड़ा क्यों ?
पान सड़ा क्यों ?
उत्तर—फेरा न था।

(२)

प्रश्न—दीवार क्यों टूटी ?
राह क्यों लूटी ?
उत्तर—राज न था।

खुसरो के इस रसीले दोहे पर भी तनिक ध्यान दीजिये—

खुसरो रैनि सुहाग की, जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भये इक रंग॥

खुसरो की बनायी हुई 'खालिकबारी' अब भी उर्दू मकतबों में कहीं-कहीं बच्चों को विद्याभ्यास के प्रारम्भ में याद करायी जाती है। कुछ नमूने देखिये—

खालिकबारी सिरजनहार।
वाहिद एक बिदा करतार॥
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी औ सरूर॥
गंदुम गेहूँ न खूद चना शाली है धान।
जरत जोन्हरी अदस मसूर वर्ग है पान॥

क्या यह भाषा चंद की भाषा का साठ वर्ष पश्चात् परिवर्तित रूप जान पड़ती है ? छह सौ वर्ष बाद भी यह खुसरो की कविता आज हमारी आधुनिक खड़ी बोली की कविता-सी ही है। ब्रजभाषा का उत्कर्ष-काल खुसरो के बहुत पीछे का है। हिन्दी काव्य के सिरमौर कबीरदास जी की भी कविता का बहुत अंश खड़ी बोली ही से मिलता-जुलता है, यद्यपि ब्रज, अवधी और बिहारी भाषाओं का भी उसमें समावेश है।

इन साहित्यिक उदाहरणों से भी वही बात सिद्ध होती है जो मैं ऊपर कह आया हूँ, अर्थात् यह कि चंद की भाषा, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का स्रोत अपभ्रंश भाषाओं से अलग-अलग निकला और अलग-अलग प्रवाहित हुआ। स्रोत की उपमा पूरी घटित नहीं होती, क्योंकि एक स्रोत दूसरे स्रोत से अलग होकर प्रायः फिर एक-दूसरे से नहीं मिलते, किन्तु उपमा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के मुख्य अंग को सामने रखते हुए भी भाषाओं के सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसका एक-दूसरे पर प्रभाव बराबर पड़ता रहता है। जिस प्रकार चंद की भाषा का जन्मस्थान राजपूताना और ब्रजभाषा का ब्रज कहा जा सकता है, उसी प्रकार खड़ी बोली का जन्मस्थान ब्रज के आसपास मेरठ जिले की भूमि कही जा सकती है। सदा काव्यों से जनता की भाषा का अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य प्रायः प्रथानुसार कृत्रिम भाषा में भी रचे जाते हैं। उदाहरण के लिए यही देखिये कि जिस समय ब्रजभाषा का उत्कर्ष था, प्रायः उन कवियों ने भी, जिनकी मातृभाषा ब्रजभाषा नहीं थी, उसी भाषा को काव्य-भाषा मान कर उसी में कविता की। ब्रजभाषा यद्यपि एक प्रकार से हिन्दी भाषा-भाषी मात्र की बहुत दिनों तक कविता की भाषा मानी हुई थी, तथापि सिवाय ब्रज के वह बोलचाल की भाषा कहीं नहीं हुई। बोलचाल की भाषा के सम्बन्ध में आदर्श खड़ी बोली की ओर ही झुकता गया। इसमें मुसलमानों का भी बहुत हाथ था। मुसलमानों ने हिन्दी के साँचे में ढालकर जो फारसी और अरबी शब्दों की सहायता से एक नये प्रकार की भाषा का ढंग निकाला और चलाया, उसका साँचा खड़ी बोली का ही था। उस भाषा ने भी हिन्दी के रूप के स्थिर होने में सहायता दी।

हिन्दी और उर्दू

आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यता की सूचक भाषाएँ बन गयी हैं। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं और रूपकों और भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तव में, भाषा का आधार एक ही है और अभी यह दोनों स्रोत इतनी दूर एक-दूसरे से नहीं हुए हैं कि फिर मिलकर एक प्रबल धारा में परिणत हो भारतवर्ष भर को अपनी शक्ति से उर्वरा कर सुसज्जित न कर दें। मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देश-भक्तों का यही तात्कालिक कर्त्तव्य जान पड़ता है। कुछ हिन्दी-प्रेमी मेरे इस कथन को सुनकर, संभव है, भयभीत हों और समझें कि मैं हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करने की सम्मति दे रहा हूँ और यह कहें कि इस प्रकार के विकृत रूप में न हिन्दी भाषा का माधुर्य, न प्रसाद और न प्रौढ़ता ही रह जायगी। मैं ऊपर नाश और विकास का सिद्धान्त कह आया हूँ। हिन्दी भाषा के आधुनिक रूप के विकृत होने से उसकी गति रुक जायगी, यह मैं नहीं मानता। प्रतिभाशाली कवि और प्रौढ़ लेखक उस हिन्दी और उर्दू की मिली हुई भाषा में भी वही शक्ति उत्पन्न कर देंगे जो सदा आपको अपभ्रष्ट किन्तु जीवित भाषाओं में मिलती आयी है।

साहित्य क्या है ?

यहाँ तक मैंने कुछ भाषा-सम्बन्धी मीमांसा की। अब मैं कुछ शब्द हिन्दी-साहित्य के विषय में निवेदन करूँगा। साहित्य क्या है? मनुष्य के भावों का शाब्दिक चित्र। ईश्वरी शक्ति की सबसे अनूठी रचना, जो संसार में हमें दिखायी पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में सबसे उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावों को व्यंजित करने के कई मार्ग हैं, किन्तु उनके लिए सबसे श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही है। शब्द सृष्टि का आधार है और जितने ही अंश में मनुष्य उस मुख्य शक्ति का सहारा लेने का सामर्थ्य रखता है, उतना ही वह श्रेष्ठ है और सृष्टि के केन्द्र के समीप पहुँचता है। शब्द के बारे में बाइबिल में कहा है कि—"वह ईश्वर के साथ था और स्वयं ईश्वर था।" (दि वर्ड वाज विद गाड एण्ड दि वर्ड वाज गाड) हमारे देश के महात्माओं ने भी शब्द ही को सृष्टि का मूलतत्त्व माना है। शब्द के सहारे ही समस्त ब्रह्माण्ड का विकास बताया है। इसीलिए मनुष्य जितना ही अधिक शब्द की शक्ति का परिचय पाता है उतना ही वह ज्ञानी होता है, जितना ही अधिक उसके रहस्यपूर्ण अमृत को वह चखता है, उतना ही श्रेष्ठ कवि होता है। संसार में यों तो हम प्रतिक्षण शब्द कहते हैं और सुनते हैं, किन्तु उसके वास्तविक रहस्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इतना तो फिर भी हम बाह्यरूप से देख ही सकते हैं कि हमारे इस आधिभौतिक जगत् का वर्त्तमान रूप, उसका कई लाख वर्षों का उत्थान, उसकी सारी स्थिति शब्द ही के सहारे है।

जो महात्मा इस आधिभौतिक जगत् के परे का हाल जानते हैं, उनकी वाणी से तो शब्द की महिमा पग-पग पर प्रकट होती ही है, किन्तु हम साधारण जन भी, जिनकी परिमित बुद्धि और नेत्रों की ज्योति इस भूमण्डल के स्थूल पदार्थों के अंधकार में से ऊपर की कुछ भी बातें नहीं देख सकती, इतना अवश्य देखते हैं कि अपने बुद्धि-क्षेत्र की सीमा के भीतर भी हमारा सब कार्य तथा कार्यों के कारण और परिणाम शब्द की ही शक्ति पर निर्भर हैं। इसीलिए पृथ्वी के आदिकाल से जिन महापुरुषों ने शब्द अथवा वाणी की उपासना की, उन्होंने ही अपने तपोबल से इस जगत् के उत्थान में सबसे अधिक सहायता की है और वे ही जनता के पूज्य और प्रेमपात्र होते आये हैं। हमारे यहाँ तो स्वतः शब्द को प्राचीन ऋषियों ने इतना पवित्र माना कि ब्रह्म को भी शब्द अथवा नाद-स्वरूप बताया। शब्द की पवित्रता को ही अछूता रखने के लिए उन्होंने वेदों को मनुष्य के मुख से निकला हुआ नहीं किन्तु "स्वतः शब्दित" बताया। हमारे महापुरुषों में, जिनकी वाणी में असाधारण शक्ति थी, वही अवतार कहलाये। इसमें भी सन्देह नहीं कि महापुरुषों के अतिरिक्त भी कुछ निम्न श्रेणी के मनुष्यों की वाणी में शक्ति हो सकती है और होती है। ईश्वरीय अंश तो सभी विराजमान हैं, साधारण मनुष्य के हृदय से भी वह कभी-कभी विचित्र और अलौकिक रीति से प्रकट हो जाती है। इन्हीं महापुरुषों और असाधारण पुरुषों के गंभीर शब्दों के संमूह का नाम साहित्य है।

साहित्य में डूबना मानो सृष्टि के आदि स्रोत में डूबना है। किन्तु हरेक अपनी शक्ति के अनुसार ही उस स्रोत में विहार का आनन्द और लाभ उठा सकता है। मधुकर सुगंधित वृक्षों के वन में नित्य पराग चखते हुए भी वन के समस्त पुष्पों का आनन्द नहीं उठा सकता। उसकी तृप्ति तो थोड़े ही से फूलों से हो जाती है। संसार-साहित्य भी अपरिमित और अखण्डित उच्च सुगंधित भावों का कानन है। उसके कुछ ही अंशों में मनुष्य पैठ सकता है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वह आनंद तो थोड़े ही अंश से उठाता है, किन्तु उसके तारतम्य का वह अनुभव कर सकता है। इस अनुभव में भी एक अद्भुत आनंद है। इस बात का ज्ञान कि जिस वन में हम विहार कर रहे हैं वह अपार है, उसमें हमारे-से लाखों जीव हरदम विहार करते हैं, हमसे पहले असंख्य जीव वहाँ विहार कर चुके हैं और हमारे पीछे भी करेंगे, इसमें भी एक अद्भुत चमत्कार है। हम अकेले नहीं हैं। एक महान् कुटुम्ब के वंशज हैं। हमारा सम्बन्ध सृष्टि के आदि से आज तक है और जो आगे आवेगा उससे भी रहेगा, हममें ही भूत और भविष्य का मिलन होता है, इसमें भी अद्भुत आत्मगौरव है। इसीलिए सचमुच वह भाग्यवान् है जो इस अपार साहित्य-वन के किसी भी भाग में कल्लोल करता है। जिस शिक्षा ने इस अद्भुत वन में प्रविष्ट ही न कराया, वह निरर्थक है। जिस मनुष्य ने इसका दर्शन न किया और जो इसके सुरभित फूलों की महक से मस्त न हुआ, उसका जीना वृथा है।

साहित्य-कानन

हिन्दी साहित्य भी संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहार-स्थल है। चिरपरिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं, और हमारे जीवन में समय-समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहाँ सभी प्रकार के चित्र-विचित्र वृक्ष हैं और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आपको इस हिन्दी के अंश के अतिरिक्त साहित्य-वन के अन्य अंशों में घूमने का सौभाग्य हो तो वहाँ भी उनकी तुलना न हो सकेगी। अहह! क्या सुन्दर समूह है! एक ओर कबीर, मीराँ, दादू, सुन्दरदास का वाणी-विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नन्ददास, हितहरिवंश की पवित्र ध्वनि गूँज रही है। आइये, दिव्य दृष्टि की भिक्षा लेकर थोड़ी देर के लिए तो आइये। देखिये, कितने भक्तजनों के वृन्द इन वाणियों के साथ आनन्द में मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वयं उनके स्वर-में-स्वर मिला इस दैवीगान को कितना विशाल बना रहे हैं। क्यों? आपको भी कुछ सुनायी पड़ रहा है? ध्यानावस्थित होइये, तभी सुन पड़ेगा। अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर, ठाकुर, पजनेश के समूह से आ रहे हैं? इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है। बधिक की वीणा के समान हमारे मन-मृग को स्तम्भित कर घसीटे लिये जा रहे हैं, किन्तु रोकिए! अपने को सँभालिए! अभी दूसरी ओर की दैवी-वाणी का आनन्द आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिये।

इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी? देखिए, भूषण, लाल और सूदन का कैसा गम्भीर रणनाद हो रहा है! क्यों, क्या इससे आप भयभीत हो रहे हैं? बहुत दिनों से आप इधर आये ही नहीं। इस नाद में क्या ही आनन्द है! यह नाद है तो कर्कश, किन्तु इसमें भी अद्भुत आनन्द है। मैं देखता हूँ, आप बार-बार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आपने तो इस साहित्य-वन में जान पड़ता है, केवल

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इन्हीं के स्वरों में आनन्द लेना सीखा है। किन्तु अभी आपने इस वन के उत्तुङ्ग गगनस्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किये अथवा उधर आँख गयी भी तो उनकी स्थिति को पहचान ही न सके। अच्छा! दूसरी ओर देखिये। रहिमन, वृन्द, गिरिधर—इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। ओहो! किधर-किधर देखें, चारों ओर रँगीलापन, माधुर्य और आनन्द ही तो दिखायी पड़ता है। हम तो चलते-चलते थोड़ी दूर चले गये थे! यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, पूर्ण और सत्यनारायण अपनी मस्तानी तान सुना रहे हैं। क्यों, थोड़ी देर बैठ क्यों न जायँ।

वाह वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करने-वाले मित्रों ने इस साहित्य-वन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहरण और ओजस्वी गान आरम्भ कर दिया! पूज्य पाठक जी को इस वन का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसंद है। वहीं एकान्त में बैठे हुए वह भारतगीत से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्या-सिंह जी हमसे कुछ अलग ही हट कर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुण-नाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही शंकर जी अपने डमरू के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियाँ हैं, उनको भस्म करने के लिए अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है, किन्तु पास से देखिये तो, इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास दीन जी सूक्ति-सर में लीन हो रहे हैं और वियोगी हरि जो अपने प्रियतम के वियोग से दुःखी करुण स्वर में उसका गान करते अष्टछाप के कवियों की याद दिलाते हैं। किन्तु है! यह क्या ध्वनि आयी! यह तो बिलकुल ही विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी की उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित हैं। एक ओर मैथिलीशरण जी भारत-भारती की आरती उतार रहे हैं। इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेश जी ईश्वर से भारतवर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सत्त्वगुण से, बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये, भारत का उद्धार करें। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति में तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी-स्थल को तो, जान पड़ता है, रजोगुण-व्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठी जी के गान से मोहित हो कहाँ तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका मुझे कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी! इन्हीं मित्रों के पास माखनलाल जी भारतीय आत्मा की करुणा और ओज भरी गाथा से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शस्त्र का सहारा दे सोयी हुई जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्न में माधव शुक्ल जी भी उनका साथ दे स्वतन्त्रता देवी का यशकीर्त्तन कर रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इसी गान को ध्यान से सुन रहे हैं। किन्तु कुछ चुप-से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वयं स्वर मिला इसी शक्तिशालिनी देवी के उपासक बनेंगे।

यहाँ का तो विचित्र दृश्य है! इस वन में तो चारों ओर जीवित वाणियाँ हैं। किधर देखें, किधर सुनें—यहाँ तो आनन्द से नाचने को जी चाहता है।

[भाग ६६ : संख्या १-४

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किन्तु वाह! इस वन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। यहाँ तो गान करनेवालों के अतिरिक्त गम्भीर विचारों में लीन अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देनेवाले अथवा ब्रह्माण्ड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करनेवाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वन के गान का आनन्द उठाते हुए इसी की कथा औरों को सुना रहे हैं। यहाँ शिवसिंह सेंगर, लल्लू लाल जी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गम्भीर, किन्तु आनन्दपूर्ण भाव से उपस्थित हैं। निकट ही श्रद्धेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं। अहा! द्विवेदी जी किस प्रकार गम्भीर शब्दों से सरस्वती का आह्वान कर हिन्दी भाषी युवक-मण्डली को उसके दर्शन करने का निमन्त्रण दे रहे हैं। और भी पास मिश्रबन्धु इस वन के अन्वेषण की कथा सुना लोगों को यहाँ भ्रमण करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं और मेरे मित्र रामदास गौड़ समस्त ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, कामताप्रसाद गुरु, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी इस साहित्य-वन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती इस महावन के अन्य अंशों का फोटो लिये हुए हिन्दी भाषियों को दिखा रहे हैं।

वाह! यहाँ तो घूमते-घूमते श्यामसुन्दरदास जी भी आ गये। आपको इस वन के दर्शनमात्र के आनन्द से ही तृप्ति नहीं हुई, आप यहाँ के न केवल इस हिन्दी अंश का किन्तु अंग्रेज़ी अंश का भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दों में अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं। हैं! यह तो आज एक और नया आनन्द हुआ। पद्मसिंह जी भी यहाँ आ विराजे। आप तो बिहारी पर लट्टू हो रहे हैं। बिहारी का इसी वन में गान सुनते-सुनते, जान पड़ता है, आपको यह भ्रम हो गया कि बिहारी की वाणी की शक्ति कुछ क्षीण हो गयी। इसीलिए आप तुरन्त दौड़ कर संजीवनी बूटी लेकर आये हैं, और स्वयं भी बिहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दरसाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु वाह! आपने कैसी गूँज डाल दी! लोग तो एक क्षण के लिए इस रागिनी को भी भूल साज़िन्दे के बाजे को ही सुन रहे हैं। धन्य है वह साज़िन्दा! उसका आज सत्कार उचित ही है।

इस वन का आज दौड़ादौड़ में अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया। बहुत-सी माधुर्यपूर्ण कुञ्जों और बहुत-से गम्भीर व्याख्याताओं के आश्रमों में तो मेरी आँख भी नहीं गयी। इस भागा-भाग में देख ही क्या सकता था? यह तो संसारी झंझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर ही सन्तोष के साथ हो सकता था किन्तु मुझ ऐसे कीच में पड़े हुए मनुष्य को क्षणमात्र का भी दर्शन बहुत है इसके पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लता-कुञ्जों में घूमता रहूँ और यहाँ के गम्भीर दैवी गीत तथा शिक्षा-प्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहों को देखकर भी बार-बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी—इन्हीं के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अलौकिक नाद सुनने को जी चाहता है। मुझे तो इनके ओजस्वी नाद के समान, न केवल वन के इस अंश में किन्तु अन्य वंशों में भी जिनका किसी समय में अवलोकन किया है, कोई सुनायी न दिया और फिर कबीर का तो कहना ही क्या! अन्य कवि तो सांसारिक बातों की चर्चा करते हैं, शब्द-चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर को कहते हैं, तो सुनी-सुनायी, किन्तु कबीर के नाद को तो सुनते-सुनते यह जान पड़ता है कि आँख के देखे हुए रहस्य को कोई वार्ता कर रहा है। एक बार इस वन के दूसरे अंश में मौलाना रूम के दर्शन हुए थे। उनके गान से भी मैं दंग हो गया था, क्योंकि उस ओर की वन-वीथियाँ मेरी अधिक परिचित न थीं और न वहाँ उस प्रकार के गान सुनने की कभी मुझे आशा थी, किन्तु मौलाना रूम के 'नय' के स्वरों ने मुझे अपने पूर्व परिचित कबीर को आकाश से उतरी हुई ध्वनि की याद दिला दी थी। आपका झुकाव कदाचित् किसी और ही तरफ है। खैर! जाने दीजिये। आप तो मुझसे हर तरह से श्रेष्ठ हैं और भाग्यवान् हैं कि आप इस आनन्द-कानन में विहार तो करते रहते हैं। मेरे तो भाग्य में इस आनन्द का बहुत ही कम अंश लिखा है। इस समय भी अपने को भूल कर सुचित्त हो सैर नहीं कर सकता। इस कानन से बिदा होकर शीघ्र ही साधारण काम में प्रस्तुत होता हूँ। किन्तु इसी कानन में घूमते हुए एक ज्योतिर्मय मूर्ति ने, जिसे मैं पहचान नहीं सका, आपको सुनाने के हेतु एक सन्देश भेजा है, उसे पहले सुना देता हूँ--

सन्देश

'साहित्य-कानन के इस अंश में बड़े-बड़े तेजस्वी पुरुषों की वाणी की झनकार हो रही है, किन्तु अब भी बहुत स्थान ऐसे हैं जहाँ नये-नये प्रतिभाशाली गायकों और व्याख्याताओं के बसने की आवश्यकता है। यह समय भारतवर्ष के लिए महा-परिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही आपका अवसर है। मनुष्य के और देश के भाग्य में ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते, जब वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का मानसिक प्रवाह बदल दे। आपको बड़े सौभाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है। आप न केवल साहित्य-कानन के इस अंश के इन रिक्त स्थानों को ले सकते हैं, किन्तु यहाँ नितान्त नये नादों से विप्लव मचा सकते हैं। सबसे पहली बात यह स्मरण रखिये कि यों तो इस वन में सभी तरह की मोहिनी ध्वनियाँ गूँज रही हैं, किन्तु वास्तविक आदर उन्हीं को मिलता है, जो अकृत्रिम रूप से ब्रह्माण्ड के नैसर्गिक संगीत के स्वरों में मिलकर ध्वनित होती है। कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए। सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखायी पड़ता है। हरे, लाल और पीले काँच के टुकड़ों की उसे आवश्यकता नहीं। बिजली की ज्योति को सुन्दर बनाने के लिए आप भले ही अपने काँच के टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगों से रंगें और उनको भिन्न-भिन्न आभूषणों से भूषित करें, किन्तु सूर्य की ज्योति इन कृत्रिम आभूषणों का तिरस्कार करती है। आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलने के अनुसार भी, परकीया नायिका को ही अधिक होती है। स्वकीया सती का

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

शृंगार आभूषणों पर न निर्भर है और न उससे बढ़ता ही है। स्वाभाविकता ही उसका जौहर है––

पतिवरता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि शशि की जोत॥

वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँध कर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से ही वाणी का उद्गार हुआ है। यदि वाणी ने मनुष्य को लुभा कर नीचे कीच में घसीट कर डाल दिया तो उसका सौन्दर्य कुलटा का सौन्दर्य है, जो भोग-लिप्सकों के हृदय को क्षण भर के लिए भले ही लुभा ले, किन्तु जो उच्च पुरुषों के सामने आदर नहीं पाता। आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें, सुनारों के भड़कीले आभूषणों को दूर ही रखें। भारतवर्ष के इस परिवर्तन-काल में ऐसे उपासकों की आवश्यकता है जो अपनी वाणी से स्वतन्त्रता का नाद देश में भर दें। नगर, ग्राम, जंगल और पहाड़ों से घृणित दुर्बलता और निर्वीर्यता को निकाल महाशक्ति की मूर्ति जनता के हृदय में स्थापित कर उसके पवित्र पूजन के लिए नृत्य और गान करें। निस्सार और नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हीं के समान पोच संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़ दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए, उनके उपयुक्त सञ्चारी भावों से उनको सञ्चरित कीजिए, उनके उपयुक्त विभावों से उनका पोषण कीजिये और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए। इस साहित्य-कानन में जो रिक्त स्थान है वहाँ इस समय ऐसे ही वीर प्रतिभासम्पन्न आकाशमार्ग-गामी कवियों की आवश्यकता है।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अभिभाषण–२

⊙ ⊙

[नासिक कांग्रेस के अध्यक्ष पद से २० सितम्बर १९५० को दिया गया
राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का भाषण]

बहिनो और भाइयो,

इस राष्ट्रीय महासभा का अध्यक्ष चुनकर आपने मुझ में जो विश्वास प्रकट किया है उसके लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। पिछली बार जयपुर में जब हम इकट्ठे हुए थे तब से अब तक हमें जिन सहयोगियों का बिछोह सहना पड़ा उनमें विशेषकर श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री कोंडा वेंकटपय्या, श्री शरतचन्द्र बोस, श्री गोपीनाथ बारदोलाई, श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव, स्वामी सहजानन्द सरस्वती, श्री यूसुफ मेहरअली और श्री साने गुरु जी की याद आ रही है। बहिन सरोजिनी जी की अद्भुत प्रतिभा हमारे देश की मूल्यवान् सम्पत्ति थी। उस पर हमें गर्व था। वह देश के विभिन्न वर्गों को चेतना देने वाली और संसार के सामने हमें ऊँचा करने वाली थीं। सरोजिनी जी कानपुर में इस राष्ट्रीय महासभा के सन् १९२५ के अधिवेशन की अध्यक्षा थीं। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ हमारे स्वतंत्रता संघर्ष की वह बुद्धिमती और सशक्त अगुआ थीं। उत्तर प्रदेश में हम लोगों का यह विशेष सौभाग्य था कि वह वहाँ राज्यपाल होकर गयीं और उनके मोहक व्यक्तित्व का लाभ हमारे प्रदेश को उनके अन्त काल तक मिलता रहा। कोयल की अंतिम कूक भी उसी प्रदेश में हुई। अब वह काव्य-रस रंजित वाणी हमें सुनने को न मिलेगी। प्रकृति नटी अपने पात्रों को शीघ्रता से बदलती रहती है किन्तु हृदय में बसी स्मृति के हटाने में वह असमर्थ है।

श्री कोंडा वेंकटपय्या हमारे देश के बहुत पुराने कांग्रेस नेता थे। मुझे उनको पास से देखने का सौभाग्य हुआ था। उनका स्वभाव बहुत सरल था। सच्चरित्रता और देश-प्रेम उनमें भरा था। वह न केवल आन्ध्र के किन्तु सारे देश के उज्ज्वल रत्न थे।

कलकत्ते के बोस कुटुम्ब से देश अच्छी तरह परिचित है। श्री शरतच्चन्द्र बोस ने यद्यपि अपने छोटे भाई नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के समान देश की राजनीति पर गहरी छाप नहीं डाली तो भी वह कांग्रेस के एक प्रभावशाली नेता थे। बंगाल में उनका बहुत मान और प्रभाव था। वह कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्य रह चुके थे और केन्द्रीय शासन में मंत्री भी रहे थे। अपने अन्त काल से पहले वह कांग्रेस से अलग हो चुके थे और एक नया दल बनाकर उसके नेता थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्री बारदोलाई जी असम प्रदेश के रत्न थे। स्वतंत्रता संघर्ष में वह उस प्रदेश के नायक थे और उस संघर्ष की समाप्ति पर उन्होंने मुख्यमंत्री पद से उसका नव-निर्माण किया। आज असम के ऊपर जो प्राकृतिक कोप है, उसमें, जन-रक्षा के हेतु, बारदोलाई जी की याद आना स्वाभाविक है।

श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव उत्तर प्रदेश के कांग्रेस जनों के उस प्रथम जत्थे में थे जिसने स्वतंत्रता संघर्ष में महात्मा गांधी के झण्डे के नीचे सन् १९२१-२२ में भाग लिया था। वे प्रतिभाशाली पत्रकार थे और 'हिन्दुस्तान' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक के संस्थापक और सम्पादक थे।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती के निधन से हमारे बीच से एक अच्छा कर्मयोगी उठ गया। भारत के और विशेष रूप से बिहार तथा उत्तर प्रदेश के किसान स्वर्गीय स्वामी जी की सेवाओं को कृतज्ञता के साथ स्मरण करेंगे। इधर उनका कांग्रेस से मतभेद हो गया था। पर उनके प्रति उनके सहयोगियों की श्रद्धा पूर्ववत् बनी रही।

श्री यूसुफ मेहरअली जिनका देहान्त लगभग युवावस्था में हुआ अन्त तक चित्ताकर्षक सहयोगी थे। वह शक्तिवान् लेखक थे। उनके व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य प्रगतिशील दृष्टि का सुन्दर समन्वय था। वह कांग्रेस समाजवादी दल के संस्थापकों में से थे परन्तु जब उस दल का कांग्रेस से विच्छेद हुआ तब वह भी कांग्रेस के सदस्य नहीं रहे।

श्री साने गुरु जी की सेवाओं से इस प्रदेश की जनता भली-भाँति परिचित है। वे तपस्वी, जनसेवक और स्वतंत्रता के वीर सैनिक थे। आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के अतिरिक्त सामाजिक जीवन के स्तर को ऊँचा करने की ओर उनका ध्यान था।

इन सब सहयोगियों के निधन पर देश को शोक है।

भूकम्प से जो भौतिक परिवर्तन असम में हुए हैं उनसे वहाँ की जनता बहुत दुःखी है। उसका दुःख देश भर का दुःख है। हमारे हृदयों में असम की पीड़ा की पीड़ा है और उसकी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न से ही हम अपनी पीड़ा से मुक्त हो सकते हैं। नदियों की बाढ़ों ने भी पिछले दिनों में देश के कई भागों को भारी हानि पहुँचायी है। हमारी सरकारें इन प्राकृतिक कारणों से दुःखी जनता की सहायता की ओर ध्यान दे रही हैं। साथ ही, हमारे जन-समुदाय का कर्त्तव्य है कि वह सच्ची सहानुभूति के साथ इस कष्ट को कम करने में संघटित रूप से अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

अब मैं उन प्रश्नों पर कुछ निवेदन करता हूँ जो इस बीच हमारे सामने आये हैं।

संविधान

हमारे देश के वर्तमान और भविष्य को रूप देने वाला संविधान जिसके बनाने में तीन वर्ष से काम हो रहा था पिछली २६ जनवरी से चालू हो गया। संविधान सभा के प्रतिनिधियों ने उसके बनाने में गहरा परिश्रम किया। देश उनका कृतज्ञ है। यह संविधान देश के इतिहास

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में सदा स्मरणीय रहेगा। इसके द्वारा ही हमें एक बाहरी देश की अधीनता से नियमित छुटकारा मिला और हम निश्चित क्रम से अपने देश के शासन में सन्नद्ध हुए।

संविधान के सम्बन्ध में यह समालोचना की गयी है कि उसने ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के बनाये अधिनियम को ही अपना आधार रखा। ऐसा करना स्वाभाविक था। शासन-प्रणालियों का जनता के जीवन से गहरा सम्बन्ध होता है। जैसे मनुष्य के विचारों और उनकी आदतों के बदलने में समय लगता है वैसे ही शासन-प्रणालियों के बदलने में भी समय लगता है। जो प्रणाली चल रही थी उसका ही आधार लेकर और उसमें आवश्यक परिवर्तन कर हमें अभी आगे चलना था। धीरे-धीरे जनतांत्रिक परम्पराएँ देश में निश्चित होंगी, अनुभव से नये विचार उत्पन्न होंगे और संविधान में भी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होंगे।

संविधान के अधीन हमारे देश का शासनक्रम असाम्प्रदायिक है। इसके कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ रही है कि देश के विभाजन के बाद जो पाकिस्तान नाम का देश हमारे ही पुराने अंग से बना उसने अपना शासन इस्लाम धर्म के आधार पर साम्प्रदायिक रखा है। हमारे देश का संविधान या शासन किसी विशेष धर्म का अनुयायी नहीं है। वह किसी धर्मग्रन्थ का आश्रित नहीं है। बिना धर्म या जाति-भेद के सब व्यक्तियों के अधिकार उसमें बराबर रखे गये हैं। मैं इसको अपने देश की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का सूचक समझता हूँ। देश के विभाजन के बाद इस देश में हिन्दुओं की संख्या अन्य धर्मावलम्बियों की कुल सम्मिलित संख्या से बहुत अधिक है। पाकिस्तान को देखकर यहाँ के हिन्दुओं के मन में यह भावना उठ सकती है कि हम इस देश में हिन्दू शासन रखें। चुनावों में इस प्रकार की धुन कभी उठायी भी जा सकती है। मैं इस विषय पर यहाँ कुछ थोड़ा-सा विचार करना और अपनी बुद्धि के अनुसार चेतावनी देना चाहता हूँ।

मध्ययुगीन काल में जो हिन्दू राज्य थे उनका केन्द्र अधिकतर कोई एक व्यक्ति होता था। शासन का सूत्र उसके अथवा उसकी इच्छा के अनुसार चुने हुए मंत्रियों के हाथ में रहता था। साधारणतया परम्परागत शैलियों के अनुसार कार्य-संचालन होता था। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर परम्परा से हटकर भी निश्चय किये जाते थे। ग्रन्थों का प्रभाव था किन्तु किसी काल के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि शासन का सम्पूर्ण आधार कोई एक निश्चित ग्रन्थ रहता था। समय-समय पर स्मृतियाँ रची गयीं और उन पर टीकाएँ बनीं। उन सब का आदर होता था। परन्तु यह नहीं होता था कि किसी एक ग्रन्थ की लिखित आज्ञाएँ जनमत या मंत्रियों के मत की अपेक्षा शासन में अधिक अधिकार प्राप्त करती रही हों। गणराज्यों में और भी अधिक जनता का मत ग्रन्थों की अपेक्षा बलवान था।

परम्पराओं का बल रहता था। किन्तु यह भी समझना भूल होगी कि परम्पराओं से हटकर विचार करना असम्भव अथवा कठिन था। बहुत-से लोग प्राचीन या मध्ययुगीन भारतीयों को और उनके धर्म को रूढ़िवादी कहते हैं। इसमें केवल आंशिक सत्य है। संसार भर के स्थायी और पुराने शासनों में रूढ़ि और परम्परा का स्थान है। इस देश में संभवतः उनका बल अधिक था। परन्तु मौलिक रीति से भारत बुद्धिवादी रहा है। ग्रन्थों का बहुत

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मान करते हुए भी इसने कभी अपनी विचारधारा को किसी ग्रन्थ में सदा के लिए सीमित नहीं किया। ग्रन्थों का गहरा प्रभाव होते हुए भी यहाँ बुद्धि का ही वैभव था। ईश्वर के नीचे बुद्धि ही परमतत्त्व माना गया था और सब शास्त्र बुद्धि की सीमा के भीतर और उसके सजग नियंत्रण के अधीन थे। गीता का यह वाक्य––

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥"

(सब स्थानों में जल फैला होने पर एक गढ़ैया का जो उपयोग है वही ब्रह्मज्ञानी के लिए सब वेदों का है।)

––ज्ञान अथवा बुद्धि की महीमा को वेदों के भी ऊपर रखता है। बृहस्पति स्मृति का यह वाक्य––

"केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥"

[केवल शास्त्र का सहारा लेकर कर्त्तव्य का निर्णय नहीं होता। जिस विचार में युक्ति नहीं है उससे धर्म की हानि होती है।]

––शास्त्र को युक्ति अथवा बुद्धि से नियंत्रित बताता है। वेदों की व्याख्या के संबंध में यस्काचार्य का यह प्रसिद्ध वाक्य "तर्को वै ऋषिरुक्तः" [तर्क ही (वेदों के अर्थ करने वाला) ऋषि कहा गया है] बुद्धि की श्रेष्ठता का निर्देश करता है। मेरा तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल की परम्पराओं के बीच भी यह देश बुद्धि का मुख्य सहारा लेता था। जो बात समय के अनुकूल उचित होती थी उसको स्वीकार करने में हमारे देश ने प्राचीन काल से बराबर ग्रन्थों और परम्पराओं से हटकर काम किया है। पुस्तकों के वाक्यों की अपेक्षा औचित्य पर कितना अधिक ध्यान दिया जाता था यह इस पुराने वाक्य से स्पष्ट है––

"उपयुक्तमनुपयुक्त कर्तुं शक्यं नहि वचन सहस्रैः।" अर्थात् एक सहस्र (ग्रंथों के) वचन उचित को अनुचित नहीं कर सकते।

यह बात मानी हुई है कि हमें इस देश में गणतंत्र रखना है। स्पष्ट ही गणतंत्र में जनता का मत ग्रन्थों की आज्ञा की अपेक्षा अधिक चलेगा। ऐसे तंत्र की आधार-शिला बुद्धि और युक्ति हो सकती है कोई ग्रन्थ नहीं। इस सिद्धान्त को हमारा शिक्षित वर्ग जितना ही शीघ्र स्वीकार कर लेगा उतना ही शीघ्र हम जनता को फैले हुए मूढ़ाग्रह से ऊपर उठाकर जनतंत्रीय शासन के लिए उपयुक्त बना सकेंगे।

जो राजनीतिज्ञ इस देश के शासन को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से चलाने की बात सोचते हैं उन्हें अपने देश की विभिन्न परम्पराओं और रूढ़ियों को आँख से ओझल नहीं करना चाहिए। किसी एक रूढ़ि अथवा धर्मग्रन्थ को पकड़ कर हमारा तंत्र चल नहीं सकता। इस प्रकार सोचना भी हमारे आपसी झगड़ों को बढ़ाएगा और शासन को दुर्बल करेगा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पाकिस्तान से हमें इस विषय में सीखना नहीं है। हमारी दृढ़ आधार-शिला कोई पुस्तक नहीं, चेतन बुद्धि ही हो सकती है। ग्रन्थ और परम्पराएँ सहायक होंगी किन्तु बुद्धि का स्थान नहीं लेंगी। इस प्रकार बुद्धि को आधार मानना ही साम्प्रदायिकता का विरोध है।

इस संविधान का दूसरा मुख्य दृष्टिकोण यह है कि देश के विभिन्न भाग अपनी स्थानीय शासन-सुविधाओं को रखते हुए केन्द्रीय शासन के द्वारा आपस में बँधे रहें और आपस में अधिक समीप आने की ओर उनकी प्रवृत्ति हो। इसी से हमारा देश बलवान और संसार में आदर का पात्र हो सकेगा।

हिन्दी भाषा को सरकारी कामों के लिए प्रधानता देकर इसी प्रवृत्ति को बल दिया गया है। मेरा विश्वास है कि संविधान का यह अंग देश भर में विचारों की एकता और प्रादेशिक प्रेम बढ़ाने में जादू का काम करेगा। जो सांस्कृतिक काम पूर्व समय में संस्कृत भाषा ने इस देश में किया था उससे अधिक शक्ति देने वाला काम हिन्दी से होने वाला है। संस्कृत भाषा का गहरा प्रभाव हमारे देश की ऊपरी श्रेणियों में था किन्तु हिन्दी जनता के भीतर घुसकर और प्रादेशिक भाषाओं से उनको बहिन के नाते आदान-प्रदान कर देश के समस्त जन-समुदाय में ऐक्य और प्रेम की चेतना उत्पन्न करने वाली है। अपनी एक बहिन को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बैठाकर हमारी प्रादेशिक भाषाएँ भी स्वयं आदरित और सुखी होंगी और अपने-अपने साहित्यिक विकास से फलें फूलेंगी।

बिना संविधान के सहारे हिन्दी की शक्ति ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों को अपनी ओर खींचा था और अब संविधान का सहारा पाकर वह तो देश भर की जनता की सम्पत्ति बन गयी है। उसके रूप-निर्माण में भी दिन-दिन समस्त देश का हाथ होगा। इससे उसका शब्द और साहित्य भण्डार बढ़ेगा और उसकी उपयोगिता विस्तृत होती जायगी।

वास्तविकता को देखते हुए संविधान ने अभी अंग्रेजी की मुख्यता १५ वर्षों के लिए मानी है। परन्तु यह हमारे देशवासियों के हाथ में है कि अपनी दूरदर्शिता और लगन तथा प्रेमयुक्त परिश्रम से इस अवधि की समाप्ति से बहुत पहले अपनी स्वीकृत राष्ट्रभाषा को एक परभाषा की अपेक्षा अधिक आदर देकर अपनी सामूहिक शक्ति बढ़ाएँ और जब अवसर देखें तब संविधान में भी मिल-जुल कर और एकमत होकर आवश्यक परिवर्तन कर लें।

संविधानों की ओर मेरी दृष्टि न केवल आदर की किन्तु पूजा की रहती है। उनके साथ खिलवाड़ करना मुझे सदा अनुचित लगता है। उनकी अवहेलना करना मैं साधारणतः आत्म-हत्या के समान अपराध समझता हूँ। इस प्रकार की मनोभावना देश में अनियंत्रण फैलाती है, अनियंत्रण राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण करता है, शक्ति की कमी दुर्बलता लाती है और दुर्बलता राष्ट्र का नाश कर उसको पराधीन बना देती है।

मेरा मत है कि देश भर अपने संविधान को अपनी सामूहिक इच्छाओं और भावनाओं का प्रतीक समझ उसके प्रति पूजा का भाव रखे। इस विचार को रखते हुए भी मैं परिवर्तन-वादी हूँ। मैं सदा कहता हूँ कि "समय भेदेन धर्म भेदः" (समय के भेद से कर्त्तव्य का भेद होता है) परन्तु परिवर्तन में भी उच्छृंखलता नहीं, नियंत्रण अपेक्षित है। भिन्न दिशाओं में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

काम करने के हेतु नये मार्ग बनाने के लिए संविधान ने हमें बहुत फैला हुआ क्षेत्र दिया है किन्तु, आगे चलकर किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जब हमें संविधान में किसी परिवर्तन की आवश्यकता दिखायी पड़े तब संवैधानिक मार्गों से ही हमें परिवर्तन करना होगा।

वैदेशिक नीति

विदेशों से सम्बन्ध के प्रश्न पर कांग्रेस की अब तक यह नीति रही है कि इस समय जो दो बड़े दल संसार में हैं, जिनमें एक का अगुआ अमेरिका है और दूसरे का रूस, उनमें से किसी में हमारा देश शामिल न हो, किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ में रहते हुए दोनों दलों के साथ मैत्री का बर्त्ताव रखे और जो प्रश्न राष्ट्र संघ में उपस्थित हों उनमें से प्रत्येक पर न्याय, औचित्य और शांति-स्थापना की दृष्टि से विचार करे।

हाल के दो प्रश्नों ने हमारी इस नीति के दो उदाहरण हमारे सामने रखे हैं। लाल-रंगी नीति पर चलने वाले चीन को सम्मिलित संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता देने के प्रश्न पर हमारे देश का मत अमेरिका और ब्रिटेन के विरुद्ध रूस के साथ मान्यता देने के पक्ष में है। कोरिया में जो उत्तरी भाग ने दक्षिणी भाग पर आक्रमण किया उसमें हमारा देश अमरीकी ब्रिटेन समूह के साथ रूस के विरुद्ध उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने के पक्ष में रहा है।

इस प्रकार की नीति से कुछ लाभ है और कुछ हानि भी। लाभ तो यह है कि सब देशों के सामने हम औचित्य और न्याय का आदर्श रखते हैं और सबों को उस आदर्श की ओर लाने का यत्न कर सकते हैं। हमारी यह नीति विश्व शासन के आदर्श में सहायक है और इस कारण आदर्शवादी विचारक हमारा आदर करते हैं। साथ ही, इस नीति में यह त्रुटि है कि इन दोनों बलवान दलों में हमें कोई अपना पूर्ण सहयोगी नहीं समझता। विशेषकर हमारे और पाकिस्तान के बीच जो गुत्थियाँ आती हैं उनमें स्वार्थवश पाकिस्तान को सहयोगी बनाने का दृष्टिकोण बहुतेरे देशों को हमारे विरुद्ध पाकिस्तान की ओर झुकाता है। पाकिस्तान ने कश्मीर में हमारे देश पर आक्रमण किया, उसका प्रचुर प्रमाण राष्ट्र संघ के सामने आया किन्तु संघ ने पाकिस्तान को आक्रमणकारी नहीं घोषित किया।

वास्तविक बात यह है कि विश्व शासन की भावना तो बहुत देशों में है किन्तु उसके लिए जो नैतिक मनोविकास चाहिए उसकी प्रायः कमी है, अथवा यों कहें कि दूर के ध्येय को सामने रखते हुए भी सामूहिक शक्ति की तात्कालिक आवश्यकता से अप्रभावित रहकर प्रत्येक प्रश्न को केवल न्याय की दृष्टि से देखने का अभ्यास अभी संसार के देशों को नहीं है। कोरिया में एक नीति और कश्मीर में वैसी ही अवस्था में दूसरी नीति इसी निम्न दृष्टिकोण का परिणाम है।

हमारी नीति दलों से अलग रहने की है। उसमें हमारा स्वाभाविक आकर्षण है। किन्तु संसार में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता है। "मेरी तामीर में मुजमिर है यक सूरत खराबी की।" रजोगुण तमोगुण को जीतता है और फिर वह सात्विकता में परिणत

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हो सकता है। रजोगुण के साथ सामूहिक शक्ति का उपयोग होता है। विदेशी राजनीति में यह असम्भव नहीं है कि हमें कभी इस विषय पर भी विचार करना पड़े कि सब स्थितियों को नाप तोल कर हम इन दो दलों में से एक के साथ अपने देश की रक्षा के निमित्त अधिक घनिष्ठता उत्पन्न करें।

कश्मीर के प्रश्न को सामने रखकर पाकिस्तान यह झूठा प्रचार कर रहा है कि भारत रूस के साथ है। अपने को वह अमेरिका और ब्रिटेन का बड़ा पोषक प्रकट करता है। वह समझता है कि इस रीति से संयुक्त राष्ट्र संघ में वह अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता कश्मीर के विषय में पा सकेगा। उसने यहाँ तक कहा कि कश्मीर के फँसाव के कारण वह कोरिया में सेना भेजकर सहायता नहीं कर सका। इस कथन का मतलब स्पष्ट ही है। हमारे देश को पाकिस्तान की इस चाल से सचेत रहना है।

ब्रिटिश कामनवेल्थ में भारत रहे या न रहे यह प्रश्न पिछले वर्ष हमारे सामने आया। हमारे प्रधान मंत्री, इंग्लैण्ड भी इस विषय की बातचीत के लिए गये और वह इस बात के निर्णय कराने में सफल हुए कि इंग्लैण्ड के राजा का कामनवेल्थ के प्रत्येक देश में राजा माना जाना आवश्यक न समझा जाय। हमारे देश में गणराज्य है किन्तु कामनवेल्थ को जो नया रूप पिछले वर्ष दिया गया उसके अनुसार हमारा देश कामनवेल्थ के भीतर रह सका और अब भी है। हमारे प्रधानमंत्री की इस नीति पर एक ओर समाजवादी और दूसरी ओर हिन्दू महासभा वाले बहुत आक्षेप करते रहते हैं। मैंने आरम्भ में ही प्रधानमंत्री को, जब वह इंग्लैण्ड से लौटकर आये, उनके काम पर बधाई दी थी। आज भी मेरा वही मत है। भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस मत का समर्थन देहरादून में किया था और मेरा विश्वास है कि बहुत अधिक कांग्रेस जनों का और देशी राजनीति पर विचार करने वाले जन-समूह का यही मत है।

एशिया महाद्वीप में हमारे देश का विशेष स्थान है। पश्चिमीय स्वार्थ-साधकों से इस महाद्वीप को मुक्त करने का बहुत बड़ा दायित्व हमारे देश पर है। साथ ही, यहाँ शांति रखने के भार-वहन करने में हमारा बड़ा भाग है।

इण्डोनेशिया और बर्मा की कठिनाइयों में हमारे देश ने जो मैत्री का हाथ उनकी ओर बढ़ाया उसका यह प्रभाव उन देशों पर पड़ना ही था कि वे हमारे देश की ओर मित्र भाव से आकर्षित हों।

चीन के साथ हमारे देश का पुराना सांस्कृतिक सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध की मधुर ऐतिहासिक स्मृतियाँ हैं। बहुत संघर्ष के बाद चीन ने अपने शासन की एक नयी व्यवस्था की है। उसका रूप क्या होगा यह तो भविष्य की बात है किन्तु चीन की जनता के साथ हमारी गहरी सहानुभूति है और हम उसके राजनैतिक प्रयोग की सफलता के इच्छुक हैं। चीन के प्रति अपनी मैत्री का भाव हमारी सरकार ने अपने इस स्पष्ट मत से दिखाया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को मान्यता दी जाय।

इस समय सब से अधिक भयावह वैदेशिक स्थिति कोरिया में उत्पन्न हुई है। उत्तर और दक्षिण कोरिया का आपसी झगड़ा अभी सीमित है किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ ने उसमें हस्तक्षेप

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किया है। उत्तर कोरया को उसने आक्रमणकारी कहा है और उसके आक्रमण को रोकने के लिए राष्ट्र संघ की ओर से अमेरिका ने अपनी सेनाएँ भी भेजी हैं। हमारे देश ने अमेरिका और ब्रिटेन का साथ इस बात में दिया है कि उत्तरी कोरिया आक्रमणकारी घोषित हो किन्तु अपनी ओर से कोई सेना भेजने का दायित्व नहीं लिया है। अब तक जो नीति कोरिया के विषय में हमारी सरकार ने बरती है मुझे वह, सब स्थिति को देखते हुए, उचित लगी है। मैं उसका पोषण करता हूँ।

निर्वासितों की समस्या

देश के विभाजन के कारण पंजाब, सरहदी सूबा तथा सिंध से आये पीड़ित निर्वासितों को बसाने और उन्हें सहायता देने का जो प्रश्न सन् १९४७ में हमारे सामने आया वह अभी तक हल नहीं हुआ है। केन्द्रीय और प्रादेशिक गवर्नमेण्टों ने दुःख के वेग को कम करने में भरसक सहायता दी है, जो तीव्र पीड़ा थी वह कुछ सहायता के कारण और सहन करते-करते कम हो गयी है किन्तु उससे छुटकारा देने के लिए हमारी केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को अभी बहुत काम करना है।

इस बीच पूर्वी बंगाल के निर्वासितों की समस्या विशेष रीति से तीव्र हो गयी है। जयपुर के अधिवेशन के साथ ही पूर्वी बंगाल से निर्वासितों के हमारे देश में आने का प्रश्न खड़ा हो चुका था। जयपुर अधिवेशन में हमारे अध्यक्ष जी ने उस ओर ध्यान दिलाया था। जिस प्रकार ढाका में लगभग सहस्र घरों को पाकिस्तान की गवर्नमेण्ट ने छीनकर लगभग १५००० मनुष्यों को निर्वासित किया था उसकी चर्चा उन्होंने की थी। तब से अब तक पूर्व बंगाल से भागकर और अपनी अचल सम्पत्ति को छोड़ कर बराबर लोग भारत में चले आ रहे हैं। इस प्रश्न में मुझे यहाँ नहीं जाना है कि अब तक ३४ लाख की जनसंख्या भागकर आयी, जैसा कि सरकार की ओर से कहा गया है, अथवा लगभग ५० लाख मनुष्य आये जैसा कि बंगाल के कुछ असरकारी स्रोतों ने बताया है। इतना स्पष्ट है कि पाकिस्तान की नीति पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं को वहाँ निर्भय और निःसंकोच होकर रहने का अवसर नहीं दे रही है।

इस वर्ष के फरवरी मास से तो पूर्वी बंगाल को छोड़कर भारत आने वालों की संख्या तीव्रता से बढ़ी। एप्रिल में जो समझौता हमारी सरकार और पाकिस्तान के बीच हुआ उसका यह अच्छा परिणाम अवश्य निकला कि जो जन पाकिस्तान छोड़कर आना चाहते थे उनको सुविधाएँ आने के बारे में मिलीं और वहाँ से भागने का वेग भी रुका। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि बंगाल के हिन्दू निःशंक होकर पाकिस्तान में रह रहे हैं या रह सकेंगे।

जहाँ तक हमारे देश में मुसलमान भाइयों के रहने का प्रश्न है हमारा असाम्प्रदायिक संविधान और शासन इस देश के रहने वाले प्रत्येक मनुष्य के अधिकार बराबर मानता है और किसी प्रकार का जाति भेद नहीं करता। कहीं-कहीं स्थानीय झगड़ों के कारण कुछ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मुसलमान हमारे देश से भी पाकिस्तान गये किन्तु सन् १९४७ के उथल-पुथल को छोड़कर इनकी संख्या आपेक्षिक दृष्टि से बहुत थोड़ी है। हमारी स्थिर नीति यह है कि हमारे देश में साम्प्रदायिकता का प्रभाव न होने पाये और सब सम्प्रदाय के लोग मिलकर और अपने अधिकार बराबर के मानकर इस देश में बसें और इसको दृढ़ बनावें। हमारी मनोवृत्ति यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय के जन अपने को इस देश में सुरक्षित समझें। इसी नीति के अनुसार हमारे शासन के कुल काम चलते हैं और हमारा यत्न है कि जनता में भी इसी प्रकार का वायुमण्डल बने जिससे हर एक अपने को सुरक्षित समझें और यदि कहीं अनाचार दिखायी पड़े तो जनता स्वयं उसके विरुद्ध शासन अधिकारियों के साथ खड़ी हो जाय। स्थानीय बहुसंख्यक समूहों का यह विशेष दायित्व है कि वे अल्पसंख्यकों की सदा रक्षा करें और देश में अशान्ति न उत्पन्न होने दें।

यदि पाकिस्तान में भी यही नीति बरती जाती तो वहाँ से हिन्दुओं के भागने का प्रश्न न उठता। किन्तु हमारे देश की असाम्प्रदायिक नीति के विरुद्ध पाकिस्तान की साम्प्रदायिक नीति है। वह शासन स्पष्टतया इस्लामी साम्प्रदायिकता के आधार पर है। वहाँ शासन-बुद्धि साम्प्रदायिकता के अधीन होकर रहती है, उसके ऊपर नहीं चढ़ती। इस साम्प्रदायिकता को कुछ विशेष पुराने ग्रन्थों का आधार है, बुद्धि और विचार का नहीं। शासन की खुली हुई साम्प्रदायिकता वहाँ की मुसलमान जनता में अनुदारता और असहिष्णुता पैदा कर दूसरे सम्प्रदायों के प्रति द्वेष का भाव उत्पन्न करती है। पाकिस्तान का पृथक् अस्तित्व साम्प्रदायिकता की नींव पर हुआ और अपने अस्तित्व के बाद भी वह बराबर उसी मनोवृत्ति को उत्तेजना देता आया है जिसने पृथकता की माँग की थी। वहाँ इस्लामी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण वाले बल पाते हैं और दूसरे सम्प्रदाय वाले अपने को अरक्षित अनुभव करते हैं। हिन्दुओं के पाकिस्तान भागने में, वास्तविक अनीतियों के अतिरिक्त, यह मानसिक कारण भी है।

संसार साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ रहा है। हमारे देश में यह विष न फैले इसके लिए हम सब देश-प्रेमियों को सजग रहना है। मेरी तो आशा है कि समय पाकर संसार की प्रगतिशील शक्तियाँ पाकिस्तान को भी साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने के लिए मजबूर करेंगी और तब भारत और पाकिस्तान की मानसिक प्रवृत्ति अधिक समीप हो जाने से किसी भी समुदाय को इन दोनों देशों में कहीं अरक्षित रहने का भय न रहेगा।

परन्तु यह तो आगे की बात है। इस समय की समस्या का बोझ तो हमारे ऊपर है ही। इस समस्या के दो अंग हैं—एक तो भारत और पाकिस्तान का अपने अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार और दूसरा पाकिस्तान से हमारे देश में आये हुए विस्थापितों की सहायता और इनके बसाने का प्रबन्ध। दोनों ही गम्भीर प्रश्न हैं। मैं इनके ब्यौरों में यहाँ नहीं जा सकता। हमारी केन्द्रीय गवर्नमेण्ट ने दोनों ही प्रश्नों की ओर ध्यान दिया है और रास्ता निकालने के लिए यत्नवान् है। पाकिस्तान से कई बार हमारी गवर्नमेण्ट ने समझौते किये

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किन्तु समस्या का कोई समाधान नहीं निकला। मुझे ऐसा लगता है कि पाकिस्तान के साथ वर्ताव करने में अधिक करेंपन की आवश्यकता पड़ेगी।

विस्थापितों के सम्बन्ध में हमारी केन्द्रीय गवर्नमेण्ट ने आरम्भ से सहृदयता से सहायता की है। राज्यों की सरकारों ने भी भरसक सहायता की है किन्तु उनकी शक्ति परिमित है। पूर्वी पंजाब से सन् १९४७ में पाकिस्तान गयी हुई मुस्लिम जनता ने जो खेती की भूमि छोड़ी थी उसे पंजाब की सरकार ने हाल में पश्चिमी पंजाब से आये हुए उन विस्थापितों में एक अनुपात से बाँटा है जो स्वयं पाकिस्तान में भूमि छोड़कर आये थे। इस प्रकार भी कुछ विस्थापितों को आर्थिक सहायता पहुँची है। परन्तु जो कुल सहायता हुई है, उससे समस्या बड़ी है। सन् १९४७ से अब तक करोड़ से ऊपर जन-समुदाय इस देश में आ चुका। केन्द्रीय गवर्नमेण्ट का व्यय इन तीन वर्षों में लगभग ७५ करोड़ हुआ है, जिसमें सरकारी प्रबन्ध का व्यय भी शामिल है। स्पष्ट ही निष्कासितों की गहरी हानियों और उनकी आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह सहायता बहुत थोड़ी है।

पाकिस्तान से आये हुए विस्थापित जो सम्पत्ति वहाँ छोड़कर आये हैं, उसका अनुमान कई क्षेत्रों में किया गया है। गवर्नमेण्ट की ओर से भी कुछ अनुमान पहले प्रकाशित हुआ है। दाव कर अनुमान करने पर भी यह जान पड़ता है कि ३५ अरब से ऊपर की सम्पत्ति पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान में निर्वासितों की छूटी है। निर्वासितों की हानि की कुछ अंश में पूर्ति करने का अपना दायित्व केन्द्रीय गवर्नमेण्ट ने स्वीकार किया है। देश का विभाजन क्यों हुआ इस प्रश्न को बिलकुल अलग छोड़कर यह मानना ही पड़ता है कि इन विस्थापितों के कष्ट का कारण हमारी राष्ट्रीय नीति है। राष्ट्रीय नीति के कारण जो हानि किन्हीं समुदायों को होती है उसकी आवश्यकतानुसार पूर्ति करना सम्पूर्ण राष्ट्र का कर्त्तव्य है। हम सबका सम्मिलित हित जिस कष्ट का कारण है उसके दूर करने में भी हम सबका सम्मिलित दायित्व है। यह काम २५ या ३० करोड़ वार्षिक व्यय से पूरा नहीं हो सकता। सम्पूर्ण हानि का प्रतिफल तो हम दे ही नहीं सकते, किन्तु मेरा निवेदन है कि फिर भी निर्वासितों के कष्ट निवारण के लिए कई अरब रुपयों की आवश्यकता है। यह रुपया किसी विशेष योजना द्वारा ही आ सकता है। मैंने साम्पत्तिक कर उगाहने की बात कुछ पहले कही थी। मैं इसे व्यावहारिक समझता हूँ। यदि गवर्नमेण्ट को यह व्यावहारिक न लगे तो वह स्वयं पर्याप्त धन-संग्रह करने और विस्थापितों को सहायता पहुँचाने का मार्ग निकाले यह मेरा निवेदन है।

भारत - पाकिस्तान

विभाजन के आरम्भ से ही भारत और पाकिस्तान का आपसी सम्बन्ध हमारी राजनीति की एक मुख्य समस्या रही है। अल्पसंख्यकों के साथ उचित व्यवहार के प्रश्न के अतिरिक्त कश्मीर का प्रश्न दोनों देशों के बीच तनाव का कारण है। कश्मीर परम्परा तथा व्यवस्था के अनुसार भारत का अंग है। पाकिस्तान की सेना ने उस पर चढ़ाई कर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उसके एक अंश को अपने अधीन कर रखा है। कश्मीर में जनता के मत लेने की सुविधा उत्पन्न हो इसके लिए भी वह अपनी सेना हटाने को तैयार नहीं। संयुक्त राष्ट्र संघ से गवर्नमेण्ट ने जो यह माँग बराबर की है कि वह पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित करे उसके पीछे हमारी जनता है। जैसा कि अमेरिका के एक प्रसिद्ध पत्रकार ने कहा है, जो बात कोरिया के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ ने की वही उसे पाकिस्तान के सम्बन्ध में करना उचित था। इसी में उस संघ की न्याय-बुद्धि का परिचय मिलता और आगे कार्यों में उसे शक्ति मिलती। भारत पूरी रीति से संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थक और पोषक है। भारत की यह धारणा है कि संसार में शान्ति रखने, देशों को आपसी द्वेषों और लड़ाइयों से बचाने और उनको नियंत्रित रखने तथा उनके नैतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए संसार भर में एक केन्द्रीय शासन की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप में उसे अपनी इस भावना की पूर्ति सम्भव दिखायी देती है। भारत इस विषय में अपने सीमित स्वार्थों से ऊपर उठकर संसार का स्वार्थ देखता है। हमारे देश के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। संसार भर के हित की भावना हमारी प्राचीन संस्कृति का अंग है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

(संसार के सब लोग सुखी और रोगरहित हों, सबों का कल्याण हो, कोई भी दुःखी न हो।)

हमारे देश का यह पुराना वाक्य संयुक्त राष्ट्र संघ का सिद्धान्त वाक्य होने के योग्य है।

किन्तु अभी हम देख रहे हैं कि वह संघ पक्षपातरहित न्याय करने की बुद्धि अपने सदस्यों में नहीं पैदा कर सका है और उनमें अपने स्थानीय स्वार्थों के कारण संघर्ष होता रहता है।

भारत की सरकार ने अपने सौजन्य से संघ का सम्मान करते हुए पाकिस्तान के प्रश्न को स्वयं अपनी ओर से उसके सुपुर्द किया था। किन्तु ऐसा करके वह कुछ देशों की स्वार्थ-नीति का निशाना हो गया। उसके अपने अंग पर पाकिस्तान की सेना अब भी बैठी है जिसे वह अपनी शक्ति से, बिना राष्ट्रीय संघ की सहायता लिये हुए, हटा सकता था। उसने राष्ट्रीय संघ का सम्मान बढ़ाने का यत्न किया किन्तु संघ ने अपनी नीति से भारत पर एक जटिल समस्या लाद दी और पक्षपातरहित नीति से काम नहीं किया।

श्री ओवन डिक्सन आये और चले गये और कश्मीर का प्रश्न वहीं पर है जहाँ आरम्भ में था। मैं अपनी केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को आश्वासन देता हूँ कि कांग्रेस और देश की जनता की सहायता उसको इस बात में दृढ़ रूप से प्राप्त होगी कि कश्मीर से पाकिस्तान

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

की सेनाएँ हटाई जायँ और कश्मीर में हमारे उस प्रदेश के शासन का, जिसके अगुआ प्रतीक हमारे भाई शेख अब्दुल्ला हैं, पूर्ण रीति से हमारे संविधान के अनुसार अधिकार हो।

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

इन प्रश्नों की चर्चा करते हुए हमारा ध्यान अपने देश के हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की ओर जाता है। हमारे नेता महात्मा गांधी ने कहा था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता हमारे जीवन का श्वास है। हम कांग्रेस वाले महात्मा गांधी के नेतृत्व में सदा हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुख-स्वप्न देखते थे। उस स्वप्न को सच्चा करने के लिए हमने पुरानी लकीरों को मिटाकर अपने खान-पान, रहन-सहन को इसी क्रम पर ढाला कि हिन्दू और मुस्लिम में सामाजिक अन्तर हटता जाय और हम सब एक समाज और एक संस्कृति के अंग बनें। इस काम में हमें एक हद तक सफलता भी मिली। खिलाफत आन्दोलन में हिन्दुओं ने मुसलमान भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम किया और जनता में हिन्दू-मुस्लिम एकता की लहर फैली, किन्तु धार्मिक कट्टरता और स्वार्थ की शक्तियों ने, जो असहयोग के कार्यक्रम में दब गयी थीं, अपना सिर उठाया और सन् १९२२-२३ से ही साम्प्रदायिक झगड़े प्रकट होने लगे। दोनों के बीच खाई को पाटने के कई यत्न हुए। महात्मा गांधी ने अपनी जान की बाजी भी लगा दी। उसका कुछ प्रभाव दिखायी पड़ा किन्तु विरोधी शक्तियाँ प्रबल निकलीं और स्थायी मेल दूर हो गया। मुस्लिम लीग ने अपनी माँगों को रूप दिया और अन्त में उसने अपना वह सिद्धान्त सामने रखा कि हिन्दू मुसलमान जातियाँ दो पृथक् राष्ट्र हैं, दोनों की संस्कृतियाँ अलग-अलग हैं, दोनों एक देश में नहीं रह सकते और उनके बीच देश का बँटवारा होना आवश्यक है। मुस्लिम लीग इस पृथकता की माँग को बराबर बढ़ाती गयी और देश में हिन्दू-मुसलमानों के बीच वातावरण बिगड़ता गया। लेजिस्लेटिव एसेम्बलियों अर्थात् विधान सभाओं के लिए जो पृथक् चुनाव का क्रम था उसने मुस्लिम लीग को जातीय द्वेष फैलाने में बहुत सहायता दी। पृथक् चुनाव के क्रम को सन् १९१६ में स्वीकार करना हमारी बहुत भूल थी। उसी से पीछे की कठिनाइयाँ बढ़ती गयीं। चुनाव में हम कांग्रेस वाले अपने सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते थे। मुस्लिम लीग मुसलमानों के अलग होने पर जोर देती थी। उसके सदस्य हिन्दुओं के विरुद्ध कटु और विषैली बातें कहते थे और पाकिस्तान बनाने की माँग पर बल देते थे। देश में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का भेजा कैबिनेट मिशन आया। उसने कुछ सुझाव सामने रखे। उसको भी यह स्वीकार करना पड़ा कि देश के विभाजन से हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल नहीं हो सकती। हमें आशा हुई कि विभाजन का प्रश्न अब नहीं रहा, दूसरी रीति से हिन्दू-मुस्लिम गुत्थी का सुलझाव निकलेगा। किन्तु पर्दा बदला और जून सन् १९४७ में फिर विभाजन की बात सामने आयी। विभाजन के सम्बन्ध में मेरा जो मत था मैंने उसे भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने निवेदन किया था। उस विभाजन से जो प्रश्न पैदा हुए आज भी हम उन्हीं के फन्दे में पड़े हुए हैं।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विभाजन के बाद हिन्दू-मुस्लिम समस्या का रूप बदला। पृथक् चुनाव के क्रम के बारे में अपनी पिछली भूल से हमने शिक्षा ली और अपने संविधान में उस क्रम को हमने हटा दिया। पाकिस्तान एक इस्लामी राज्य बन गया। किन्तु भारत में भी तो लगभग साढ़े तीन करोड़ मुसलमान रहते हैं। हम पाकिस्तान का बनना रोक न सके किन्तु हमारे देश में जो मुस्लिम रहते हैं उनमें और दूसरी जातियों में हमारी राजनीति अन्तर नहीं करती। हमारी निगाह इस बात पर है कि हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई एक राष्ट्र के अंग हों और आपस में घुल-मिल जायँ और हमारे देश में कुछ स्थानीय अन्तरों के रहते हुए भी एक संस्कृति हो जिसको रूप देने और जिसके विकास में सब सम्प्रदायों का हाथ हो।

मेरा यह निवेदन है कि हमारा देश अब कभी संस्कृति या तमद्दुन को धर्म के साथ जोड़ने की भूल न करे। भिन्न-भिन्न धर्म के मानने वालों की भी एक संस्कृति होती है, क्योंकि संस्कृति का प्रश्न भूमि और जलवायु से सम्बन्ध रखता है। एक स्थान के लोगों का रहन-सहन, बोलचाल मिलती है। किन्तु अपने-अपने धर्म का काम या मजहबी फर्ज वे अपने-अपने अलग ढंग से करते हैं। चीन इसका एक उदाहरण है। हम सब प्रकार से एक संस्कृति के विकास में सहायक हों और एक-दूसरे के धर्म-कर्मों को उदारता और प्रेम से देखें इस भावना के फैलाने में हम कांग्रेसजनों के प्रयत्न की आवश्यकता है।

किसान और मजदूर

हमारे सामने जनता के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कई प्रकार के आर्थिक प्रश्न हैं। किसानों की समस्या का एक रूप है। मजदूरों के प्रश्न का दूसरा रूप है। मजदूरों में भी मिलों और फैक्टरियों में काम करने वालों का प्रश्न खेती पर मजदूरी करने वालों के प्रश्न से अलग है। स्वराज्य आने के साथ सभी श्रेणियों में चेतना का आना और अपनी स्थिति को ऊपर उठाने की इच्छा स्वाभाविक है। पिछले तीन वर्षों में हमारी गवर्नमेण्टों ने जिस उत्साह और साहस से इन प्रश्नों को हल करने में यत्न किया है वह बधाई के योग्य है। सब प्रश्न हल नहीं हो गये, किन्तु चौमुखी यत्न हो रहा है। कई दिशाओं में यत्न के परिणाम इच्छानुसार नहीं निकले किन्तु आगे के लिए बराबर काम का क्रम स्थिर हो रहा है।

किसानों की समस्या के सम्बन्ध में पिछले कुछ वर्षों में विशेष जाँच हुई है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९४८ में जमींदारी प्रथा के विनाश हेतु एक अच्छा विवरण, जिसके तैयार करने में बहुत समय और परिश्रम लगा था, प्रकाशित किया। कांग्रेस कार्यालय से पिछले वर्ष भूमि संबंधी समस्याओं पर श्री कुमारप्पा के सभापतित्व में जो विवरण निकला है वह बहुत उपयोगी है। किसानों की दशा सुधारने के लिए यह सिद्धान्त, जिस पर मैंने १९३० से बराबर बल दिया था, अब मान लिया गया है कि जमींदारी प्रथा का

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अन्त हो और जमींदारों को प्रतिफल दिया जाय। कुछ राज्यों की विधान सभाओं में इस विषय के बिल उपस्थित और स्वीकार हो चुके हैं। आवश्यकता यह है कि सभी राज्यों में जितना शीघ्र हो सके किसान जमींदारों के दबाव से छुटकारा पाएँ और नयी चेतना से खेती की उन्नति में लग सकें।

इस दिशा में उत्तर प्रदेश की गवर्नमेण्ट का काम विशेष रीति से उल्लेखनीय है। वहाँ एक विस्तृत विधेयक (बिल) हाल में स्वीकार हुआ है। उत्तर प्रदेश की योजना का मुख्य अंग यह है कि किसान अपनी जोत का स्वयं मालिक दसगुना लगान देकर बन जाय। दसगुना लगान देने का एक परिणाम यह भी होगा कि किसान का वार्षिक लगान आधा हो जायगा।

मिल मजदूरों की दशा सुधारने का प्रश्न बहुत सजगता से केन्द्रीय परिश्रम विभाग ने उठाया है। उनके निम्नतम वेतन का भी प्रश्न लिया जा चुका है। कई अधिनियम भी बन चुके हैं, जिनका सम्मिलित परिणाम यह है कि मजदूरों की स्थिति में सुधार होगा और वे केवल मिल मालिकों की कृपा पर निर्भर न करेंगे। खेती के मजदूरों के प्रश्न पर भी केन्द्रीय गवर्नमेण्ट का ध्यान है। यह प्रश्न मिल मजदूरों के प्रश्न की अपेक्षा बहुत विस्तृत और उलझा हुआ है। अनुमान किया गया है कि हमारे देश में खेती के मजदूरों और उनके आश्रितों की संख्या ७ और १० करोड़ के बीच में है। हमें इन वर्गों के आर्थिक प्रश्नों पर अभी टटोल कर चलना होगा परन्तु आशा है कि रास्ते स्पष्ट होते जाएँगे।

इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कई प्रकार की समस्याओं और रुकावटों के होते हुए भी यह सन्तोष की बात है कि किसानों और सब प्रकार के मजदूरों की आर्थिक और मानसिक स्थिति पर स्वराज्य स्थापित होने का अच्छा परिणाम हुआ है।

आर्थिक नियंत्रण

आज की आर्थिक समस्याओं के साथ मिला हुआ प्रश्न उन नियंत्रणों का है जो वस्तुओं के मोल लेने और बेचने पर लगे हुए हैं। इन नियंत्रणों का आरम्भ पिछली लड़ाई के समय अंग्रेजी गवर्नमेण्ट ने किया था। इनकी आवश्यकता तभी पड़ती है जब किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन में कमी होती है जिसकी माँग साधारणतः अधिक हो और इच्छानुसार वह वस्तु उचित मूल्य पर सबको न मिल सके। यूरोप के देशों में इस प्रकर का नियंत्रण बराबर आवश्यकता पड़ने पर होता रहता है। उन देशों की जनता इन नियंत्रणों को गवर्नमेण्टों के कर्त्तव्यों का एक अंग समझती है और गवर्नमेण्टों को इनके लगाने का अधिकार देती है। इन नियंत्रणों से असुविधाएँ अवश्य होती हैं परन्तु जनता उनको अपने संगठित जीवन का एक अंग समझ कर प्रसन्नता से बर्दाश्त करती है, क्योंकि वह समझती है कि यदि नियंत्रण न रहेगा तो पैसे वालों को वस्तु अधिक मूल्य देने से मिल सकेगी और साधारणजनों और धनहीनों को दुष्प्राप्य हो जायगी। संगठित जीवन का एक यह आवश्यक परिणाम होता है कि व्यक्तियों को संघटन के सामाजिक लाभ के साथ ऐसे नियमों के बन्धनों की असुविधाएँ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भी सहनी पड़ती हैं। हमारे देश की जनता के लिए इस प्रकार के नियंत्रण लड़ाई के समय बिलकुल नये थे। अब तो हम उनके सिद्धान्त को बहुत-कुछ जान गये हैं। फिर भी हमारे जीवन में उस प्रकार का नियंत्रित रहन-सहन नहीं है जैसा पश्चिम देशों का होता है। इसीलिए हमारे समाज में नियंत्रणों के विरुद्ध एक प्रकार का बराबर क्षोभ रहता है।

हमारी गवर्नमेण्टों ने नियंत्रणों की प्रणाली पश्चिम से तो ली परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि स्वयं हमारी गवर्नमेण्टों के अधिकारियों में उस प्रकार का संयम नहीं है जिसके आधार पर पश्चिमी देशों में ये नियंत्रण सफलता से चलाये जाते हैं। इसीलिए हमारे समाज की साँप-छछूंदर की-सी गति हुई है। शिक्षित वर्ग यह समझता है कि माल कम होने की दशा में एक प्रकार का नियंत्रण उचित है जिससे सबको उस माल का कुछ भाग मिल सके। परन्तु कर्मचारियों में संयम की कमी उनको नियंत्रणों के हटाने की पुकार में सहायक बनाती है। हमारे व्यापारियों में भी उस प्रकार के संयम की बहुत कमी है जो अनियमित कर्म द्वारा पैसे का लाभ उठाकर अपने को कलुषित नहीं होने देता। व्यापारियों और सरकारी कर्मचारियों की त्रुटियों के कारण इन नियंत्रणों से अनीतियाँ बढ़ गयीं। परिणाम यह है कि जो लोग नियंत्रणों के सिद्धांत को मानते हैं और उनका लाभ भी देखते हैं वे भी अनीतियों को बन्द करने के लिए नियंत्रणों को उठा देने के पक्ष में हैं। इसी कारण महात्मा गांधी नियंत्रणों के पक्ष में नहीं थे। परन्तु शासन के सामने वास्तविक कठिनाई है। कुछ नियंत्रणों के हटाने का उनका अनुभव यह हुआ कि कुछ वस्तुओं का मूल्य व्यापारियों ने बहुत चढ़ा दिया और तब फिर गवर्नमेण्ट को साधारण जनता के हित के लिए नियंत्रण लाना पड़ा। इस विषय में मेरी धारणा यह है कि गवर्नमेण्टों को जहाँ समाज का नियमन करना पड़ता है वहाँ उन्हें इसका ध्यान रखना चाहिए कि निजी व्यवहारों में वे कम-से-कम हस्तक्षेप करें और जिन कारणों से समाज में नैतिकता की कमी आती है उनको दूर करने की ओर ध्यान रखें। नियंत्रणों से जब हमारी आँख के सामने, हमारी सामाजिक त्रुटियों के कारण ही सही, अनियमितता फैलती है तब केवल वस्तु पहुँचाना ही पर्याप्त कारण नियंत्रण का नहीं रह सकता। वस्तुओं में भी हम छाँट कर सकते हैं। बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके न मिलने से चाहे कुछ असुविधा हो किन्तु जीवन स्वास्थ्य और सुख से चल सकता है। ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में जहाँ तक हो नियंत्रणों का न लगाना ही अच्छा होगा। साथ ही, मुझे जनता से यह कहना है कि यदि नियंत्रण के कारण वस्तु थोड़ी ही मिलती है तो हमें सम्पूर्ण समाज के हित का ध्यान कर प्रसन्नता से इस प्रकार की असुविधा को सहन करना ही उचित है।

गवर्नमेण्ट नियंत्रण तभी लगावे जब वे नितान्त आवश्यक हों और साधारण रीति से सामान्य आर्थिक नियमों के अनुसार समाज को बरतने दें--यह मुझे इस समस्या का समाधान लगता है।

पिछली २५ और २६ अप्रैल को जो आर्थिक आयोजन सम्मेलन (इकनामिक प्लैनिंग-कान्फ्रेन्स) कांग्रेस अध्यक्ष की ओर से बुलाया गया था, जिसमें राज्यों के मुख्यमंत्रियों और कांग्रेस के सभापतियों ने भाग लिया था, उसने यह कहा था कि गवर्नमेण्ट इन नियंत्रणों को

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नियमित रीति से और सफलता के साथ नहीं चला सकी और अब इन नियंत्रणों की नीति पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है जिसमें ऐसे नियंत्रण जो बहुत आवश्यक न हों हटा दिये जायँ। मुझे आशा है कि इस सुझाव पर केन्द्रीय गवर्नमेण्ट अमल करेगी।

देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

हमारे सामने यह बड़ा प्रश्न है कि हमें अपने देश में किस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था करनी है। कांग्रेस ने यह घोषणा कर दी है कि वह वर्ग-विहीन समाज शांति के मार्गों से देश में स्थापित करना चाहती है। हमारे संविधान ने भी राष्ट्र की नीति अंकित की है। इस प्रकार से मोटे रूप में कुछ सिद्धान्त हमारे सामने आ गये हैं। फिर भी नीति सम्बन्धी कुछ अन्य आवश्यक प्रश्न हमारा ध्यान खींचते हैं।

उत्पादन के क्षेत्र में हम बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के खोलने और उद्योगों के केन्द्रीकरण की नीति पर बल देंगे और अपनी सामाजिक व्यवस्था को उस नीति पर ढालेंगे अथवा हम देश के बहुसंख्यक ग्रामों द्वारा उद्योगों को विस्तार देंगे और ग्रामों की जनता को उनके घर पर उत्पादन करने की ओर लगावेंगे, यह मार्मिक प्रश्न है। आर्थिक उत्पादन का क्रम मनुष्य जीवन के सब पहलुओं पर, उनके रहन-सहन, भोजन पर भी, गहरा प्रभाव डालता है और बहुत-कुछ हमारी सस्कृति का रूप निश्चित करता है। मैं इस विषय में महात्मा गांधी के सिद्धांतों का प्रतिपादक रहा हूँ। मेरा निवेदन है कि उन आवश्यक उद्योगों को हम अपवाद रूप में रखें जिनमें संसार की स्थिति को देखते और देश रक्षा को सामने रखते हुए हमें ऐसे केन्द्र बनाने हैं जहाँ श्रमिकों की बड़ी संख्या एक स्थान में रह कर काम करें। साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारा यह ध्येय होना चाहिये कि अपने ग्रामों और घरों में अपने कुटुम्ब के साथ रहकर कारीगर उत्पादन का कार्य करें। इसी नीति में मुझे मानवता और नैतिकता की रक्षा दिखायी देती है।

मैंने ऐसा समझा था कि देश ने और विशेषकर कांग्रेसजनों ने इस नीति को स्वीकारा है। किन्तु जो परिणाम इस नीति को स्वीकारने से निकलते हैं वे मुझे अभी अपने शासन के क्रम में दिखायी नहीं पड़ते। इस नीति को स्वीकारने का एक अर्थ यह होना चाहिए कि ग्रामों में आवश्यकता की वस्तुओं को बनवाने का हम संघटित प्रयत्न करें और इन कामों के लिए जनता को अपने उदाहरण से उत्तेजना दें और उनमें उत्साह पैदा करें। मेरा विश्वास है कि हमारे मंत्रीगण जो अधिकतर महात्मा गांधी के बनाये हुए वायुमण्डल में पले हैं इसी क्रम को अच्छा समझते हैं किन्तु मुझे प्रायः यह लगता है कि अच्छा समझते हुए भी वे अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग इस नीति के चलाने में नहीं करते। उनके विचार और कथन व्यवहार में बरते जाते नहीं दिखायी देते।

महात्मा गांधी का बल खादी और स्वदेशी, विशेषकर ग्रामों की उत्पादित वस्तुओं के उपयोग पर था। हमारे कुछ शासनों ने खादी और ग्रामोद्योग के लिए आर्थिक सहायता भी दी है। परन्तु खादी उत्पादन के काम में लगे हुए हमारे सहयोगी यह खुली रीति से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कह रहे हैं कि इस समय खादी की माँग घटती जा रही है। उत्पादन कराना और उत्पादित वस्तुओं की खपत का रास्ता न निकालना यह कल्पना और आयोजन की कमी है।

शासन का नेतृत्व इसमें है कि देश भर में उन वस्तुओं की माँग उत्पन्न की जाय जिनका निर्माण हम ग्रामों में कराना चाहते हैं। इन वस्तुओं की खपत में साधारण सस्ती और महँगी का क्रम नहीं लगेगा। उदाहरण के लिए मैं खादी को लेता हूँ। इसके उत्पादन और व्यवहार के अर्थशास्त्र को देश के सामने रखने में गांधी जी ने अथक परिश्रम किया था। वह इस विषय के अग्रणी विचारक थे। हममें से बहुतों ने उनकी विचार-प्रणाली पर स्वयं विचार कर उसे उचित माना था और प्रायः समस्त कांग्रेस जनों ने उसे स्वीकार किया था। अब जब हमारे हाथ में उस विचार-प्रणाली को काम में लाने की शक्ति है तब हम आगा-पीछा कर रहे हैं और उसे स्वीकार करने में साहस की कमी दिखा रहे हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि गांधी जी ने खादी की जो बात कही उसके ही कारण आप कोई काम कीजिए। मैं खादी सम्बन्धी उनके बताये मार्ग का इसलिए अनुसरण करने को कहता हूँ कि उनका बताया तर्क बुद्धिग्राह्य और शास्त्रीय है। उस तर्क के अनुसार देश भर का कर्त्तव्य है कि वह खादी के उत्पादन, व्यवहार और प्रचार में भाग ले। यह कर्त्तव्य व्यक्तियों का तो है ही, कांग्रेस सिद्धान्त पर चलने वाले शासनों का और अधिक है।

हम लोगों में से बहुतों ने खादी के सिद्धान्त को मानकर सन् '२० से खादी को छोड़कर एक पैसे का भी दूसरा कपड़ा अपने तन ढकने या ओढ़ने-बिछाने को नहीं लिया। "खादी ओढ़न खादी डासन" हमारा मंत्र हो गया। खादी हमारे स्वभाव का अंश बन गयी। किसी भी मूल्य पर हमें वह प्यारी लगती रही है। दूसरे कपड़े की अपेक्षा महँगी होने पर भी हमने उसे सदा हृदय से लगाया, न केवल इसलिए कि हमारे नेता की यह शिक्षा थी किन्तु इसलिए कि अपने देश के अनगिनत भाइयों और बहिनों की रोटी पहुँचाने में वह सहायक थी। फिर अब क्यों कांग्रेस शासनों के मंत्रीगण सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में खादी की उपेक्षा कर रहे हैं? ग्राम उद्योगों में खादी का पहला स्थान है और प्रत्येक कांग्रेस शासन का कर्त्तव्य है कि अपनी कपड़े की आवश्यकताओं के लिए खादी का ही, जब तक वह मिल सके, प्रयोग करें। खादी और ग्रामोद्योग का आर्थिक तर्क यदि सही नहीं है तो उसको छोड़ देने की बात मैं समझ सकता हूँ किन्तु उसको मानते हुए कांग्रेस शासनों की ओर से खादी के व्यवहार में उदासीनता मेरी समझ में नहीं आती।

केन्द्रीय और राज्यों के शासन यदि इस एक मद को उठा लें और खादी का वायुमण्डल बना दें तो खादी की खपत और उसका उत्पादन शीघ्रता से कई गुना बढ़ जायगा और उससे अन्य ग्राम उद्योगों को भी भारी सहारा होगा।

अपने एक मित्र से जो एक राज्य में मंत्री हैं मैंने गवर्नमेण्ट की आवश्यकताओं के लिए खादी चलाने की बात की। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा जो बजट कपड़े के लिए बनता है उसके भीतर खादी महँगी होने के कारण नहीं चल सकती। यह तो वही दलील है जो गांधी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी के समय में भी दी गयी थी और जिसका उत्तर कई बार शास्त्रीय क्रम से दिया जा चुका है। यदि यह दलील सही है तो हम सब पैसों की बचत के लिए खादी छोड़ सकते हैं। यदि गवर्नमेण्ट खादी के सम्बन्ध में स्वयं रुकती है तो दूसरों को भी अपने प्रभाव के कारण वह बिना कहे रोकती है। "यथा राजा तथा प्रजा" यह वाक्य कई अंशों में सही है। यदि खादी को हम आवश्यक मानते हैं तो हमारा बजट खादी के सिद्धान्त पर बनेगा, अर्थात् या तो खादी के लिए अधिक रुपया बजट में रखा जायगा या कपड़े की आवश्यकता इस प्रकार कम की जायगी जिसमें खादी से निर्वाह हो सके।

मुझे यह नितान्त उचित लगता है कि कांग्रेस इस बात पर बल दे कि जिन शासनों के बनाने में कांग्रेस का हाथ है उसकी नीति खादी और ग्रामोद्योग की वस्तुओं के खपाने की होगी। शासन अधिकारीगण यदि लगन और विश्वास से इस काम को उठावें तो हमारी कई ऐसी आर्थिक समस्याएँ हल हो जायँगी जो आज हमारे लिये जटिल और कष्टकर हो रही हैं।

अपने देश की उन्नति का जो चित्र मेरे मन में है उसमें सहयोग द्वारा ग्रामों की आत्म-निर्भरता, स्वच्छता, शिक्षा और नैतिकता का मुख्य स्थान है। नगरों और शहरों का भी चित्र मेरे हृदय में आज के नगरों और शहरों से बहुत भिन्न है।

शिक्षा-पद्धति में मैं यह देखना चाहता हूँ कि उसका बल केवल जानकारी के उपार्जन पर न हो किन्तु इन दो सिद्धान्तों पर हो:—(१) चरित्र-निर्माण और (२) वस्तु उत्पादन कला द्वारा आत्म निर्भरता। शिक्षा-पद्धतियाँ, विद्यार्थियों का रहन-सहन, भोजन, खेल-कूद सब इस प्रकार के हों जो इन दो आदर्शों की पूर्ति में सहायक बनें।

इन सब कामों में हमारा ध्येय यह होगा कि हमारा सामाजिक जीवन अधिक पूर्ण और अधिक ऊँचे स्तर का हो। इसके लिए आयोजन करना होगा। वस्तु उत्पादन इस आयोजन का मुख्य अंश होगा। देश भर में कोई बेकाम न रहे, हर एक अपने समय का उचित उपयोग करे और अपने साधारण काम से जो समय बचे उसमें उपयोगी वस्तु उत्पादन करे, इसके लिए देश भर में उत्साह फैलाना हमारा कर्त्तव्य होगा। इस उत्पादन में मानव शक्ति और मशीन शक्ति दोनों का ही उपयोग होगा।

गाँवों के उत्पादन में हम बिजली शक्ति द्वारा बहुत सहायता पहुँचा सकते हैं। कारीगरों को उनके घरों के पास बिजली पहुँचाने की योजनाओं को हमें प्राथमिकता देनी चाहिए।

आर्थिक आयोजन के बारे में आज बहुत प्रकार के विचार फैले हैं। कहीं-कहीं तो जो काम उठाये गये उनमें धन का अपव्यय भी हो गया है। अनुभव की कमी से आरम्भ में कुछ धन का अधिक व्यय हो जाना क्षम्य है। परन्तु धन को बचाने और उसका पूर्ण उपयोग करने की प्रवृत्ति हमारे शासनों में अधिक आनी चाहिए। केन्द्रीय और राज्यों के सचिवालयों में भी व्यय घट सकता है ऐसी मेरी धारणा है। आवश्यकता यह है कि हम अपने सीमित स्रोतों का अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकें।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

धन का अपव्यय इस कारण से भी हुआ है कि कई प्रकार के काम एक साथ उठा लिये गये और सबों को चलाने के लिए पर्याप्त धन शासन के पास नहीं था। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक शासन अपने विभागों को अलग-अलग काम बढ़ाने की छूट न दे दे किन्तु मंत्रीगण सम्मिलित विचार कर निर्णय करें कि किस विभाग के किस काम को प्राथमिकता देनी है और किसको पीछे उठाना है। यह सब उचित आयोजन की बात है। इस काम का उचित सम्पादन करने के लिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय आयोजन कमीशन नियुक्त किया है। उसने सतर्कता से काम उठाया है। मुझे भरोसा है कि उसकी योजनाओं के साथ राज्य शासन अपनी योजनाओं का समन्वय करेंगे। इसके साथ हमें यह सदा स्मरण रखना है कि जीवन का स्तर केवल आर्थिक सुविधाओं से ऊँचा नहीं होता, उसमें आदर्श की ओर चलने की प्रेरणा चाहिए और उस प्रेरणा को मूर्तिमान करने के लिए तपस्या चाहिए। मनुष्य जीवन की सफलता इन्द्रिय भोगों की प्रचुरता में नहीं किन्तु उनके नियंत्रण में है। देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए हम अपनी आवश्यकताएँ बढ़ायें और उनकी पूर्ति की योजनाएँ बनाएँ यह अर्थशास्त्र को उलटा समझना है। अर्थशास्त्र जब जीवन को भोग-लिप्सा की ओर ले जाने में प्रवृत्त होता है तब वह अपने कर्त्तव्य से गिर जाता है। सम्पत्ति की वृद्धि अपने में जीवन का आदर्श नहीं हो सकती। उसमें सुख देने की भी शक्ति सब अवस्था में नहीं है। उसकी उपयोगिता इसी में है कि समाज के काम आकर सामाजिक जीवन को अधिक पूर्ण बनाये।

कला की भी यही कसौटी है कि जीवन में आदर्शों की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न करे। बाहरी भोगों में फँसाने के लिए जिस कला का निर्माण हो वह भय की वस्तु है।

इसलिए समाज के संचालकों का यह कर्त्तव्य है कि वह धन के और कला के उचित उपयोग का ध्यान रखें। चारों ओर जिस प्रकार दूषित चलचित्रों में धन और कला का इस समय दुरुपयोग हो रहा है वह मेरे कथन का एक उदाहरण है।

इस विषय को मैं अधिक विस्तृत नहीं करता। मेरा तात्पर्य यह है कि शासन को इस बात में सजग रहना है कि भोग की प्रवृत्ति समाज के स्तर को नीचा न करे। उसके उचित नियंत्रण के साधनों की खोज शासन के कर्त्तव्यों की सूची में एक मुख्य मद है।

हमारे समाज में जब अच्छी संख्या में ऐसे लोग मिलेंगे, जिनके लिए धन केवल अपने भोग-लिप्सा की नहीं किन्तु सेवा की वस्तु हो, जिनको सुख दूसरों को सुखी देखने में हो, तभी उसका स्तर ऊँचा होगा। तब जीविकाहीन जन हमें नहीं मिलेंगे, समाज सबको उपयोगी काम में लगा सकेगा, लूले-लँगड़े और रोगी रास्तों में अपनी करुण गाथा कहते हुए समाज की दुर्बलता का परिचय नहीं देंगे, किन्तु उनके लिए यथासाध्य आश्रमों में रहने का प्रबन्ध होगा, भिक्षा माँगने की प्रवृत्ति नहीं होगी, आत्माभिमान उसे रोकेगा और समाज उसका अवसर ही न आने देगा, स्त्रियाँ पुरुष के आदर की पात्र होंगी, उनका शरीर पैसों के बदले में बेचना पातक समझा जायगा, आज लगभग ३० लाख की संख्या में जो हमारी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बहिनें अपने शरीर का सौदा करती हुई नारकीय गड्ढे में पड़ी हैं उनकी मुक्ति समाज करेगा और हमारा पुरुषत्व इसको अपना अपमान समझेगा कि कोई स्त्री जीवन-निर्वाह के लिए अपना शरीर बेचती फिरे। इस प्रकार के समाज का चौमुखी संघटन और नैतिक सौन्दर्य, यह हमारे शासन का ध्येय होगा। गांधी जी ने इसी प्रकार के शासन को राम-राज्य कहा था। उसकी ओर बढ़ने में ही कांग्रेस की सार्थकता है।

कांग्रेस संघटन

बहुत काल के बाद हमें स्वतंत्रता मिली है। उसकी रक्षा के लिए कांग्रेसजनों को दृढ़प्रतिज्ञ होकर जनता के लिए मार्ग दिखाना है। यदि हम चारों ओर जीवन को नियंत्रित करने का उत्साह अपने उदाहरण से भर दें तो देश को निश्चय ही ऊँचा कर सकेंगे। हमारे जीवन में सादगी और उच्च चिन्तन हो, हमारी आवश्यकताओं में नियंत्रण हो और उनकी पूर्ति में यह ध्यान निहित हो कि हम अपने भाइयों को रोटी देने में सहायक बनें और दूसरे देशों की चमकीली वस्तुओं को लेकर हम उनकी जीविका न छीनें। यह विचार-शैली हमें शक्तिमान् बनायेगी और सुखदायक होगी।

हम कांग्रेस वालों के लिए कांग्रेस संगठन सेवा का मार्ग रहा है। आज वह चुनावों द्वारा शासन में अधिकार पाने का भी मार्ग हो गया है। परन्तु अधिकार तभी तक रह सकेगा जब तक वह सेवा की भावना से प्रेरित है। कांग्रेस के उदार संविधान का लाभ उठाकर बहुत-से ऐसे जन भी कांग्रेस में आये हैं जिनका अधिकार की ओर मुख्य ध्यान है। राजनीतिक संगठन में यह होना स्वाभाविक है। किन्तु यदि एक अच्छी संख्या ऐसे कार्यकर्त्ताओं की रहे जिनके सामने मुख्य लक्ष्य देश की रक्षा और सेवा हो और पद जिनके लिए गौण हो तो कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ेगी।

कांग्रेस के संविधान में हमें जो त्रुटियाँ दिखायी पड़ी हैं उन्हें दूर करना हमारा एक कर्त्तव्य होगा। एक-एक जिले में कई सहस्र व्यक्तियों और दो-एक जिलों में कुछ लाख का कर्मठ या योग्य सदस्य बनना प्रकट करता है कि इन व्यक्तियों से और हमारे कार्यकर्त्ताओं में सचाई की कितनी कमी आ गयी है। हम सब जानते हैं कि कर्मठ या योग्य सदस्य बनने की जो शर्तें हमारे विधान में हैं उनको पूरा करने वाले व्यक्ति साधारणतया किसी भी जिले में तीन अंकों की संख्या के ऊपर नहीं मिलेंगे। देश भर में इस विषय में वास्तविकता और सचाई के विरुद्ध काम हुआ है। यह हमारे संगठन की मर्यादा को नीचा करता है। मैं बहुत नम्रता से कहना चाहता हूँ कि आगे को हमें दृढ़ता और दूरदर्शिता से यह प्रबन्ध करना होगा कि कांग्रेस के सदस्य, चाहे कम हों किन्तु जो हों, वे सचाई के रास्ते से आवें और सचाई का बर्ताव करें, तभी कांग्रेस की शक्ति बढ़ेगी और उसका ध्येय पूरा होगा।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अभिभाषण-३

⊙ ⊙

[राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भारतीय संविधान सभा में सितम्बर, १९४९ को दिये गये राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के अंग्रेजी भाषण का हिन्दी अनुवाद]

अध्यक्ष महोदय! मैं उन सब विस्तृत विषयों पर नहीं बोलना चाहता जिन पर मेरे पूर्व वक्ताओं ने अपने मत प्रकट किये हैं। मैंने श्री गोपालस्वामी आयंगर द्वारा प्रस्तावित संशोधनों पर कुछ संशोधन उपस्थित किये हैं। मुझे जो कुछ भी कहना है, उसमें मैं अपने प्रस्तावों के उद्देश्य को ही यथासम्भव ध्यान में रखूँगा।

श्री आयंगर की तीन कल्पनाएँ

श्री गोपालस्वामी आयंगर के भाषण में उनके प्रस्तावों की आत्मा झलकती है। उनके अनुसार अंग्रेजी भाषा के बल पर ही हमें स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है और अंग्रेजी का प्रशासन संबंधी कार्यों के लिए उपयोग, उनके शब्दों में, आने वाले अनेक वर्षों तक बनाये रखना आवश्यक है। यद्यपि उनके प्रस्ताव के अनुसार १५ वर्ष तक भारतीय संघ की भाषा अंग्रेजी रहनी चाहिए। वास्तव में १५ वर्षों से भी अधिक समय तक वह अंग्रेजी को बनाये रखने के पक्ष में हैं। उनका दूसरा मुख्य विचार यह है कि कोई भी प्रान्तीय भाषा, जिसमें हिन्दी भी सम्मिलित है, इतनी विकसित नहीं है कि वह ऐसी भाषा की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, जिसे शासन के विविध अंगों का भार वहन करना हो, विशेषकर विधि संबंधी आस्थाओं एवं गहन विचारों के क्षेत्र में। उनकी समस्त योजना के प्रस्ताव इन्हीं दो मुख्य धारणाओं पर निर्धारित हैं और उनसे ही रंजित हैं।

उनके प्रस्तावों में एक तीसरी विचित्र कल्पना यह है कि समय की गति के साथ भारत में अंग्रेजी भाषा का चाहे जो कुछ भविष्य हो, किन्तु अंग्रेजी भाषा से जिन गणित अंकों को हमने सीखा है और जो उनके प्रस्ताव में भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के नाम से पुकारे गये हैं, वे अवश्य ही बने रहें और नागरी लिपि के अविच्छिन्न अंग बन जायँ और वे हमारी देवनागरी लिपि के संस्कृत अंकों का स्थान ग्रहण करें—जहाँ कहीं भी और जब कभी भी भारतीय संघ के कार्यों में देवनागरी लिपि का प्रयोग हो।

मैं विनम्रतापूर्वक इस सभा के माननीय सदस्यों से अनुरोध करूँगा कि वे इन तीनों विषयों को यह स्मरण रखते हुए अधिक गहराई तक देखें कि आज हम लोग जो कुछ कर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रहे हैं, उसका संबंध केवल हमसे ही नहीं है और न उन विभिन्न प्रान्त निवासी अल्पसंख्यक स्त्री-पुरुषों से ही है, जिनकी अंग्रेजी ढंग से शिक्षा हुई है और जिनका अंग्रेजी भाषा से ही पोषण तथा विकास हुआ है, वरन् हमारे इन निर्णयों का प्रभाव उन करोड़ों पुरुषों और स्त्रियों पर पड़ेगा, जिनका अंग्रेजी भाषा से कोई सम्पर्क नहीं रहा है, जिनके लिए अंग्रेजी भाषा से कोई सम्पर्क होना असम्भव है, और जिन्हें उनको वर्तमान दशा से ऊपर उठाकर लोकतन्त्र तथा प्रशासन का प्रशिक्षण देना है। श्रीमन्! हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आज हम यहाँ जो कुछ निर्णय करते हैं उनका प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ी के लोगों पर ही नहीं पड़ेगा वरन् उनसे आने वाली पीढ़ियों के भाग्य का भी रूपांकन होगा।

वर्त्तमान अतीत से बद्ध

प्रधान मंत्री जी ने अपने ढंग से हम लोगों को चेतावनी दी है कि हम पीछे की ओर न देखें और ऐसा कोई भी पग न उठावें जो हमें पीछे ले जाय। मैं सदैव इस विचार से पूर्णतया सहमत रहा हूँ और मैंने स्वयं भी अनेक अवसरों पर कहा है कि हमने विगत काल में जो कुछ प्राप्त किया है उसी पर सन्तुष्ट नहीं रह सकते और न हम प्राचीन ढाँचों में अपने को पूर्णतया ढाल ही सकते हैं। मैंने लोगों के सम्मुख यह आदर्श रखे हैं—

समयभेदेन धर्मभेदः।
अवस्थाभेदेन धर्मभेदः॥

समय और परिस्थितियों के अनुसार हमारे धर्म और कर्त्तव्यों में परिवर्तन होता है। यह प्राचीन सूक्तियाँ हैं। हमें यह स्मरण रखना है कि हमारे जीवन-क्रम की साधारण प्रणालियाँ एक समय तक रहती हैं और फिर चली जाती हैं। संसार गतिशील है। आज की प्रणालियाँ कल नयी प्रणालियों, रीतियों और विचारधाराओं को स्थान दे देती हैं। प्राचीन के पादमूल के पीछे एक नवीन सौन्दर्य चलता रहता है। यदि हम चाहें तो भी जीवन के इस महान् मूलभूत तत्त्व से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते।

श्रीमन्! साथ-ही-साथ जैसा कि प्रधान मंत्री जी ने भी कहा है, हमें यह स्मरण रखना है कि हमारी जड़ अतीत में है और उससे हम अपना संबंध-विच्छेद नहीं कर सकते। एक प्रकार से हम अतीत के संग एक सुदृढ़ किन्तु अदृश्य आकाशिक शृंखला से बँधे हुए हैं, जो समय के साथ निरन्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु न तो टूटती है और न तोड़ी ही जा सकती है। अतः हम जो कुछ भी करने का प्रयत्न करें हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यता की ओर आगे बढ़ते जायँ वैसे-वैसे अतीत से हमको बाँधने वाली वह लम्बी और दृढ़ शृंखला दुर्बल न होने पाये, वरन् होना तो यह चाहिए कि वह प्रत्येक पग पर और भी दृढ़ होती जाय। मेरा निवेदन है कि हमारा तात्त्विक राजनीतिक सिद्धांत यह होना चाहिए कि हमारा जीवन भूतकालिक न हो वरन् वह उस वर्तमान में हो, जो हमें अतीत से बाँधे रखता है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मैं उन सब गुणों अथवा अच्छाइयों को ग्रहण करने के पक्ष में हूँ, जो पश्चिम हमें सिखा सकता है। परन्तु मैं यहाँ समुपस्थित सभी सज्जनों से यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे इस बात को स्मरण रखें कि पश्चिम में चमकने वाली सभी वस्तुएँ सुवर्ण नहीं हैं। केवल पश्चिमी होने के कारण कोई वस्तु सर्वथा गुणप्रद नहीं हो जायगी। हमारे देश ने भी ऐसी उच्चकोटि की विचारशील संस्कृति को जन्म दिया है जो समय की गति के साथ, संभवतः सम्पूर्ण मानव जाति के भाग्य-निर्माण पर अधिकाधिक प्रभाव डालेगी।

१५ वर्षों के लिए अंग्रेजी

मैं चाहता हूँ कि माननीय सदस्यगण उपर्युक्त सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए उस प्रस्ताव पर विचार करें, जिसे हमारे मित्र श्री गोपालस्वामी आयंगर ने स्वीकृति के लिए उपस्थित किया है। मैं इसे पढ़कर सुनाऊँगा नहीं। मैं मान लेता हूँ कि आप सब इसकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण धारा से परिचित हैं। यह प्रस्ताव अंग्रेजी भाषा के कम-से-कम १५ वर्षों तक बने रहने की कल्पना करता है—न केवल बने रहने को वरन् संघ के प्रत्येक कार्य में अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को बनाये रखने की भी। मेरी मान्यता थी कि यद्यपि यह आवश्यक होगा कि आने वाले कुछ समय तक अंग्रेजी शासकीय कार्यों में चलती रहेगी तथापि वह अवधि इतनी लम्बी नहीं होगी। मैंने सोचा था कि इससे बहुत थोड़े समय में ही हम जनता के निकट पहुँच सकेंगे और जनता द्वारा समझी जाने वाली भाषा में कार्य कर सकेंगे। मैं यह बात भूल नहीं जाता कि हमारे दक्षिण के भाइयों के लिए जो यहाँ उपस्थित हैं हिन्दी, जिसे शासकीय भाषा बनाने का प्रस्ताव है, सीखने में अत्यन्त सरल न होगी। फिर भी मेरा निवेदन है कि दक्षिणवालों के लिए हिन्दी सर्वथा अपरिचित नहीं है। उन राष्ट्रपिता के आदेशों पर, जिनका नामस्मरण सदैव हमारे हृदय की सूक्ष्मतंत्री को स्पर्श करता है, दक्षिण भारत में १९१८ ई० में हिन्दी का कार्य आरम्भ किया गया था। इस अवधि में वहाँ के कई लाख पुरुषों और स्त्रियों ने हिन्दी सीख ली है। जैसा यहाँ उपस्थित मेरे मित्र श्री मोटूरि सत्यनारायण अच्छी तरह बतला सकते हैं, प्रतिवर्ष लगभग ५५ से ६० हजार तक परीक्षार्थी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (जिसका नाम अभी हाल में 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कर दिया गया है) की हिन्दी परीक्षाओं में बैठते हैं।

एक माननीय सदस्य—वे केवल लिख-पढ़ सकते हैं किन्तु अपना अभिप्राय व्यक्त नहीं कर सकते।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—ऐसा सम्भव है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इससे पता चलता है कि हिन्दी भाषा दक्षिण भारत के लिए कोई नयी वस्तु न होगी। मेरी ऐसी धारणा थी कि हिन्दी को मद्रास की युवक पीढ़ी के निकट लाने के लिए १५ वर्ष जैसी लम्बी अवधि की आवश्यकता न होगी। किन्तु जैसा पन्त जी ने कहा है, यह बात हमारे दक्षिण के भाइयों के कहने की है कि उन्हें कितने समय की आवश्यकता है और मैं इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि इस विषय में हमें उनके हाथ नहीं बाँधना चाहिए। हम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उनको अपनी सेवाएँ अर्पित कर सकते हैं, परामर्श दे सकते हैं, किन्तु इस बात का फैसला हम उन पर ही छोड़ते हैं कि उन्हें कितना समय चाहिए और वह कितने समय में अपनी जनता को संघ के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का व्यवहार करने के लिए तैयार कर सकते हैं। हमने इसी बात को ध्यान में रखकर १५ वर्षों की अवधि स्वीकार की है। पहले हमने ५ वर्ष, फिर बढ़ाकर १० वर्ष और अन्त में जब हमने देखा कि हमारे दक्षिण के भाई १५ वर्ष की अवधि चाहते हैं, तो हमने इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु श्री आयंगर के प्रस्ताव में एक कठोर प्रतिबन्ध है। वह यह कि ५ वर्ष और उससे भी अधिक समय तक अंग्रेजी के साथ के अतिरिक्त हिन्दी का प्रयोग ही न हो, जब तक एक कमीशन सिफारिश नहीं करता और वह राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत नहीं होती। यह मुझे कठोर उपबन्ध लगता है। यह कुछ कोमल हो सकता था। यह क्यों आवश्यक है कि हिन्दी को उन शासकीय कार्यों से पूर्णतया पृथक् रखा जाय, जिनमें हिन्दी का प्रयोग हमारे दक्षिण के मित्रों को किसी प्रकार की असुविधा पहुँचाये बिना ही किया जा सकता है? वर्तमान उपधारा के अनुसार भारतीय संघ का कोई मन्त्री किसी भी सरकारी विषय पर किसी को हिन्दी में पत्र नहीं लिख सकता, जब तक कि उस पत्र के साथ अंग्रेजी अनुवाद न हो। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में तो हिन्दी के प्रयोग की कोई आशा नहीं है। अतः स्थिति यह है कि ५ वर्ष या उससे अधिक समय तक, जब तक कमीशन सिफारिश नहीं करता और वह राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत नहीं होती, अंग्रेजी से अनुवाद करने के सिवा कोई कार्य हिन्दी में नहीं हो सकता। आप कोई पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित कर सकते हैं और उसका हिन्दी में भी अनुवाद कर सकते हैं। बस, केवल इतना ही कार्य ५ वर्ष या उससे भी आगे तक हो सकता है। यह कठोर शर्त है। किन्तु फिर भी मैं इस बात को स्वीकार कर लेता हूँ कि अंग्रेजी के साथ के अतिरिक्त कोई काम ५ वर्षों तक हिन्दी में न हो।

आयोग की नियुक्ति, प्रस्तावित संशोधन

किन्तु मैं आपसे कहूँगा कि ५ वर्ष के बाद क्या होगा—इस बात पर विचार करें। श्री आयंगर के प्रस्ताव के अनुसार ५ वर्ष की समाप्ति पर एक कमीशन की नियुक्ति होगी, जो भाषा के प्रश्न पर विचार करेगा। निश्चय ही इसका तात्पर्य ५ वर्ष की इस अवधि को २ वर्ष तक और बढ़ाना होगा, क्योंकि कमीशन की नियुक्ति के बाद उसकी बैठकें होंगी और संभवतः वह समूचे देश का पर्यटन करने के बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। उसके बाद एक संसदीय समिति बैठेगी, जो इस कमीशन के सुझावों पर विचार करेगी और फिर अपनी अन्तिम रिपोर्ट देगी। मेरा निवेदन है कि कमीशन की नियुक्ति ५ वर्ष की समाप्ति के "पहले" ही की जाय। मैं कोई समय निर्धारित नहीं करता, मेरा तो संशोधन केवल यह है कि "५ वर्ष की समाप्ति पर" के स्थान में "५ वर्ष की समाप्ति के पहले" कर दिया जाय, जिससे रिपोर्ट समय पर तैयार रहे और सरकार ऐसी स्थिति में हो कि वह आदेश दे सके कि ५ वर्ष की समाप्ति के बाद हिन्दी-व्यवहार में जो परिवर्तन आवश्यक जान पड़ें

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उनको लागू किया जा सके। यह छोटा-सा संशोधन मैंने प्रस्तुत किया है और मुझे आशा है कि वह स्वीकार कर लिया जायगा। इसका तात्पर्य केवल यह है कि ५ वर्ष की समाप्ति के पूर्व ही कमीशन की नियुक्ति हो जायगी। किन्तु मैंने अपने संशोधन में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो कुछ भी सिफारिशें स्वीकृत होंगी, उन्हें ५ वर्ष की समाप्ति के बाद ही लागू किया जायगा। मैं इस पर संतोष करूँगा कि ५ वर्ष के भीतर हिन्दी में केवल वही काम होगा जो अंग्रेजी का अनुवाद हो।

इसी प्रकार कुछ अन्य उपवाक्यों में मैंने कुछ संशोधन प्रस्तावित किये हैं। जैसा अध्यक्ष महोदय ने निर्देश दिया है इन संशोधनों के विषय में यह मान लिया गया है कि वे पेश किये जा चुके हैं। अतः मैं उन्हें पढ़ूँगा नहीं, केवल उनका साधारण प्रयोजन बताऊँगा। एक संसदीय समिति का सुझाव दिया गया है और यह कहा गया है कि वह कमीशन की सिफारिशों पर रिपोर्ट देगी। मैंने एक छोटा उपवाक्य जोड़ दिया है कि यह समिति अपनी भी सिफारिशें दे सकती है, "ऐसी सिफारिशें, जिन्हें वह उपयुक्त समझे।" यह थोड़े-से शब्द मैंने उस उपवाक्य में जोड़ दिये हैं, जिसका सम्बन्ध समिति की नियुक्ति और कमीशन की सिफारिशों पर उस समिति की रिपोर्ट से है। मेरी माँग केवल यह है कि यह संसदीय समिति भी, यदि उचित समझे तो, सिफारिशें करे और फिर सरकार समिति तथा कमीशन दोनों की सिफारिशों पर निर्णय करे।

३०१-ख में मैंने यह संशोधन प्रस्तावित किये हैं।

अन्य संशोधन

अब मैं प्रादेशिक भाषाओं सम्बन्धी अध्याय २, श्री आयंगर के प्रारूप की ३०१-ग धारा को लेता हूँ। इसमें कहा गया है कि--

"....कोई भी राज्य विधि द्वारा राज्य में व्यवहृत किसी भी भाषा को अथवा हिन्दी भाषा को राज्य के कुछ या समस्त शासकीय कार्यों में प्रयुक्त किये जाने की स्वीकृति दे सकता है।"

मैं इससे सहमत हूँ। मैं उस उपबन्ध पर आपत्ति करता हूँ जिसमें कहा गया है--

"जब तक राज्य की विधान सभा कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था नहीं करती तब तक अंग्रेजी भाषा राज्य के उन शासकीय कार्यों में प्रयुक्त होती रहेगी जिनमें उनका प्रयोग संविधान के आरम्भ होने के समय हो रहा था।"

मेरी समझ में नहीं आता है कि राज्यों में अंग्रेजी के प्रयोग को प्रोत्साहित करने की क्या आवश्यकता है। हो सकता है कि संविधान के आरम्भ होने के समय उनमें कहीं-कहीं अंग्रेजी भाषा का प्रयोग हो रहा हो, किन्तु इसमें वे परिवर्तन करना चाहते हों। मैं जानता हूँ कि आपने यह व्यवस्था की है कि वे कानून द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं, किन्तु हो सकता है कि वे अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का भी प्रयोग करते हों। अतः मैं इस उपबन्ध के स्थान पर यह वाक्य रखना चाहता हूँ—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

"जब तक कि राज्य की विधान सभा कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था नहीं करती तब तक वह भाषा या भाषाएँ, जो राज्य के शासकीय कार्यों में संविधान के आरम्भ होने के समय प्रयुक्त हो रही थीं, उसी प्रकार प्रयुक्त होती रहेंगी।"

मेरे अपने ही राज्य में शासकीय कार्यों में हम लोग हिन्दी का व्यवहार कर रहे हैं। बिहार और मध्य प्रदेश में भी, मैं समझता हूँ, उसी का प्रयोग हो रहा है। तब फिर हमारे लिए यह क्यों आवश्यक हो कि हम एक नया कानून बनाकर फिर से हिन्दी को स्वीकार करें। आजकल हम हिन्दी का व्यवहार सरकार के आदेश से कर रहे हैं, "और इसलिए मेरे सुझाये हुए शब्द अधिक उपयुक्त होंगे।"

फिर धारा ३०१-इ में कहा गया है कि "जब राष्ट्रपति को इस बात का सन्तोष हो जाय कि राज्य की जनता का एक बड़ा अंश किसी अन्य भाषा का प्रयोग चाहता है तो वह आदेश दे सकते हैं कि उस भाषा को भी राजकीय मान्यता दी जाय।" मैं इससे सहमत हूँ, परन्तु मुझे उचित लगता है कि इस सम्बन्ध में कांग्रेस कार्य समिति के निर्देश का अनुसरण किया जाय और जनसंख्या का एक निश्चित अनुपात नियत कर दिया जाय, जिसकी माँग पर किसी भाषा को राजकीय मान्यता दी जा सके। मेरे विचार में कार्य समिति ने २० प्रतिशत निर्धारित किया है, जिसे हम भी स्वीकार कर सकते हैं। अन्यथा केन्द्रीय सरकार के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि वह किसे स्वीकृत करे और किसे अस्वीकृत। इस प्रकार से कुछ उलझन भी हो सकती है और कुछ प्रान्तों में कटुता भी बढ़ सकती है। यदि अनुपात स्थिर कर लिया जाता है तो केन्द्रीय सरकार का मार्ग स्पष्ट होगा।

और फिर अध्याय ३ में—"सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की भाषा" के सम्बन्ध में उपस्थित प्रस्ताव—श्री आयंगर मुझे ऐसा कहने के लिए क्षमा करेंगे—स्पष्टतः प्रतिगामी है। आपने हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकार किया है। मैं मानता हूँ कि आप चाहते हैं कि हिन्दी शनैः-शनैः अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करे। किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब आप हिन्दी को कम-से-कम हिन्दीभाषी राज्यों में अंग्रेजी का स्थान लेने का अवसर देंगे। मैं जानता हूँ कि अहिन्दी प्रान्तों को हिन्दी के प्रयोग में कठिनाइयाँ हैं, किन्तु हिन्दी प्रान्तों को तो हिन्दी के व्यवहार में कोई कठिनाई नहीं है। आप कठिनाइयों को और भी बढ़ा-चढ़ा कर न रखें। यह कहा गया है कि हिन्दी में उपयुक्त मुहावरे, वाक्यांश तथा पारिभाषिक शब्दावली अप्राप्य है। अस्तु, यह बात आप उन पर छोड़ दीजिए जो हिन्दी में कार्य करेंगे। मेरे अपने ही प्रदेश में विधेयकों तथा अधिनियमों की मूल भाषा हिन्दी ही होती है। स्पष्ट ही हमारे दक्षिण के भाइयों के लिए हमारे इस कार्य से कोई कठिनाई नहीं होती। आप हमें अपना सब कार्य अंग्रेजी भाषा में करने के लिए क्यों विवश करें, जब हम पहले से ही उसे हिन्दी में कर रहे हैं।

फिर आपका कहना है कि जहाँ तक सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों का सम्बन्ध है, उनका कार्य भी १५ वर्षों तक अंग्रेजी भाषा में ही होना चाहिए। मैं इससे सहमत हूँ कि सर्वोच्च न्यायालय का कार्य १५ वर्षों तक अंग्रेजी में हो, किन्तु मेरा निवेदन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

है कि यह आवश्यक नहीं है कि उस काल में सब उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) भी अपना कार्य अंग्रेजी में करें। उच्च न्यायालय दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं। राज्यों में कुछ ऐसे उच्च न्यायालय हैं, जिनमें कुछ नये भी हैं, जहाँ कार्य हिन्दी में हो रहा है और परम्परा से होता आया है। उदाहरणार्थ, ग्वालियर अथवा इन्दौर को ले लीजिए। मुझे मालूम है कि वहाँ अंग्रेजी का भी प्रयोग हुआ है, बाहर से आये हुए कुछ न्यायाधीशों ने अपना काम अंग्रेजी में किया और उसकी उन्हें अनुमति भी दे दी गयी, किन्तु फिर भी बहुत-सा कार्य साथ-साथ हिन्दी में होता रहा है। क्या आप उसे रोक देंगे? इसी प्रकार एक उच्च न्यायालय राजस्थान में हैं और कुछ अन्य राज्यों में भी हैं। क्या आप इन उच्च न्यायालयों को हिन्दी में कार्य करने से रोक देंगे? उपस्थित प्रस्ताव के अनुसार इन उच्च न्यायालयों का समस्त हिन्दी कार्य असम्भव हो जायगा। मेरा निवेदन है कि इसमें अवश्य ही परिवर्तन करना चाहिए।

साथ ही, एक अन्य कोटि ऐसे उच्च न्यायालयों की है, जो अपना काम अंग्रेजी में करते रहे हैं, किन्तु जो १५ वर्ष से कहीं पहले ही हिन्दी को अपना सकते हैं। मेरे अपने प्रदेश के या बिहार अथवा मध्य प्रदेश के ही उच्च न्यायालयों को ले लीजिए। मेरे मन में यह बात स्पष्ट है कि हमारा उच्च न्यायालय पाँच वर्षों के पश्चात् पूर्णतया हिन्दी में कार्य करना आरम्भ कर सकता है। धीरे-धीरे आगामी ५ वर्षों में समस्त कार्य-पद्धति निश्चित की जा सकती है और हिन्दी को आवश्यकताओं के अनुरूप बनायी जा सकती है। पारिभाषिक शब्दावली कोई अड़चन नहीं उपस्थित करेगी। उसका निर्माण तो हो ही रहा है। बहुत-कुछ शब्दावली तो है ही और फिर आवश्यक शब्दावली का निर्माण कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। हिन्दी कोई नयी भाषा नहीं है। जब आयरलैण्ड ने अपना संविधान बनाया तो उसने आयरिश भाषा को अपनाया था, जिसमें न तो अधिक साहित्य था और न पर्याप्त शब्दावली ही थी। किन्तु फिर भी आयरलैण्ड ने उसे ही अपनाया। हमारी भाषा हिन्दी तो अत्यन्त शक्तिशाली भाषा है। श्री आयंगर ने कहा है कि इस भाषा में आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली का नितान्त अभाव है। मैं उनकी इस उक्ति पर क्या कहूँ? उन्होंने स्वयं ही कहा है कि वे इस भाषा से परिचित नहीं हैं किन्तु फिर भी वे इसके सम्बन्ध में अपना निर्णय दे रहे हैं! मेरा निवेदन है कि यह न्याय नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि हिन्दी संस्कृत के साधनों सहित, जिस विषय में इस सदन में इतना कहा जा चुका है, जिसका मैं पूर्णरूप से समर्थन करता हूँ—हिन्दी संस्कृत की सहायता से पारिभाषिक शब्दावली की समस्त कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि ५ वर्ष की अवधि के समाप्ति के पूर्व ही हम उच्च न्यायालय का काम हिन्दी में चला सकते हैं। किन्तु मेरा तो कहना यह भी है कि ५ वर्ष का यह समय तो पर्याप्त है ही, हमें इसकी आवश्यकता नहीं है कि पन्द्रह वर्षों की अवधि तक हमारा कार्य अंग्रेजी में ही चले। फिर, इतनी लम्बी अवधि तक हमारे लिए यह अनिवार्य क्यों किया जाय कि हम अंग्रेजी में काम करते रहें? हमें विकास करने का यथेष्ट अवसर दीजिए और पन्द्रह वर्ष के बाद सभी प्रमुख कार्य, जैसे भारतीय संघ का कार्य करना सरल हो जायगा, क्योंकि हिन्दी प्रदेश ऐसा वातावरण उत्पन्न

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कर देंगे, तथा वे उस पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर लेंगे जो समस्त देश के लिए सहायक होगी।

मौलाना हसरत मोहानी (युक्तप्रांत-मुस्लिम)––हिन्दी प्रान्तों से आपका क्या आशय है?

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन––मैं उन प्रान्तों की ओर संकेत कर रहा हूँ जिन्होंने हिन्दी को अपनी राजभाषा स्वीकार कर लिया है। उदाहरण के लिए युक्तप्रान्त ने औपचारिक रूप में हिन्दी को अपनी राजभाषा स्वीकार कर लिया है, इसी प्रकार बिहार ने भी किया है....।

मौलाना हसरत मोहानी––क्या युक्तप्रान्त उर्दू प्रान्त है या हिन्दुस्तानी प्रान्त?

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन––यह आपका विचार हो सकता है। मैं हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू के झमेले में नहीं पड़ना चाहता। मेरा तो इतना ही कहना है कि युक्तप्रान्त में हिन्दी राजकीय भाषा मान ली गयी है और इसी भाषा में सभी सरकारी अधिनियम और विधिकार्य आजकल स्वीकार किये जा रहे हैं। निस्संदेह बहुत काम अब भी अंग्रेजी में हो रहा है, किन्तु क्रमशः वह भी हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा होने लगेगा।

अंकों का प्रश्न

यह मेरे सुझाये गये कुछ साधारण परिवर्त्तन हैं। अब मैं ३०१–क सम्बन्धी अपने मुख्य संशोधन पर आता हूँ, जो अंकों के विषय में हैं। श्रीमन्! मुझे ज्ञात है कि अंकों संबंधी विवाद से कुछ कटुता उत्पन्न हुई है। मैं उस कटुता को कदापि बढ़ाना नहीं चाहता, मैं यथासम्भव उसका निवारण करूँगा। मुझे ज्ञात है कि मेरे मद्रास के मित्र हिन्दी अंकों को बदलना चाहते हैं।

माननीय सदस्यगण––बंगाल भी।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन––मैं यदि अशुद्ध कहूँ तो आप उसे सुधार सकते हैं, परन्तु मैंने अपने बंगाली मित्रों से ऐसा कभी नहीं सुना।

माननीय सदस्यगण––बम्बई भी। वास्तव में सब अहिन्दी भाषी लोग यही चाहते हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन––मेरा निवेदन यह है कि कम-से-कम कहा जाय तो यह ठीक नहीं है, सभी अहिन्दी भाषी क्षेत्र यह परिवर्तन चाहते हैं। मैं शंकरराव देव और डॉ० अम्बेदकर से, जो यहाँ उपस्थित हैं, पूछता हूँ कि क्या महाराष्ट्र के लोग इसे स्वीकार करेंगे?

श्री शंकरराव देव––मैं कहता हूँ कि जो मेरा मत है वही महाराष्ट्रियों का भी मत होगा।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन––महाराष्ट्र के विषय में मैं अपनी जानकारी से निवेदन करता हूँ कि लिपि समान होने के कारण यदि वहाँ जनमत संग्रह हो तो महाराष्ट्र के लोग तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

माननीय सदस्यगण—यदि भारत में इस विषय को लेकर जनमत संग्रह हो तो हिन्दी चली जायगी।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं माननीय सदस्यों से यह प्रार्थना करूँगा कि वे एक-एक करके मुझे टोकें और एक ही समय में अनेक लोग न बोलें। मुझे श्री शंकरराव देव और डॉ० अम्बेदकर का कथन सुनकर प्रसन्नता होगी।

माननीय डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी—इस विषय पर जनमत संग्रह क्यों न किया जाय?

श्री एच० जे० खाण्डेकर—(मध्य प्रदेश तथा बरार : साधारण) मैं भी महाराष्ट्रीय हूँ और मैं कह सकता हूं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

डॉ० पी० एस० देशमुख—(मध्यप्रदेश तथा बरार : साधारण) मैं भी महाराष्ट्रीय हूँ और कहता हूँ कि वे अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

अध्यक्ष—यह आवश्यक नहीं है कि किसी प्रस्ताव विशेष पर सदस्यगण अपना व्यक्तिगत मत प्रकट करें।

माननीय डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी—माननीय सदस्य मत पूछ रहे हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैंने अपना विचार उपस्थित किया, आप उससे सहमत हों या न हों। मैंने डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी से अपना मत प्रकट करने को नहीं कहा है। मैंने तो यह कहा था और यह बात अब भी मैं यहाँ कहता हूँ कि यदि यह विषय महाराष्ट्र के लोगों के सम्मुख रखा जाय तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे। मेरा भी उस प्रान्त से सम्पर्क है। और मेरे मित्र श्री मुनशी चाहे कुछ भी कहें, मैं तो यही कहता हूँ कि यदि यह विषय महाराष्ट्र के लोगों के सम्मुख रखा जाय तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे। (कई माननीय सदस्यों द्वारा अन्तर्बाधा) क्या यह आवश्यक है कि इतने अधिक लोग एक ही साथ बोलें! यदि एक व्यक्ति बाधा डाले तो मैं उसे सुन सकता हूँ किन्तु जब चार-पाँच व्यक्ति एक ही साथ बोल पड़ते हैं तो मैं किसी को भी नहीं सुन पाता।

मैंने श्री शंकरराव देव की बात सुनी। वे कहते हैं कि यदि सम्पूर्ण संविधान जनता के सम्मुख रखा जाय तो वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे।

श्री शंकरराव देव—उनमें से अधिकांश।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—यदि ऐसा है तो इसका अधिकांश रद्दी की टोकरी में फेंक देने योग्य है। यदि संविधान का कोई भी भाग देश की जनता को स्वीकार नहीं होगा तो उसको यहाँ स्वीकृत नहीं होना चाहिए। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करता हूँ कि मैं समूचे देश में इस विषय पर जनमत गणना को सहर्ष स्वीकार कर लूँगा। यदि प्रान्त हिन्दी को स्वीकार नहीं करते तो मैं वहाँ के लोगों पर हिन्दी को कभी नहीं लादूँगा। फिर तो मैं तत्काल कहूँगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं होना चाहिए। हिन्दी को किसी प्रान्त पर क्यों थोपा जाय? यह तो प्रान्तों को निर्णय करना है कि वे हिन्दी को स्वीकार करते हैं या नहीं, वे चाहें तो अंग्रेजी को ही चालू रख सकते हैं अथवा वे एसपेरैण्टो ऐसी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किसी कृत्रिम भाषा को अपना सकते हैं। यदि उनका ऐसा विचार है तो उसे स्वीकार करूँगा। किन्तु जनता की इच्छा को जानने का कोई मार्ग तो निकालना ही चाहिए। विद्यार्थियों की एक संस्था द्वारा हाल में एक परीक्षण मत-संग्रह हुआ है। हम लोगों ने उसके विषय में पढ़ा है। समस्त देश में जनता के विचारों को संगृहीत करने का कोई दूसरा उपाय भी अपनाया जा सकता है। ऐसा मद्रास में भी हो। यहाँ मेरे मित्र चाहे कुछ भी कहें मुझे तो आशा है कि मद्रास की बहुसंख्यक जनता हिन्दी चाहेगी।

कई माननीय सदस्य—नहीं, नहीं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—किन्तु यदि कोई जनमत-ग्रहण संभव न हो तो मैं उन सबसे प्रार्थना करूँगा जिनके हाथ में आज सत्ता है कि वे अपने हृदय की क्षीण वाणी को सुनें और कोई ऐसी छोटी भी बात स्वीकार न करें जो उन्हें लगता है कि जनता स्वीकार न करेगी।

मौलाना हसरत मोहानी—मैं युक्तप्रान्त में जनमत-संग्रह की माँग करता हूँ कि वहाँ हिन्दी हो वा हिन्दुस्तानी। वहाँ एक भी व्यक्ति संस्कृतनिष्ठ हिन्दी नहीं बोलता।

अध्यक्ष—क्या मुझे यह बताना आवश्यक है कि इस संविधान सभा पर देश के संविधान बनाने का कर्त्तव्य सौंपा गया है। इस सभा के संविधान में जनमत-संग्रह कराने का कोई उपबन्ध नहीं है, अतः सम्पूर्ण संविधान या किसी भी अंश पर जनमत गणना का कोई प्रश्न नहीं है। अतः इस प्रश्न पर कोई विवाद नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह व्यर्थ होगा।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं उन व्यक्तियों से जिनके हाथ में आज सत्ता है इस विषय पर विचार करने का अनुरोध करता हूँ। मेरा यह प्रस्ताव नहीं है कि इस विषय पर अब प्रत्यक्ष जनमत लिया जाय। जनमत-संग्रह है क्या? उसका सीधा तात्पर्य है जनता की इच्छा। यदि वह जनता पर छोड़ दिया गया होता तो वे क्या कहते?.....

अध्यक्ष—जहाँ तक इस संविधान सभा का सम्बन्ध है, वह जनता की इच्छा को प्रतिबिम्बित करता है।

माननीय श्री आर० आर० दिवाकर—(बम्बई, साधारण)—श्रीमन्! माननीय सदस्य जो कुछ कह रहे हैं वह इस सभा के सदस्यों पर आक्षेप है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—यदि प्रत्येक बार, जब भी हम जनता की इच्छा की ओर निर्देश करें, उस पर यह आपत्ति भी की जाय कि यह इस सदन के सदस्यों पर आक्षेप है तो आगे बढ़ना असंभव हो जायगा। कभी-कभी सदन के विचार जनता के विचार से भिन्न हो सकते हैं। जहाँ तक अंकों का सम्बन्ध है, मेरा कहना है कि आप उस पर मनन करें। संभवतः आपने अपने मत स्थिर कर लिये हैं। फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि आप मेरी बात सुनें। अंकों के प्रश्न पर उत्तेजित न हों।

माननीय डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी—यह हमारे लिए चेतावनी है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—आपने अपने विचार स्थिर कर लिये हैं और आप अपने विरोधियों की हँसी उड़ाना चाहते हैं। यह आपको शोभा नहीं देता। मैं इस प्रश्न

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पर गम्भीर हूँ। मैं जानता हूँ कि श्री आयंगर इस प्रश्न पर गम्भीर हैं। यह विषय हमारी जनता के भविष्य से सम्बन्ध रखता है।

हम लोग कई वर्षों से राष्ट्रभाषा की बात करते आये हैं। सदन के समक्ष यह कोई नया विषय नहीं है। यह उन्नीसवीं शताब्दी की बात है कि राष्ट्रभाषा सम्बन्धी भावना ने बंगाल में रूप धारण किया, युक्तप्रान्त या बिहार में नहीं। मैं आपको उद्धरण दे सकता हूँ किन्तु मैं सदन का समय नहीं लेना चाहता। बंकिमचन्द्र चटर्जी का मूल लेख मेरे पास है। इस विषय पर मेरे पास केशवचन्द्र सेन का मूल कथन है। सन् १९०८ ई० में "वंदेमातरम्" में जिसके सम्पादक श्री अरविन्द घोष थे—जो कुछ छपा था, उसका मूल मेरे पास है.....

पं० लक्ष्मीकान्त मैत्र (पश्चिमी बंगाल, साधारण)—उस सबके लिए हमें पर्याप्त पुरस्कार मिल चुका है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—इस विचार को वहाँ रूप मिला और फिर तिलक ने उसका समर्थन किया तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इसे उठा लिया। मेरा अभिप्राय यह है कि यह आन्दोलन वर्षों से चला आ रहा है और लोगों ने कुछ निश्चित विचारधारा के अनुसार हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के निमित्त कार्य किया है। यह बात लगभग मान ली गयी है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है और विभिन्न प्रान्तों में इसी धारणा पर कार्य होता रहा है। कुछ ही क्षण पहले मैंने मद्रास में होने वाले कार्यों का उल्लेख किया है। मैं यह भी निवेदन कर दूँ कि बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात तथा उड़ीसा में यह कार्य वर्षों से चल रहा है। आजकल वर्धा से हिन्दी में परीक्षाएँ संचालित होती हैं और लगभग १,४०,००० युवक और युवतियाँ, जो हिन्दीभाषी प्रान्तों के नहीं हैं, वरन् जो अहिन्दीभाषी क्षेत्रों के हैं, प्रतिवर्ष उनमें बैठते हैं। इससे पता चलता है कि यह नवीन विचार नहीं है और इस विचार के आधार पर देश में कार्य होता रहा है। क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि यह अंकों सम्बन्धी विचार देश में कब से उत्पन्न हुआ है? यदि हिन्दी भाषा को लोगों ने अनेक वर्षों से प्रायः स्वीकार न कर लिया होता तो किसी भी सदस्य का साहस न होता कि उस भाषा की स्वीकृति के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव इस सदन के सम्मुख प्रस्तुत करता। उसी आधार पर संविधान के प्रारूप के भाषा सम्बन्धी खण्ड की रचना की गयी। किन्तु लोगों में इन अंकों के सम्बन्ध में कितने समय से वाद-विवाद उठा? केवल दो-तीन सप्ताहों से।

माननीय श्री के० सन्तानम् (मद्रास, जनरल)—मैं माननीय सदस्य को सूचना देना चाहता हूँ कि यह प्रश्न दक्षिण में हमारे सम्मुख कम-से-कम १५ वर्ष हिन्दी प्रचार सभा के सम्बन्ध में उठा था और हम लोगों ने निर्णय किया था कि दक्षिण में हिन्दी का प्रचार अंतर्राष्ट्रीय अंकों के साथ होना चाहिए।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं श्री सन्तानम् के कथन को ठीक मानता हूँ। मुझे इसका कभी ज्ञान ही नहीं था। परन्तु न तो श्री सन्तानम् ने और न मद्रास की हिन्दी प्रचार सभा ने ही कभी यह प्रश्न देश के सम्मुख उपस्थित किया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्री एम० सत्यनारायण (मद्रास, जनरल)—आप स्वयं १५ वर्ष पूर्व हिन्दी प्रचार सभा में थे।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—जब हिन्दी प्रचार सभा से मेरा सम्बन्ध था तब नागरी अंकों का प्रयोग होता था। मैं यह सूचना अपने मित्र श्री सत्यनारायण को दे दूँ, जिनका उस सभा से सम्पर्क मेरे बहुत बाद में आरम्भ हुआ। जब मेरा उस सभा से सम्बन्ध था, तब उस सभा का मार्ग-निर्देशन इलाहाबाद से होता था, तब सभी कार्य हिन्दी अंकों द्वारा किया जाता था। संभवतः अंग्रेजी अंकों को वे बाद में लाये और आज भी मैं इन्हें स्मरण दिला दूँ कि इनकी प्रकाशित कम-से-कम कुछ हिन्दी पुस्तकों में नागरी अंक हैं। मैंने उनमें से कम-से-कम एक तो देखा है।

श्री एम० सत्यनारायण—यह सन् १९२७ की बात है।

माननीय श्री आर० दिवाकर—हिन्दी, पंजाबी, उर्दू की क्या स्थिति होगी जिनमें आजकल इन अंकों का प्रयोग हो रहा है?

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—जब आपने भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार किया है तब उसके अंकों को भी स्वीकार कीजिए। मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि इस विषय पर विचार कीजिए कि क्या हिन्दी पर अंग्रेजी अंक लादने का यह उपयुक्त समय है, जबकि देश इस विषय में किन्हीं विचारों से तैयार नहीं है। मैंने अनेक बार कहा है कि मैं हिन्दी को किसी प्रांत पर लादूँगा नहीं, परन्तु आप विधान द्वारा इस लिपि को समस्त राजकीय कार्यों के लिए उन सब पर प्रायः लादे जा रहे हैं, जो नागरी लिपि द्वारा अपना कार्य करते हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपना हाथ वहीं रोक लें। प्रधानमंत्री ने बारम्बार कहा है कि भाषाएँ स्वयं विकसित होती हैं और उनका जन्म एक दिन में नहीं होता। यह उन्होंने अनेक बार कहा है। (एक कण्ठध्वनि—वे ठीक हैं)। वे ठीक कहते हैं। भाषाएँ विकसित होती हैं। परन्तु अंक भी विकसित होते हैं। (अंतर्बाधा) अंक भी स्वयं विकसित होते हैं और विकसित हुए हैं। (अंतर्बाधा) अंक लिपि के साथ ही विकसित हुए हैं। लिपि भी उसी भाषा के समान ही विकसित होती है जिसमें उसका प्रयोग होता है। लिपि का जन्म एक दिन में नहीं होता। उसका सर्वांङ्गीण विकास हुआ है—स्वर, व्यंजन और अंकों के साथ, वह एक कलापूर्ण सम्पूर्ण वस्तु हैं। आप इस सम्पूर्णता के मुख पर कोई चिप्पी नहीं लगा सकते। आज आप कहते हैं कि नागरी अंकों को निकाल दो। आप यह भी कह सकते हैं—यद्यपि आज आप यह नहीं कह रहे हैं—स्वरों को निकाल दो, अंग्रेजी स्वरों का प्रयोग करो और केवल हिन्दी व्यंजनों को ही रहने दो। मैं कहता हूँ कि आप अप्राकृतिक कुरूपता उत्पन्न करेंगे।

माननीय श्री एन० गोपाल स्वामी आयंगर—यह तो हास्य-चित्र है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मेरे मित्र कहते हैं कि यह तो हास्य-चित्र है। स्वरों को हटाने की अनर्गलता को वह देख रहे हैं। जहाँ तक हम लोगों का संबंध है, हमें अंकों के हटाने में भी अनर्गलता दिखलायी पड़ती है। इससे किसी को भी लाभ नहीं होता। आप

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हमसे ऐसी वस्तु छीन रहे हैं जिससे आप धनी नहीं होते किन्तु हम निश्चय ही निर्धन हो जाते हैं।

हमारे अंक हमारी प्राचीन सम्पत्ति हैं। यह भी कभी कहा गया है कि अंग्रेजी के यह अंक हमारे अंक हैं और यह प्रश्न किया गया है कि हम उन्हें फिर क्यों न अपना लें? मानो हमारे अंक खो गये थे और हम उन्हें फिर से प्राप्त करने जा रहे हैं! ऐसी कोई बात नहीं है। इन अंकों का ज्ञान निश्चय ही हमारे देश से अरब द्वारा यूरोप पहुँचा। हम सबको इसका गर्व है। अन्य कई बातों में भी यूरोप हमारा ऋणी है। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि जो वस्तु हमारे बीच विकसित हुई है, उसका हम परित्याग कर दें और उन वस्तुओं को, जो मूलरूप से यहाँ से गयी हैं, उनके परिवर्तित स्वरूप में पुनः ग्रहण कर लें। अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्होंने उनके स्वरूप में परिवर्तन किये हैं और हमने भी अपने रूपों में अपनी बौद्धिक प्रणाली के अनुकूल परिवर्तन किये हैं। परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार सर्वत्र परिवर्तन होते हैं। हमारे देश में भी परिवर्तन हुए हैं। जैसा कि मैंने कहा हमारे अंकों का भी विकास हुआ है। वैदिक काल में वे एक विशेष प्रकार से लिखे जाते थे। फिर परिवर्तन हुए और लगभग १६ शताब्दियों से वे वर्तमान रूप में लिखे जा रहे हैं। क्या हम इन रूपों को छोड़ दें जो इतने लम्बे समय से प्रयोग में आ रहे हैं? मैं कहता हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद कोई तर्क नहीं है और यह न्याय नहीं है कि इस प्रकार हम अपने लोगों से सहसा उनके अंकों को छोड़ने के लिए कहें।

माननीय श्री आर० आर० दिवाकर—आजकल हम लोग दक्षिण में उनका प्रयोग कर रहे हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं श्री दिवाकर से यह प्रार्थना करूँगा कि वे धैर्य रखें। उन्हें फिर बाद में बोलने का अवसर मिल सकता है।

देवनागरी की पूर्णता

देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में जिसमें अंक भी सम्मिलित हैं, यह अधिकृत रूप से कहा गया है कि हमारी प्रणाली संसार की वर्तमान सभी प्रणालियों में सबसे अधिक पूर्ण है। मैं आपको एक-दो उद्धरण सुनाऊँगा, यद्यपि मेरे पास कई हैं। यह एक, प्रोफेसर मोनियर विलियम्स का, उपस्थित करता हूँ—

'और अब कुछ शब्द देवनागरी अथवा हिन्दू-प्रणाली के सम्बन्ध में कहता हूँ। इसमें यद्यपि दो महत्त्वपूर्ण वर्णों की कमी है, जो रोमन लिपि में (जेड) और (एफ) द्वारा प्रकट किये जाते हैं,..... (जिस अभाव की पूर्ति, जैसा कि आपको विदित है बिन्दुओं द्वारा की गयी है।)

....तथापि वह कुल मिलाकर सबसे अधिक पूर्ण तथा समस्त ज्ञात वर्णमालाओं में सुडौल है। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह सीधे देवताओं से मिली है। अतः उसका नाम देवनागरी है। और वास्तव में पुनीत संस्कृत की सुडौलता के साथ अद्भुत समन्वय इसे मानवीय आविष्कार के स्तर से ऊँचा उठा देता है।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वर्गीय सर आइजक पिटमैन ने, जो 'ध्वनि-शास्त्र' के बड़े आंग्ल आविष्कारक थे, कहा है:

"यदि संसार में कोई भी वर्णमाला सर्वाधिक पूर्ण है, तो वह हिन्दी की है।"

मैं अन्य उद्धरणों को नहीं पढ़ूँगा।

कुछ मित्रों का सुझाव था कि रोमन लिपि अपनायी जाय। उनके लिए यह उचित है कि वह उन उद्धरणों पर विचार करें जो मैंने अभी पढ़े हैं। मेरा विचार है कि सम्भवतः, जब हमारा देश शक्तिशाली बनेगा, यूरोपीय जातियाँ स्वतः हमारी वर्णमाला के विशेष गुण को जानने की ओर आकर्षित होंगी। हमारी भाषा को रोमन लिपि देने का प्रश्न १९वीं शताब्दी में भी उठाया गया था। इंगलैण्ड के कुछ विद्वान् यहाँ के लोगों को रोमन लिपि के माध्यम से शिक्षा देना चाहते थे। इस पर लम्बा विवाद चला था और अन्त में ब्रिटिश सरकार ने निर्णय किया कि रोमन लिपि का प्रयोग इस देश में लाभकारी न हो सकेगा और नागरी लिपि सबसे अधिक उपयुक्त है। अब हमारी भाषा को रोमन रूप देने के विचार करने के दिन चले गये। मुझे आशा है कि इस प्रश्न पर अधिक बल न दिया जायगा।

संस्कृत : एक भाषा

संस्कृत के स्वीकार किये जाने के सम्बन्ध में भी, श्रीमन्! कुछ कहा गया है। मैं संस्कृत-प्रेमियों के सम्मुख अपना शीश झुकाता हूँ। मैं भी उनमें से एक हूँ। मेरी संस्कृत से अनुरक्ति है। मेरा विचार है कि इस देश में जन्म लेने वाले प्रत्येक भारतवासी को संस्कृत सीखनी चाहिए। संस्कृत में हमारी पुरातन परम्परागत सम्पत्ति सुरक्षित है। किन्तु आज मुझे ऐसा प्रतीत होता है—यदि उसे अपनाया जा सके तो मुझे प्रसन्नता होगी और मैं उसके पक्ष में मत दूँगा—किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि यह व्यावहारिक प्रस्थापना नहीं है कि संस्कृत को राजकीय भाषा स्वीकृत किया जाय।

पं० लक्ष्मीकान्त मैत्र—पन्द्रह वर्ष के पश्चात् यह बिल्कुल ठीक हो जायगी यद्यपि आज नहीं है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं नहीं समझता कि आज हमारे लिये अपने संविधान में यह कहना संभव होगा कि हिन्दी के स्थान पर संस्कृत को रखना चाहिए। मैं समझता हूँ कि सबसे व्यावहारिक विचार हिन्दी को राजकीय कार्यों की भाषा स्वीकार करना है।

श्री महावीर त्यागी—श्रीमन्! अंकों के सम्बन्ध में आपका क्या संशोधन है?

मध्य मार्ग

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—अतएव मेरा निवेदन है कि इस सर्वाङ्गपूर्ण देवनागरी लिपि में, जो अनादिकाल से चली आ रही है, हमें हिन्दी को राजकीय भाषा बनाना चाहिए। यह उचित नहीं है कि एकाएक, जबकि जनता को इस विषय का ज्ञान नहीं है,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और न यह विषय ही पर्याप्त समय तक उसके सामने रहा है, संविधान सभा यह निर्णय कर दे कि उस लिपि से नागरी अंक पृथक् कर दिये जायँ और उनके स्थान पर तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय अंक अथवा अंग्रेजी अंक रख दिये जायँ। दक्षिण भारत के सदस्य अंग्रेजी अंकों के प्रयोग के प्रति कुछ भावुक हैं, क्योंकि वे उन्हें अपनी भाषाओं में प्रयुक्त करते हैं। मैं शान्तिप्रिय व्यक्ति हूँ। यथासंभव कोई झगड़ा नहीं करना चाहता।

मेरे मित्र डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने मुझसे एक प्रकार की व्यक्तिगत अपील की है। मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ। मेरी भी इच्छा है कि हमारा भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो सके। इसी अभिप्राय से, यद्यपि मेरी प्रबल भावना है कि देवनागरी अंकों के विषय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय तथापि अपने दक्षिण के मित्रों की इच्छा-पूर्ति के लिए एक सुझाव प्रस्तुत करता हूँ। मुझे आशा है कि आपके लिए उसे स्वीकार करना संभव होगा। मैं कहता हूँ, पन्द्रह वर्षों तक देवनागरी लिपि के भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के अंकों को मान्यता दे दी जाय और फिर राष्ट्रपति अथवा सरकार, समय-समय पर निर्णय करें कि किस कार्य में एक प्रकार के अंकों का प्रयोग हो और किस कार्य में दूसरे प्रकार के अंकों का प्रयोग हो। सरकारी कार्य कई वर्षों तक अंग्रेजी में होगा। कुछ मित्रों ने, विशेषकर श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने, सुझाया है कि सांख्यिकी, हिसाब की बहियों तथा बैंकों के कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग की अनुमति दी जाय। मैंने देखा कि वे इस संबंध में बहुत उत्सुक थे। अतएव मैंने एक उपवाक्य में यह रखा है कि जहाँ तक इन विषयों का संबंध है, इनमें १५ वर्ष की पूरी अवधि तक केवल अंग्रेजी भाषा का प्रयोग हो। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को रखने का मुख्य प्रयोजन अंग्रेजी भाषा के प्रयोग से ही सिद्ध हो जायगा, जिसमें अंग्रेजी अंकों का प्रयोग तो होगा ही। मैं नहीं समझता कि कोई भी यह चाहता है कि साधारण हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन में अंग्रेजी अंकों का प्रयोग हो। पर यह भी मैंने सरकार पर छोड़ दिया है। यदि सरकार किसी कार्य-विशेष के लिए अंग्रेजी अंकों का प्रयोग करना चाहती है तो वह ऐसा कर सकती है। आवश्यकता पड़ने पर ही वह केवल हिन्दी अंकों का प्रयोग करे। मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप इस मध्य मार्ग को स्वीकार कर लीजिए और यह आग्रह मत कीजिए कि सदा सर्वदा के लिए देवनागरी अंकों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का ही प्रयोग होना चाहिए। (अन्तर्बाधा) मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि उस प्रस्ताव को यहाँ स्वीकार न कीजिए, क्योंकि ऐसा करके आप हिन्दी के व्यवहार करने वालों के प्रति बहुत कठोरता करेंगे। उनके मन इस प्रकार के परिवर्तन के लिए तनिक भी तैयार नहीं हैं। (अन्तर्बाधा) देवनागरी को राष्ट्रलिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के अनन्तर हम सब लोगों के लिए सम्भव होगा कि सम्मेलनों में भाग लेकर निश्चय करें कि देवनागरी लिपि में किन परिवर्तनों की आवश्यकता है। हमारी पद्धति पूर्ण है, किन्तु कुछ अक्षरों के रूपों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। और कुछ नये अक्षर भी जोड़ने पड़ेंगे। मेरा निवेदन है कि हम सबके लिए वर्तमान नागरी लिपि को स्वीकार कर लेने के बाद यह सम्भव होगा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और विशेषकर भारत सरकार के लिए यह आवश्यक होगा कि वह लिपि और अंकों में वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तनों पर विचार करने के लिए सम्मेलन बुलावे। प्रधान मंत्री जी ने यह कहा कि छापे की सामग्री, कम्पोज करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अंक अधिक उपयुक्त हैं। उनके प्रति आदर प्रकट करते हुए मेरा कथन है कि उनको प्रेस के कामों के बारे में जानकारी नहीं है। छापे के काम करने वालों में से जिन लोगों के सम्पर्क में मैं आया हूँ, उनका कहना है कि उनके लिए हिन्दी या अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कम्पोज करने का सबसे अच्छा काम मोनोटाइप या लीनोटाइप यंत्रों पर होता है। मेरा तो निवेदन है कि हमारे अंक अधिक कलापूर्ण हैं और हमारे अक्षरों के स्वरूप के अनुरूप हैं। मैं आपसे इस मध्य मार्ग को उसी भावना से स्वीकार करने की प्रार्थना करता हूँ जिससे प्रेरित होकर मैंने यह प्रस्ताव आपके सम्मुख रखा है। मैं आपसे और अधिक कटुता बचाने का अनुरोध करता हूँ। अन्यथा यह बात यहाँ पर समाप्त नहीं हो सकती। क्या आप समझते हैं कि इस बात पर आन्दोलन नहीं होगा? यह बात उन लोगों के हृदयों में अवश्य खटकेगी जो इन अंकों का प्रयोग करते आये हैं और उनसे प्रेम करते हैं—चाहे वे हिन्दी भाषी हों या मराठी भाषी हों या गुजराती भाषी हों। हम आपकी तमिल या तेलुगु लिपियों में तनिक भी हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं, किन्तु आप यहाँ हमारी नागरी लिपि में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

श्री एल० कृष्णस्वामी भारती (मद्रास, साधारण)—यह तो केवल राजकीय प्रयोजनों के लिए ही है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं जानता हूँ कि यह केवल भारत सरकार के शासकीय प्रयोजनों के लिए है। किन्तु यदि एक बार भारत सरकार यह आरम्भ कर देती है तब यह निश्चय ही निचले स्तरों में उतरेगी क्योंकि सरकार समस्त कार्यवाहियों का केन्द्र है। इसी कारण से हम इस पर आपत्ति करते हैं। यदि आप कृपया मेरी बात सुनेंगे तो अत्यन्त विनम्रता से मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि मैंने जो मध्यम मार्ग आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसे आप स्वीकार करें और मेरे संशोधनों को मान लें।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अभिभाषण-४

⊙ ⊙

[२० अक्तूबर, १९३८ को कान्यकुब्ज कालेज लखनऊ में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी, सभापति, संयुक्त प्रान्त एसेम्बली का व्याख्यान "हिन्दी की शक्ति" पर संध्या ७ बजे कालेज के प्रिन्सिपल पं० बालकृष्ण जी पाण्डेय के सभापतित्व में हुआ था। उनका यह भाषण कालेज के एक अध्यापक स्व० रामलाल अग्निहोत्री ने लिख लिया था। उसी भाषण को पं० लक्ष्मीशंकर 'निशंक' ने (जो उस समय कालेज के छात्र और हिन्दी साहित्य परिषद् के मंत्री थे) टण्डन जी के पास बैठ कर उनसे इसे संशोधित कराया था। जनवरी, १९३९ की उक्त कालेज पत्रिका से इसे साभार प्रकाशित किया जा रहा है।—सम्पादक]

हिन्दी की प्राचीनता

इस समय जितनी भी भारतीय भाषाएँ भारतवर्ष में बोली जाती हैं, उन समस्त भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी पुरानी है। हिन्दू और हिन्दी का सम्बन्ध है। 'ज़ेन्द अवस्ता' में हिन्दू शब्द आया है। ज़ेन्द अवस्ता को १५ सौ वर्ष से कम पुरानी पुस्तक कोई भी नहीं मानता। ज़ेन्द अवस्ता ग्रंथ का मुसलमानी-धर्म से बहुत पहले निर्माण हो चुका था। इसलिए यह कहना कि हिन्दू शब्द मुसलमानों का रखा हुआ है, किसी प्रकार ठीक नहीं कहा जा सकता। ईरानियों का और हमारे देश के आर्यों का पुराना सम्बन्ध है। ईरानियों ने सिन्धु नद के सम्बन्ध ही से उसके आस-पास के निवासियों को हिन्दू कहा। फारसी में 'स' वर्ण प्रायः 'ह' में बदल जाता है। इसीलिए सिन्धु का हिन्दी और हिन्दू हो गया और देश का नाम हिन्द पड़ा। हिन्द की भाषा का स्वाभाविक नाम हिन्दी हुआ।

पुराने उर्दू कवियों ने भी अपनी कविता को हिन्दी कविता कहा है। अमीर खुसरो, मीर जायसी और दक्खिनी कवि बाकर आगाह ने अपनी भाषा को हिन्दी या हिन्दवी कहा है। वे उस समय की फारसी और अरबी शब्दों से संयुक्त और फारसी अक्षरों में लिखी जाने वाली भाषा को भी हिन्दी भाषा ही कहते और मानते थे। मुसलमानों की धर्म-पुस्तक कुरानशरीफ़ का पहला तर्जुमा जो फारसी अक्षरों में लिखा गया था, उसकी भाषा हिन्दी ही कही गयी थी। कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक मुसलमान भी जन-साधारण की भाषा को हिन्दी ही कहा करते थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी के विभिन्न स्वरूप

विभिन्न स्थानों में हिन्दी के विभिन्न रूप पाये जाते हैं। दिल्ली के आस-पास और मेरठ के निकट जो भाषा बोली जाती है, वह हिन्दी में खड़ी भाषा कहलाती है। उसी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों को मिला कर उसे हिन्दी न कह कर कुछ दिनों से मुसलमान लोग उर्दू कहने लगे। भाषा के नाते तो 'रेखता' शब्द भी उर्दू शब्द से पुराना है। उर्दू के महाकवि 'मीर' ने अपनी कविता की भाषा हिन्दी या हिन्दवी मानी है। मीर-काल के पश्चात् ही हिन्दी को उर्दू कहा गया है। मैं कह आया हूँ कि हिन्दी के कई रूप हैं। उन्हीं रूपों में से 'उर्दू' भी एक रूप है। इसमें हिन्दी की कुछ हानि नहीं। अवधी, बैसवाड़ी, ब्रजभाषा आदि हिन्दी ही के तो रूप हैं; उर्दू भी उसका एक रूप है।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

इस समय कुछ दिनों से कुछ लोगों ने कहना शुरू किया है कि हिन्दी की जगह पर हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया जाय। मुझे इसमें औचित्य दिखायी नहीं देता। हिन्दुस्तानी शब्द में तो साम्प्रदायिकता कही जा सकती है, हिन्दुस्तान शब्द हिन्दू और स्तान (स्थान) शब्द से मिलकर बना है। अर्थात् हिन्दुओं के रहने की जगह। इसी हिन्दुस्तान शब्द के आगे 'ई' प्रत्यय लगाने से हिन्दुस्तानी शब्द बनता है। इसका अर्थ हो जाता है, हिन्दुओं के निवास-स्थान की भाषा। हिन्दी शब्द का अर्थ होगा हिन्द देश की भाषा। इसमें हिन्दू या मुसलमान अथवा किसी और जाति का सम्बन्ध नहीं है। यह तो भारत की राष्ट्रीयता और जातीयता का द्योतक है। जब हिन्दी शब्द पुराना भी है और जातीयता तथा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है, तो कोई कारण नहीं दिखायी देता कि उसके नाम को संकुचित किया जाय। हिन्दुस्तानी शब्द की बनावट अच्छी नहीं है। उसके शब्दों का हिन्दी के स्थान पर प्रचार बढ़ाना कभी ठीक नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग हिन्दी में फारसी और अरबी शब्द मिला कर उसका उर्दू नाम रख कर प्रयोग करें तो करें, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं; लेकिन हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी नाम रख कर हिन्दी नाम को हटाने की चेष्टा उचित नहीं है। अंधविश्वासों के वशीभूत होकर या किसी के दबाव में आकर अपने विचारों को ढाँप देना ठीक नहीं होता। दिल्ली में हाल में भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन पर यह प्रश्न उठा कि कांग्रेस आज्ञा दे कि हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी का प्रयोग हो और हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा कहलाये। मैंने वहाँ इस प्रस्ताव का विरोध किया था। प्रत्येक शब्द में एक प्रकार की शक्ति होती है और उसके पीछे उसका इतिहास होता है। प्राचीन काल में वेद भाषा दूसरी थी और जनता की भाषा दूसरी। वेद-भाषा ही आगे संस्कृत कहलायी और जनसाधारण की भाषा प्राकृत नाम से पुकारी गयी। यही जनसाधारण की भाषा १८ प्रकार की प्राकृत भाषाओं में बोली जाती रही। इसी लोक भाषा के पालि, प्राकृत आदि विभिन्न नाम हैं। इसी लोक भाषा से प्राकृत भाषाओं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के द्वारा हिन्दी आयी है। हिन्दी के पुराने रूप कुछ दूसरे ही थे। धीरे-धीरे विभिन्न परिवर्तनों के पश्चात् उसने वर्तमान रूप पाया है। हमारा 'हिन्दी' शब्द हमारे आचार-विचार में घुल-मिल चुका है। विचारों की शक्ति शब्दों में हुआ करती है। अब अगर हमसे कहा जाय कि तुम हिन्दी शब्द को त्याग दो तो हम इस शब्द को और उसके साथ के पुराने संस्करण को त्यागने को कैसे तैयार हो जायँ? हिन्दी शब्द साम्प्रदायिकता प्रकट करने वाला शब्द नहीं है, वह तो राष्ट्रीयता का द्योतक है। उसी में हमारी जातीयता और प्राचीन सभ्यता निहित है। यदि कोई भी इसके हटाने या इसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करेगा, तो हम अवश्य उसका विरोध करेंगे। हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए इस हिन्दी शब्द में इतनी शक्ति है कि वह शक्ति हमारे जीवन और समाज का सार कही जा सकती है।

हिन्दी और हिन्दी संसार

हिन्दी भाषा हमारी माता के समान है। बच्चा पैदा होते ही माता का शक्तिवर्द्धक दूध पीता और बड़ा होता है। वयस्क होने पर वह भले ही अन्यान्य भोजन पदार्थों का सेवन करके जीवन निर्वाह करे, किन्तु उसके सबल शरीर का आधार बचपन में पिया हुआ माता का दूध ही होता है। वह दूध हमें हिन्दी से ही प्राप्त हुआ है। अब यदि कोई व्यक्ति बच्चे को माता के दूध से हटा ले, तो क्या उसका जीवन खतरे में न पड़ जायगा। दूसरों के लिए भले ही दूसरे प्रकार का भोजन श्रेयस्कर हो, परन्तु हमारे लिए तो हिन्दी माता का दूध ही परम कल्याणकारी है। यही दूध हमारे जीवन के लिए स्वाभाविक भोजन है।

भाषा का महत्त्व

आज हम अज्ञान और परवशता में पड़े हुए हैं। यही कारण है कि हम अपने जीवन में अपनी भाषा द्वारा पूरी शक्ति नहीं पा रहे हैं। मातृ-भाषा द्वारा जो शक्ति हममें आनी चाहिए, आज उसकी कमी है। भाषा की रक्षा के लिए संसार में बहुत-से भयानक युद्ध हुए हैं। सुप्रसिद्ध बुअर-वार में अन्य कारणों के अतिरिक्त भाषा का प्रश्न भी एक कारण था। बुअर लोग एक प्रकार की डच भाषा का प्रयोग करते थे। अंग्रेज लोग दबाव डाल कर उन पर अंग्रेजी भाषा का अस्वाभाविक बोझ लादना चाहते थे। बुअर लोगों ने इसका प्रबल विरोध आरम्भ कर दिया और उस समय तक शान्त न हुए जब तक कि उनकी भाषा देश की भाषा के रूप में न स्वीकार कर ली गयी। लड़ाई के बाद जो सन्धि हुई, उसके अनुसार उनकी भाषा का स्थान माना गया।

भाषा जीवन की निशानी है। यह हमारे राष्ट्रीय अन्तस्तल का बाह्य स्वरूप है। इसीलिए राष्ट्रीयता के पुजारियों ने हमेशा भाषा पर जोर दिया है। एक समय पोलैण्ड को रूस, जर्मनी और आस्ट्रिया ने दबा दिया। तीनों राष्ट्रों में से प्रत्येक राष्ट्र यही चाहता था कि पोलिश भाषा के स्थान पर हमारी ही भाषा का रिवाज हो और पोलिश भाषा नष्ट हो जाय। इस परिस्थिति में पोलैण्ड निवासियों ने अपनी भाषा की रक्षा करने पर कमर कसी और निरंतर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भाषा संबंधी युद्ध जारी रखा। अंत में पिछले महायुद्ध में उनकी विजय हुई और वारसा की संधि के अनुसार पोलैण्ड एक स्वतंत्र देश माना गया और उस देश की भाषा पोलिश भाषा स्वीकार कर ली गयी।

आयरलैण्ड के राष्ट्रीय शिनफेन आन्दोलन के मूल में भी भाषा का सवाल था। शिनफेन का अर्थ है, अपनी वस्तु। इस आन्दोलन का उद्देश्य था अपनी वस्तु को प्राप्त करना और अपनाना। आयरलैण्ड के इतिहास से प्रकट होता है कि आयरिश भाषा को नष्ट करने के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये गये थे। आयरिश भाषाभाषियों को भाषा के कारण कठिन यातनाएँ भी दी गयी थीं। उनकी सारी आजादी छीन ली गयी और वे लाचार हो इतने दब गये कि उनके देश में आयरिश भाषा के विद्वान् ही शेष न रह गये। श्री ग्रीफेथ महोदय को यह बात बहुत खली। उन्होंने भाषा संबंधी आन्दोलन उठाया। खोजने से उनको एक ऐसा बुड्ढा मिल गया जो आयरिश भाषा भलीभाँति बोल और समझ सकता था। उससे ग्रीफेथ ने स्वयं आयरिश भाषा सीखी और उसका देश भर में उन्होंने प्रचार किया। इस आन्दोलन को उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से चलाया था कि आज आयरलैण्ड में आयरिश भाषा ही का बोलबाला है। इसी शिनफेन आन्दोलन का परिणाम है कि आज श्री डीवलेरा आयरलैण्ड को स्वतंत्र राष्ट्र बना सके हैं। यह मातृभाषा ही की शक्ति थी कि सैकड़ों वर्ष से पराधीन रहनेवाला देश आज आयरिश फ्री-स्टेट के नाम से अपना सिर ऊँचा कर रहा है।

भाषा और राष्ट्रीयता

भाषा का प्रश्न राष्ट्रीयता का प्रश्न है। भाषा द्वारा ही हम अपने उन निश्चयों और भावों को दृढ़ कर सकते हैं, जिन पर हमारी राष्ट्रीयता निर्भर है। आज हमारा सारा राष्ट्रीय काम अंग्रेजी में है। यहाँ तक कि अपने निजी काम भी अंग्रेजी ही में किये जाते हैं। फल यह हुआ कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग आज सर्वसाधारण से पृथक् हो गये हैं। अंग्रेजी जाननेवालों की एक टोली-सी बन गयी है। जनता से वे अपने को अलग समझते हैं। सन् १९२० ई० से पहले राष्ट्रीय महासभा का भी सारा काम अंग्रेजी ही में होता था। लेकिन सर्वसाधारण को उससे कुछ भी लाभ न पहुँचता था और कांग्रेस आन्दोलन का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ता था। जब से कांग्रेस ने हिन्दी और देशी भाषाओं में काम करना आरम्भ किया, उसकी शक्ति बहुत अधिक बढ़ गयी है। भाषा के प्रश्न ने कांग्रेस को एक शक्तिशाली संस्था बना दिया है।

स्वराज्य का सम्बन्ध जीवन से है। जीवन प्राप्त करने के लिए हमें सर्वसाधारण के निकट पहुँचना होगा। जनता तक पहुँच सकने का साधन हमारे लिए हिन्दी भाषा है। इसी में यह शक्ति है कि वह स्वराज्य को हमारे निकट ला सकती है और यही लावेगी भी।

जब से हमने अंग्रेजी को हटा कर महासभा में हिन्दी को स्थान दिया है, तब से उसमें एक महान् शक्ति का विकास हुआ है। पूज्य महात्मा गांधी जी ने भी जब समझ लिया कि बिना हिन्दी के स्वराज्य का पाना कठिन है, तो उन्होंने भी हिन्दी को ही अपनाया। अब वे कांग्रेस में अपना भाषण हिन्दी ही में देते हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी प्रचार में बहुत कुछ काम किया है। मद्रास में हिन्दी-प्रचार साहित्य-सम्मेलन ही के प्रयत्न का फल है। हम लोगों ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि कांग्रेस का सारा काम हिन्दी ही में हो। एक ऐसा भी समय था, जबकि प्रान्तीय सभा-सोसाइटियों का काम तक अंग्रेजी ही में होता था। उन सभाओं में ऐसा प्रतीत होता था कि हम कोई नाटक खेल रहे हैं और बारी-बारी से अभिनेता आते और अपना पार्ट अदा करके चले जा रहे हैं। कांग्रेस में भी इसी प्रकार का नाटक साल में एक बार हो जाता था। थोड़े-से लोगों के अतिरिक्त साधारण जनता को उस नाटक से कोई सम्बन्ध न था। कांग्रेस को अपनी आवाज देश के कोने-कोने तक पहुँचाने के लिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझाया जाय। अन्त में भाँति-भाँति के आक्षेपों और विरोधों के बाद सन १९२५ ई० में कांग्रेस ने हमारी भाषा को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया। हाल में दिल्ली में जो भारतीय समिति की कार्य समिति हुई, उसने तो यहाँ तक स्वीकार कर लिया कि अधिकांश रूप से हम अपना काम अपनी भाषा ही में करें। असली सवाल यह है कि विदेशी भाषा जो हमारे विचारों पर अधिकार जमाये है, उसे हटाया जाय। उसके स्थान पर अपनी भाषा का सिक्का जमाया जाय। इसलिए हम कह सकते हैं कि हिन्दी का सवाल स्वराज्य का सवाल है, और स्वराज्य का सवाल भारत के लिए जीवन का सवाल है।

हमें हिन्दी के प्रश्न को विस्तृत दृष्टि से देखना है। आपके बालकों की शिक्षा हिन्दी द्वारा ही हो। आपके स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार करें, तभी देश का कल्याण हो सकता है। आज कुछ लोगों को यह मिथ्या भय समाया हुआ है कि अंग्रेजी न पढ़ने से लड़के गँवार हो जायँगे। यह विचार नितांत मिथ्या है। यह तो उन्हीं लोगों का विचार हो सकता है, जो हिन्दी नहीं जानते। आज भी हिन्दी साहित्य में ऐसे प्राचीन ग्रंथ-रत्न मौजूद हैं, जिनकी टक्कर के ग्रंथ संसार के किसी साहित्य में नहीं मिल सकते। मुझे कुछ योरोपीय भाषाओं के बहुत ऊँचे साहित्यिक ग्रंथों का अंग्रेजी भाषा द्वारा अनुमान है। उन ग्रंथों को तुलना में रखते हुए भी मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि हमारा हिन्दी साहित्य बहुत ऊँचा है। कुछ लोगों की मनोवृत्ति इस प्रकार की होती है कि मोटी-मोटी पुस्तकों को वे ज्ञान का भण्डार समझ लेते हैं। आप उन मोटी-चौड़ी पुस्तकों के रोकदाब में न आयें। उनमें कुछ को छोड़ कर शेष सारी रद्दी का एक पुलिन्दा है, इसी प्रकार अखबारों के कथन को भी कुछ लोगों की तरह वेद-वाक्य न मान लीजिए। आज-कल अखबार पैसा कमाने का एक साधन है। वे दूसरों के विचारों को सही या गलत और प्रायः गलत रास्ते से उत्तेजित करते रहते हैं। अखबारी दुनिया एक नकली दुनिया है, अखबार दूसरों के भावों से खिलवाड़ किया करते हैं।

भाषा और स्वाभिमान

कोई भी मनुष्य अपनी मातृभाषा को छोड़कर स्वाभिमानी नहीं हो सकता, उसको अपनी भाषा द्वारा ही सम्मान प्राप्त हो सकता है। सेनानायक क्रम्बेल के वैदेशिक मंत्री कविवर श्री मिल्टन थे। उन्होंने चाहा कि मैं लैटिन में कुछ लिख कर ख्याति प्राप्त करूँ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कारण यह था कि उस समय लैटिन-साहित्य बहुत ही उन्नत दशा में था और अंग्रेजी उसकी अपेक्षा अति हीन दशा में। अस्तु, उन्होंने लैटिन में एक नाटक लिखा। आज उस नाटक का लोगों को पता नहीं। लैटिन में नाटक लिखने के पश्चात् मिल्टन के हृदय में यह शंका उठी कि इस नाटक को पढ़नेवाले थोड़े-से पंडितों को छोड़ कर साधारण लोग न होंगे। फिर उनको होश आया और उन्हें विश्वास हो गया कि अपनी भाषा द्वारा ही जनता के लाभ की ऊँची कृति कर सकता हूँ। उन्होंने फिर उसी नाटक के विषय पर अंग्रेजी भाषा में ऐसा काव्य लिखा, जिसने उस भाषा का मस्तक ऊँचा कर दिया और उनकी कीर्ति अमर कर दी। आज मिल्टन विश्व कवियों में गिना जाता है।

कलाकार जब शब्दों द्वारा अपने भावों का चित्र बनाता है, तब उस चित्र के पीछे एक ऐसा अस्पष्ट चित्र होता है, जो केवल कलाकारों को ही दिखायी देता है। यह दूसरा चित्र जो सामने आये हुए चित्र के पीछे रहता है, शब्दों की शक्ति से सम्बन्ध रखता है और उन भावों से संबंध रखता है, जो साधारण अर्थ के पीछे छिपे होते हैं। यह चित्र ऐसा सुन्दर और मनोहर होता है कि उसका अर्थ और संकेत हृदय में एक स्वर्गीय आनन्द पैदा करता है। यह चित्र अपनी मातृभाषा के शब्दों द्वारा ही बन सकता है। कोई भी मनुष्य अर्थ और संकेत दूसरी भाषा द्वारा अविकल रूप से नहीं प्रकट कर सकता। हम अंग्रेजी द्वारा कभी अपनी आंतरिक गुफाओं से निकले हुए भावों को यह स्वरूप और शक्ति नहीं दे सकते, जो अपनी भाषा द्वारा दे सकते हैं। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं।

हिन्दी और सरलता

आजकल यह आवाज़ प्रायः उठा करती है कि हिन्दी को सरल बनाइये। मैं उन आवाज़ उठानेवालों से पूछना चाहता हूँ कि क्या आपने कभी हिन्दी सीखने का प्रयत्न भी किया है? यदि नहीं किया तो आपके लिए तो सरल-से-सरल हिन्दी भी कठिन हो जाती है। इस सम्बन्ध में मुझे एक विशेष बात कहनी है। हम हिन्दी भाषा-भाषियों ने हिन्दी के तद्भव शब्दों का प्रयोग कम कर दिया है। जिस प्रकार भारतीय सभ्यता और राष्ट्रीयता के जीर्ण-शीर्ण चिह्न गाँव ही में मिलते हैं, वैसे ही हिन्दी भाषा के मौलिक स्वरूप का देहातों ही में दर्शन होता है। देहातों के रहनेवाले अपढ़ किसान शहर के पढ़े-लिखे हिन्दीविहीन लोगों से अधिक हिन्दी समझते और बोलते हैं। हिन्दी के पुराने लेखकों ने अपनी कविताओं और लेखों में हिन्दी के तद्भव शब्दों का खूब प्रयोग किया है।

बिहारी की एक पंक्ति याद आयी—"मैं बरजी कै बार तोहिं, उतकत लेत करोट" इसमें बरजी शब्द मना करने के अर्थ में आया है। आज इसका व्यवहार बहुत ही कम है। कुछ लोग कहते हैं कि संस्कृत भाषा हिन्दी की जननी है। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। मैं तो उसे हिन्दी की जननी न मानकर मौसी मानता हूँ। कारण यह है कि संस्कृत वेदभाषा से निकली और हिन्दी लोक-भाषा से उत्पन्न हुई है। लोक-भाषा ही को हिन्दी की जननी कहा जा सकता है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी को सरल किया जाय, यह प्रश्न कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि आपका अभिप्राय यह है कि संस्कृत शब्दों की जगह पर फारसी और अरबी के शब्द रखकर वांछनीय आवश्यकता की पूर्ति की जाय, तो यह कार्य हिन्दी के सांस्कृतिक स्वरूप के विरुद्ध होगा। मैं फारसी शब्दों का प्रयोग ठीक समझता हूँ; किन्तु हिन्दी स्वरूप रखकर। इसी तरह मैं हिन्दी को संस्कृत शब्दों से भरवाना नहीं चाहता।

अनुचित ही कहलायेगा

ठीक मार्ग यह है कि व्यवहार में जो-जो शब्द किसी भी भाषा के आते हैं, उन सब को तत्सम या तद्भव रूप में—जैसे कि वे लोक-भाषा में युक्त होते हैं, हम अपनायें, और उनके असीम भण्डार से परिचय करें। आपका ऊँचा साहित्य इसी लोक-भाषा द्वारा ही निर्मित हुआ है और होगा। परन्तु लोक-भाषा का यह अर्थ नहीं है कि खाना, पीना, उठना, बैठना आदि शब्दों के समान साधारण शब्दों द्वारा ही हम साहित्य उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार के शब्दों से भी एक प्रकार का साहित्य बनता है, किन्तु वह बच्चों के लिए या हँसी के लिए।

चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकल अजीरण रोग।
चूरन खाते हैं बंगाली, जिनकी धोती ढीली ढाली॥

यह इस प्रकार के साहित्य के नमूने हैं। बाज़ारू विषयों के लिए बाज़ारू शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन कठिन और विचारणीय विषयों के लिए आपको उस विषय के अनुरूप ही शब्दों को चुनना पड़ेगा। यदि किसी लेखक ने अपने लेख को गौरवान्वित करने और उसे गम्भीर बनाने के लिए कठिन शब्दों का प्रयोग किया है और यह भी उस दशा में जबकि वह ऐसा करने के लिए लाचार था, तो आपका भी कर्त्तव्य है कि आप उन गम्भीर शब्दों और विषयों को समझने का प्रयत्न करें।

मतलब यह कि आप तद्भव शब्दों का प्रयोग करना सीखें। बरजना (मना करना) और उरेहना (चित्र खींचना) कैसे मीठे और अर्थ से भरे हुए, शब्द हैं। आप ऐसे ही रूढ़ शब्दों का प्रयोग करने का प्रयत्न करें। आजकल लोग 'करना' और 'होना' क्रियापदों के पूर्व संज्ञा शब्द लगाकर काम निकालते हैं। यह प्रथा अच्छी नहीं है। इसकी जगह पर उसी भाव को अभिव्यञ्जित करने वाले तद्भव शब्दों के क्रिया रूप का बढ़ाना हमारी भाषा को शक्ति देने वाला होगा।

हिन्दी विस्तृत राष्ट्र-भाषा है। अतः साधारणतया जितना-जितना हिन्दी का प्रचार बढ़ेगा, उसके स्वरूप में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता ही रहेगा। इसमें हमारे लिए घबड़ाने की कोई बात नहीं है।

आप नित्य प्रति काले होनेवाले काग़जों के पुलिन्दों को कदापि साहित्य न मानें। रेलवे स्टालों पर रखी हुई समय काटने की पुस्तकें साहित्य में नहीं गिनी जा सकतीं। सद्साहित्य का दर्शन तो कभी-कभी ही होता है। सब मानते हैं कि आज अंग्रेजी साहित्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बहुत उन्नत दशा में है। लेकिन यदि उसमें से मिल्टन और शेक्सपियर संबंधी साहित्य को अलग कर लें तो अंग्रेजी साहित्य आधा रह जायगा। शुद्ध साहित्य की पुस्तकें संसार में प्रति वर्ष कहीं एक-दो ही प्रकाशित होती हैं। अंग्रेजी में ज्ञानवृद्धि का अच्छा और प्रचुर साहित्य है, लेकिन वह शुद्ध साहित्य जिसका संबंध आत्मा से है, बहुत कम है।

हिन्दी में शुद्ध साहित्य की कमी नहीं है। तुलसी, कबीर और सूर ने ऐसे ग्रंथ रत्न-निर्माण किये हैं कि आज वे हमारे ही लिये नहीं, बल्कि संसार भर के लिए उपयोगी हैं। कबीर के कथनानुसार मूल्यवान् पदार्थ संसार में थोड़े ही हुआ करते हैं।

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँति।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमाति॥

इसी प्रकार ऊँचे साहित्य की इनी-गिनी पुस्तकें संसार में हैं। सद्कवि और ऊँचे लेखक मारे-मारे नहीं फिरते। हिन्दी में ऐसे विश्व कवि कई हैं—यह हमारा गौरव है। यदि हिन्दी साहित्य का ह्रास हो जाय, तो हिन्दी के साथ-साथ संसार को भी हानि उठानी पड़ेगी। मैं कह आया हूँ कि विचारों की मौलिकता अपनी ही भाषा में विकसित होती है। मस्तिष्क का उत्थान भाषा से होता है। फ्रांस के कवि वाल्टेयर ने चाहा कि हम अंग्रेजी में कुछ लिखें। उसने खूब प्रयत्न किया, लेकिन अपने उद्देश्य की पूर्ति में कृतकार्य न हो सका।

मिल्टन अपने समय का प्रतिनिधि कवि है। उसके बारे में एक समकालीन कवि ने कहा था कि यूनान देश में महाकवि होमर की कविता में कल्पना की प्रधानता है। इटली के महाकवि डेंटी की कविता में अर्थ-गौरव का प्राधान्य है। किन्तु मिल्टन की कविता में ये दोनों गुण पाये जाते हैं। अपनी भाषा में लिखने के कारण उस समय मिल्टन की समता करने वाला कोई कवि न था। मिल्टन ने अंग्रेजी भाषा में एक नयी शक्ति उत्पन्न की थी और शैली में परिवर्तन भी किया था। उसके पीछे भी अच्छे लेखक उत्पन्न होते रहे, तब कहीं अंग्रेजी वर्तमान रूप को प्राप्त हो सकी है। हमें भी हिन्दी में होने वाले परिवर्तनों से घबड़ाना न चाहिए। जीवित भाषाओं में परिवर्तन हुआ ही करते हैं।

आज संसार में प्रायः १७ करोड़ मनुष्य अंग्रेजी जानते हैं, ४० करोड़ मनुष्य चीनी, २५ करोड़ हिन्दी बोलने वाले हैं। हम इन्हीं २५ कोटि हिन्दी भाषा-भाषी जन-समुदाय की शक्ति पर इसे राष्ट्रभाषा बनाने के उद्योग में सफल हो सके हैं। इतने बड़े जन-समुदाय की भाषा में यदि कुछ परिवर्तन होते रहें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जब भारत को पूर्ण स्वराज्य प्राप्त होगा, उस समय सारे भारत की राज-संबंधी कार्यवाही हिन्दी ही में होगी। उस समय हिन्दी का एक नवीन रूप विकसित होगा। विभिन्न प्रान्तों के प्रान्तीय शब्द हमारी भाषा में सम्मिलित होकर उसकी मर्यादा को बढ़ावेंगे। प्रान्तों के शब्द तो अभी से आने लगे हैं, उदाहरणस्वरूप 'लागू' शब्द को ले लीजिए। यह शब्द हिन्दी में मध्यप्रान्त से आकर शामिल हो गया है। आज इसका प्रयोग हिन्दी में बराबर हो रहा है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अन्त में हिन्दी साहित्य और उसके शुभचिन्तकों की सेवा में कुछ निवेदन करने के पश्चात् मैं अपने भाषण को समाप्त करना चाहता हूँ। आपको स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य केवल मनबहलाव की चीज़ नहीं है। जीवन के लिए मनबहलाव भी एक आवश्यक वस्तु है; किन्तु जीवन मनबहलाव से अधिक अर्थ रखता है। वह अर्थ ऊँचे साहित्य से सिद्ध होता है।

अंग्रेजी साहित्य में भी ऊँची कृतियाँ हैं। उनसे आप लाभ उठावें। अंग्रेजी सभ्यता की उपयोगी चीजों का भी ज्ञान प्राप्त करें; परन्तु उसकी बुराइयों से आप अपने को बचावें, यह मेरी चेतावनी है। मैं उन विचारों और चेष्टाओं से आपको बचाना चाहता हूँ, जो आपकी सभ्यता और संस्कृति के लिए घातक है। मैं तो अपनी भाषा द्वारा आपके हृदय की शुद्धि चाहता हूँ। जब मैं कालेज और स्कूल के नवयुवकों में बुरी आदतें देखता हूँ, तो मुझे बड़ा कष्ट होता है। यह बुरी आदतें अपने आदर्शों से विमुख होने के कारण आयी हैं। आप अपनी भाषा की आन्तरिक शक्ति से बुरी आदतों का सामना करें।

पश्चिमी और पूर्वी साहित्य

पश्चिमी आदर्शों का उद्देश्य इन्द्रियों को सुख पहुँचाना है। पूर्वी आदर्शों का उद्देश्य मन और आत्मा को नियंत्रित करना है। कठिन आदर्श देर में प्राप्त होता है, यह तो वर्षों अभ्यास और परिश्रम करने के बाद ही मिल सकता है। जिस प्रकार बरसाती घास जल्दी उगती है और गुलाब का पौधा देर में तैयार होता है, उसी प्रकार बुरी आदतें जल्द आ जाती हैं और ऊँचा, सुन्दर चरित्र कठिन परिश्रम से पैदा होता है। मनुष्य परिश्रम द्वारा ही बड़ा आदमी बन सकता है। त्याग और परिश्रम अपने को ऊँचा उठाने के प्रधान साधन हैं। आज तक कोई भी विलासिता द्वारा उन्नति की सीढ़ियों पर नहीं चढ़ सका। अध्यापकों को चाहिए कि बच्चों में त्याग और परिश्रम की आदतें पैदा करें। आजकल अध्यापकगण बाहरी वस्तुओं का ज्ञान देते हैं, उनके आंतरिक विकास की ओर ध्यान नहीं देते। यह वास्तविक शिक्षा नहीं है। बच्चों को शिक्षित करने के लिए अध्यापकों को स्वयं, नमूना बनना चाहिए। इन नमूनों को देखकर विद्यार्थी ऊँचे उठेंगे। जब आप अपने को सम्हाल लेंगे, तो आप में शक्ति आयेगी। अपने को हमेशा काबू में रखें। अपने ऊपर काबू पानेवाला मनुष्य ही दूसरों पर काबू पा सकता है। भाषा और साहित्य का जीवन से संबंध है। आप अपने जीवन को साहित्य द्वारा ऊँचा कर सकते हैं। हिन्दी साहित्य में यह शक्ति प्रचुरता से है। उसकी सहायता से आप अपना जीवन ऊँचे आदर्शों पर ढालें, यह मेरी अभिलाषा है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड ४

व्याकरण समिति की रिपोर्ट

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

व्याकरण समिति की रिपोर्ट

⊙ ⊙

नागपुर के पिछले सम्मेलन में लिंग भेद तथा व्याकरण के अन्य विषयों पर विचार करने के लिए नीचे लिखा हुआ निश्चय हुआ था।

"दिल्ली सम्मेलन में लिंग भेद की जाँच करने के लिए जो समिति बनी थी उसमें यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों को जोड़ता है और उस समिति को अधिकार देता है कि लिंग भेद के अतिरिक्त अन्य व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर विचार करे और अपनी सिफारिश ६ महीने में स्थायी समिति के सामने रखे। समिति को अधिकार होगा कि अन्य सज्जनों को भी अपने में जोड़ लेवें।

श्री प्रो० बद्रीनाथ वर्मा
,, प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी

इस समिति के संयोजक श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन होंगे।"

दिल्ली सम्मेलन के जिस निश्चय का हवाला ऊपर है वह इस प्रकार था—

"हिन्दी भाषा की राष्ट्रीयता तथा उसके प्रचार की दृष्टि से हिन्दी शब्दों के लिंग भेद का यथासम्भव नियंत्रण करने के हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिए यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक कमेटी बनाता है और उनसे निवेदन करता है कि वे अपनी रिपोर्ट ६ मास में सम्मेलन कार्यालय में भेजने की कृपा करें। सम्मेलन के प्रधान मंत्री का कर्त्तव्य होगा कि इस रिपोर्ट को प्रकाशित कर इस पर सम्मतियाँ इकट्ठी करें और फिर आगामी सम्मेलन में कमेटी की रिपोर्ट और सम्मतियाँ अपनी रिपोर्ट के साथ उपस्थित करें।

१. श्री बा० पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, प्रयाग
२. ,, पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी, खण्डवा
३. ,, रा० ब० पं० शुकदेव बिहारी जी मिश्र, लखनऊ
४. ,, पं० हरिहर जी शर्मा, मद्रास
५. ,, अध्यापक रामरत्न जी आगरा (संयोजक)

सम्मेलन कार्यालय से १० ज्येष्ठ संवत् ९३ को मुझे उपर्युक्त दोनों निश्चय की नकल भेजी गयी। मैंने १२ ज्येष्ठ को समिति के सदस्यों के पास निम्न आशय का पत्र भेजा—

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

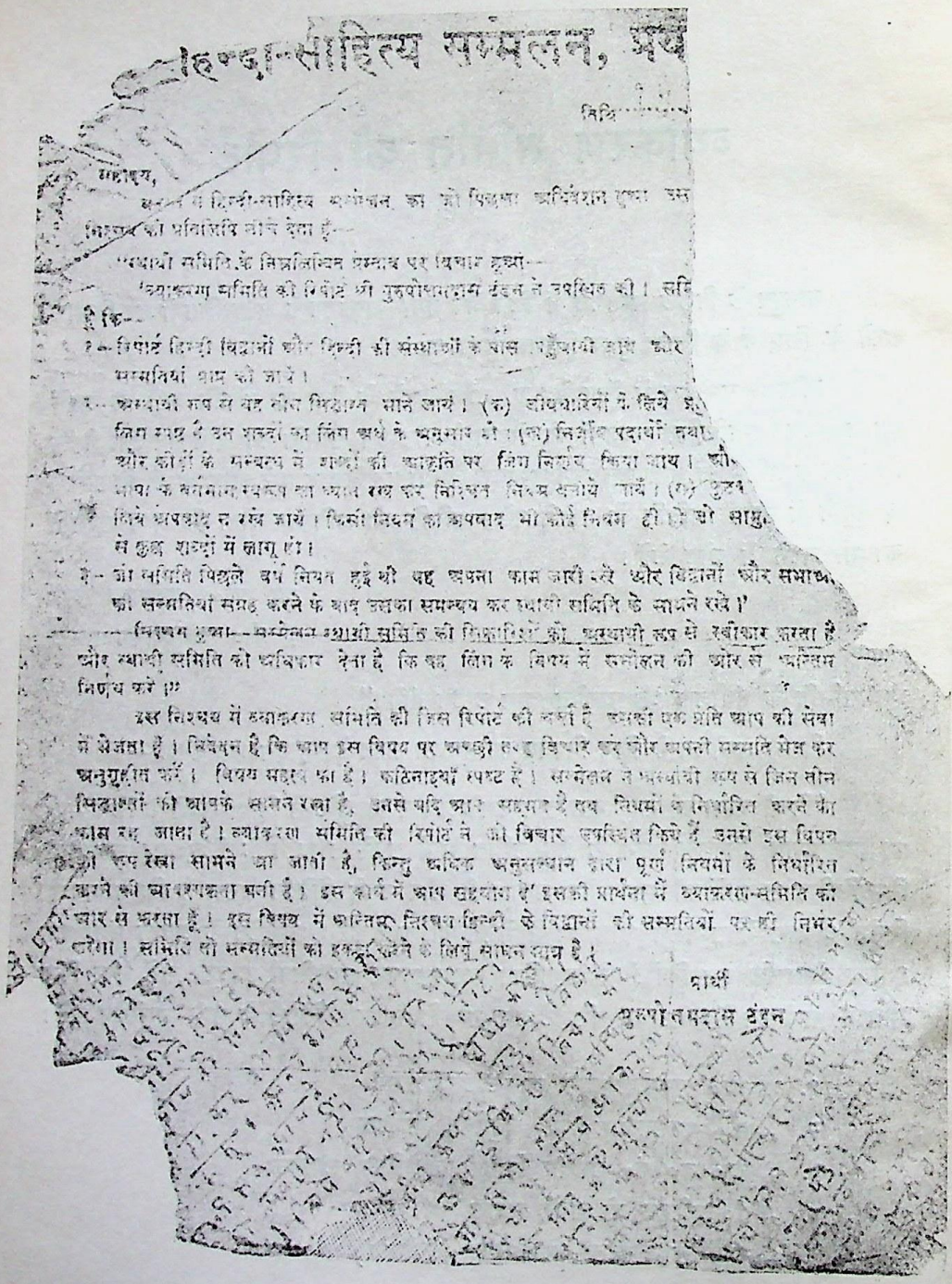

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रय

तिथि

महोदय,

बरेली में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का जो पिछला अधिवेशन हुआ उस निश्चय की प्रतिलिपि नीचे देता हूँ—

"स्थायी समिति के निम्नलिखित प्रस्ताव पर विचार हुआ—

'व्याकरण समिति की रिपोर्ट श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने उपस्थित की। समि है कि—

१—रिपोर्ट हिन्दी विद्वानों और हिन्दी की संस्थाओं के पास पहुँचायी जाय और सम्मतियाँ प्राप्त की जायँ।

२—अस्थायी रूप से यह तीन सिद्धान्त माने जायँ। (क) जीवधारियों के लिये प्र लिंग स्पष्ट है उन शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार हो। (ख) निर्जीव पदार्थों तथा और कीड़ों के सम्बन्ध में शब्दों की आकृति पर लिंग निर्णय किया जाय। औ भाषा के वर्तमान स्वरूप का ध्यान रख कर निश्चित नियम बनाये जायँ। (ग) कुछ लिये अपवाद न रखे जायँ। किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामु से कुछ शब्दों में लागू हो।

३—जो समिति पिछले वर्ष नियत हुई थी वह अपना काम जारी रखे और विद्वानों और सभाओं की सम्मतियाँ संग्रह करने के बाद उसका समन्वय कर स्थायी समिति के सामने रखे।'

निश्चय हुआ—सम्मेलन स्थायी समिति की सिफारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करता है और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह लिंग के विषय में सम्मेलन की ओर से अन्तिम निर्णय करे।"

इस निश्चय में व्याकरण समिति की जिस रिपोर्ट की चर्चा है उसकी एक प्रति आप की सेवा में भेजता हूँ। निवेदन है कि आप इस विषय पर अच्छी तरह विचार करें और अपनी सम्मति भेज कर अनुगृहीत करें। विषय महत्व का है। कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं। सम्मेलन ने अस्थायी रूप से जिन तीन सिद्धान्तों को आपके सामने रखा है, उनसे यदि आप सहमत हैं तब नियमों के निर्धारित करने का काम रह जाता है। व्याकरण समिति की रिपोर्ट ने जो विचार उपस्थित किये हैं उनसे इस विषय की रूपरेखा सामने आ जाती है, किन्तु अधिक अनुसन्धान द्वारा पूर्ण नियमों के निर्धारित करने की आवश्यकता बनी है। इस कार्य में आप सहयोग दें इसकी प्रार्थना मैं व्याकरण-समिति की ओर से करता हूँ। इस विषय में अन्तिम निश्चय हिन्दी के विद्वानों की सम्मतियों पर ही निर्भर करेगा। समिति तो सम्मतियों को इकट्ठा करने के लिये साधन मात्र है।

प्रार्थी

पुरुषोत्तमदास टंडन

व्याकरण समिति की रिपोर्ट के लिए स्वर्गीय श्री कामताप्रसाद गुरु को प्रेषित पत्रक के साथ पूज्य टण्डन जी के हस्तलेख में टिप्पणी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

"आपसे निवेदन है कि इस विषय में आपके जो विचार हों उन्हें लिखकर मेरे पास भेजें। सम्मेलन ने जो बात उठायी है वह बहुत महत्त्व की है और जो भी हम लोगों की समिति निर्णय करेगी उसका सम्भवतः भाषा पर स्थायी प्रभाव पड़ेगा। इसलिए मेरा विचार है कि समिति के सदस्यों की लिखित सम्मतियाँ आ जाने के बाद उनको एक स्थान पर इकट्ठे होने का कष्ट दूँ।

सम्मति देने से पहिले गंभीर विचार और संभवतः कुछ अध्ययन की आवश्यकता पड़ेगी। सलिए मैं जल्दबाजी नहीं करना चाहता। किन्तु, साथ ही, हमें यह भी याद रखना है कि ६ मास के भीतर स्थायी समिति के सामने हमें अपने सम्बद्ध विचार उपस्थित करने हैं।

मेरा निवेदन है कि १६ आषाढ़, तारीख ३० जून तक यदि आप अपनी सम्मति लिख कर भेज दें तो आगे के काम में सुविधा होगी।"

इस पत्र का उत्तर मेरे पास पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने अपने ३० मई, १९३६ के पत्र में दिया। उसमें उन्होंने विषय के ऊपर कुछ और न लिखकर यह सूचना दी कि "मिश्र बन्धु विनोद प्रथम खण्ड की भूमिका में इस विषय पर हम लोगों ने कुछ विचार किया है। वही मेरी सम्मति अब भी समझी जाय। वह भाग इस सम्मति का अंश समझा जाय।"

मैंने फिर एक पत्र १९ आषाढ़ ता० ३ जुलाई '३६ को उन सदस्यों के पास भेजा जिनका उत्तर नहीं आया था। मुझे जुलाई मास में लखनऊ जाने का अवसर हुआ था। मैंने इस बीच जो विचार स्थूल रूप से स विषय में स्थिर किये थे उन्हें पं० शुकदेव बिहारी मिश्र तथा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उनके दोनों ज्येष्ठ भ्राताओं के सामने रखा। उन्होंने अपनी सम्मति लिखकर मुझको दी।

समिति के अन्य सदस्यों में से किसी को लिखित सम्मति नहीं मिली। पं० माखनलाल चतुर्वेदी तथा पं० सद्गुरुशरण से कुछ बात हुई किन्तु निश्चित सम्मति उनकी भी नहीं मिली।

यह विषय महत्त्व का है। जल्दी में कोई अन्तिम निर्णय अभी नहीं होना चाहिए। विचारों को केन्द्रित करने की दृष्टि से ही मैं कुछ बातें सामने रखता हूँ। व्याकरण के अन्य विषयों को न लेकर इस समय लिंग भेद के विषय पर ही ध्यान देता हूँ क्योंकि यह विषय जटिल है और इस पर अच्छी तरह से विचार-विनिमय की आवश्यकता है।

लिंग भेद के विषय में कई प्रकार की बातें कही जा सकती हैं।

(१) एक तो यह कि जैसा चल रहा है, वैसा ही चले। कोई नये नियम बनाने की आवश्यकता नहीं। चलन के अनुसार संज्ञा शब्दों का लिंग स्थिर है और उसी परिपाटी के अनुसार विशेषण और क्रिया के लिंग स्थिर हों।

(२) दूसरा मार्ग कुछ थोड़े-से सज्जनों ने इस रीति से सोचा है कि क्रिया में लिंग भेद न रहे, जैसा कि संस्कृत में, अंग्रेजी में और हमारे देश की कुछ अन्य प्रचलित भाषाओं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में है। यदि इस प्रकार का सिद्धान्त मान भी लिया जाय तो भी लिंग की कठिनता उस समय तक नहीं जाती जब तक हम यह भी न कहें कि विशेषण से भी लिंग का चिह्न हटा दिया जाय। संस्कृत में यद्यपि क्रिया में लिंग नहीं हैं तो भी लिंग सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत हैं। हिन्दी में क्रिया और विशेषण दोनों से लिंग हटा कर जो स्वरूप बनेगा वह हिन्दी की प्राचीन और वर्त्तमान पद्धति से बहुत दूर चला जायगा, इसमें तो कोई संदेह नहीं। "काला घोड़ी घास खाता है" इस प्रकार का वाक्य जिसमें न विशेषण में और न क्रिया में संज्ञा के लिंग का भेद दिखलाया गया, हिन्दी के चलन से बहुत दूर है। मुझे उचित नहीं लगता कि इस प्रकार के परिवर्त्तन की ओर हम लोग झुकें।

(३) तीसरी बात यह हो सकती है कि जो चलन सिद्धान्तरहित है और अनावश्यक कठिनाइयाँ उपस्थित करता है उसे हम नियम में लाकर भाषा सम्बन्धी सुविधाएँ करें और आगे के लिए एक ऐसे नये चलन का मार्ग-दर्शन करें जो हमारी भाषा के स्वरूप और मौलिक सिद्धान्त के साथ मिल सकें।

इस अन्तिम दृष्टिकोण से ही मैं इस विषय को देखता हूँ। हिन्दी जीवित और उन्नत भाषा है। जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है उनमें भी हिन्दी राष्ट्रीयता की दृष्टि से फैल रही है। स्वभावतः हिन्दी के ऊपर उन लोगों का भी प्रभाव पड़ेगा जो हिन्दी भाषी न होते हुए भी भारतीय संस्कृति की दृष्टि से हिन्दी द्वारा विचार-विनिमय करते हैं। मुझे यह उचित जान पड़ता है कि इस प्रकार की बहुसंख्यक जनता के लिए हम कुछ ऐसी सुविधाएँ उपस्थित करें जिनसे प्रयोगों में सरलता के साथ स्थिरता उत्पन्न हो।

जीवित भाषा का एक लक्षण यह है कि वह लचीली होती है और समय की आवश्यकता के अनुसार सुविधाएँ उपस्थित करती हैं। अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में सबसे बड़ी कठिनाई लिंग के ही कारण होती है। यदि हम इस कठिनाई को दूर कर सकें तो हिन्दी के और भारतीय संस्कृति के क्षेत्र-विस्तार में सहायक होंगे। मैं यह भी निवेदन करूँगा कि जो नये नियम हम लिंग के विषय में बनावें उन्हें अभी वैकल्पिक रखना ही उचित होगा। पुरानी परिपाटी को अशुद्ध न कहकर हम नयी परिपाटी भी स्वीकार कर लें।

अब मैं हिन्दी भाषा का, लिंग की दृष्टि से, थोड़ा विश्लेषण करता हूँ। हिन्दी में दो लिंग हैं। पुंल्लिग और स्त्रीलिंग। हिन्दी में नपुंसकलिंग नहीं है। संस्कृत के नियम से भले ही किसी संस्कृत शब्द को कोई नपुंसकलिंग कह दे किन्तु प्रयोग में उसके नपुंसकलिंग होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हिन्दी की क्रियाएँ इन्हीं दोनों लिंगों के अनुसार ढलती हैं। क्रियाओं के पुंल्लिग और स्त्रीलिंग स्वरूप दोनों निश्चत और स्थिर हैं। उनके जानने में कोई कठिनाई नहीं है। "जाता है", "जाती है", "जाता हूँ" यही पुंल्लिग और स्त्रीलिंग के रूप सभी क्रियाओं में मिलते हैं। इसलिए किसी नये आदमी को भी इसमें धोखा न होना चाहिए। कठिनाई इस बात के जानने में होती है कि जिस संज्ञा शब्द के साथ क्रिया का सम्बन्ध है उस शब्द का लिंग क्या है? यदि हमें शब्द का लिंग मालूम हो तो क्रिया का क्या स्वरूप होगा यह आसानी से हर कोई बता देगा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विशेषण के स्वरूप का भी परिवर्त्तन संज्ञा अथवा विशेष्य के लिंग के अनुसार कैसे होगा यह भी जानना आसान है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी में विशेषण के सम्बन्ध में जहाँ साधारण बोलचाल के शब्दों में लिंग स्पष्टीकरण है वहाँ संस्कृत में ऐसा कर्रापन नहीं है। विशेषकर संस्कृत शब्दों के प्रयोग में हम सदा विशेषण में लिंग परिवर्त्तन नहीं किया करते। 'सुन्दर पुरुष और सुन्दर स्त्री' इस प्रकार का चलन हिन्दी में 'ग्रामीण जनता' शुद्ध प्रयोग माना जाता है, 'सुन्दर' और 'ग्रामीण' विशेषणों को हम स्त्रीलिंग भी मान लेते हैं। किन्तु 'काला स्त्री' ऐसा हम नहीं बोलेंगे। इन प्रयोगों में मुझे नियम दिखायी पड़ते हैं किन्तु इस विषय को मैं यहीं छोड़ता हूँ। इसके सम्बन्ध में दूसरे अवसर पर विचार हो सकेगा।

वास्तविक कठिनाई संज्ञा शब्दों की है। इसमें एक नियम स्थिर है और मेरा निवेदन है कि उससे हमें तनिक भी हटने की आवश्यकता नहीं। जिन शब्दों के अर्थ से ही लिंग स्पष्ट है उनके विशेषण और उनकी क्रियाएँ उनके अनुरूप होनी चाहिएँ। 'माता-पिता', 'गाय-बैल', 'हाथी-हथिनी', 'पुत्र-पुत्री', 'बालक-बालिका' इन शब्दों के अर्थ से ही लिंग स्पष्ट है। इसलिए किसी को, चाहे वह हिन्दी बोलने वाला हो या अन्य भाषा-भाषी हो, ऐसे शब्दों के प्रयोग में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसका नियम स्थिर और अटूट है। 'हाथी आती है' या 'बैल बैठी है' इस प्रकार की मूल भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला नहीं करेगा।

मुख्य कठिनाई हिन्दी में बेजान पदार्थों के सम्बन्ध में उपस्थित होती है, अथवा उन छोटे पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़ों के सम्बन्ध में, जिनमें स्त्री-पुरुष का भेद हम साधारण रीति से बोलचाल के शब्दों से स्पष्ट नहीं करते। 'किवाड़ अच्छा है', 'दीवार अच्छी है', 'कौवा काला है', 'कोयल काली है' इन वाक्यों में जो संज्ञा वाचक शब्द हैं उनके लिंग का अन्तर केवल चलन पर ही निर्भर है। किवाड़ क्यों पुँल्लिग है और दीवार क्यों स्त्रीलिंग है, कौवा क्यों पुँल्लिग है और कोयल क्यों स्त्रीलिंग है, इसमें कोई नियम अथवा सिद्धान्त नहीं है। केवल चलन ही कारण है। आजकल जो चलन है उसके भीतर से जहाँ तक संभव हो हम कोई सिद्धान्त निकाल सकें और अपवादों को भी किसी नियम में ढाल दें—चाहे साधारण चलन से थोड़ा हटना पड़े—तो मेरा निवेदन है कि हिन्दी के स्वरूप को रखकर भी हम भाषा के सरल करने में समर्थ होंगे। मैंने जो थोड़ा-सा हिन्दी के स्वरूप का अध्ययन किया है उससे मैंने यह परिणाम निकाला है कि इस सम्बन्ध में नियम स्थिर करना असम्भव नहीं है। हिन्दी भाषा में लिंग का झुकाव शब्द की आकृति की ओर है। निश्चित नियम तो इस समय नहीं है किन्तु झुकाव स्पष्ट है। इसी झुकाव के क्रम का ध्यान रखकर हम नियम बनाने का यत्न कर सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप मैं अकारान्त शब्दों को लेता हूँ। अनुसन्धान करने पर यह पता लगता है कि अकारान्त शब्द बहुत अधिक संख्या में पुँल्लिग हैं। ऐसे अकारान्त शब्द जो स्त्रीलिंग हों और साथ ही जिनके लिंग अर्थ से स्पष्ट हों बहुत थोड़े हैं। फिर भी हैं। इसी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रकार ईकारान्त शब्द अधिक संख्या में स्त्रीलिंग हैं। ऐसे ईकारान्त शब्द जिनके लिंग अर्थ से स्पष्ट न हों और जो पुँल्लिग हों बहुत ही कम हैं। यह भी पता लगता है कि हमारे कोश में अकारान्त और ईकारान्त संज्ञा शब्दों की ही भरमार है। शेष सब संज्ञा शब्द मिल कर इन दोनों प्रकार के शब्दों के लगभग तिहाई होंगे। यदि आप यह नियम बना दें कि सब अकारान्त शब्द, जिनके लिंग उनके अर्थ से स्पष्ट नहीं हैं, पुँल्लिग माने जायँ तो भाषा के चलन में बहुत थोड़ा अन्तर पड़ेगा और सुविधा बहुत हो जायगी। इसी प्रकार उन ईकारान्त शब्दों को जिनके अर्थ से लिंग स्पष्ट नहीं है स्त्रीलिंग मान लेने से बहुत सुविधा हो जायगी।

मैंने यह देखा कि बोलचाल में इस शैली पर बहुत लोग शब्दों का प्रयोग करते भी हैं, यद्यपि लिखने में वह सचेत हो जाते हैं। 'चाय अच्छा है', 'लाइन टूट गया', 'बाढ़ आ गया' यह मेरे कान से सुने हुए प्रयोग हैं, और इस प्रकार के प्रयोग मैंने अपने देश के हिन्दी भाषा-भाषी उच्चकोटि के सज्जनों को करते सुना है। मेरा निवेदन है कि इस प्रकार के प्रयोगों को वैकल्पिक रीति से शुद्ध मान लेना और व्याकरण में इसकी प्रविष्टि करना उचित होगा।

इसी प्रकार 'मोती अच्छी है' इस प्रकार के प्रयोगों को जो बहुत थोड़े होंगे शुद्ध मान लेना भाषा की सरलता और उसकी ज्ञान की वृद्धि में सहायक होगा।

अकारान्त और ईकारान्त के बाद हमारे कोश में आकारान्त शब्दों की संख्या है। इनमें यह देखा जाता है कि पुँल्लिग शब्दों की संख्या अधिक है, स्त्रीलिंग शब्दों से लगभग दूनी।

इनके विषय में मेरा निवेदन है कि नदियों के नाम और 'इया' प्रत्यय द्वारा छोटापन प्रकट करने वाले शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं जैसे गंगा, जमुना, खटिया, मचिया। यह नियम स्थिर मान लिया जाय। शेष ऐसे आकारान्त शब्द जिनके लिंग उनके अर्थ से स्पष्ट नहीं हैं पुँल्लिग माने जायँ। इस प्रकार का नियम वर्त्तमान चलन से हमें बहुत ही थोड़ा खसकायेगा।

इन तीन प्रकार के शब्दों को निकाल देने के बाद—अर्थात् अकारान्त, ईकारान्त और आकारान्त-कोश में संज्ञा शब्दों का लगभग सोलहवाँ हिस्सा ही बचेगा। उनमें मेरा निवेदन है कि इकारान्त शब्दों का झुकाव स्त्रीलिंग की ओर है। हम उन सब इकारान्त शब्दों को जिनसे उनका लिंग स्पष्ट नहीं है स्त्रीलिंग मान सकते हैं।

शेष सब संज्ञा शब्दों को पुँल्लिग मान लेने में मुझे अधिक अड़चन नहीं दिखलायी पड़ती। उनका झुकाव पुँल्लिग की ओर ही अधिक है और वे आपेक्षिक दृष्टि से बहुत थोड़े हैं।

यह भी यहाँ कह देना उचित समझता हूँ कि हिन्दी में व्यञ्जनान्त शब्द मानने की आवश्यकता नहीं। लिंग की दृष्टि से हम उन सब शब्दों को अकारान्त की श्रेणी में रख सकते हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मेरा इस समय इतना ही निवेदन है। बहुत संभव है कि कुछ अधिक अनुसन्धान से हम और भी नियम स्थिर कर सकें और जिन नियमों की मैंने ऊपर सिफारिश की है उनमें परिवर्त्तन करना उचित जान पड़े। मेरा कहना इतना ही है कि जितने भी परिश्रम और विचार-विनिमय की आवश्यकता हो उन सब के बाद हम लिंग के विषय में अपनी भाषा की मर्यादा को देखते हुए निश्चित नियम स्थिर करने के मार्ग का अनुसरण करें।

समिति के सदस्यों में से पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ने (अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के साथ) जो सम्मति दी है वह इस रूप में है—

१०५ गोलागंज
लखनऊ
७-७-३३

प्रिय टण्डन जी महाशय,

आज आपने लिंग भेद के विषय में हम तीनों भाइयों से बात करने की कृपा की है। सो हम चारों के विचार इस काल तक निम्नानुसार हैं:—

(१) शब्दों के रूपों के अनुसार लिंगभेद का निर्णय सदैव से होता आया है और अब भी योग्य है।

(२) नियम यथासाध्य सरलातिसरल होने चाहिए।

(३) नियम अवश्य हों किन्तु अपवाद छोड़ दिये जावें क्योंकि उन्हीं के कारण जटिलता आती है।

(४) निर्जीव या अस्पष्ट लिंगवान् वस्तुओं में से जिनके लिंग स्वयंसिद्ध नहीं हैं, सभी ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग माने जावें तथा अकारान्त पुंल्लिग।

इसी आधार पर अन्य सुगम नियम बन सकते हैं। सिद्धान्त रूप से उपर्युक्त बातों को हम लोग पसन्द करते हैं।

भवदीय
गणेश बिहारी मिश्र
श्याम बिहारी मिश्र
शुकदेव बिहारी मिश्र

समिति के सदस्यों के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ अन्य लेखक, जिनसे मैंने बातें की हैं, इस बात पर सहमत हैं कि शब्दों के स्वरूप के आधार पर हम लिंग सम्बन्धी नियम निश्चित कर दें और अपवादों को हटा दें। मुझे लिखित सम्मतियाँ भी मिली हैं। रिपोर्ट लम्बी न हो इसलिए उन्हें इसके साथ प्रकाशित नहीं कर रहा हूँ। अधिक सम्मतियाँ लेने के बाद सबों को प्रकाशित करने की आशा करता हूँ—

८ चैत्र १९८३ पुरुषोत्तमदास टण्डन
ता० २२-३-३७

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

शेषांश

इस रिपोर्ट के लिखने के बाद मेरा ध्यान कुछ और भी नियमों की ओर गया जिनके आधार पर हिन्दी में व्यवहृत शब्दों का लिंग निश्चित होता है। भाववाचक शब्द जो 'अत' या 'अट' से समाप्त होते हैं सब स्त्रीलिंग हैं। 'अत' से समाप्त होने वाले शब्द प्रायः अरबी के हैं। इन दोनों प्रकार के शब्दों के कुछ उदाहरण देता हूँ--फ़ज़ीहत, तकवीयत, इलमीयत, थकावट, बनावट, घबराहट आदि।

मैंने पहले निवेदन किया है कि सब अकारान्त शब्द जिनके लिंग उनके अर्थ से स्पष्ट नहीं हैं पुँल्लिग माने जायँ। उपर्युक्त शैली के शब्द इस नियम के अपवाद होंगे किन्तु यह अपवाद भी नियमित है। इसलिए उससे जटिलता उत्पन्न नहीं होती।

इसी प्रकार जहाँ मैंने आकारान्त शब्दों के विषय में कहा है कि नदियों के नाम और 'इया' प्रत्यय द्वारा छोटापन प्रकट करने वाले शब्द स्त्रीलिंग होते हैं, वहाँ यह भी जोड़ दिया जाय कि 'ता' प्रत्यय जोड़ने से जो भाववाचक शब्द बनते हैं वे भी स्त्रीलिंग होते हैं।

पुरुषोत्तमदास टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड ५

गांधी-टण्डन पत्र-व्यवहार

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन : अध्ययन के क्षण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

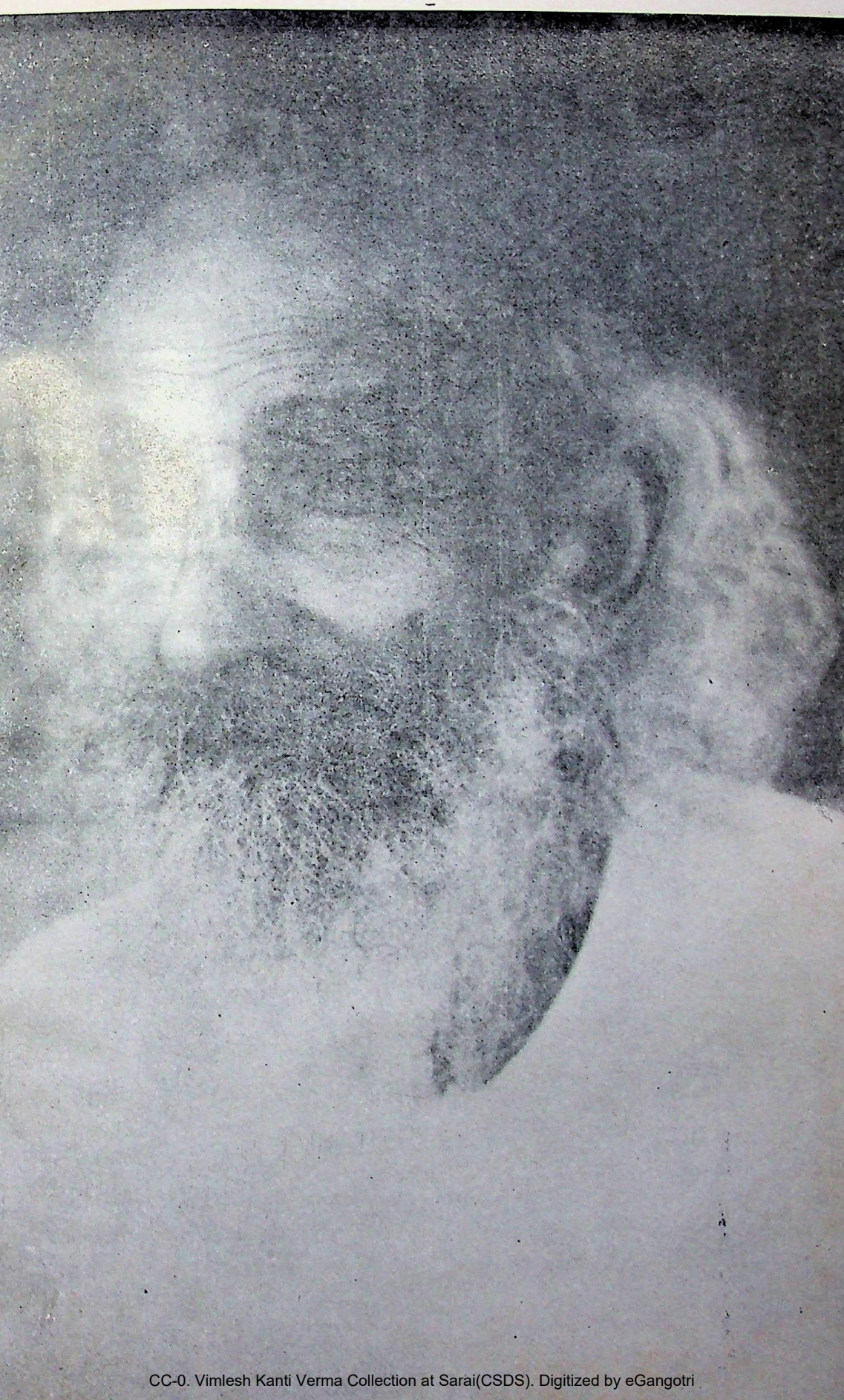

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

खण्ड ६

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व की रेखाएँ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी का जीवन-दर्शन

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

⊙ ⊙

श्रद्धेय टण्डन जी जीवन के व्यवहार के महल में आदर्शों की वह खिड़की हैं जिसमें से हम युगों-युगों के सन्तों के आचरण को झाँक सकते हैं। साथ ही, वे देश का वह सत्य हैं जो उच्च जीवन भी है और उच्च जीवन का तत्त्वचिंतन भी। जो अन्तःकरण की महान् विजय भी है और मानव-चरित्र का उच्चतर कानून भी। जो रीति-नीति की ईमानदारी भी है और स्वास्थ्य का सन्तत्त्वमय प्रतीक भी।

एक बार, यह लगभग ३५ वर्ष पहले की बात है, मैं लाहौर के लाजपतराय-भवन में श्रद्धेय लाला लाजपतराय जी से बातें कर रहा था। उन दिनों टण्डन जी लाला जी द्वारा संस्थापित Tilak school of politics (राजनीतिक तिलक विद्यालय) के या तो अध्यक्ष चुने गये थे या चुने जाने को ही थे। लाला जी का कथन था कि टण्डन जी बहुत जिद्दी हैं और वे Tilak school of politics के अध्यक्ष के रूप में अपनी की जानेवाली सेवाओं के लिए विशेष कुछ न लेकर वही वेतन लेना चाहते हैं जो अन्य सामान्य सदस्यों को मिलता है। उन दिनों तो इस विषय पर श्रद्धेय टण्डन जी से कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई; किन्तु सन् १९४३ में, जब मैं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष हुआ और वे गोरखपुर जेल से छूटकर आये, तब मैंने उनसे लाला जी की वह वर्षों पुरानी शिकायत दुहराई। टण्डन जी साश्रुनयन हो उठे। बोले, माखनलाल जी! यह कैसे सम्भव था कि Tilak school of politics का सभापति अन्यथा बरते। लाला जी महान् थे उनके भारत और अमेरिका में उठाये गये भारतीय स्वतन्त्रता के कष्टों के लिए मेरा सिर झुक जाता है कहाँ मैं और कहाँ वे। किन्तु उन्होंने मुझे Tilak schoal of politics का अध्यक्ष बनवाया और यह कैसे सम्भव हो सकता था कि मैं वसूली को महत्व दूँ।

एक बार नाभा-नरेश अपने प्रभु अँगरेजों से असन्तुष्ट हुए और उन्होंने श्रीयुत् पुरुषोत्तमदास जी टण्डन को अपने यहाँ का दीवान बनाया। कहते हैं प्रसंगवश टण्डन जी ने प्रयाग आने के लिए उनसे छुट्टी माँगी। त्रिवेणी का तट और प्रयाग की भूमि उन्हें बहुत प्रिय है। स्वर्गीय नाभा-नरेश ने इन्कार तो नहीं किया किन्तु टण्डन जी की छुट्टी की माँग पर वे बोले कुछ नहीं। टण्डन जी ने तत्काल, प्रयाग पहुँचकर अपना इस्तीफा नाभा-नरेश को भिजवा दिया। इस प्रसंग को पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी से प्राप्त संवाद के उदाहरण द्वारा समझा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जा सकता है। कहते हैं देश के किसी महामान्य धनिक सज्जन ने हिन्दी-जगत् के एक व्यक्ति को अपने एक सुप्रसिद्ध दैनिक में नियुक्त करने की बात कही। उन्होंने अपनी सब सुख-सुविधाएँ भी लिख दीं जो वे उन्हें देना उचित समझते थे। पण्डित बनारसीदास जी ने उक्त "धनिक" सज्जन को लिख दिया कि मछली पकड़ोगे तो खुद खाओगे और मगर पकड़ने की कोशिश कीजियेगा तो वह आपको खा जायेगा।

टण्डन जी अत्यन्त नम्र हैं किन्तु राष्ट्रीय तथा भारतीय भाषाओं के गौरव की रक्षा करने में वे कभी न झुकने-वाले व्यक्तियों में से हैं। जब वे भाषण देने खड़े होते हैं तो अपने छोटे-छोटे उदाहरणों में विषय को इस तरह गूँथ देते हैं कि लोक-जीवन उनका अनन्य सेवक हुए बिना नहीं रह सकता। अपने सिद्धान्तों के वे इतने पक्के हैं कि स्वराज्य मिलने के उपरान्त एक बार हिन्दी सम्बन्धी प्रस्ताव पर मत देना पड़ा तो उन्होंने कांग्रेसी नीति के प्रतिकूल, प्रस्ताव को हिन्दी के हित में न मानने के कारण उसके विरोध में संसद् में अपना मत दिया और साथ ही कांग्रेस से त्यागपत्र भी दे दिया।

मैंने तो सदा यह माना है कि टण्डन जी के द्वारा जो कुछ होकर आया वह इस देश की राष्ट्रीयता का उच्चतर चरित्र था। इसीलिए महामना मालवीय जी ने एक बार काशीधाम में (जब मैं खण्डवा के एक विद्यार्थी को हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्ज कराने के लिए गया था तब) प्रसंगवश कहा था कि "पुरुषोत्तम वही बोलता है, जो उसका अन्तःकरण उसे आज्ञा देता है।" भारत की जातीयता बहुत बलवान् है कि उसके पास पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसा व्यक्ति मौजूद है। ज्ञान जब काला पड़ने लगता है और उद्योग जब शिथिल होने लगता है, तब टण्डन जी की तरफ देखकर बल मिलता है।

लोग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि श्रद्धेय श्रीयुत् पुरुषोत्तमदास टण्डन केवल हिन्दी के बहुत बड़े भक्त हैं किन्तु टण्डन जी ने एक बार मुझसे कहा था और इस आशय के उन्होंने जहाँ-तहाँ भाषण भी दिये थे कि यदि हिन्दी भारतीय स्वतंत्रता के आड़े आयेगी तो मैं स्वयं उसका गला घोंट दूँगा। वे हिन्दी को देश की आजादी के पहिले, आजादी के प्राप्त करने का साधन मानते रहे हैं और आजादी मिलने के बाद आजादी को बचाये रखने का। बम्बई में भाई कन्हैयालाल जी माणिकलाल जी मुंशी के यहाँ टण्डन जी और मैं एक ही कमरे में ठहरे हुए थे। जब मैं मराठी, गुजराती और हिन्दी का गुणगान कर रहा था और तीनों के साम्य की बात कह रहा था तब टण्डन जी ने कहा था "मैंने सुना है कि तमिल, तेलुगु और मलयालम में बहुत अच्छा साहित्य है। तमिल तो माखनलाल जी, आप ही के देश में नहीं बोली जाती। लंका में एक बहुत बड़ा भाग तमिल बोलता है और सिंगापुर और मलाया का भी एक बहुत बड़ा भाग तमिल बोलता है। क्या बिना गुणों के इतनी जगह कोई भाषा बोली जा सकती है।" उस समय मैं सोचता रहा कि इस व्यक्ति को समस्त भारतवर्ष का कितना खयाल रहता है?

लोग यह सुनकर अचम्भा करेंगे कि टण्डन जी चमड़े के जूते नहीं पहिनते। किन्तु भारतीय क्रान्ति के लिए उनके बड़े-से-बड़े त्याग और प्रयत्न की कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

महात्मा गांधी, मतभेद के समय भी श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को बहुत मानते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि हिन्दी यदि इस देश की कीर्ति की मूर्ति है तो इसलिए कि पुरुषोत्तमदास जैसे महान् व्यक्ति उसके संचालक हैं।

श्रद्धेय टण्डन जी उर्दू कविता के बड़े हिमायती हैं। वे स्वयं उर्दू शेर बड़े चाव से पढ़ते हैं और जब वे उत्तर प्रदेश की धारा सभा के माननीय अध्यक्ष थे तब उन्होंने अपनी नीति स्पष्ट करते हुए मुसलमान मित्रों को अपना भाई बतलाया था। इसीलिए उनकी हिन्दी की रीति-नीति मुसलमान भाइयों की समझ में तो आ सकती थी, किसी अँगरेज की समझ में आना कठिन था। यों हिन्दी के बोलनेवालों पर यह उत्तरदायित्व है क्योंकि देश में हिन्दी बोलनेवालों की संख्या बहुत बड़ी है अतः वे संतवर विनोबा के कथन के अनुसार सारे जगत् का स्वागत करेंगे। इस विषय में रूस से सबक सीखना चाहिए। पिछले महायुद्ध में रूस समस्त संसार के कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट देशों का समर्थन करता रहा। किन्तु उसने रूस की स्वतंत्रता, दृढ़ता और आर्थिक अवस्था को खतरे में नहीं पड़ने दिया। इसीलिए उसके यहाँ के आविष्कार विश्व में चमत्कार दिखा रहे हैं और उसके यहाँ के धन से कितने ही देशों को सहायता मिल रही है।

हिन्दी के उन्नयन के क्षेत्र में प्रयाग पिछले ४०-५० वर्षों से ही आगे आया। उसके पहिले काशी, आगरा, बाँकीपुर, यही स्थान हिन्दी के गढ़ थे। टण्डन जी और अनेक मित्रों ने अपने त्याग और तपस्या से प्रयाग को हिन्दी का गढ़ बनाया। यदि हम सन्तवर तुलसीदास की तरह हिन्दी का विस्तार चाहें तो हमें सन्तवर विनोबा जैसे उन लोगों की कद्र करनी चाहिये जो हिन्दी में साँस लेते हैं और विश्व को प्रदान कर देते हैं। इसी तरह हमें टण्डन जी के अस्तित्व और प्रयत्न को समझना चाहिए। हिन्दी enthusiast कह जिन लोगों में उनका मजाक उड़ाया जाता है, वह पीढ़ी कहीं अस्तित्व में ही नहीं है। केवल भाषणकर्त्ताओं को अपनी गालियाँ देने के लिए सुलभ सीढ़ियाँ चाहिए इसीलिए हिन्दी enthusiast शब्द का निर्माण किया गया है।

एक बार टण्डन जी ने मुस्कराकर कहा था कि अब तो हिन्दी को सारे राष्ट्र की भाषा बनकर रहना पड़ेगा। उसकी विभक्ति प्रत्ययों में ही नहीं, संज्ञा और सर्वनामों के रूपों में परिवर्तन करना पड़ेगा। क्या आप उसके लिए प्रस्तुत हैं? एक बार यह भी कहा था कि यदि हिन्दी का नाम भारती रहे तो कैसा रहेगा? यह बम्बई साहित्य सम्मेलन की (१९४८ की) बात है।

मुझे यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ और हिन्दी-जगत् को यह सुनकर गर्व हुए बिना न रहेगा कि सुनते हैं कि इस देश के एक प्रान्त की गवर्नरी टण्डन जी के सामने रखी गयी, तब उन्होंने अपनी साधु-सुलभ नम्रता के साथ इन्कार कर दिया। इस विषय में उनका कथन बहुत आदरणीय था। उनके मत से यही काम छोटा नहीं है कि हमारे प्रदेशों में जहाँ-जहाँ गवर्नरियाँ कायम हुई हैं हम वहाँ के जन-जीवन और गवर्नरों की सहायता करें। सन् १९२४ में स्व० गणेशशंकर जी के फतेहपुर में चलनेवाले राजद्रोह के मुकदमे में गणेश जी का वक्तव्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लिखवाने के लिए जब मैं टण्डन जी के पास कानपुर से प्रयाग गया, तब वे प्रयाग के जानसेनगंज मुहल्ले में रहकर वकालत करते थे और साधुवर श्री वियोगी हरि हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालय में टण्डन जी के साथ थे। उस समय टण्डन जी ने जो अँगरेजी में वक्तव्य लिखवाया था और जिसे गणेश जी ने कुछ नगण्य परिवर्तनों के साथ फतेहपुर की अदालत में पेश किया था, मैंने देखा कि उस वक्तव्य के लिखवाते समय कानून की या नीति-नियम की कोई भी झिझक टण्डन जी के चेहरे पर नहीं थी। मैं यह भी निवेदन कर दूँ कि कानपुर का 'प्रताप' उन दिनों इस देश की स्वाधीन-चेता-प्रवृत्तियों का गायक और नायक था तथा पुरुषोत्तमदास जी टण्डन उस पत्र के ट्रस्टियों में से एक थे।

हिन्दी कविता और हिन्दी गद्य के प्रति ही टण्डन जी का आकर्षण नहीं है, जब वे हिन्दी साहित्य सम्मेलनों में जाते हैं, तब हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशकों की दूकानों पर जाकर कुछ-न-कुछ पुस्तकें अवश्य खरीदते हैं। जिन दिनों लाहौर में पंजाब नेशनल बैंक के मैनेजर थे, उन दिनों वे अपने वेतन का एक भाग उस प्रदेश में चलाई जाने वाली हिन्दी पाठशालाओं के लिए खर्च कर देते थे। यह बात मुझसे सन् १९४० में स्व० गोस्वामी गणेशदत्त जी ने कही थी।

१९२० में पटना हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय तथा १९२४ में भी टण्डन जी कदाचित् दाढ़ी नहीं रखे हुए थे। वे सफेद रंग का फेंटा बाँधते थे। शरीर के बहिरंग आवरण की ओर उनका कभी कोई ध्यान नहीं देखा गया। स्पष्ट दीखता है कि वे अपने शरीर के प्रति और अपने वस्त्रों के प्रति भी अत्यन्त उदासीन हैं। जाने कब से उन दिनों वे कच्चा भोजन करते थे। गेहूँ और चना ही नहीं किशमिश भी भिगोकर भोजन में लेते थे। वे कभी-कभी कदाचित् जाड़ों में काले मटमैले ऊन की टोपी लगाते हैं। वह शुद्ध खादी की होती है। जब से खादी प्रारम्भ हुई है तब से वे लगातार खादी ही पहिनते हैं। आजकल के शिरस्त्राण कुछ नहीं लेते। जीरो रोड पर प्रयाग में जब से मैंने उन्हें मकान में रहते देखा है, प्रायः शिरस्त्राणयुक्त नहीं पाया है।

टण्डन जी को साहित्यिक प्रसिद्धि उनकी साहित्यिक सिद्धि है। यों तो उनका 'बन्दर महाकाव्य' नाम का एक काव्य अवधी या बैसवाड़ी बोली में लिखा बताते हैं; किन्तु हिन्दी के उन्नयन में उन्होंने अपने को जीते जी राष्ट्रभाषा भवन की नींव में गाड़ दिया-सा लगता है। इसी तरह उन्होंने पुस्तकों का नहीं, देश और हिन्दी की सेवा करने वाले व्यक्तियों का निर्माण किया है। टण्डन जी के जीवन में ऐसा बहुत दिखायी देता है जो विरोधाभास-सा लगे। वे ऐसे जूते पहिनते हैं जिससे चिउँटी भी न मरे। किन्तु जिन दिनों वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे, वे, वहाँ की क्रिकेट टीम के कप्तान थे। वे अँगरेजी और उर्दू बहुत ही अच्छी बोलते और लिखते हैं। मगर वे हिन्दी के इतने बड़े उन्नायक हैं कि उनके बिना हिन्दी की चर्चा त्रिवेणी के बिना प्रयाग की चर्चा के समान है।

देश के जो क्रान्तिकारी रहे हैं, उत्तर प्रदेश के अंचल में टण्डन जी उन तरुणों के बलवान् प्रेरणा स्रोत रहे हैं। उनके काम करने की खूबी यह है कि किसी संस्था में यदि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

५० सदस्य हों और उस संस्था में टण्डन जी की रुचि का एक भी सदस्य चुनकर न आने दिया जाय तब भी वे उस संस्था के साथ सहयोग करते रहेंगे। उनका-सा निर्वैर आदमी तथा उनके समान क्रियाशील अद्‌भुत व्यक्तित्व मैंने पूज्यवर गांधी के बाद उन्हीं में पाया। मुझसे तो यह बात बुढ़ापे तक न सध सकी।

वे समय और काम में लगे मन को अकेले उतना अधिक नहीं चाहते, जितना इन दोनों को तथा अपनी गतिविधि को वैचारिकता से भर देना चाहते हैं। मैंने जब-जब टण्डन जी को देखा, उन्हें सदैव किसी-न-किसी काम में उलझे हुए पाया और उससे भी अधिक किसी-न-किसी विचार में डूबे हुए। लगता है, जीवन का कोई ऐसा कानून है, जो इस व्यक्ति को और इसके आस-पास के वातावरण को चैन से नहीं बैठने देता।

अपनी संतुलित शक्तियों को कभी बेकार न रहने देना, अपने सारे प्रयत्नों को केवल भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी उद्धार में लगाना, अपने ऊँचे चरित्र से निर्भीकतापूर्वक अपने विश्वासों को जन-जीवन के बड़े-से-बड़े आदमी के सामने रखना, अपनी देवमूर्ति जैसी निर्मलता, कोमलता और नम्रता को किसी भी मूल्य पर कभी भी न भूलना, जिस समय विनोद के क्षण हों, उस समय भी अपनी सिद्धान्तवादिता को याद रखना, शोध, व्यवसाय और साँस तीनों को अन्तःकरण की उच्च दिशा में चलाना, ये एक ही पुरुषोत्तमदास के थोड़े-से किन्तु अनेक स्वभाव हैं।

लगता है, उनका कोई क्षण उनका शौक या दिखावा नहीं है। वे ऐसा क्षण कदाचित् जानते ही नहीं जिस पर सिद्धान्तपूर्णता से उन्होंने अपने काम की मुहर न लगायी हो। लम्बी यात्रा हो या अचानक का कहीं रहना, उनका जीवन तो एक समर्पित जीवन है जिसके साथ बड़ा और छोटा कोई भी खिलवाड़ नहीं कर सकता। उनके भोलेपन के कारण कितनी ही बार ऐसा लगता है, मानो किसी विषय पर उनका कोई मत नहीं किन्तु परिणाम पर पहुँचने के लिए जब-जब टण्डन जी के सामने किसी ने प्रयत्न किया, उनका दीपक जैसा उज्ज्वल, हीरों जैसा चमकता हुआ तथा इमली के बीजों जैसा नपा-तुला मत उस व्यक्ति को देखने तथा सुनने को मिला।

टण्डन जी जिद्द नहीं करते। वे आग्रह करते हैं और उसकी सचाई में इतना अधिक विश्वास करते हैं कि रबड़ की तरह क्षण-क्षण लचकने वाला मनुष्य उनकी फौलाद जैसी दृढ़ता से घबड़ा जाता है।

गलतियों को स्वीकार करने में उनकी कोमलता विलम्ब तो नहीं करती किन्तु वे प्रश्न की सब बाजुओं से बहस करते हैं और यदि उनकी दृढ़ता से प्रश्नकर्ता बीच ही में विषय को त्याग दें तो उसका उत्तरदायित्व टण्डन जी पर नहीं हो सकता। यों वे इस बात की भरपूर सावधानी लेते हैं कि उनकी बातों से आगन्तुक का मन न दुःख जाय। मैंने अपराध की उस प्रवृत्ति में उन्हें कभी रस लेते नहीं देखा जिसे शपथपूर्वक बात कहते हैं। वे मानते हैं कि अपराध का पक्ष लेना मस्तिष्क रखनेवाले के लिए स्वयं बड़ा अपराध है। यदि किसी समूह में आप टण्डन जी को देखें तो टण्डन जी के स्वभाव, शील और सौजन्य के प्रति आप

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। आनन्द की बात यह है कि कोई भी चर्चा उनकी आदत नहीं हो गयी है। संसार के समस्त गम्भीर प्रश्नों पर उनकी उत्सुकतापूर्ण जिज्ञासु शक्ति त्रिवेणी की धारा की तरह निर्मलतापूर्वक बिना रुके बहती रहती है। यह बहुत बड़ी बात है कि कच्चे और भिगोये हुए अनाज को खाने की जिसने आदत डाली हो वह विचारों की और उनकी क्षय करनेवाली ताकत की नाशक आदत से सदैव बचा रह सके जब कि एक आदत से दूसरी आदत रखकर ही और उनकी सीढ़ियों पर अपने स्वभावों के पैर जमा-जमा कर ही मनुष्य आगे बढ़ता रहता है। लगता है, उन्होंने अपनी सम्पूर्ण अधोमुखी आदतों को ऊर्ध्वमुखी स्वभाव बना लिया है। उन्होंने अपने जीवन में जितना सहा है, उतना कभी कहा नहीं। मानो सहते जाना वे पीढ़ियों की परम्परा बना देना चाहते हैं। धन की धनिकता हो या सम्पत्ति की धनिकता, रूप की धनिकता हो या ज्ञान की धनिकता वे किसी को अपने गरीब देशवासी पर सवार होते नहीं देख सकते। कदाचित् इसीलिए जब मैं उनके पास जीरो रोड पर ठहरा, मैंने वहाँ संतों का साहित्य ही पड़ा पाया।

इतनी कम आवश्यकताओं पर उन्हें जीवन की लगन लग गयी है मानो उनका अंतर्बाह्य संतत्व झाँक-झाँक उठता है। उनकी साँस मानों उनके अस्तित्व का वह अधिकार है, जो अपने बूते देश को स्वतन्त्रता, विश्व के आदर्शदान और हिन्दी के उन्नयन का काम बराबर किये जायगी। उनका जीवन डाकखाने की मुहर की तरह जहाँ पड़ता है, अपनी यादें छोड़ता जाता है और वस्तुओं, संस्थाओं और व्यक्तियों के रूप में निर्माण कार्य किया करता है। रुपया यद्यपि उनके वचनों पर ढेरों एकत्र हो सकता है, एक एडवोकेट के नाते उनके मस्तिष्क में भी अनेक खूबियाँ हैं, किन्तु रुपया और मस्तिष्क की खूबियों से अधिक वे भारतीय संस्कृति का मूल्य करते हैं और भारतीय चरित्र को इतना ऊँचा उठाना चाहते हैं कि जिस पर रुपया और मस्तिष्क की शक्ति चढ़ाई जा सके। क्योंकि वे मानते हैं कि मस्तिष्क की शक्ति बड़ी भले हो, वह किसी देश और किसी जाति के चरित्र से ऊँची नहीं हो सकती। इसीलिए काव्य, चित्र, कलाकृति, नाटक और धर्मोपदेश इस सब से परे पुरुषोत्तमदास टण्डन मानो गरीबों के जीवन में घुल-मिल जाना चाहते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ वे मानते हैं कि जीवन की उच्चता उसका नाम है, जिसके लिए कैफियतें नहीं देनी पड़तीं। यही कारण है कि टण्डन जी बापू जी द्वारा इतने सम्मानित किये गये कि यदि कभी महात्मा गांधी के साथ मतभेद भी हो जाता तो महात्मा जी टण्डन जी की श्रेष्ठता के कारण लगातार मतभेद के विषयों पर भी उनसे सलाह लेते रहते।

यदि एक हाथ में कोई सौभाग्य और दूसरे में जन-सेवा लेकर आवे तो जहाँ तक मैं जानता हूँ, टण्डन जी दूसरे को छाती से लगा लेंगे और पहले को ठुकरा देंगे। लगता है, विश्व के यथार्थ शिक्षण और संस्कृति में वे कोई भेद नहीं मानते। जो बात उन्हें कहनी है, वह कहते रहे हैं और कहते रहेंगे। बच्चों से वही कहेंगे, जवानों से वही कहेंगे, बूढ़ों से वही कहेंगे। वे भले ही ऊँचे ग्रन्थों और व्यक्तियों के अवतरण अपने भाषणों में रखें, किन्तु हिन्दी संसार तो केवल उनकी तरफ देखकर, उनके समर्पण के स्वभाव की तरफ देख कर ही

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जीवित रहा है और जीवित रहेगा। यदि मैं हिन्दी-जगत् के हृदय को जानने का गर्व करूँ, तो हिन्दी-हित के लिए उसे किसी अन्य पवित्रता और आदर्शवाद की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुषोत्तमदास टण्डन की आवश्यकता है।

वे जानते हैं कि किसी जाति की संस्कृति को महानता पुस्तकों में जाकर शरण भले ले ले, शब्दों की नदी में कोई डूबता नहीं है, और शब्दों की नाव से कोई पार नहीं उतरता। इसीलिए हमारे ग्रन्थों ने यह कहा "रास्ता वह, जो हमें ऊपर की तरफ ले जाय। धर्म हमारा वह जो हमें ऊँचा उठावे और हमारा व्यक्तित्व वह जो अपने चरित्र के हाथों से अपनी संस्कृति में उसे गूँथता रहे।" इस व्यक्ति का बोलना भी बोलना है, चुप रहना भी, इस व्यक्ति का घूमना भी बोलना है, ठहर जाना भी, इस व्यक्ति की आँखें खोलना भी बोलना है, आँखें मूँद लेना भी। और उसे इस जमाने का गरीब-से-गरीब बेपढ़ा-से-बेपढ़ा व्यक्ति पढ़ सकता है। ऐसा व्यक्ति घर में अमन-चैन से रहते हुए भी मानो सूली पर टँगा होता है। वह व्यक्ति नहीं रह जाता, व्यक्तित्व बन जाता है।

हिन्दी भाषा और भारतीय साहित्य के प्रति उनके विचार महात्मा गांधी से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। वे अक्सर यह कहते देखे गये हैं कि महात्मा जी से झगड़ते समय मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्तु, साथ ही, वही हैं जो उदारतापूर्वक महात्मा गांधी से लड़ सके और उसी वृत्ति से अपने प्रतिकूल लड़नेवालों को भी समझ सके। जो लोग पदों की प्राप्ति से अपनी आँखों को चौंधियाये रहते हैं, वे भले ही उन्हें न समझ सकें किन्तु जो अपने में पदों की प्राप्ति के समय, पिछड़े रहने का साहस पाते हैं वे टण्डन जी के संतोचित्त शील, सौजन्य और साहस को समझते रहे हैं और समझ सकेंगे। वे जानते हैं कि "हाँ" कहने में जिस उत्तरदायित्व की आवश्यकता होती है कभी-कभी "ना" कहने में उससे भी बड़े उत्तरदायित्व की आवश्यकता हो जाती है।

हिन्दी का जानकार यह अनुभव करता है कि जो हिन्दी इस देश की समस्त भाषाओं के हिल-मिल जाने और उन्हें ऊँचा उठाने का उद्योग नहीं करती, जो हिन्दी देश में रह कर अलग रहना चाहती है, जो हिन्दी अपने घेरे के बड़े होने का गर्व कर सकती है और हिमालय की महान् सभ्यता नहीं बन सकती तथा जो हिन्दी इस देश के प्रत्येक भाषा-भाषी और निवासी का गौरव और तर्क नहीं बन सकती, वह दरिद्री हिन्दी पुरुषोत्तमदास टण्डन की हिन्दी नहीं है। पुरुषोत्तमदास टण्डन की हिन्दी के सिर पर हिमालय का मुकुट शोभित है। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र उसकी भुजाएँ हैं, गंगा और यमुना उसका कण्ठहार हैं, नर्मदा और ताप्ती उसकी करधनी बन कर शोभित हैं, उसकी साड़ी की किनार में कृष्णा, कावेरी और महानदी लहरें मार रही हैं और समुद्र की तरह पुरुषोत्तमदास टण्डन केवल उसी हिन्दी के चरणों में पछाड़ें खा रहा है और पछाड़ें खाता रहेगा। यह कैसे सम्भव है कि बंगाल और तमिल जिसे स्वीकार न करें, महाराष्ट्र, गुजरात, आसाम और पंजाब जिसे स्वीकार न करें, वह पुरुषोत्तमदास टण्डन की हिन्दी हो सके? वे हिन्दी के उसी सर्वव्याप्त महान् रूप के उपासक हैं जिसके विषय में सन्तवर विनोबा कहते हैं कि वाणी तो उसी राष्ट्र की बंद होती है जो मरने लगता है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन जी को इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है कि हम उनका सम्मान करते हैं या नहीं करते। वे सम्मान के सामान सजाते कभी देखे नहीं जा सकते।

लोग न जाने क्यों राजगोपालाचारी जी को दोष देते हैं। जो हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी न चलवा सके और केवल अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए हिन्दी का विरोध सहते हैं उन्हें श्री राजगोपालाचारी को दोष देने का अधिकार किस तरह है, मैं नहीं समझ पाता। शोध, प्रयोग, विस्तार और उठान की दिशा में इस देश की भाषाओं को अन्य देशों की भाषाओं से अभी बहुत सीखना है। वह दिन धन्य होगा कि हिमालय की तरह हम अपने ग्रन्थों, पन्थों और काव्यों में पुरुषोत्तमदास टण्डन की याद कर सकें।

अनेक बार टण्डन जी खण्डवा पधारे हैं। जब वे अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस के अध्यक्ष के नाते खण्डवा पधारे तब स्थानीय नीलकण्ठेश्वर महाविद्यालय में उनका भाषण हुआ था और उनके सम्मान में भोज दिया गया था किन्तु एक दिन अत्यन्त प्रभात में काँपते हुए जाड़े में वे राजकमल प्रकाशन के श्री ओमप्रकाश जी तथा भारती भण्डार के पण्डित वाचस्पति जी पाठक के साथ खण्डवा पधारे। उन दिनों वे स्वयं रुग्ण थे किन्तु उनकी साँस-साँस मानो लोगों की प्रेरणा और आशीर्वाद बनकर बँट रही थी। उनकी रुचि पर बोलनेवाला ही नहीं, उनसे प्रत्येक क्षण झगड़नेवाला व्यक्ति भी यह जानता है कि जो उदारता उनमें है वह विश्व की दुर्लभ वस्तुओं में से एक है। वह टण्डन जी के साथ है, टण्डन जी के साथ रहेगी और उनकी अपनी वस्तु है।

श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के सबल व्यक्तित्व को मेरे प्रणाम।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

श्रद्धेय टण्डन जी

श्री सुमित्रानन्दन पंत

⊙ ⊙

तपःप्राण श्रद्धेय टण्डन जी स्वतंत्रता के सेनानी और हिन्दी के संरक्षक थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के लिए समर्पित कर दिया था। हिन्दी को जो राष्ट्रभाषा का पद आज प्राप्त हो सका है उसका श्रेय निःसन्देह टण्डन जी को ही है। टण्डन जी ने जिस महान् उद्देश्य और व्यापक लोक-कार्य तथा जन-कल्याण के लिए अपने जीवन को निमित्त बनाया उसके सम्मुख वाणी विनत। राजनीतिक क्षेत्र में अश्रान्त संघर्ष तथा सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जो अमूल्य सेवाएँ उन्होंने की हैं, उनका मूल्यांकन असम्भव है।

राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति के सम्वर्द्धन के लिए उन्होंने एक भाषा के मंत्रोच्चार द्वारा देश की अखण्ड एकता की अनिवार्यता स्थापित की। उनका हिन्दी-प्रेम संकीर्णता नहीं प्रत्युत उस विराट् अन्तर्दृष्टि का सूचक है जो ऋषि-मुनियों का धन है। भारत की पूर्ण और व्यापक स्वतंत्रता उसकी समग्रता और एकसूत्रता को परिलक्षित करती है। भारत को अनेक भाषित क्षेत्रों में बाँटना उसकी सभ्यता, संस्कृति एवं जन-जीवन तथा जन-मंगल के मार्ग को अवरुद्ध कर देना है। राष्ट्र की राष्ट्रीयता एवं उसकी सुसंगठित एकता की आत्मा भाषा है और यह आत्मा एक ही हो सकती है। भारत का नैराश्यपूर्ण विगत इतिहास साक्षी है कि वह अपनी आन्तरिक और सांगिक एकता को प्राप्त किये बिना उन्नति नहीं कर सकता है। वह मानसिक सीमाओं, प्रान्तीय, जातीय एवं भाषिक भेदों के कारागार में छटपटाता ही रहेगा। किसी भी देश की मानसिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक सम्पत्ति का स्रोत उस देश की जीवन्त भाषा में होता है, जो निम्न स्तर से उच्च स्तर तक प्राणों का सामूहिक स्पन्दन, कम्पन लिये देश की आत्मा का प्रकाश तथा प्रबुद्ध मानव का वैभव लिये, अविराम-शब्द-संचरित होती रहती है। अपनी आषा के अभाव में किसी भी देश की मानवता इस समाजीकरण, समूहीकरण, संस्कृतीकरण एवं विशेषीकरण के युग में दूसरों के इंगित पर चलने वाली, आत्मविमुख, जीवन-विमुख, निर्जीव दारुयन्त्रमात्र रह जाती है। स्वर्गीय टण्डन जी वह दिव्य आत्मा थे जिसने इस सत्य को न केवल वाणी दी किन्तु आमरण इसकी स्थापना के लिए संघर्ष करते रहे। भाषा, राष्ट्रभाषा द्वारा उन्होंने देश की एकता और संगति, उसकी संस्कृति और जीवन के प्रति अपने उत्कट प्रेम का परिचय दिया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की साकार सजीव हिरण्यप्रतिमा थे। उनका जीवन महाकरुणा का जीवन था। उन्होंने जन-जीवन के सुख-दुःख का स्पन्दन किया। सभी सात्त्विक गुण उनमें पुञ्जीभूत होकर जीवन्त हो चुके थे। निश्चय ही राष्ट्रपिता बापू की महत्युग पीठिका पर प्रतिष्ठित तप और त्याग के सात्त्विक आदर्शों की वे तप्तकांचन मूर्ति थे। दृढ़-संकल्परत, देश-कल्याण की असिधारा पर चलने वाले मन, भाव, कर्म से शुचिता को अपनाये हुए टण्डन जी ने उन साधु-सन्तों की कोटि को सुशोभित किया, जिनके प्रादुर्भाव में विधि का निश्चित उद्देश्य निहित है। अपने सिद्धान्त में अटूट, निर्भीक, तपोमय टण्डन जी सहज ही भारत-मानस के नेता बन गये थे। उनका नेतृत्व राजनीतिक नहीं किन्तु आध्यात्मिक था। आध्यात्मिक नेतृत्व काल के हाथों से अछूता रहता है। वह शाश्वत है।

शान्त, सौम्य, संस्कृत, लोक-मंगल एवं विश्व-कल्याण में रत मानवता के चिरन्तन भारतीय स्वप्न को जीवित मूर्त करने वाले टण्डन जी यद्यपि अपने नश्वर शरीर में आज नहीं हैं, किन्तु उनकी अशरीरी आत्मा-दिव्यात्मा सदैव ही मानवता का पथ दिव्य आलोक से प्रदर्शित करती रहेगी। आगामी पीढ़ियाँ सदैव ही श्रद्धापूर्वक उनसे सम्यक् कर्म-प्रेरणा ग्रहण करती रहेंगी। स्वर्गीय टण्डन जी के प्रति मैं अपनी प्रणति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन : एक संस्मरण

डॉ० हरिवंशराय बच्चन

⊙ ⊙

भारत के पुनर्जागरण की वेला में अनेकानेक आन्दोलन उठे, परन्तु उसमें दो प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन, और दूसरा राष्ट्र को एक भाषा से सुसंगठित करने का आन्दोलन। स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण-सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता।

मेरे विद्यार्थी जीवन में ही टण्डन जी नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी को पुनःस्थापित करने का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी-पुस्तकें सहज-सुलभ हों, इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य-भवन' की स्थापना करायी थी। आक्सफोर्ड की सर्वप्रसिद्ध पुस्तकों की दूकान पर यह लिख कर टँगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दूकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। 'साहित्य भवन' में यह लिखकर टँगा तो नहीं था, पर परम्परा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहाँ बैठ कर पढ़ी थीं। टण्डन जी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आँखों में जो प्रसन्नता झलक उठती थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टण्डन जी का पहली बार भाषण सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी-जीवन की ही है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुँधली-सी याद अब भी बनी हुई है। दोनों ही हिन्दी की महत्ता पर बोले थे। एक गृहस्थ, दूसरा संन्यासी, पर हिन्दी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसंग कोई हो—हिन्दी के प्रचार, हिन्दी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं-न-कहीं से घूम-फिर कर आ ही जाती थी।

हिन्दी के उच्च कोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत् हो सके, उसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी को विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने की बात तो दूर, उसे झरोखों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

से झाँकने की भी आज्ञा न थी। इण्टरमीडिएट में भी नहीं पढ़ाई जाती थी, उसका साहित्य केवल हाई स्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन् तो मुझे याद नहीं, पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव मीरगंज के विद्या-मन्दिर हाई स्कूल के अहाते में सम्पन्न हुआ था। अब यह स्कूल सड़क पर आ चुका है। उद्-घाटन करने के लिए काशी से डॉक्टर भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से कितने अपरिचित हो गये थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल पीठ समझते थे। उस दिन टण्डन जी ने और भगवानदास जी ने क्या-क्या कहा, इसकी तो मुझे याद नहीं, पर उस "पीठ" शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पड़ी थी। टण्डन जी ने हिन्दी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैंने केवल कुछ सन्तों को भग-वान् का गुणगान करते समय देखा है। जहाँ तक मुझे मालूम है, टण्डन जी ने कभी कविता तो नहीं की, परन्तु उस दिन उनका भाषण काव्य-चित्र ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए टण्डन जी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमें प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी सम्पत्ति भी दे जाते। पर टण्डन जी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शांति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि 'जीवन साहित्य से बड़ा है।' टण्डन जी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है, टण्डन जी ने निबन्ध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वयं निबन्ध-संग्रह रहा है।

उनके हिन्दी-प्रेम का उत्कट उदाहरण मुझे उनकी दूसरी कन्या के विवाह के समय देखने को मिला। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह में जो भी मंत्रादि पढ़े जाते हैं उनका हिन्दी में अनुवाद कर दिया जाय और संस्कार के समय वे हिन्दी में ही पढ़े जायँ। हफ्तों पंडितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत-मंत्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया। स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह मंडप में केवल हिन्दी ही सुनी गयी। उनका विश्वास था कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में, जहाँ वाणी की आवश्यकता पड़ती है, हिन्दी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है, या समर्थ बनायी जा सकती है। टण्डन जी अमूर्त सिद्धान्त बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते थे। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते थे। वह सम्यक् रूप में न हो सके, उसका उपहास किया जाय, उसका विरोध किया जाय, इसकी उनको परवाह नहीं थी। पृथ्वी पर चलना है, दौड़ना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि जब तक उसके पाँव मजबूत न हो जाएँ तब तक वह कदम नहीं उठाएगा। वह अपने अस्थिर, निर्बल, डगमगाते चरणों से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढ़ेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि जब हिन्दी समर्थ हो जाएगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में चलाएँगे, वे हिन्दी को पंगु बनाये रखने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

महात्मा गांधी के १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन में जब टण्डन जी अपनी जमी-जमाई वकालत छोड़कर कूद पड़े तो किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बड़ा और गृहस्थी कच्ची थी और बाबू जी के त्याग के कारण घर के छोटे बड़े सब को जो कष्ट उठाना पड़ा उसने न जाने कितने परिवारों को सहनशीलता का पाठ पढ़ाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया। टण्डन जी का त्याग एक मध्य-वर्ग के व्यक्ति का त्याग था। उसने, प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारों के लिए त्याग और बलिदान को सहज साध्य दिया। स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय में देश के लिए खतरा उठाने वाले, त्याग करने वाले, काम करने वाले नागरिकों के लिए टण्डन जी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे, सब उन्हें पास से देखते थे, पास से जानते थे। उनके घर में फाटक नहीं था, उनके दफ्तर में द्वारपाल नहीं था।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में एम० ए० प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिव-र्सिटी छोड़ दी थी। डेढ़-दो वर्ष बाद जब आन्दोलन की गर्मी शान्त हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता ने घूरना आरम्भ किया। 'पायनियर' अंग्रेजों के अधिकार से देशी साहबों के हाथ में आया तो उन्होंने मेरे पिता की पेन्शन बन्द कर दी। सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी० ए० करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गयी, मैंने नारे, जुलूस, सभा, पिकेटिंग, झण्डे, बिगुल, चरखे, वालेण्टीयरों, क्रान्तिकारियों की दुनिया से पलट कर अपने घर को देखा तो काँप उठा। दस आदमियों का परिवार, दो उनमें से बीमारियों के शिकार, छोटी बहन ब्याहने को, एक भारी कर्ज चुकाने को, और एक आदमी के कन्धे पर सारा भार। 'ट्यूशन' एक-दो मैं करता था। पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊँगा। काम मैं ऐसा चाहता था जिसमें देश के लिए कुछ काम करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे। उन दिनों बाबू जी लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'लोक सेवक मण्डल' के अध्यक्ष थे। उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगों को पचास रुपया मासिक आदर-धन दिया जाता था और उससे आजीवन देश-सेवा का व्रत लिया जाता था। टण्डन जी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टण्डन (इस समय विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष) बी० ए० में मेरे सहपाठी थे। उनसे परामर्श करके मैंने सोसायटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थना-पत्र दिया। बाबू जी ने मुझे बुलाया, उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डाल कर और जाने क्या उन्होंने उनमें देखा कि मुझे सोसायटी में लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी० ए० में प्रथम श्रेणी थी, मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी, छात्रवृत्ति छोड़ी थी, और उन दिनों के मानों में देश के लिए कुछ काम भी किया था। अपने पुत्र के द्वारा उन्हें मेरी पारिवारिक स्थिति का पता था, पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा, 'मुझे लगता है कि तुम्हारा क्षेत्र यह नहीं है। तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अपना विकास करना चाहिए।' मुझे बड़ी निराशा हुई। टण्डन जी के लिए स्वार्थवश मेरे मन में कुछ कुभावनाएँ भी उठीं, पर आज मैं जानता हूँ कि उस समय मुझसे अधिक उन्होंने मुझे पहचाना था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इसके थोड़े ही समय बाद मैं 'मधुशाला' की रुबाइयों में फूट पड़ा। ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख गया, उनके सभापतित्व में मुझे कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने हर बार मेरी आँखों में अपनी आँखें डालीं, और मुझे उस पहली भेंट की याद दिलायी—'मैंने तुममें जो देखा था वह गलत नहीं था। तुम राजनीति के जंगल के लिए नहीं थे। काव्य के उपवन के लिए थे।' मेरी तरह टण्डन जी ने न जाने कितने नव-युवकों के जीवन को ठीक दिशा दी होगी, जो यदि आज मेरे समान लेखनी मुखर कर सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते। महान् आत्माओं का दान दोनों दिशाओं में होता है। वे देश समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य, अलभ्य अविस्मरणीय दे जाते हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अमरकीर्ति टण्डन जी

आचार्य शिवपूजन सहाय

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी के लिए जिये और हिन्दी के लिए मरे। हिन्दी उनकी जिन्दगी की साँस थी। हिन्दी उनकी आँखों की पुतली की ज्योति थी। हिन्दी उनके मस्तिष्क की चिन्तनधारा थी। हिन्दी उनके हृदय की शाश्वत गति थी। हिन्दी उनके मन की स्मृति और अनुभूति थी। उनकी जिह्वा हिन्दी के रस से ही तृप्त होती थी। उनकी हड्डियों के लिए हिन्दी ही मज्जा थी। उनके रक्त-बिन्दुओं की लाली थी हिन्दी। उनकी घ्राणेन्द्रिय के लिए वासन्ती सुगन्ध थी हिन्दी। उनकी श्रवणेन्द्रिय के लिए सरस संगीत-लहरी थी हिन्दी। हिन्दी ही उनके रोम-रोम में रमी हुई थी।

उनकी कल्पना में हिन्दी का जो उज्ज्वल भविष्य था उसकी वह अपने जीवन-काल में प्रत्यक्ष न देख सके। हिन्दी के लिए वह जैसे रंगीन सपने देखा करते थे, वैसे सपनों को भी साकार होते न देख पाये। मरते दम तक उनके कलेजे पर हिन्दी की उपेक्षा की चोट बजरती-घहरती रही। अंतिम क्षणों में भी उनके प्राण शान्ति का अनुभव न कर सके। हिन्दी वालों को अपने सर्वश्रेष्ठ नेता की ऐसी कारुणिक विवशता कभी भूल नहीं सकती। स्वाभाविक मृत्यु तो इस मर्त्यलोक का सहज धर्म ही है, किन्तु मर्मघाती यंत्रणा से व्यग्र रह कर घुलते-घुलते मरना बड़ा हृदयवेधी होता है। इसीलिए हम हिन्दी वालों को किसी तरह धीरज नहीं बँधता।

टण्डन जी भारत राष्ट्र के स्वतंत्रता संग्राम के एक प्रमुख सेनानी थे। उन्हें अपनी लेखनी से हिन्दी की विशेष सेवा करने का अवसर नहीं मिल पाया पर अपनी वाणी से उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वह सहज प्रहरी थे। आप उन्हें उसका प्रतिपालक, पिता, सम्पोषक, संरक्षक अथवा संवर्द्धक, जो कुछ भी कहें, उनके लिए उपयुक्त ही होगा, फिर भी कम ही होगा। उन्होंने उसके माध्यम से हिन्दी-हितार्थ जो प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्य किये कराये हैं, वे ऐतिहासिक महत्व के हैं। यद्यपि 'मिश्रबन्धुविनोद' के अतिरिक्त हिन्दी के अन्यान्य साहित्यिक इतिहासों में उनकी स्पृहणीय हिन्दी-सेवा का यथोचित वर्णन नहीं पाया जाता—और 'विनोद' में भी साधारणतया उल्लेख-मात्र ही है—तथापि साहित्याकाश की दिव्योज्ज्वल नक्षत्र-पंक्तियों में यह अमर लेख अंकित रहेगा कि टण्डन जी ने हिन्दी भाषा के कल्पवृक्ष को अपने शरीर के एक-एक रक्तबिन्दु से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सींच कर उसे पल्लवित, पुष्पित और फलित किया था। आज भी प्रत्येक सहृदय साहित्यिक व्यक्ति हिन्दी-हित-साधन में उनके आदर्श आत्मोत्सर्ग का स्मरण करके गर्व-गौरव का अनुभव करते हुए उनके त्यागमय जीवन के समक्ष नतमस्तक है। त्याग और तप की दृष्टि से वह हिन्दी-जगत् के महात्मा गांधी थे।

सन् १९१४ ई० में मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ के पाँचवें भारतीय साहित्य सम्मेलन में प्राप्त हुआ था। कविवर पण्डित श्रीधर पाठक उस महाधिवेशन के अध्यक्ष थे। बाबू श्यामसुन्दरदास जी वहाँ कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। उसी विद्यालय के प्रशस्त प्रांगण में महोत्सव-मण्डप था। उर्दू के उस प्राचीन गढ़ में हिन्दी की सर्वभाषा-हितैषणा और व्यापकता पर टण्डन जी का जो प्रभावशाली भाषण हुआ था वह समागत प्रतिनिधियों के बीच बराबर चर्चा का विषय बना रहा। उर्दू-प्रेमी भाइयों ने उसी समय एक खास सभा करके अपने जो मनोभाव व्यक्त किये थे, उनमें से एक-एक बात का यथार्थ उत्तर टण्डन जी ने अपने दूसरे दिन के सार्वजनिक भाषण में ऐसी मिठास के साथ दिया कि उर्दू के हिमायती विद्वान् उनसे प्रतिनिधि-शिविर में मिलने और शुक्रिया अदा करने पधारे थे। वह उर्दू के विरोधी नहीं थे, उसे तो वह हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते थे। उनके अनेक भाषणों में भाषा-सम्बन्धी उनके उदार विचार सुने जा चुके हैं। उस समय भी उन्होंने कहा था कि हिन्दीवाले अनगिनत अरबी-फारसी शब्दों को पचाये हुए हैं, पर उर्दूवाले अप्रचलित और दुरूह शब्दों से अपनी भाषा को क्लिष्ट और बोझिल बना कर हिन्दी से उसे अलग करते जा रहे हैं। फिर रात में सम्मेलन के पण्डाल में कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी पर किये गये उर्दूवालों के आरोपों का पद्यबद्ध उत्तर ऐसे विनोदपूर्ण ढंग से दिया था कि उनके आशुकवित्व का चमत्कार देख कितने ही उपस्थित उर्दू प्रेमी बन्धु वाह-वाह कर उठे थे। टण्डन जी और पूर्ण जी ने उर्दू के किले में हिन्दी का झण्डा फहराया तथा उर्दू के आगे हिन्दी ने भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया।

पुनः अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ही कलकत्तावाले एकादश अधिवेशन में भी, जिसके सभापति डॉक्टर भगवानदास जी थे, प्रतिष्ठित बंगीय विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने जब बंगभाषा के साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का गुणगान करते हुए हिन्दी-साहित्य के अभावों पर असन्तोष तथा खेद प्रकट किया तब टण्डन जी ने बड़ी ओजस्विता के साथ और संयत भाषा में उन्हें ऐसा सटीक उत्तर दिया कि टण्डन जी का भाषण समाप्त होते ही वह मौन धारण किये उठ चले। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति का यथार्थ मूल्यांकन करने वाला वह भाषण सचमुच मर्मस्पर्शी था। उस उपयुक्त अवसर की टण्डन जी की तेजस्विता देख हिन्दी-प्रेमियों का हृदय गर्वोल्लास से स्पन्दित होने लगा। उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का विशद वर्णन करते हुए कहा था कि काँच के चमकीले टुकड़ों की असंख्य राशियाँ भी एक अमूल्य रत्न की बराबरी नहीं कर सकतीं—ग्रन्थों की संख्या वृद्धि से ही कोई साहित्य वैभवशाली नहीं होता—परमोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी भी साहित्य की महिमा-मण्डित कर सकते हैं—हिन्दी का 'रामचरित-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मानस' अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रन्थ-समुदाय से लोहा ले सकता है--अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी विश्वविद्यालय के सामने भी अपना सिर ऊँचा कर सकती है...। फिर सम्मेलन के बाहर की सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने बँगला और हिन्दी के साहित्य का जो तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था वह भी उनकी गहन अध्ययन-शीलता का ही परिचायक था। हिन्दी के चालू साहित्य पर बँगला का प्रभाव स्वीकार करते हुए उन्होंने बँगला के काव्य-साहित्य पर भी विद्यापति, कबीर, मीराँ आदि भक्त और सन्त हिन्दी-कवियों के स्पष्ट प्रभाव का सप्रमाण संकेत किया था, जिसे सुन कर 'दरोगा-दफ्तर' के सम्पादक श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय (अब स्वर्गीय) ने टण्डन जी के स्वाध्याय की गम्भीरता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मुग्ध स्वर में कहा था कि ऐसे ही समन्वयवादी विद्वान् अपनी एकता विधायिनी वाणी से बंगीय साहित्यसेवियों के हृदय पर हिन्दी का सिक्का जमा सकते हैं। टण्डन जी हिन्दी के पक्ष में भी दुराग्रही नहीं थे, पर हिन्दी की महत्ता के प्रतिपादन में उनके युक्तियुक्त तर्क बड़े अचूक होते थे। कोई प्रचण्ड तार्किक भी उनसे हिन्दी की हीनता नहीं स्वीकार करा सकता था। वह तो स्वयं ही समस्त भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी का सौहार्द स्थापित करना चाहते थे। हिन्दी विषयक उनके भाषण वस्तुतः रेकर्ड करने योग्य होते थे। उनके भाषण यदि संकलित और प्रकाशित हो सकते तो निश्चय ही साहित्य की अमूल्य निधि होते।

भारतीय साहित्य सम्मेलन के प्रत्येक अधिवेशन में टण्डन जी अनिवार्य रूप से सम्मिलित होते थे। उसके मंच से उनके भाषण जिन लोगों ने सुने हैं, वे लोग आज भी अनुभव कर रहे होंगे कि हिन्दी की समस्याओं पर वैसी तन्मयता और दृढ़ ममता के साथ हृदय-ग्राही भाषण करने वाले अब इने-गिने ही हैं। चाहे वह जहाँ कहीं जिस किसी परिस्थिति में रहे, हिन्दी पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहा। जब वह उत्तर प्रदेश में विधान-सभा के अध्यक्ष थे, कांग्रेस के सभापति थे, केन्द्रीय संसद् में थे, लाला लाजपतराय की पीपुल्स-सोसाइटी के प्रधान थे, भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के संचालक थे, कहीं भी, हिन्दी उनके ध्यान से न उतरी। हिन्दी के लिए ही उन्होंने महान-से-महान् पद को त्याग दिया। अपमान का भी ध्यान छोड़ कर हिन्दी की भलाई पर ही निगाह रखना उन्हीं के समान वीतराग तपस्वी का काम था। उनकी चिनचर्या भी तपस्वियों और ऋषियों के समान ही थी। दिल्ली में भारतीय संस्कृति सम्मेलन की स्थापना करके उन्होंने स्वदेशवासियों के नैतिक उत्थान का जो प्रयास किया वह भी उनके तपोमय जीवन का एक मुख्य प्रसंग है। उस संस्था की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'भारतीय संस्कृति' और उसके वार्षिक अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों से हिन्दी-साहित्य की जो यत्किंचित श्रीवृद्धि हुई वह उपेक्षणीय नहीं है। उदाहरणार्थ डॉक्टर भगवानदास जी का भाषण भारतीय संस्कृति का स्फटिक स्वच्छ स्वरूप प्रदर्शित करने वाला एक अभूतपूर्व निबन्ध है। उक्त सम्मेलन से, परिमित परिणाम में ही सही, गिने-चुने अधिकारी विद्वानों द्वारा सांस्कृतिक साहित्य तैयार करने का सर्वाधिक श्रेय टण्डन जी को ही है। एक बार मुझे दिल्ली जाने का अवसर मिला तो उनके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे मित्र पण्डित

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

केदारनाथ शर्मा सारस्वत वहाँ भारतीय संस्कृति साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री और 'भारतीय संस्कृति' के सम्पादक भी थे। वही मुझे उनकी सेवा में ले गये। प्रायः परिचित व्यक्ति से भेंट होने पर बड़े लोग भी सम्बद्ध कार्यकलाप अथवा जीवन की गतिविधि के सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं, पर टण्डन जी ने बिहार में हिन्दी की प्रगति के विषय में ही जानना चाहा, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की साहित्य-सेवा की ही बातें कहते-सुनते रहे वर्त्तमान वैज्ञानिक युग के नाम पर भारतीय संस्कृति के प्रति आधुनिक युग की उदासीनता से वह चिन्तित जान पड़े और उनकी बातों से यह भी ध्वनित हुआ कि भारत की राजधानी दिल्ली में भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य का एक सुसंचालित प्रचार-केन्द्र होना अत्यावश्यक है। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि सारस्वत जी भी उनसे पहले ही संसार छोड़ गये। वही टण्डन जी की प्रेरणा और सहायता से उक्त संस्था और पत्रिका चलाते थे।

हिन्दी-जगत् की भली-भाँति विदित है कि आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी आजीवन 'साहित्य सम्मेलन' से उदासीन और तटस्थ रहे। उनको सम्मेलन का सभापति बनाने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए, पर कभी उन्होंने सभापतित्व स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन के अधिवेशनों में सम्मिलित होने से भी वह विमुख रहे। किन्तु हिन्दी के सच्चे सेवक को साहित्य-सेवा के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त आदर-भाव था। इसी कारण जब बाबू श्यामसुन्दरदास जी प्रयाग में छठें सम्मेलन के सभापति हुए तब द्विवेदी जी उसमें सहर्ष पधारे। बाबू साहब के साथ उनका मतभेद जगजाहिर था; फिर भी वह बाबू साहब की अनिर्वचनीय हिन्दी-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना से अधिवेशन में निस्संकोच उपस्थित हुए। मैं भी उस महोत्सव में उपस्थित था। वह लाला रामप्रसाद के बाग में हुआ था। उस दर्शनीय समारोह में भारतेन्दु-सखा पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जी भी आये थे। उस समय के सामयिक पत्रों में यह बात छपी भी थी कि द्विवेदी जी के हृदय में श्यामसुन्दरदास जी की हिन्दी-सेवा के लिए जो प्रतिष्ठा थी उसी को प्रकट करने की इच्छा से वह सर्वविदित वैमनस्य को विस्मृत कर सम्मेलन में चले आये। फिर उस समय के कई साल बाद जब सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर में हुआ तब भी सभापतित्व के लिए द्विवेदी जी से आग्रह किया था। पर उनका संकल्प तो शम्भु-शरासन-सदृश अटल था। अतः टण्डन जी उसके सभापति बनाये गये। उस युग में पत्रों के पाठकों को यह स्मरण होगा कि टण्डन जी के निर्वाचन को सार्वदेशिक समर्थन प्राप्त हुआ था। जब द्विवेदी जी को टण्डन जी के मनोनयन का समाचार मिला तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। इतना ही नहीं, जब उनसे स्वागताध्यक्ष होने के लिए निवेदन किया गया तब सम्मेलन की छत्रच्छाया में किसी प्रकार का कोई पद अंगीकृत न करने की अपनी प्रतिज्ञा को बिसार कर वह स्वागताध्यक्ष बन गये। उन दिनों के पत्र पाठकों को स्मरण होगा, द्विवेदी जी ने स्पष्ट कहा था कि सम्मेलन के मण्डप में कोई पदाधिकारी होकर प्रवेश करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है; पर जब टण्डन जी सभापति होकर हमारे नगर में आ रहे हैं तब उनका स्वागत करना मेरा कर्तव्य है, क्योंकि हिन्दी को भारत-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

व्यापी बनाने में उनका भगीरथ प्रयत्न प्रत्येक हिन्दी-हितैषी के लिए वन्दनीय है। आधुनिक पाठकों को भी ज्ञात होगा कि द्विवेदी जी बहुत दिनों तक जूही (कानपुर) में रहे थे, जहाँ उनका 'कामर्शियल प्रेस' भी था और उनका यह पता 'सरस्वती' में भी बराबर छपता रहा। उनका वह स्वागत-भाषण द्रष्टव्य है, जिसमें टण्डन जी के प्रति उनके उदात्त उद्‌गार अंकित हैं।

सन् १९५४ ई० की जुलाई में टण्डन जी पटना पधारे थे। बिहार-राज्य के वित्तमंत्री डॉक्टर अनुग्रहनारायण सिंह (अब स्व०) के अतिथि हुए। मैं स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। वह सपत्नीक आये थे। चरणस्पर्श करते समय उन्होंने भीड़ में सहसा मुझे नहीं पहचाना। निवास-स्थान पर उन्होंने मेरा हाल पूछा और जब मालूम हुआ कि स्टेशन पर मैं भी मौजूद था तब दोपहर की कड़ी धूप में ही अचानक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के कार्यालय में मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुँच गये। कहने लगे कि मैंने भीड़ में तुमको पहचाना नहीं, चश्मा नहीं था, तुम्हारी यह परिषद् हिन्दी की सेवा कर रही है, अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है? मैं उनका आकस्मिक शुभागमन और सौहार्द तथा सौजन्य देख अवाक् रह गया।

मैं सन् १९६० ई० के नवम्बर में निराला जी को देखने प्रयाग गया था। मित्रवर पं० वाचस्पति पाठक के साथ टण्डन जी के दर्शन करने भी गया। सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा वहाँ विराजमान थे। शर्मा जी उनसे चर्चा कर रहे थे कि सम्मेलन का उद्धार शीघ्र ही होने जा रहा है। वह प्रसन्न मुद्रा में थे; पर खाँसी में ही बोलते थे। जब हिन्दी की वर्त्तमान स्थिति पर बातें होने लगीं तब उनका मुखमण्डल विवर्ण हो गया—उनके चेहरे की शिराएँ तन गयीं—बैठे जो थे तो लम्बी साँस खींचकर लेट गये। उनके दिल का दर्द परख कर पाठक जी ने कहा भी कि अब आप इन सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाइये। किन्तु वह जीवन्मुक्त महापुरुष हिन्दी की चिन्ता में ही सतत तल्लीन रह कर संसार से ही मुक्त हो गया। क्या उनको बातों से समझा कर कोई आश्वस्त कर सकता था? उनको विश्वास न था कि जिस राष्ट्र की सेवा में उन्होंने अपना जीवन-होम दिया वही राष्ट्र उनकी भावना को ठेस पहुँचायेगा। वह सच्चे अर्थ में कर्मयोगी और कर्मवीर पुरुषोत्तम थे; पर साहित्यिक रुचि के मनुष्य होने के कारण उनकी भावना बड़ी सुकुमार थी। हिन्दी को अपने ही घर में अपदस्थ होते देख कर वह बेचारी सुकुमारी छटपटा कर अथाह में डूबती हुई-सी उनके प्राणों को ग्रसती रही और अन्त में उन्हें ले ही डूबी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वाणी में सौम्य : चरणों में दृढ़ता

श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी

⊙ ⊙

इस छोटे-से लेख में श्रद्धेय टण्डन जी का मूल्यांकन प्रस्तुत करना असम्भव है। उनके ४०-६० साल के सार्वजनिक जीवन का सम्यक् ज्ञान जिसे हो, वही इस काम में हाथ डाल सकता है और सफलतापूर्वक इस विषय पर अपनी कोई निश्चित धारणा बना सकता है। मुझे न तो उनके सारे जीवन का ज्ञान है और न ही मेरा यह दावा है कि मैं उनके जीवन का मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकता हूँ। हाँ, मैं इस बात से अवश्य सहमत हूँ कि उनकी हिन्दी-निष्ठा अपूर्व थी। उसकी रक्षा, विकास और अभ्युदय की कामना उनके जीवन की कुंजी है। जो कोई इस कुंजी को न पायेगा, वह उनके जीवन के रहस्य को समझ नहीं सकता। हिन्दी का ऐसा समर्थ प्रतिपालक कोई दूसरा देखने में नहीं आया। उनकी धारणा थी कि हिन्दी ही के द्वारा भारत-राष्ट्र की भावात्मक एकता सम्भव है। उनका सिद्धान्त था कि जब तक अंग्रेजी और अंग्रेजियत का इस देश में बोलबाला रहेगा, तब तक हमारी स्वाधीनता अपूर्ण ही रहेगी। इसके लिए उन्होंने बहुत धक्के खाये, पर इस पर वह अडिग रहे।

श्रद्धेय टण्डन जी का मूल्यांकन लखनऊ के एक मित्र ने अपने पत्र में जो किया है, वह मेरी राय में, उनके अनेक गुणों को, विशेष कर उनकी इस हिन्दी-निष्ठा को संक्षेप में प्रकट कर देता है। मेरे इन मित्र ने मुझे लिखा था—"श्रद्धेय टण्डन जी का अंत अप्रत्याशित नहीं था। उनकी उपस्थिति मात्र से हिन्दी को बल मिलता था। हिन्दी-प्रचारकों में उनका स्थान अपूर्व था। उनकी जगह लेने वाला कोई दिखलायी नहीं पड़ता।"

मरते दम तक श्रद्धेय टण्डन जी हिन्दी की वर्तमान अवस्था के विषय में आगन्तुकों से पूछा करते थे और जब कोई आगंतुक हिन्दी के विषय में कोई अशुभ समाचार उन्हें सुनाता था, तब वह 'आह' करते और मुँह फेर लेते थे। एक दूसरे मित्र ने उनकी गणना भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और महामना मदनमोहन मालवीय की कोटि में की है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दी ही के लिये वह जिए और हिन्दी का नाम लेते-लेते ही उनका निधन हुआ। उनकी मृत्यु से हिन्दी सचमुच ही अनाथ हो गयी। हिन्दी के पक्षधरों में वह सर्वश्रेष्ठ थे और हमारे मित्र ने ठीक ही लिखा है कि उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करने वाला कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। हिन्दी के लिए यह दुर्भाग्य की बात है—दुर्भाग्य इसलिए कि इस समय शासन की ओर से हिन्दी पर आक्रमण होने जा रहा है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

शासन ने अब तक यह बंधन नहीं लगाया था कि हिन्दी के तत्सम शब्दों के स्थान में फारसी या अरबी के शब्दों का ही प्रयोग किया जायगा, पर अब ऐसे बंधन की चर्चा चारों तरफ हो रही है। शासन 'मंत्रिमंडल' के बजाय 'काबीना' शब्द देश में चलाने को उत्सुक है, क्योंकि उसकी राय में मंत्रिमंडल के बजाय 'काबीना' को अधिक लोग समझते हैं। वह शासन की अनधिकार चेष्टा है। अंग्रेजों के जमाने में भी लोगों को आजादी थी कि वे हिन्दी के तत्सम शब्दों का प्रयोग खुलेआम कर सकें। इस समय टण्डन जी का हमारे बीच में रहना परम आवश्यक था। कोई सन्देह नहीं है कि टण्डन जी ने जो कुछ काम हिन्दी-हित के लिए किया, वह अद्‌भुत था, अपूर्व था। वह अपने सिद्धान्त पर सदा अडिग रहे—उसी तरह जैसे पुराने जमाने के ऋषिगण अपने-अपने सिद्धान्तों पर अटल रहते थे। उन्हें 'हिन्दी का ऋषि' कहा जाय तो इस उपाधि में कोई अत्युक्ति न होगी।

राजनीतिक क्षेत्र में प्रयाग के जिला कांग्रेस कमेटी के सभापति वह वर्षों तक रहे। तीन या चार बार वह प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये थे। जब कांग्रेस दल के लोग युक्त प्रांत की विधान सभा के लिए चुने गये तब टण्डन जी भी प्रयाग नगर से निर्विरोध चुने गये। तदनन्तर वह प्रांतीय विधान-सभा के अध्यक्ष बनाये गये। वह दिन याद है जब प्रांत के गृह-मंत्री, श्री रफी अहमद किदवई ने अध्यक्ष के प्रति विश्वास का प्रस्ताव रखा और टण्डन जी ने यह घोषणा की कि यदि विरोधी दल का कोई सदस्य अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का लिखित प्रस्ताव भेजे तो वह तुरन्त अपने पद से त्यागपत्र दे देंगे। (कुछ लोगों का कहना है कि विरोधी दल का बहुमत उनमें अपना अविश्वास प्रकट करता तो वह तुरन्त त्याग-पत्र दे देते।) कांग्रेस दल के विधान सभा में बहुमत की परवाह उन्हें न थी। उन्होंने इस्तीफा दिया युक्त प्रांत के मुख्य मंत्री के कहने पर। इसके बाद वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये और कांग्रेस के नासिक अधिवेशन का संचालन उन्होंने जिस कुशलता और दक्षता से किया उससे इस पद का गौरव बहुत बढ़ गया। लेकिन इस पद को ग्रहण किये हुए श्रद्धेय टण्डन जी को एक वर्ष भी न हुआ था कि केन्द्र के प्रधानमंत्री से मतभेद हो जाने के कारण इस पद से भी उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। बात यह हुई कि श्री जवाहरलाल नेहरू किसी व्यक्ति-विशेष को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस को कार्यकारिणी का सदस्य बनवाना चाहते थे। श्रद्धेय टण्डन जी उनकी यह बात मानने को तैयार न हुए। इस पर नेहरू जी ने कांग्रेस की कार्यकारिणी से अपना त्यागपत्र टण्डन जी के पास भेज दिया था। टण्डन जी के सामने अब विकल्प यह था कि या तो वह केन्द्र के प्रधानमंत्री के त्यागपत्र को मंजूर करें या स्वयमेव कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दें। उन्होंने अन्त में यह फैसला किया कि केन्द्र के प्रधानमंत्री के त्यागपत्र को मंजूर करने के बजाय वह खुद ही अध्यक्ष-पद से अलग हो जायँ। जिस उदारता से टण्डन जी ने अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दिया, उसका लोगों पर खासा प्रभाव पड़ा। टण्डन जी ने त्याग-पत्र तो दिया, पर वह अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। उनकी अध्यक्षता के समय में वह व्यक्ति-विशेष कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य नहीं हो सका जिसे केन्द्र के प्रधान-मंत्री उसका सदस्य बनाना चाहते थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उड़ीसा के राज्यपाल होने का निमंत्रण जब उनके पास आया तब उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वह शिक्षा-मंत्रालय के अनुदानों की बहस में भाग लेने का अवसर छोड़ना न चाहते थे। हिन्दी-निष्ठा ने उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य किया।

सन् १९४४ में सम्मेलन का अधिवेशन जयपुर में होने वाला था। वहाँ की रियासत का रुख सम्मेलन के अनुकूल न था। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि जयपुर रियासत के कर्मचारियों और सम्मेलन के कार्य-कर्त्ताओं में संघर्ष की आशंका हो गयी। टण्डन जी उस समय जेल में थे और जयपुर के सम्मेलन में उनका पहुँचना असंभव था। लेकिन उत्तर प्रदेश की सरकार ने सम्मेलन होने के कुछ दिन पहले ही उन्हें जेल से रिहा कर दिया और वह तुरन्त जयपुर सम्मेलन के लिए प्रयाग से चल पड़े। वहां पहुँच कर उन्होंने स्थिति का अध्ययन किया और इस नतीजे पर पहुँचे कि दोष रियासत का है। यह बात उस अवसर पर दिये गये उनके भाषण से व्यक्त होती है। उन्होंने कहा—'मैं राज्य के अधिकारियों को बता देना चाहता हूँ कि हम रियासत से लड़ना नहीं चाहते क्योंकि हमारा बड़ा शत्रु तो ब्रिटिश राज्य है। ये रियासतें तो उसी के भरोसे टिकी हैं। इसीलिए हम अंग्रेजी राज्य से लड़ रहे हैं। मगर जब हम अंग्रेजी राज्य से लड़ने में नहीं घबराते तब जयपुर राज्य क्या चीज है। हम वाणी में सौम्य हैं। धीमे बात करने में विश्वास करते हैं पर हमारा पैर अंगद का पाँव है, जहाँ उसे रख दिया वहाँ से उसे पीछे कोई नहीं हटा सकता।' यह चेतावनी सिर्फ जयपुर की रियासत को ही नहीं दी गयी बल्कि वह सभी रियासतों के नाम थी।

एक बार टण्डन जी का महात्मा जी से मतभेद हो गया था। कहा जाता है कि महात्मा जी चाहते थे कि राजेन्द्र बाबू सम्मेलन के सभापति हो जायँ ताकि हिन्दी और उर्दू लिपियों में सम्मेलन का भी काम होने लगे। महात्मा जी के इस उद्देश्य की सिद्धि टण्डन जी के विरोध के कारण न हो पायी। अतएव महात्मा जी ने टंडन जी को निम्न पत्र भेजा—

महाबलेश्वर
२५-५-४५

भाई टण्डन जी,

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी खत आते हैं और गुजराती खत भी। सब पूछते हैं कि मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूँ और हिन्दुस्तानी सभा में भी। वे कहते हैं सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू लिपियों को स्थान दिया जाता है और जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतमयी है। जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए। ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहाँ हूँ।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सबको मुसीबत होती है, इसलिए लिखवा कर भेजता हूँ। आप अच्छे हैं।

आपका

मो० क० गांधी

टण्डन जी ने गांधी जी के पत्र का यह उत्तर दिया :

क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

६-६-४५

पूज्य बापू जी,

प्रणाम।

आपका २५ मई का पत्र मुझे मिला। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गये। इस बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। यह सब काम गलत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वांछनीय है, यह तो आप का सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को एक शैली मानता है जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।

स्वयं मैं हिन्दी की साधारण शैली का काम करता हूँ, उर्दू-शैली का नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता, किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद-भाव केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं, सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्यों को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्य होने में कोई रोक नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी अकादमी के सदस्य हैं और हिन्दुस्तानी अकादमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियाँ और लिपियाँ चलाती हैं। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस सम्बन्ध में और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष न होते तो सम्भवतः आपके लिए ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते। परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना उसी दशा में सिर्फ उचित था जब निश्चित रूप से उसका काम आपके नये काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ाई है तो विरोध की कोई बात नहीं है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मुझे जो बात उचित लगी ऊपर निवेदन किया। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आप की आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी, नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।

विनीत

पुरुषोत्तमदास टण्डन

टण्डन जी को अपने आत्मसम्मान की रक्षा की बड़ी चिन्ता रहती थी। उसे जरा भी ठेस लगने से वह तुरंत उबल पड़ते थे। हिन्दी प्रचारकों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भवन और सम्मेलन-संग्रहालय उनकी प्रयाग को देन हैं। जब तक ये इमारतें खड़ी हैं तब तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह भारतीयों को प्रेरणा देती रहेंगी, हिन्दी का उन्हें संदेश सुनाएँगी।

उनमें करुणा थी, दयालुता और आतिथ्य सत्कार करने में उनका-सा आदमी दूसरा नहीं देखा गया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

त्यागमूर्ति राजर्षि टण्डन

किशोरीदास वाजपेयी

⊙ ⊙

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों पर कवि-सम्मेलन भी हुआ करते थे। परन्तु सब लोग जानते हैं--

'निरङ्कुशाः कवयः'

इस निरंकुशता के कारण 'सम्मेलन' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) की गम्भीरता नष्ट होने लगी--इसके ध्येय प्रचार को ठेस पहुँचने लगी। सम्मेलन के अध्यक्ष महोदय ने कुछ ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि स्वागताध्यक्ष को स्वागत समिति के सदस्यों की फटकार सुननी पड़ी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रतिष्ठा में बट्टा लगा। इस अवसर पर बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने अधिवेशन की सम्मति-पुस्तिका में लिखा था--"हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर कवि-सम्मेलनों का होना बन्द कर देना चाहिए।" अन्य लोगों ने भी ऐसी ही राय प्रकट की थी। सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन पर जो कवि-सम्मेलन हुआ, उसने तो हद ही कर दी। यहाँ कवि जन ही नहीं, कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष और उनके अगल-बगल दो-चार प्रमुख अन्य जन जनता के कोप-भाजन हो गये। मंच पर अध्यक्ष की गद्दी के पीछे बैठे हुए एक राजपूत सरदार ने तलवार म्यान से खींच ली जिसे उसके साथी दूसरे राजपूत सरदार ने फुर्ती से पकड़ लिया। यों तो एक भयंकर काण्ड होते-होते बच गया।

इस घटना से एक बड़ा क्षोभ पैदा हो गया था--कवियों में भी और दूसरे लोगों में भी। सम्मेलन की बड़ी बेइज्जती समझी गयी थी।

इसके बाद 'सम्मेलन' का कराची अधिवेशन हुआ और यहाँ भी स्वागत समिति ने 'कवि-सम्मेलन' की व्यवस्था की। राजर्षि टण्डन चिन्तित थे कि इतनी दूर सिन्ध प्रदेश में भी यदि हिन्दी वालों की छीछालेदर सामने आयी तो क्या होगा। मुझसे भी चिन्ता प्रकट की। 'कवि-सम्मेलन' स्वागत समिति ने रखा था। रोकते कैसे? मैंने कहा--यदि कवि-सम्मेलन में आप स्वयं आदि से अन्त तक बैठें, तो कोई गड़बड़ न होगी। राजर्षि सबेरे से रात के नौ-दस बजे तक अधिवेशनों के तीन-चार दिन कैसे व्यस्त रहते थे, कैसे लथपथ हो जाते थे, सभी साथी जानते हैं। उस थकान को उन्होंने मुखमुद्रा से प्रकट करते हुए कहा, "अच्छी बात है। यह करना ही होगा। आप लोगों को भी चलना होगा।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कवि-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे--श्री जे० बी० मंघाराम, बिस्कुटवाले। स्वागताध्यक्ष मच पर गये और घोषणा की--"इस कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता भदन्त आनन्द कौसल्यायन करेंगे। मैं भदन्त जी से प्रार्थना करता हूँ कि आकर अध्यक्ष का आसन ग्रहण करें।" सब लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भदन्त आनन्द कौसल्यायन कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष।

कविता-पाठ शुरू हुआ। सभी कविताएँ अच्छी थीं पर वह उच्छृंखलता न थी। कविवर अनूप शर्मा ने आकर मेरे कान में कहा--"वाजपेयी जी यह कवि-सम्मेलन है या स्तोत्र पाठ करने वालों का जमाव।" यह कह कर बैठ गये। मैंने उन्हें कोई जवाब नहीं दिया।

इससे पहले मैंने कभी राजर्षि को किसी कवि-सम्मेलन में न देखा था। यहाँ वे बराबर साढ़े तीन घण्टे जमकर बैठे और कवि-सम्मेलन विसर्जित होने पर ही उठे।

नींद क्या आयी होगी। सवेरे मालूम हुआ कि उन्हें ज्वर है, तबीयत ठीक नहीं। मैं गया तो तीन-चार सज्जनों से नयी स्थायी समिति के बारे में चर्चा कर रहे थे। प्रणाम करके मैंने पूछा, तबीयत कैसी है? हँसते हुए बोले, ठीक ही है। रात में सब ठीक रहा न? मैंने कहा कि 'हम लोग तो आपके स्वास्थ्य को ही सब कुछ समझते हैं। वह ठीक तो सब ठीक। सुनकर वे फिर (वही) स्थायी समिति की चर्चा करने लगे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दयानिधान

श्री जहूरबख्श

⊙ ⊙

सन् १९५२ ईस्वी की बात है। हमारे बड़े पुत्र श्री मुबारक अली का स्वास्थ्य बिगड़ गया था और लगातार बिगड़ता जाता था। बस हम सदा वैद्यों और डॉक्टरों के दरवाजों की धूल फाँकते फिरते थे। यदि वैद्य विषम ज्वर या जीर्ण ज्वर की रट लगाते थे, तो डॉक्टर अपनी बँधी हुई आदत के अनुसार टी० बी० बताते थे। नतीजे में बीमार का यह हाल था कि मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

इतने पर घोर आर्थिक संकट अपने भयंकर जबड़े फाड़े अलग हमारे सामने खड़ा हुआ था और हमारी चिन्ताओं का कोई पार न था। किसी तरह समझ में यह न आता था कि अब हम कहाँ निकल जाएँ और किसके सामने गिड़गिड़ाएँ।

ऐसी ही शोचनीय स्थिति में एक दिन सहसा हमारे पास पचास रुपये का मनीआर्डर आया। वह नई दिल्ली से श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने भेजा था। उन्होंने उसके कूपन में सिर्फ तीन छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा, इस प्रकार अपना दया-भाव प्रकट किया था—"बच्चे के लिए भेजता हूँ। सावधानी से उसकी चिकित्सा कराइए। वह शीघ्र नीरोग हो जायगा।"

पहले टण्डन जी से हमारा साधारण पत्र-व्यवहार भी नहीं रहा था। अतः उनके इस मनीआर्डर से जहाँ हमें परम आश्चर्य हुआ, वहाँ उनसे अनुकम्पा, आशीर्वाद और सहानुभूति का यह अयाचित सम्बल पाकर हमारा हृदय गद्‌गद हो उठा और हमने मन-ही-मन स्वीकार किया कितने विशाल-हृदय हैं टण्डन जी। वे हिन्दी-सेवकों के सम्बन्ध में कितने सतर्क रहते हैं और उनके दुःख-दर्द में कितनी आत्मीयता से कितनी तत्परता से हाथ बँटाते हैं।

टण्डन जी की इस गम्भीर सम्वेदनशीलता पर हमारे हृदय में कृतज्ञता के जो भाव जागृत हुए वे हमने अक्षर-बद्ध किये और उनकी सेवा में भेज दिये। सप्ताह समाप्त होते-होते हमें उनका पत्र मिला, जिसमें उन्होंने बहुत-बहुत सान्त्वना प्रदान करने के उपरान्त एक स्थल पर लिखा था—"आपसे साक्षात्कार तो हुआ था, परन्तु कब और कहाँ—कुछ स्मरण नहीं आता। कृपाकर लिखिए।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हमें सन् १९१६ ईस्वी के नवम्बर महीने का स्मरण आ गया, जबलपुर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सप्तम अधिवेशन हुआ था। उसी पुण्यावसर पर हमने टण्डन जी का प्रथम तथा अन्तिम दर्शन किया था। वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओं में से थे, उस पर अपने आत्मज के समान ममता रखते और उसे विकास की अन्तिम सीमा तक पहुँचाने के लिए सदा तत्पर रहते थे। फलतः दिनोंदिन हिन्दी-संसार में अपने लिये अमर स्थान बनाते जाते थे।

यह टण्डन जी की ही अपूर्व क्रियाशीलता का परिणाम था, जो सम्मेलन का उक्त अधिवेशन बड़ी-बड़ी सफलताओं के साथ सम्पन्न हुआ था और उसमें तत्कालीन हिन्दी-संसार के अधिकांश रथियों-महारथियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया था। अधिवेशन समाप्त होते ही वे सब अपने-अपने संगी-साथियों को लेकर भेड़ाघाट पहुँचे और अलग-अलग दलों में चौंसठ-योगिनी, धुआँ-धार बन्दर-कूदनी आदि स्थानों की सैर करने लगे। टण्डन जी के दल में सर्वश्री इन्द्रनारायण द्विवेदी, रामजीलाल शर्मा, लक्ष्मीधर वाजपेयी और लोचनप्रसाद पाण्डेय जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् लेखक सम्मिलित थे और हम उनके पीछे-पीछे पाँचवें सवार बने हुए मार्ग नाप रहे थे।

टण्डन जी एम० ए०, एल–एल० बी० थे, बत्तीस-तैंतीस वर्ष के नौजवान थे, फिर भी बड़ी सादी वेश-भूषा में थे। सिर पर सफेद साफा बाँधे, शरीर पर अँगरखा-धोती धारण किये, पैर देशी जूतों में छिपाये और गले में दुपट्टा लटकाये हुए। द्विवेदी जी तो उनके सगे भाई जान पड़ते थे—क्या आयु के विचार से क्या शरीर-सम्पत्ति के विचार से और क्या वेश-भूषा के विचार से। शर्मा जी, वाजपेयी जी और पाण्डेय जी भी बड़ी सादी वेश-भूषा में थे। बस, अकेले हम ही ऐसे थे, जो आयु की दृष्टि से ही नहीं, वेश-भूषा की दृष्टि से भी, उन सबमें निराले थे और मन-ही-मन झेंपे जा रहे थे। टण्डन जी अधिवेशन की सफलता पर अत्यधिक प्रसन्न थे और सम्मेलन की भावी उन्नति-विषयक विचार प्रकट करने में निमग्न थे। द्विवेदी जी और शर्मा जी भी सम्मेलन के प्रमुख अधिकारियों में से थे, इसलिए स्वभावतः टण्डन जी के विचारों में रस ले रहे थे और प्रसंगानुकूल अपने विचार भी प्रकट करते जाते थे। इस अधिवेशन में 'आधुनिक शिक्षा' और 'मध्य प्रदेश की कानूनी हिन्दी' शीर्षक दो बड़े महत्त्वपूर्ण लेख पढ़े गये थे। पहले लेख के लेखक थे हास्य-रसाचार्य पण्डित जगन्नाथ प्रसाद जी चतुर्वेदी, जिसमें उन्होंने आधुनिक शिक्षा की बड़ी व्यंग्यात्मक समीक्षा की थी। दूसरे लेख के लेखक थे व्याकरणाचार्य पण्डित कामताप्रसाद जी गुरु, जिसमें उन्होंने मध्यप्रदेशीय कानूनी हिन्दी की बड़ी कड़ी आलोचना की थी वार्तालाप के क्रम में टण्डन जी ने इन लेखों की बहुत प्रशंसा की और निर्भ्रान्त रूप में अपनी सम्मति व्यक्त की। उच्च शिक्षा शीघ्र-से-शीघ्र हिन्दी के माध्यम से दी जानी चाहिए और कानूनी हिन्दी में सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य सरल शब्दों को स्थान मिलना चाहिए।

हमने भी कानूनी हिन्दी के विषय में कुछ कहा। इस पर जो टण्डन जी में जिज्ञासा का भाव जागा, तो वाजपेयी जी ने उनसे हमारा परिचय कराते हुए न जाने, क्या-क्या कह

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

डाला। बस, आशुतोष टण्डन जी ने बहुत-बहुत उल्लास प्रकट किया और हमें स्नेह तथा ममता से परिपूर्ण आशीर्वाद का प्रसाद दिया। इसके उपरान्त खुसरो, रहीम, रसखान, ताज, शेख, आलम, गुलाम नबी आदि मुस्लिम कवियों का कुछ ऐसा हृदय-ग्राही आख्यान उठाया कि सबके मन-प्राणों में आनन्द उमड़-उमड़ कर लहरें मारने लगा। धुआँ-धार के मर्मरी शिला-खण्डों पर बैठे-बैठे कितना समय व्यतीत हो गया किसी को पता भी न चला। इन्हीं सब स्मृतियों का आश्रय लेकर हमने टण्डन जी के पत्र का उत्तर तैयार किया और लेटर-बॉक्स में छोड़ दिया, मन में यह कहते-कहते कहा हम चटशाला के साधारण शिक्षक, हिन्दी-सेवा के नाम पर अच्छे-भले कागज काले करने वाले अकिञ्चन लेखक और कहाँ तपःपुञ्ज टण्डन जी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दृढ़व्रती कर्णधार, इण्डियन नेशनल कांग्रेस के शक्तिशाली सूत्रधार, भारत जैसे विशाल देश के सामने वास्तविक नेता का आदर्श उपस्थित करने वाले महामानव! परन्तु वे हमें नहीं भूले, नहीं भूले, नहीं भूले। अपने हृदय के किसी कोने में स्थान दिये रहे, पूरे तीन युग का लम्बा समय बीत जाने पर भी। आश्चर्य है! हमारे पास लौटती डाक से ही टण्डन जी का प्रत्युत्तर आ पहुँचा। उसके द्वारा उन्होंने हमें विश्वास दिलाया—"धैर्य का अवलम्बन लीजिए। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं—बच्चे के साथ हैं। मंगलमय दया ही करेंगे।" यह टण्डन जी का अन्तिम पत्र था। इसके बाद हमने प्रयत्न करने पर भी उनका कोई पत्र नहीं पाया और हमें यही सोच कर सन्तोष से काम लेना पड़ा कि वे व्यस्त जीवन वाले देवता हैं। किस-किस के काम आएँ और किस-किस को पत्र लिखें। फिर पत्र लिखने-योग्य कोई बात भी तो हो।

धीरे-धीरे कुछ महीने निकल गये। एक दिन हमें सहसा भारत सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से सवा वर्ष के लिए आर्थिक सहायता के रूप में डेढ़ सौ रुपये मासिक बँध गये। हम अतिशय चकित-विस्मित हुए। किसी तरह यह न समझ पाये कि अनायास ही ये बादल कैसे घुमड़ आये और यह शीतल-सुखद वर्षा कर गये। हाँ, हम सुविधा की साँसें अवश्य ले सके और श्री मुबारक अली भी पूर्णतया नीरोग हो गये।

होते-होते कई महीने बाद बन्धुवर पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने इस रहस्य पर पड़ा हुआ आवरण हटाया। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा—"यह तो श्रद्धेय टण्डन जी के सद्-प्रयास का सुपरिणाम था।"

हमारा आश्चर्य पराकाष्ठा पर पहुँच गया। टण्डन जी ने हमारा कल्याण करने के लिए इतना कष्ट उठाया और हमें कुछ न बताया। हमने कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए उनको पत्र-पर-पत्र लिखे, परन्तु वे मौन ही धारण किये रहे। आखिर हम इसी निर्णय पर पहुँचे—महज्जन चुपके-चुपके ही परमार्थ साधन करते हैं। यदि उसके विषय में कुछ कहें, तो उसकी महत्ता सहज ही लघुता के रूप में परिवर्तित हो जाये।

ऐसे उदारमना टण्डन जी भी काल से पार न पा सके। एक दिन उसके सर्वग्रासी गाल में समा गये और यह समाचार पाकर हम सहज ही रो उठे—"दयानिधान, महा-यात्रा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पर जाने से पहले कुछ तो सोचते। हिन्दी-संसार को अपने-जैसे दस-पाँच दयानिधान ही दे जाते।"

टण्डन जी की हिन्दी-निष्ठा के सम्बन्ध में तीन बातें सदा ही हिन्दी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों द्वारा अंकित की जायेंगी। पहली तो यह कि वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रूपी नौका की पतवार अपनी अन्तिम साँस तक थामे रहे, दूसरी यह कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रश्न उपस्थित होने पर वे हिन्दी को लेते हुए निःसंकोच रूप से शक्तिशाली महामानव से भिड़ गये और तीसरी यह कि भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का महत्पद दिलवाकर ही शान्त हुए।

आज के युग की यह तात्कालिक आवश्यकता है कि प्रत्येक हिन्दी भाषी व्यक्ति टण्डन जी के आदर्श से प्रेरणा ग्रहण करे, हिन्दी के महत्त्व को भली भाँति जाने-पहिचाने और उसी की गरिमा बढ़ाने के लिए आठ पहर-चौंसठ घड़ी सतर्क रहे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

तपस्वी और त्यागी महापुरुष : राजर्षि टण्डन

रामचन्द्र वर्मा

⊙ ⊙

सम्मेलन के सभी अधिवेशनों में हम लोग देखा करते थे कि माननीय टण्डन जी ही मानो सब बातों में अग्रणी तथा प्रमुख हैं---विषय निर्धारिणी समितियों की बैठकों में भी, खुले अधिवेशनों में भी और स्थायी समिति की बैठकों में भी। टण्डन जी की विलक्षण कार्य-कुशलता, तर्क-शक्ति, विचार-प्रणाली आदि ऐसी बातें थीं जो साधारणतः सबको आकृष्ट भी करती थीं और प्रभावित भी, जिस पर उनकी वाग्मिता और सज्जनता मानो उनके गुणों में चार चाँद लगाती थी और ये सब ऐसी बातें थीं जो हिन्दी-जगत् में नेतृत्व का सेहरा टण्डन जी के सिर अपने-आप बाँधती चलती थीं। ऐसा जान पड़ता था कि नेतृत्व करना मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

सम्मेलन में उग्रता और तीव्रता बहुत कुछ टण्डन जी के कारण ही आती थी। इसलिए तत्कालीन अंग्रेज अधिकारी यही चाहते थे कि जहाँ तक हो सके, सम्मेलन से टण्डन जी अलग और दूर ही रहें तो अच्छा है। देशी राजे-रजवाड़े तो अंग्रेज अधिकारियों की निगाह पर नजर रखने में प्रवीण होते ही थे। इसलिए शायद सन् '१६ के जबलपुर अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए नाभा के महाराज ने टण्डन जी को छुट्टी नहीं दी। पर भला टण्डन जी ऐसी बाधाओं पर कब ध्यान देने वाले थे। वे नाभा की नौकरी पर लात मारकर चले आये और सम्मेलन के कार्यों में सम्मिलित हुए। उनके इस अद्भुत त्याग के कारण हिन्दी वालों में जो उत्साह फैला था और प्रसन्नता की जो लहर उमड़ी थी, उसका आनन्द वही लोग जानते हैं जो उन दिनों वर्तमान थे। आज शब्दों के द्वारा लोगों को उसका परिचय कराना सहज नहीं है।

तभी से टण्डन जी मानो सम्मेलन के प्राण तथा सर्वस्व होने लगे और होते गये। जिस लगन से उन्होंने सम्मेलन की उन्नति में अपना सारा जीवन और सारी शक्ति लगायी, वह किसी से छिपी नहीं है। सम्मेलन की सारी प्रतिष्ठा और सारा वैभव एकमात्र टण्डन जी के परिश्रम का फल है।

परन्तु वास्तविक बात यही है कि टण्डन जी ने जिस सम्मेलन में इतनी अधिक जीवनी शक्ति का संचार किया था, उसी सम्मेलन के भविष्य की चिन्ता ने तिल-तिल करके टण्डन जी के प्राण लिये,--उसी की चिन्ता ने उन्हें घुला-घुला कर मारा, यह क्या हम हिन्दी वालों के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लिए कम लज्जा की बात है। पर आजकल के अर्थप्रधान तथा स्वार्थप्रधान युग में लज्जा का नाम लेना भी एक प्रकार की भारी मूर्खता ही है।

एकता का प्रयत्न

अभी कुछ ही दिन पहले जब प्रयाग में बहुत धूमधाम से माननीय टण्डन जी की जयन्ती मनायी गयी थी, तब कुछ अन्य भाषा-भाषियों ने हिन्दी वालों को इस बात के लिए लज्जित किया था कि जब सम्मेलन रिसीवर के बन्धन में पड़ा है, तब टण्डन जी का सम्मान कैसा? सच्चा सम्मान तो तब हो जब सम्मेलन बन्धनमुक्त हो। कुछ हिन्दी-प्रेमियों के हृदय में यह बात लगी भी और वे वहीं कमर कसकर डटे। [वे इस बात की प्रतिज्ञा करके बैठ गये कि इस सम्मेलन के लिए झगड़ने वाले दोनों दलों में मेल करा के ही यहाँ से हटेंगे। जब उनका प्रयत्न बहुत कुछ सफल होने के समीप पहुँच गया, तब भी बहुत कुछ कारणों से सफल होता-होता रह गया] परन्तु सम्मेलन की चिन्ता तो टण्डन जी के प्राणों को लगी थी, इसीलिए उन्होंने कुछ और उपायों से सम्मेलन को रिसीवरी बन्धन से मुक्त कराने के कई प्रयत्न किये। पर उनके भाग्य में सम्मेलन का मुक्त रूप देखना नहीं बदा था। और यही सोचते-सोचते उनके अमर प्राण इस नश्वर संसार का परित्याग करके चले गये।

कठोर तपस्या तथा त्याग

टण्डन जी ने हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, देश-सेवा और राजनीति के क्षेत्र में भी सबके सामने कठोर तपस्या और त्याग का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया था। उन्होंने सब प्रकार के सुखों का परित्याग करके परम कष्टमय जीवन का इसीलिए वरण किया था कि वे सत्य और सिद्धान्त के परम उपासक थे। उन्होंने अपना सारा जीवन 'निन्दन्तु नीति निपुणाः यदि वा स्तुवन्तु' वाले सिद्धान्त के पालन में ही व्यतीत किया था। यदि वे सत्य और सिद्धान्त के पथ से तनिक भी विचलित हो सकते तो अपेक्षया कहीं अधिक सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। पर जिसे ईश्वर ने काँटों की सेज पर सोने के लिए ही बनाया हो, वह फूलों की सेज के आयोजन में कैसे लग सकता था। ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर पहुँच कर श्री टण्डन जी इसीलिए उन पदों को ठुकरा कर उनसे अलग हो जाते थे कि वे न्याय, सत्य या सिद्धान्त को पददलित नहीं कर सकते थे। इस दृष्टि में टण्डन जी आदर्श महापुरुष थे और ऐसे महापुरुष को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने में मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लोक सेवक मण्डल और टण्डन जी

श्री अलगूराय शास्त्री

⊙ ⊙

सन् १९२८ का १७ नवम्बर सम्पूर्ण भारत के लिए अनर्थकारी होकर आया। उस दिन प्रभात उद्गीथ साम की वेला में पंजाबकेशरी सदा के लिए मौन हो गया। जब सूर्योदय के साथ उसका स्वागत करते पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी मुखर हो उच्चस्वर से स्तवन कर रहे थे, सिंह की-सी दहाड़ करने वाली लाजपतराय की गिरा ने सहसा ऐसा मौन ग्रहण कर लिया जो अब इस पृथ्वी पर कभी खुलने वाला न था। उस मौन ने समस्त भूतल पर एक करुण क्रन्दन फैला दिया था। मानव-टोलियाँ, नर-नारियों के दल-के-दल आर्तनाद करते, सर पीटते, चिल्लाते-चिंघाड़ते घर-घर से निकल सड़कों और गलियों में विलपते फिरने लगे थे। लाला जी के वियोग की सबको गहरी चोट थी। लेकिन लाहौर के कोर्ट-स्ट्रीट में संस्थित 'लोक सेवक मण्डल' के परिवार की दशा और भी दयनीय थी।

१९२१ में तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स को लाला जी ने जन्म दिया था। अमरीका में अपने निष्कासन-काल में रहते समय लाला जी ने लोक-सेवा एवं समाज-सेवा के लिए शिक्षा देने वाली जिन संस्थाओं को निकट से देखा था, जिनमें यह स्वयं शिक्षण का कार्य भी कर चुके थे, उसी प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक शिक्षा देने वाली कोई शिक्षा-संस्था अपने देश में लाला जी स्थापित करना चाहते थे।

यहाँ भारत में रहते, विश्व-युद्ध छिड़ने से पूर्व १९१४ की लड़ाई से पहले लाला जी के सामने गोखले की भारत सेवक समिति राजनीति एवं समाज की सेवा का बहुत उपयोगी यंत्र था। महाराष्ट्र में शिक्षा का कार्य करने वाली दक्षिण भारत शिक्षा समिति भी आजीवन सदस्यों की एक संस्था नवयुवकों में देश-भक्ति की भावना भरते हुए उन्हें शिक्षा, समाज-सेवा और राजनीति के क्षेत्र में सम्पूर्ण जीवन लगाकर सेवा करने की प्रेरणा दे रही थी। यह भी लाला जी ने देख रखा था।

अमरीका से भारत आने पर १९२० में कलकत्ता-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता कर लेने के पश्चात् जहाँ जलियाँवाला बाग की हत्या के लिए उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक भावपूर्ण, रोषपूर्ण आरोप-पत्र अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रस्तुत किया था, लाला जी ने तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स की स्थापना की। इसमें सर्वप्रथम तीन सदस्य सम्मिलित हुए—सर्वश्री अचिन्त्यराम, पुरुषोत्तमलाल सोंधी तथा फिरोजचन्द जी। ये लोग

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लाहौर के कौमी कालेज के छात्र थे। यह कालेज १९२० में अंग्रेजी शिक्षा-संस्थानों के बहिष्कार पर पंजाब में स्थापित हुआ था, जैसे अन्य स्थानों में काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि।

कौमी कालेज (विद्यालय) को रूपान्तरित करके लाला जी ने लोक सेवक मण्डल को एक सोसाइटी का रूप दे दिया और उसे अपनी निजी सम्पत्ति का बड़ा भाग दान दिया, जिसमें उनका अपना स्वकीय आवास-स्थान 'पुरानी-कोठी' सम्मिलित थी, जो आज भी कोर्ट स्ट्रीट में संस्थित है, जहाँ से १९०८ में लाला जी मण्डल के लिए निष्कासित हुए थे।

१९२८ में लोक सेवक मण्डल एक सप्तवर्षीय शिशु-मात्र था। लाला जी साइमन कमीशन के बहिष्कार के अवसर पर पुलिस की लाठियों से आहत हो गये थे। ग्लानि और अपमानजनक खेद की गहरी चोट उनके मन पर शारीरिक एवं छाती की चोट से भी अधिक गहरी पड़ी थी। उसी के फलस्वरूप लाला जी १७ नवम्बर के प्रातः १९२८ में स्वर्ग गये। उसी रात उन्होंने 'पीपुल' समाचार-पत्र में 'डोमिनियन स्टेट्स वर्सेस कम्प्लीट इण्डिपेण्डेन्स' शीर्षक अधूरा लेख लिखा था। अतः उसी को पूरा करने उठे थे, जबकि अनेक डॉक्टर मित्रों के देखते-देखते वह हमारे बीच से उठ गये। समस्त देश और विशेष रूप से हमारा मण्डल अनाथ हो गया।

मण्डल को कौन सँभालेगा? यही प्रश्न सबके सामने था। मण्डल के पुराने तथा नये सदस्य घंटों और सप्ताहों तक इसकी चिन्ता में डूबे रहते, विचार-विमर्श होता रहता। कोई कहता, हममें से जो सबसे बड़ा है, उसी को अध्यक्ष बनाया जाय। लाला जी की आत्मा हमें प्रेरणा देगी। जिन पर बड़े होने से यह भार आता, वह इसे अपने लिये बहुत भारी बोझा समझते थे। फलतः हम सब कभी गांधी जी की ओर देखते और कभी बाबू राजेन्द्रप्रसाद की ओर।

इधर लाला जी अपने जीवन-काल में ही मण्डल के लिए एक उपयुक्त उत्तराधिकारी की खोज में व्यस्त थे। इटावा की हिन्दू महासभा के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करके लाला जी लौट रहे थे। मैं उनके साथ था। लाला जी ने चिन्ता-युक्त स्वर में कहा: 'तुम सब बड़े अच्छे हो, पर हो तो बच्चे ही। तुम में अभी कोई ऐसा नहीं दीखता जो मण्डल का कार्य-भार सम्हाल ले। मेरी दृष्टि टण्डन जी पर जाती है, परन्तु उन्हें पंजाब नेशनल बैंक से बारह सौ रुपये मिलते हैं। यह त्याग कर उन्हें आना पड़ेगा। कोई बात नहीं, मैं विशेष पुरस्कार का भी प्रबन्ध कर सकता हूँ, परन्तु अभी उनसे कहते कुछ संकोच होता है। टण्डन जी बड़े योग्य और साधु प्रकृति के पुरुष हैं, बड़े भी हैं, वह आ जाते तो निश्चिन्त हो जाता' इत्यादि। कौन जानता था कि विधि बोल रही है।

लाला जी के निधन पर अन्त में हम सब तथा स्वयं गांधी जी एवं घनश्यामदास जी बिड़ला आदि का ध्यान टण्डन जी की ओर गया। उनसे ही त्याग की आशा की गयी। उन्होंने आने और सेवा-भावना का परिचय देने में क्षण भर का विलम्ब न किया। वह मण्डल के सहयोगी सदस्य (एसोशियेट) लाला जी के जीवन-काल में ही हो गये थे। आजीवन सदस्यता

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का प्रश्न था। वह कहीं अन्यत्र धनोपार्जन करते आजीवन सदस्य नहीं हो सकते थे। परन्तु जिन टण्डन ने बात-की-बात में इलाहाबाद हाईकोर्ट की वकालत छोड़ी थी, जिन टण्डन ने नाभा राज्य की सर्वोच्च सेवा को तृणवत् त्याग दिया था, वह टण्डन अब कर्त्तव्यपालन की माँग पर लाला जी की इच्छापूर्ति के लिए उनके जीवन के सबसे बड़े यज्ञ का ब्रह्मा बनना कब ठुकराते अथवा उसे स्वीकार करने में कब विलम्ब करते? वह आ गये। मण्डल के आजीवन सदस्य बन गये। इस महापुरुष ने मण्डल की जो सेवा की, वह एक चिरस्थायी निधि है। इससे दिवंगत महान् लोक-सेवक लाला जी की आत्मा को शान्ति मिली है।

१९२९ के आरम्भ में ही टण्डन जी ने अध्यक्षता सम्हाली। पहला ही कार्य हुआ 'लाला लाजपतराय स्मारक निधि' के लिए पाँच लाख रुपयों का संग्रह करना। महात्मा गांधी ने खादी के लिए उत्तर प्रदेश का दौरा किया। धन-संग्रह के लिए वह जिला-जिला घूमे। उनकी सम्मति से यह निश्चय हुआ कि यदि कोई दानदाता चाहे तो नामांकित करके लाला जी स्मारक निधि के लिए महात्मा जी को उत्तरप्रदेशीय यात्रा में दान दे सकता है। टण्डन जी के प्रभाव का यह पहला लाभ मण्डल को प्राप्त हुआ।

मण्डल कांग्रेस का अविच्छिन्न अंग

१९३० में नमक सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में जो यह आन्दोलन चलाया, उसमें टण्डन जी का प्रमुख नेतृत्व था। उनकी प्रेरणा से पूरा मण्डल ही इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने केन्द्रों से उक्त सत्याग्रह में सम्मिलित होकर जेल चले गये। सर्वश्री हरिहरनाथ शास्त्री, लालबहादुर शास्त्री, पंजाब के सदस्यों में अचिन्त्यराम जी, मेरठ से मैं भी, उड़ीसा से राधानाथ रथ, लिंगराज आदि। सर्वश्री राजाराम शास्त्री कानपुर, मोहनलाल गौतम, अमरनाथ, विद्याशंकर प्रभृति सभी आजीवन सदस्य कृष्ण-मन्दिर पहुँच गये। श्री टण्डन की देन-स्वरूप मण्डल कांग्रेस का अविच्छिन्न अंग बन गया। जो कांग्रेस की कार्य-नीति में या कार्यक्रम से बाहर गया, वह मण्डल से ही बाहर गया। जब जेल-युग समाप्त होकर १९३७ में कांग्रेस ने विधान सभाओं के निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया तब टण्डन जी की उसी प्रेरणा और प्रभाव के फल-स्वरूप प्रायः सभी प्रमुख सदस्य विधान सभाओं में आये। लोक-सभा, राज्य-सभा, संविधान परिषद् एवं विधान-मण्डलों में मण्डल के सदस्य सम्मिलित किये जाते रहे। कांग्रेस-दल ने टण्डन जी की कांग्रेस-निष्ठा से प्रभावित होकर ही सदस्यों में से कुछ प्रमुखों को इसके लिए वरा।

न टण्डन जी ने मण्डल को कांग्रेस के साथ इस प्रकार एकात्मता दी होती, न हम सब जेल जाते, न इस प्रकार विधान-मण्डलीय कार्यों के लिए कांग्रेस की ओर से अपने लिए खुला द्वार पाते।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कैसी विचित्रता है! जिस टण्डन जी ने कांग्रेस के साथ मण्डल को इस प्रकार बाँधा उन्हीं को स्वयं जवाहरलाल के सक्रिय पग उठाने पर कांग्रेस-अध्यक्षता से पृथक् होना पड़ा। अघटन घटना-परीक्षण, विधि-विडम्बना ऐसी ही होती है।

टण्डन जी ने १९३० का राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ हो जाने से लाजपत निधि एकत्रित करने में असमर्थता पायी। १९३४ में ही एक प्रकार क्षण भर के लिए आन्दोलन शिथिल हुआ तब सदस्यों के पुरस्कार आदि के लिए धन की पर्याप्त कमी थी। स्वेच्छा से, टण्डन जी की त्याग-भावना को देखते हुए सदस्यों ने अपने सीमित पुरस्कार को ३३ प्रतिशत कम कर दिया।

सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई। कुछ पुराने गये, परन्तु बहुत-से नये आये। अब टण्डन जी का यह परिवार आजीवन सदस्यों, सहकारी सदस्यों, सहयोगियों, सहायकों सहित पचास का हो गया है। आज हमारी मण्डलीय शाखाएँ अपने भवनों सहित पंजाब में अबोहर में हैं। (१) शिमले में (२) उत्तर प्रदेश में मेरठ, इलाहाबाद और कानपुर में हैं। (३) उड़ीसा में हमारी बहुत शाखा सत्यवादी प्रेस, समाज-समाचार पत्र, टाइप फाउण्ड्री सहित एक लहराती संस्था है। (४) देहली में हमारा केन्द्रीय कार्यालय लाजपत-भवन के नाम से एक उज्ज्वल संस्था के रूप में खड़ा हो गया है।

यह समस्त विस्तार टण्डन जी की छत्रच्छाया में हुआ है।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति के उपासक राजर्षि टण्डन जी और हिन्दी

श्री मोहनलाल भट्ट

⊙ ⊙

राजर्षि टण्डन जी भारतीय संस्कृति के अखण्ड उपासक थे। **गांधी जी** की तरह वे भी सत्य और अहिंसा में विश्वास करते थे। उन्होंने अपने जीवन में सत्य को ही अपना ध्येय माना और सत्याचरणपूर्वक जीने का प्रयत्न किया। वे अतिशय उदार समन्वय की संस्कृति के उपासक थे। विशेषतया, **कबीर** का आदर्श सदा उनके सामने रहता था और बातचीत के क्रम में वे उनके दोहे उद्धृत भी करते रहते थे। वे अन्त तक भारत-विभाजन के विरोधी रहे। वे भारत के विकास तथा उन्नति में भारतवासी मुसलमानों के हार्दिक सहयोग की आशा रखते थे। वे साधु-सन्तों तथा फकीरों से मिलते और उनका आदर करते थे; क्योंकि साधु-सन्त ही तो भारत की सामासिक संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) के मुख्य आधार हैं। **श्री रवि ठाकुर** की 'गीताञ्जलि' जब प्रकाशित हुई और उसका विश्व में आदर हुआ तथा उसे 'नोबेल पुरस्कार' मिला, तब टण्डन जी बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि उन्होंने उसमें कबीरवाणी का सन्देश पाया और समन्वय की भावना भी पायी। **भाषाविज्ञान** के धुरन्धर विद्वान् **श्री सुनीति बाबू** ने कहा : 'टैगोर डिसकवर्ड कबीर': अर्थात् 'टैगोर ने कबीर-वाणी का मर्म समझाया।'

टण्डन जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। उसका भी उद्देश्य यही था कि अँगरेजी-शिक्षा के कारण युवकवर्ग भारत की संस्कृति से विमुख हो रहे हैं और सत्य, प्रेम, करुणा आदि को भूलकर नीतिविमुख भाव से केवल व्यक्ति-सुख को मूल्य दे रहे हैं और भारतीयता की अस्मिता को खो रहे हैं, इसलिए उनमें हिन्दी के द्वारा भारत की सामासिक संस्कृति का ज्ञान तथा उसके प्रति रुचि पैदा हो। साधु-सन्तों ने रामेश्वर से कश्मीर तक एक ऐसी भाषा का निर्माण किया, जो सब जगह बोली और समझी जाती थी। सभी अहिन्दीभाषी प्रदेशों के सन्तों और फकीरों ने उस हिन्दी में रचनाएँ की हैं, जिसे आज खड़ी बोली कहा जाता है और जो वर्त्तमान हिन्दी का प्रारम्भिक रूप है। दक्षिण में—हैदराबाद में **वली** सन्त ने उसी हिन्दी में कविता रचकर, उसका प्रचार किया था।

गांधी जी की तरह टण्डन जी भी ग्राम-जनता की सेवा को महत्त्व देते थे। वे मानते

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

थे कि जनता को भले ही अक्षर-ज्ञान न हो, पर उसमें संस्कार की कमी नहीं। 'रामायण', 'महाभारत' आदि पुराणों तथा सन्त कबीर जैसे औलिया फकीरों के चरित्रों को देखकर वह (जनता) नीति और धर्म के संस्कारों से पर्याप्त प्रभावित होती है। हिन्दू मुसलमान-फकीरों का आदर करते हैं, तो मुसलमान भी हिन्दू सन्त-साधुओं को सम्मान देते हैं और वे एक-दूसरे के धर्मोत्सवों में भाग भी लेते हैं। राजर्षि टण्डन जी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए वकालत छोड़ी, नाभा-राज्य की दीवानगिरी ठुकराई और जेल-यातना आदि अनेक कठिनाइयाँ सहीं, परन्तु उनका दृष्टिकोण सदा ग्रामाभिमुख रहा। वे **लाला लाजपत राय** द्वारा स्थापित लोक सेवा-मण्डल के सदस्य बने और बाद में उसके अध्यक्ष-पद को भी उन्होंने सँभाला।

गांधी जी की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का काम आरम्भ किया और वहाँ लोगों ने इसमें बहुत रुचि दिखायी। पुनः 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई। कुछ समय बाद, कई कारणों से 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' सम्मेलन से अलग हो गयी, फिर भी टण्डन जी उसके प्रचार-कार्य में अभिरुचि लेते रहे, यहाँ तक कि दक्षिण के हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी सिखाने के लिए उन्होंने सम्मेलन की ओर से व्यवस्था भी की। वे चाहते थे कि दक्षिण से हिन्दी सीखने के निमित्त आनेवाले विद्यार्थियों के लिए इलाहाबाद में महाविद्यालय खोला जाय, जिसके लिए स्थान भी उन्होंने आयत्त कर लिया था, परन्तु दुर्भाग्य से महाविद्यालय की स्थापना न हो सकी।

राजर्षि टण्डन जी चाहते थे कि गाँवों में हर व्यक्ति के लिए मकान हो, उसके साथ आधा बीघा जमीन हो और हर व्यक्ति एक गाय भी रखे। इस प्रकार, प्रत्येक ग्रामीण को, अपने घर के साथ साग-सब्जी आदि उगाने की जमीन तथा दूध-दही की भी सुविधा हो। परन्तु, उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। फिर भी, उनकी प्रवृत्ति अन्त तक ग्राम-जनता की सेवा की ओर उन्मुख रही। लोकसेवा-मण्डल की ओर से गाँवों में पानी की व्यवस्था के लिए कुएँ आदि बनाने की योजनाएँ वे कार्यान्वित करते रहे।

प्रसन्नता है कि वर्त्तमान वर्ष (सन् १९८२ ई०) में **राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी** की जन्मशती मनायी जा रही है। यह तो सर्वविदित है कि टण्डन जी ने सन् १९१८ ई० में, **महात्मा गांधी** को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन का अध्यक्ष बनाकर भारत-भर में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-कार्य का सूत्रपात किया। गांधी जी को सम्मेलन का सभापति बनाना ही एक ऐसी बड़ी बात थी, जो सारे भारतवर्ष में हिन्दी के प्रचार-कार्य का द्वार खोल देने के समान थी। कर्मवीर गांधी केवल सम्मेलन के अध्यक्ष बनकर बैठे नहीं रह सकते थे। उन्होंने, दक्षिण में हिन्दी के प्रचार के लिए, केवल जीवन-निर्वाह का खर्च लेकर काम करनेवाले स्वयंसेवकों की माँग की और उन्हें **श्री हृषीकेश शर्मा** जैसे कुछ स्वयंसेवक मिल भी गये। यही नहीं, उन्होंने **स्वामी सत्यदेव** तथा उनकी माँग पर अपने पुत्र **देवदास गांधी** को भी दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के काम के लिए भेजा और दक्षिण से **श्री हरिहर शर्मा, श्री शिवराम शर्मा** जैसे कुछ लोगों को प्रयाग भेजकर, उन्हें हिन्दी का काम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण दिलवाने की व्यवस्था की। इन दोनों स्वयं-सेवकों ने दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का अद्‌भुत काम किया।

गांधी जी का आग्रह था कि यह जो हिन्दी-प्रचार का काम उन्होंने आरम्भ किया है, वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में ही चलाया जाय। परन्तु, यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं निबह सकी। अन्ततः, सन् १९२७ ई० में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग हो जाना पड़ा। परन्तु, टण्डन जी के प्रति गांधी जी का जो सद्‌भाव एवं आदर था, वह जैसा-का-तैसा बना रहा। दक्षिण में हिन्दी-प्रचार की योजनाओं के अच्छी तरह कार्यान्वित हो जाने पर वहाँ हिन्दी सीखने में लोगों की रुचि पूरी तरह बढ़ गयी, यहाँ तक कि अच्छे-अच्छे जज और वकील भी समय निकालकर हिन्दी सीखने लगे। किसी एक जज साहब को हिन्दी सीखना था, उसमें उनकी रुचि और राष्ट्रीय भावना भी थी। परन्तु, उनको समय नहीं मिलता था, इसलिए उन्होंने **श्री हृषीकेश शर्मा** जी को सुबह पाँच बजे का समय दिया था और शर्मा जी बड़ी खुशी से उनके यहाँ जाकर उन्हें हिन्दी सिखाते थे।

स्वतन्त्रता के पहले दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रति बड़ी व्यापक और रचनात्मक रुचि पैदा हो गयी थी। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को सन् १९३७ ई० में, प्रान्तीय स्वराज्य प्राप्त होने पर, प्रान्तीय सरकार से भी मदद मिलने लगी थी और **श्री राजा जी** ने तो अपने मुख्यमन्त्रित्व-काल में हिन्दी के विरोधियों में कुछ को जेल भी भेज दिया था। इस प्रकार, हिन्दी के कार्यकर्त्ता और सरकार दोनों की मदद से दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार काफी बढ़ गया। तब **गांधी जी, टण्डन जी** और **राजेन्द्र बाबू** ने मिलकर सोचा कि दक्षिणेतर अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी के प्रचार का कार्य आरम्भ किया जाय।

सन् १९३६ ई० में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन में, **श्री राजेन्द्र बाबू** की अध्यक्षता में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना का प्रस्ताव हुआ। यद्यपि समिति की स्थापना, वर्धा में, सम्मेलन के तत्त्वावधान में हुई, तथापि समिति को स्वतन्त्र रखकर उसके द्वारा कार्य आरम्भ करने की व्यवस्था की गयी। उस समय जो समिति बनी, उसके सदस्यों में **महात्मा गांधी, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुलकलाम आजाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य काकासाहब कालेलकर, शंकरराव देव, पं० माखनलाल चतुर्वेदी और वियोगी हरि** थे। **काकासाहब** समिति के उपाध्यक्ष थे और कार्य आरम्भ करने के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के मन्त्री **श्री मोटूरि सत्यनारायण जी** को बुलाकर मन्त्री-पद का भार सौंपा गया। उन्होंने समिति के कार्य की व्यवस्था और नीति-नियम बना करके काम आरम्भ कर दिया। गांधी जी के द्वारा समिति के स्थापित होने से उसके कार्य की प्रसिद्धि चारों तरफ फैल गयी। सन् १९३७ ई० से समिति की परीक्षाओं का आरम्भ हुआ। पहली परीक्षा में तो सात-आठ सौ ही विद्यार्थी थे, परन्तु कुछ ही महीनों में इसकी संख्या लाखों तक पहुँच गयी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लगभग सन् १९४३ ई० में, गांधी जी ने हिन्दी की व्याख्या में थोड़ा परिवर्त्तन करना चाहा। इससे पहले हिन्दी की व्याख्या थी, जिसे आम लोग बोलते हैं और जो मुख्यतः नागरी-लिपि में लिखी जाती है और कभी-कभी उर्दू में भी लिखी जाती है। इस व्याख्या को हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी स्वीकार कर लिया था। गांधी जी ने उसमें परिवर्त्तन कर हिन्दी की व्याख्या में कहा कि 'जो 'नागरी-लिपि और उर्दू-लिपि दोनों में लिखी जाती है', जिसे टण्डन जी ने स्वीकार नहीं किया और इसी पर गांधी जी तथा टण्डन जी में मतभेद हो गया। दोनों के बीच एक लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ, जो सम्मेलन की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

चूँकि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी की व्याख्या में उक्त परिवर्त्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था और गांधी जी उस परिवर्त्तन को आवश्यक समझते थे, इसलिए गांधी जी ने टण्डन जी पर समिति का सारा भार छोड़ दिया और वे खुद समिति से अलग हो गये। **श्री सत्यनारायण** जी तो एक या डेढ़ साल में ही समिति को स्थापित करके मद्रास वापस चले गये थे। उनके बाद **श्रीमन्नारायण जी** समिति के मन्त्री बने और **श्री काकासाहब कालेलकर** तथा **श्रीमन्नारायण जी** दोनों मिलकर समिति का संचालन करने लगे। गांधी जी के अलग हो जाने के बाद **काकासाहब कालेलकर** तथा **श्रीमन्नारायण जी** ने भी समिति को छोड़ दिया। तब **श्री रामेश्वरदयाल दुबे** समिति में काम करने लगे। कुछ दिनों के बाद वे भी समिति छोड़कर अपने देश वापस चले गये। ऐसी स्थिति में, समिति के संचालन का भार टण्डन जी के कन्धों पर आ पड़ा। उन्होंने **श्री आनन्द जी** को मन्त्री बनाकर समिति के कार्य-संचालन के लिए भेजा तथा श्री रामेश्वरदयाल दुबे को **आनन्द जी** की सहायता के लिए पुनर्नियुक्त किया। और, वे स्वयं भी समिति के कार्यों में आखीर तक दिलचस्पी लेते रहे।

सन् १९४९ ई० में, जब संविधान-सभा काम कर रही थी, तब संविधान में हिन्दी का क्या स्थान हो, इसकी चिन्ता टण्डन जी को बहुत थी। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति दोनों की ओर से हिन्दी के विद्वानों की एक सभा बुलायी, जिसमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी प्रान्तों के विद्वान् सम्मिलित हुए। उसमें केरल के **श्रीवल्लतोल** जैसे महाकवि भी पधारे थे। उस सभा में सभी विद्वानों की ओर से सम्मिलित प्रस्ताव पारित हुआ कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा और संघभाषा बने तथा उसकी लिपि नागरी हो। उसी वर्ष, १४ सितम्बर (सन् १९४९ ई०) को संविधान-सभा में यह प्रश्न आया और राष्ट्रभाषा तथा संघभाषा के नाम पर नागरी-लिपि में लिखित हिन्दी को स्वीकार कर लिया गया। संविधान में जो हिन्दी की व्याख्या की गयी है, वह इस प्रकार है :

"**३५१वीं धारा** : हिन्दी भाषा की प्रचार-वृद्धि करना, उसका विकास करना, ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भाण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए, उसको समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।"

सन् १९४३ ई० में, जैसा पहले उल्लेख किया गया, गांधी जी ने हिन्दी की व्याख्या में जो परिवर्त्तन करना चाहा, उसे टण्डन जी ने स्वीकार नहीं किया, इसलिए गांधी जी ने अपनी व्याख्या के अनुसार, 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' के प्रचार के लिए 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' का संघटन किया। गांधी जी चाहते, तो वे समिति को भी उधर खींच ले जाते, परन्तु टण्डन जी के प्रति उनका बहुत आदर था, इसलिए उन्होंने समिति को उन्हीं के भरोसे छोड़ दिया और वे 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के स्थापित होने के बाद भी समिति के सदस्य के रूप में कुछ समय तक बने रहे और उससे त्यागपत्र देने की कोई आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। अर्थात्, हिन्दी का काम टण्डन जी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दृष्टि के अनुसार चलता रहे, एतदर्थ उसमें अपना योग देने के लिए गांधी जी राजी दिखायी पड़े।

इन पंक्तियों के लेखक ने हिन्दी का काम सन् १९३५ ई० से गुजरात में आरम्भ कर दिया था और सन् १९३७ ई० में **श्री काकासाहब कालेलकर** के अनुरोध से गुजरात के हिन्दी-प्रचार-कार्य को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के साथ जोड़ दिया था। मुझे टण्डन जी की हिन्दी-विषयक व्याख्या और नीति स्वीकार थी; क्योंकि मैंने 'नवजीवन' और गुजरात-विद्यापीठ की ओर से हिन्दी-कार्य का आरम्भ किया था और समिति की ओर से गुजरात में घूम-घूम कर उसे संघटित किया था तथा सन् १९३७-३८ ई० में हरिपुरा (बारडोली) में राष्ट्रीय कांग्रेस-महासभा का जो अधिवेशन हुआ, उसके साथ हिन्दी-सम्बन्धी अखिल भारतीय सभा भी की गयी थी, जिसकी अध्यक्षता **श्री जमनालाल बजाज** ने की थी और **श्री बाला साहब खेर** को, जो उस समय बम्बई-राज्य के मुख्यमंत्री थे, विशेष अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया गया था, जिसमें **श्री सत्यनारायण जी** का बहुमूल्य योगदान रहा।

इन सब कारणों से मुझे गांधी जी के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत हुआ। मैंने गांधी जी को पत्र लिखकर अपनी स्थिति स्पष्ट की और उनकी राय माँगी। गांधी जी ने अपना उत्तर एक पोस्टकार्ड में लिखकर भेजा। उन्होंने उसमें इतना ही लिखा था कि नागरी-लिपि में हिन्दी का प्रचार-कार्य कर सकते हैं, परन्तु प्रचारकों को, हो सके तो, थोड़ा उर्दू का ज्ञान भी प्राप्त कर लेना चाहिए।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि गांधी जी समिति के हिन्दी-प्रचार-कार्य के विरोधी नहीं थे और वे चाहते थे कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करते रहें तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के संचालकों को उसमें आपत्ति हुई। उन्होंने गांधी जी के समक्ष प्रश्न रखा कि दोनों संस्थाओं में आपके सदस्य बने रहने के कारण हमारे मन में बड़ी आशंका पैदा होती है, काम करना मुश्किल हो जाता है। आखिर, उन सबके आग्रह से गांधी जी ने समिति

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और सम्मेलन से अपनी सदस्यता का त्याग कर दिया। परन्तु, टण्डन जी के प्रति उनका सद्भाव और आदर यथापूर्व बना रहा।

टण्डन जी ने **आनन्द जी** और **दुबे जी** को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का काम सँभालने के लिए तो भेजा और उन्होंने काम को सँभालने में काफी धैर्य और व्यवस्था-शक्ति का भी परिचय दिया, परन्तु यह आसान नहीं था। टण्डन जी की प्रेरणा तथा प्रयत्नों से समिति के काम के विकास में प्रगति होती गयी। परन्तु, उस समय चारों ओर से समिति पर आक्रमण होता रहा। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा अपना कार्य शुरू कर चुकी थी। **काका साहब कालेलकर जी** आदि उसमें शामिल हो गये थे। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा भी उसी के साथ थी। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का कार्य और प्रचार असम जैसे दूर के प्रान्त में भी समिति के कार्य और प्रचार में बाधा उपस्थित कर रहे थे। बम्बई-राज्य में भी, यह हिन्दी वालों का काम है, ऐसी चर्चा चलाकर समिति के काम का विरोध किया जाता था। यहाँ तक कि बम्बई-राज्य ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परीक्षाएँ अमान्य कर दीं, परन्तु जनता को इस काम में रुचि थी, इसलिए समिति का काम बढ़ता ही गया।

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दीतर-भाषी प्रान्तों में यह हवा चली कि उनमें हिन्दी-प्रचार का काम हिन्दीतर-भाषी हिन्दी के प्रेमी लोगों पर ही छोड़ देना चाहिए। इसलिए, समिति का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ होने के कारण उस पर लगातार अनेक प्रकार के आक्रमण होते गये। असम और महाराष्ट्र में समिति की जो शाखाएँ काम कर रही थीं, वे इससे अलग हो गयीं। दोनों स्थानों पर समिति को नये सिरे से अपना कार्य आरम्भ करना पड़ा। समिति ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया और वह अपना काम फैलाने और संघटित करने में अपनी शक्ति का परिचय देने लगी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ जो उसका सम्बन्ध था, वह उसके लिए उन दिनों कठिनाई पैदा करनेवाली बात थी। परन्तु, समिति ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन और टण्डन जी के साथ अपना सम्बन्ध कभी नहीं छोड़ा। बल्कि, वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिक निकट आने और टण्डन जी से हमेशा प्रेरणा पाने की कोशिश करती रही।

दुर्भाग्य से, सन् १९५० ई० से ही, कोटा अधिवेशन के बाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में ऐसा घोर मतभेद पैदा हो गया कि उसका कोई हल नहीं हो सका। सम्मेलन के कोटा-अधिवेशन में सम्मेलन के 'हिन्दी-विश्वविद्यालय' को सम्मेलन से अलग प्रतिष्ठा देने की बात पर इतना विकट मतभेद हुआ कि सम्मेलन के अध्यक्ष और मन्त्री दोनों दो पक्ष में हो गये और सम्मेलन में ताला लग गया। मामला अदालत में पहुँचा और सम्मेलन में आदाता (रिसीवर) की नियुक्ति हुई। ऐसी स्थिति में भी समिति सम्मेलन के साथ बनी रही, पर उसने सम्मेलन के झगड़े से अपने को बराबर अलग रखा। परन्तु, समिति के मन्त्री आनन्द जी सम्मेलन से आये थे और सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं से वे अपने को अलग नहीं रख सकते थे। साथ ही, सम्मेलन के एक पक्ष को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति जैसी समृद्ध और विशाल पैमाने पर भारत में काम करने वाली संस्था पर अपना अधिकार करने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का उत्साह था। सच बात तो यह थी कि सम्मेलन का अखिल भारतीय रूप दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य से ही उजागर होता था। यद्यपि सम्मेलन के प्रान्तीय सम्मेलन भी थे और उनका कार्य भी था, परन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी को जो प्रतिष्ठा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने दी, वह प्रतिष्ठा ये संस्थाएँ नहीं दे सकती थीं और आज तक भी, यह कहने में संकोच होता है, परन्तु कहना पड़ता है कि हिन्दी-जगत् ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है या नहीं, इसमें शंका है।

गांधी जी और टण्डन जी दोनों की दृष्टि में हिन्दी का राष्ट्रभाषा-रूप ही अपना अधिक महत्त्व रखता था। गांधी जी ने हिन्दी के राष्ट्रभाषा-रूप को ही अखिल भारत के सामने रखा और टण्डन जी को भी, हिन्दी के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय विकास की क्षमता को देखते हुए, उसे राष्ट्रभाषा के रूप में ही भारत में प्रतिष्ठा देने की आकांक्षा थी। यही कारण है कि संविधान में नागरी-लिपि में लिखित हिन्दी को संघभाषा के रूप में स्वीकार करते समय गांधी जी और टण्डन जी की भावनाओं के अनुरूप हिन्दी की व्याख्या की गयी। हिन्दी के विकास के मूल में भारत की सामासिक संस्कृति की जो भूमिका रही है, उसके कारण ही टण्डन जी उसके प्रचार और विकास के लिए कार्य कर रहे थे और उन्होंने अपने जीवन का उसे एक अनिवार्य अंग मान लिया था। उनकी दृष्टि में सन्तों ने हिन्दी के द्वारा समन्वय की भावना को जो महत्त्व दिया है, वह बहुत बड़ी बात थी। जैसा पहले कह चुका हूँ, कबीर पर तो वे मुग्ध थे और वे उनके वचन कभी-कभी बड़ी भावुकता के साथ उद्धृत करते थे।

समिति की ओर से सन् १९५५-५६ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया गया और टण्डन जी उसके लिए वर्धा आये। इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे **श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र**, जो उस समय के मध्यप्रदेश, नागपुर और विदर्भ-सहित प्रदेश के गृहमन्त्री थे और उद्घाटक थे मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री **श्री रविशंकर शुक्ल जी**। उसमें भाग लेने के लिए भारत के सभी प्रान्तों से प्रतिनिधि आये थे। परन्तु, टण्डन जी के विरोधी पक्ष का कोई नहीं आया। परिणामतः समाधान की जो आशा रखी गयी थी, वह सिद्ध नहीं हुई।

समिति जो चाहती थी कि जब तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन काम नहीं करने लगता है, तब तक हिन्दी के विद्वान्, प्रेमी और उसमें सहानुभूति रखनेवालों का सहयोग हिन्दी को इसके द्वारा प्राप्त हो, परन्तु यह हो न सका। स्वयं टण्डन जी इसके लिए तैयार नहीं हुए। उन्हें आशा थी कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यशील हो जायगा। इसके लिए वे सरकार की सहायता माँगते रहे। आखिर, **श्री नेहरू जी** ने टण्डन जी के आग्रह और इच्छा को ध्यान में रखकर उसके लिए एक शासी-निकाय बनाकर संस्था को राष्ट्रीय महत्त्व का मान दिया, परन्तु वह भी कार्यक्षम नहीं हो सका और उच्चतम न्यायालय में वह अवैध प्रमाणित हुआ। सम्मेलन की आज भी जो चिन्तनीय स्थिति है, वह सर्वविदित है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अनेक कठिनाइयों के बावजूद, गांधी जी तथा टण्डन जी की कल्पना तथा भारत की राष्ट्रीयता तथा भावनात्मक एकता को पुष्ट करनेवाली राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य करती रही और उसमें उसे काफी सफलता भी मिली। नागालैण्ड, मिजोरम और कश्मीर जैसे प्रदेशों में भी समिति ने कार्य किया और वहाँ हिन्दी के प्रति रुचि पैदा करने तथा उनमें भारतीय भावना जागरित तथा दृढ़ करने का उसने काम किया, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

टण्डन जी चाहते थे कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ बनी रहे और उसके काम से सम्मेलन को बल मिले और फिर यह नये सिरे से काम करने लगे, परन्तु वह हो न सका। शासी-निकाय के जमाने में भी हिन्दी का यथोचित विकास न हो सका। हिन्दी-प्रदेशों ने, संविधान में जो हिन्दी की व्याख्या की है, उस दृष्टि से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। वह राजभाषा के रूप पर ही जोर देते गये और हिन्दी के विद्वानों ने केन्द्र तथा राज्यों में नौकरियों में प्रवेश का ही उसे एक साधन मान लिया। उन्होंने त्रिभाषा-सूत्र तक को न माना और हिन्दी के राष्ट्र-निर्माण-कार्य में योग देने वाले रूप के प्रति अवहेलना का भाव बनाये रखा। परिणामतः भाषा-भेद, प्रान्तीय भावनाएँ आदि की विवादास्पद स्थितियाँ सामने आयीं। अँगरेजी का प्रभुत्व जैसा-का-तैसा बना रहा। जिन राज्यों ने उत्साह में आकर हिन्दी को मैट्रिक तक अनिवार्य विषय बना दिया था, उन्हें आज विवश होकर उसके विपरीत विचार करना पड़ रहा है और हिन्दी का विरोध बढ़ता जा रहा है। विचारक, चिन्तक और राष्ट्रप्रेमी हिन्दी को इस स्थिति में लाने के लिए हिन्दीवालों को ही दोष दे रहे हैं और इसमें बहुत कुछ तथ्य भी है।

परन्तु, ऐसा भी एक समय आया कि समिति को यह सोचने को विवश होना पड़ा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ रहना उसके हित में नहीं है। उसके साथ बने रहने में समिति को भी बहुत बड़ी हानि पहुँच सकती है। फलतः, उसने अपने को उससे अलग कर लिया और वह स्वतन्त्र हो गयी। फिर भी, उसने सम्मेलन के साथ अपनेपन का सम्बन्ध यथापूर्व बनाये रखा। समिति का बोधसूत्र है : 'एक हृदय हो भारतजननी' और अपने काम से वह जनता तथा सरकार दोनों की प्रशंसा प्राप्त करने में सफल हुई है। यही नहीं, उसमें विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन करने की योग्यता है, यह सरकार ने स्वीकार किया और उसके लिए अनुमति दी। फलतः, उसके द्वारा सन् १९७५ ई० में विश्व हिन्दी सम्मेलन का भव्य आयोजन नागपुर में हुआ। समिति के द्वारा टण्डन जी की हिन्दी समाचार संस्था स्थापित करने की दीर्घकाल की इच्छा भी पूरी की गयी। कहना न होगा कि समिति द्वारा स्थापित 'समाचार-भारती' आज भी व्यवस्थित रूप से अपना काम कर रही है।

समिति का विश्वास है कि संविधान की व्याख्या के अनुसार, भारत की सामासिक संस्कृति की वाहक राष्ट्रभाषा ही भारत के राष्ट्र का निर्माण कर सकती है और राष्ट्रीय

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

एकता तथा भावनात्मक एकता का आधार बन सकती है। इसी विश्वास के फलस्वरूप समिति के प्रांगण में, प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर के समय, 'विश्व हिन्दी विद्यापीठ' की नींव डाली गयी थी और आज उसका अपना भवन भी बनकर खड़ा हो गया है। प्रसन्नता की बात है, केन्द्रीय शासन ने समिति को सन् १९८२ ई० के दिसम्बर में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन करने का काम सौंपा है। उसके द्वारा भारत की सामासिक संस्कृति का मूल सन्देश हम विश्व को दे सकेंगे। वह जिन विचारों तथा संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, उसी से भाषा का मूल्यांकन किया जा सकता है और हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति का तथा राष्ट्रीयता की भावना का प्रतिनिधित्व करने के योग्य बनाया जा सकता है। यह आज की बहुत बड़ी आवश्यकता है और उसे प्राथमिकता देनी चाहिए। टण्डन जी की जन्मशती के अवसर पर हम इसका निश्चय करें, यह हमारा कर्त्तव्य है।

राजर्षि टण्डन जन्मशती के अवसर पर हमें यदि उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करना है, तो वह केवल भाषणों तथा लेखों से ही नहीं दी जानी चाहिए, अपितु हिन्दी-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा गाँवों की आम जनता को अक्षर-ज्ञान तथा राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा नैतिक भावनाओं को बढ़ावा देनेवाला सर्वसुपाठ्य और सर्वसुगम साहित्य देकर उन्हें अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्य का भान कराना बहुत आवश्यक है। सरकार तो इस ओर ध्यान देने से रही। उसके पास न इतना समय है, न साधन और न व्यवस्था ही। इसलिए, राष्ट्रभाषा के प्रेमियों, प्रचारकों तथा कार्यकर्त्ताओं को ही, जो भारत की राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता पुष्ट करना चाहते हैं, यह करना होगा। गाँवों में लोगों से मिल-जुलकर, उनकी प्रेम-भावना को अर्जित कर सेवाभाव से यह कार्य यदि किया जायगा, तो टण्डन जी के प्रति बहुत उपयुक्त श्रद्धांजलि होगी।

△ मन्त्री राष्ट्रभाषा प्रचार समिति
वर्धा (महाराष्ट्र)

●

अपने कॉलेज-जीवन में बाबू जी ने किसी दूकान पर घी में चरबी मिलाते देखा था, इसलिए उन्हें घी से परहेज था। इसी प्रकार, पशु-हिंसा से सम्बद्ध होने के कारण चमड़े के जूते और पशु-कंकाल तथा दग्ध कोयले से स्वच्छ होने के कारण श्वेत चीनी का व्यवहार भी वे न करते थे। हृदयरोग से ग्रस्त होने के बाद तो उन्होंने नमक भी छोड़ दिया था। (संकलित)।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की प्रतिमूर्ति : राजर्षि टण्डन

श्री किशोरीरमण टण्डन

⊙ ⊙

"कुछ समय हुआ आपने मेरा फोटो माँगा था। मुझे खेद है कि मैं नहीं भेज सका। मैं अपना फोटो अपने पास नहीं रखा करता। घर में तो सभी मेरे शरीर को ही देखते हैं, फोटो को क्या आवश्यकता है? और स्नेही मित्रों को भी फोटो की क्या आवश्यकता पड़नी चाहिए? मुझे तो सन्तोष इसी में होगा कि उनके हृदय में बसूँ, जिससे वह कह सकें—

दिल के आईने में है तस्वीरे-यार,
जब जरा गर्दन झुकायी देख ली।

बाह्य तस्वीर की तो फिर कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।" यह पत्र था स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का, जिसे उन्होंने आषाढ़ ५ संवत् १९८६ को लाहौर से पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था। इस पत्र से पत्र-लेखक की जीवन-निष्ठा की झाँकी की प्रतीति मिलती है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धेय टण्डन जी बाह्य और आन्तरिक-हर रूप में, इस पत्र की भावना के अनुरूप थे। भारतीय संस्कृति ने जिन उच्चादर्शों को आत्मसात् करके अनादिकाल से जगत् का उद्‌बोधन किया, वे सब उनमें मूर्तिमान थे।

इसी प्रसंग में उन्होंने एक बार कहा था, "मैं चाहता हूँ कि मेरे पास एक पैसा भी न बचे और मेरे कफन का प्रबन्ध जनता के चन्दे से हो, तो मेरी आत्मा को विशेष शान्ति मिलेगी।" ऐसे निस्पृह, त्यागी और वीतराग थे वे। सत्य, अहिंसा, प्रेम, नैतिकता और ईमानदारी पर बल देने वाले नेता तो बहुत हैं और आज भी हैं, किन्तु राजर्षि टण्डन की तरह बिरले ही नेता हुए हैं, जिन्होंने अपने जीवन में उन सिद्धान्तों का कठोरता के साथ पालन किया हो। टण्डन जी का जीवन एक तपस्वी का जीवन था। राजर्षि की अपेक्षा उन्हें सन्त कहा जाये, तो ज्यादा उपयुक्त होगा। भोजन वे ऐसा करते थे, जो हमारे निर्धन देश के किसी भी किसान या मजदूर को मिल सकता था। दूध, दही, घी, मिष्ठान्न, चीनी, नमक आदि उन्होंने छोड़ रखे थे। युवावस्था से ही खादी अपना ली थी। अपने कपड़े खुद

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

धो लेते थे। चमड़े का बना जूता तो तभी छोड़ दिया था, जब वे हाईकोर्ट में वकालत करते थे। साबुन का उपयोग कभी किया ही नहीं। फिर भी पर-सेवापरायणता ऐसी कि अस्सी-अस्सी मेहमान आ गये हैं और उनके लिए खाने-पीने का प्रबन्ध हो रहा है।

देश भक्त ऐसे कि वकालत छोड़ दी, नाभा राज्य का दीवान पद त्याग दिया, पंजाब नेशनल बैंक की मैनेजरी से अवकाश ले लिया और आजीवन सेवाव्रत अपना लिया। जेल गये। आर्थिक परिस्थिति असह्य हो उठी। बच्चों की फीस देने की सामर्थ्य नहीं रही, तो उन्हें स्कूल से उठा लिया। एक मित्र ने उन्हें आर्थिक सहायता देनी चाही, इस पर टण्डन जी का उत्तर था कि "मदद देने की इच्छा करना मेरा अपमान है। मैं देश-सेवा का व्रत मलीन करना नहीं चाहता। समस्त परिवार का नाश भले हो जाय, फिर भी मैं लोकसेवा के विक्रय के लिए तैयार नहीं हूँ।"

१९२६ में वे लाला लाजपतराय के आग्रह से 'सर्वेण्ट्स आफ पीपुल्स सोसाइटी' में शामिल हो गये। १९३७ में सात प्रान्तों में कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाया। टण्डन जी उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष चुने गये। उस समय उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था कि "कांग्रेस का सदस्य होते हुए भी अध्यक्ष पद पर निष्पक्ष होकर काम करूँगा और यदि अल्पमत के एक भी सदस्य ने मेरे प्रति अविश्वास जाहिर किया तो मैं अपनी कुर्सी छोड़ दूँगा।" उनकी निष्पक्षता, उनका निर्णय और उनके द्वारा स्थापित परम्पराएँ हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए आदर्श रहेंगी। उनके सर्वोच्च त्याग तथा उच्च सिद्धान्तों के कारण ही उनके प्रिय जनों ने उन्हें 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। देश के प्रति उनकी सेवाओं को मान्यता देने के लिए १९६१ में देश की सर्वोच्च उपाधि 'भारतरत्न' उन्हें भारत सरकार की ओर से प्रदान की गयी—लेकिन टण्डन जी जैसे थे वैसे ही रहे—निरहंकार निर्लिप्त। टण्डन जी दो बार उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्य समिति के कई वर्षों तक सदस्य रहे। उनका राजनीतिक जीवन उस समय पराकाष्ठा को पहुँचा जब १९५० में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। यह कार्य-काल नेहरू जी से उनके तीव्र मतभेदों का समय रहा। बहुत-से संगठनात्मक एवं नीति सम्बन्धी मामलों—जैसे कार्य समिति का गठन, पाकिस्तान के प्रति भारत सरकार का रुख और समूचे देश में सरकारी भाषा के रूप में हिन्दी को अविलम्ब मान्यता देने आदि ऐसे विषय थे जिन पर नेहरू जी से उनकी पटी नहीं और उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। फिर भी उन्होंने अपने मन में किसी के प्रति जरा भी कटुता अंकुरित नहीं होने दी।

जिस किसी भी बात को टण्डन जी ने देश के हित में उचित और नैतिक समझा और माना, उसके साथ कभी उन्होंने बड़े-से-बड़े आदमी के साथ किसी भी कीमत पर समझौता नहीं किया। देश के विभाजन को उन्होंने एक बहुत बड़ी राजनीतिक गलती माना। कांग्रेस द्वारा भारत-विभाजन का प्रस्ताव पारित होने से चार-पाँच दिन पहले उन्होंने गांधी जी के सामने विभाजन के विरुद्ध अपना विरोध जोरदार शब्दों में प्रकट किया था। गांधी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी ने उनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए भी अपनी असमर्थता जाहिर की थी। इस विभाजन को टण्डन जी कांग्रेस की उच्च सत्ता का दब्बूपन मानते थे। उनकी मान्यता थी कि कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति ही साम्प्रदायिकता के विषवृक्ष के पनपने का कारण है।

हिन्दी के लिए गांधी जी से भी टक्कर

हिन्दी भाषा और आदर्शवादी राजनीतिक सम्बन्ध में टण्डन जी का जो महत्त्वपूर्ण योग रहा, वह चिरस्मरणीय रहेगा। वे सही अर्थों में दूरद्रष्टा थे। देश के अधिकांश नेताओं की जहाँ सिर्फ मुल्क की आजादी की चिन्ता थी, वहाँ टण्डन जी उससे आगे राष्ट्रभाषा और संस्कृति के उद्धार की चिन्ता में डूबे रहे। उनका सदैव कहना था कि जो देश अपने स्वतन्त्र स्वरूप को विकसित करने में असमर्थ रहता है, उसकी राजनीतिक आजादी प्रायः अधूरी रहती है। राष्ट्र के स्वतन्त्र व्यक्तित्व से उनका तात्पर्य राष्ट्र की अपनी भाषा और संस्कृति का विकास करना था।

हिन्दी और टण्डन जी तो एक प्रकार से समानार्थक थे। 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर उन्होंने अपने राजनीतिक गुरु गांधी जी से भी टक्कर लेने में जरा भी संकोच नहीं किया। यह टण्डन जी के प्रयत्नों का परिणाम था कि हिन्दी राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। हिन्दी आन्दोलन का गत पचास वर्षों का इतिहास टण्डन जी के साहित्य जीवन का इतिहास है। वैसे हिन्दी का प्रश्न किसी के लिए सरकारी भाषा का प्रश्न था, तो किसी के लिए लोकतन्त्र का प्रश्न, पर टण्डन जी के लिए वह राष्ट्र के जीवन और मरण का प्रश्न था। आधुनिक भारत में दो सबसे बड़ी संस्थाएँ स्थापित हुईं—एक कांग्रेस, तो दूसरी हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के टण्डन जी प्राण थे।

वे भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिन्दी की परिधि से बाहर नहीं सोच सकते थे। उनका विश्वास था कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में हिन्दी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है। हिन्दी के प्रति टण्डन जी की निष्ठा का प्रायः गलत अर्थ लगाया गया। उन्हें सम्प्रदायवादी तक कहा गया। उनकी इस ज्वलन्त घोषणा पर विश्वास नहीं किया गया कि "यदि मैं यह देखूँगा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्र के ऐक्य में बाधक बन रहा है, तो मैं ही सम्मेलन की ईंट-से-ईंट बजवा दूँगा।" उर्दू और फारसी के साहित्य के प्रति द्वेष की गन्ध तक उनके हृदय में नहीं थी। उल्टे वे उर्दू और फारसी साहित्य के ऊँचे प्रेमी थे। यही नहीं, उन्होंने बार-बार कहा था कि उर्दू को वे हिन्दी की एक शैली मानते हैं। हाँ, अंग्रेजी राज्य की गुलामी से भी बढ़कर अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत की गुलामी उन्हें काँटे की तरह चुभती थी। संविधान परिषद् में जब नागरी अंकों के स्थान पर रोमन अंकों को रखने का प्रस्ताव आया, तब उन्हें गहरी चोट लगी थी। उनका विश्वास था कि सन् १९६५ तक देश का सारा कार्य अंग्रेजी के बजाय हिन्दी में किया जायेगा, लेकिन उनके जाते जो स्थिति यह बन गयी कि जब तक अहिन्दी भाषा-भाषी चाहेंगे, तब तक अंग्रेजी का उपयोग बना रहेगा—इस बात का मलाल उन्हें

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अन्त तक बना रहा। उनकी अडिग आस्था थी कि सारे देश में बिना एक भाषा की मान्यता के राष्ट्र में एकता नहीं आ सकती और हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो राष्ट्रभाषा होने की सामर्थ्य रखती है, लेकिन हिन्दी का आन्दोलन इस रूप में करना चाहिए, जिससे किसी को भी कोई शिकायत न हो और यह अनुभव न हो कि हम किसी पर हिन्दी थोपना चाहते हैं।

एक स्वागत समारोह में टण्डन जी के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए नेहरू जी ने कहा था, "जो भी व्यक्ति टण्डन जी के सम्पर्क में आये, सबने कुछ-न-कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। हमने भी उनसे सीखा, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी।...बहुत सारी तस्वीरें मेरे सामने आती हैं, उनमें टण्डन जी की तस्वीर बहुत बड़ी होकर आती है। आप इत्तफाक करें या न करें, वह एक अटल खम्भे की तस्वीर है... दुनिया कितनी लड़खड़ायी, पर उनकी ओर निगाह दौड़ायी, तो देखा उनके पैर मजबूती से जमे रहे।"

अन्तिम दिनों में टण्डन जी को काफी समय तक रोगग्रस्त अवस्था में शय्या पर पड़े रहना पड़ा, लेकिन उनकी ओजस्विता और तेजस्विता में जरा भी अन्तर नहीं आया। १ जुलाई १९६२ को उनका स्वर्गवास हुआ। इससे दो दिन पूर्व तक, डॉक्टरों के मना करने पर भी, मिलने-जुलनेवालों से वे बराबर राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के बारे में चिन्ता प्रकट करते रहे।

त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति टण्डन जी सही अर्थों में ऋषियों और सन्तों की परम्परा के महामानव थे, जो जीवन भर नैतिकता और आदर्श सिद्धान्तों की मान्यता के लिए संघर्षरत रहे---टूट भले ही गये लेकिन झुके कभी नहीं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जवाहरलाल नेहरू और टण्डन जी

श्री भवानीप्रसाद गुप्त

⊙ ⊙

[जिस समय की यह घटना है उस समय मैं टण्डन जी के परिवार का सदस्य था और उन्हीं के यहाँ रहता था। टण्डन जी, पं० मोतीलाल जी तथा श्री जवाहरलाल जी की सारी बातें मेरे सामने हुई हैं। अतः यह घटना प्रामाणिक है।]

सन् १९२१ की घटना है। गांधी जी का असहयोग आन्दोलन तेजी से चल रहा था। हजारों शिक्षित, अर्द्धशिक्षित, अशिक्षित व्यक्ति इस आन्दोलन में कूद रहे थे और सैकड़ों वकील, बैरिस्टर, विद्यालयों के अध्यापक तथा विद्यार्थी अपना-अपना कार्य छोड़कर गांधी जी के इस असहयोग आन्दोलन में अपने को समर्पित कर दिया था। भारत के लाखों व्यक्तियों ने अपने अपूर्व त्याग से एकजुट होकर अंग्रेजों के शासन को हिला दिया था।

इसी बीच यकायक एक ऐसे नवयुवक का इस आन्दोलन में प्रवेश आश्चर्यजनक था। जिस परिवार ने राजा-महाराजाओं से भी ऊपर उठकर सुख-भोग किया हो, जिसके उच्च रहन-सहन की धूम देश-विदेश में मची हो, जो इलाहाबाद उच्च न्यायालय का एक महान् और प्रतिभाशाली वकील हो, जिसके विशाल आनन्द-भवन की सजावट अकथनीय हो, जिसके कपड़े विदेशों से धुलकर आते हों, जिसके भव्य भवन की सीढ़ियों पर मखमली सीटें लगी हों, जिस परिवार के पीछे संसार का सारा सुख दास बन गया हो, लक्ष्मी जिसके आगे-पीछे घूम रही हों, ऐसे सुखद परिवार के बच्चे-बच्चियों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन का क्या स्तर होगा इसका आभास सहज ही हो सकता है।

उपर्युक्त महान् सुविधाओं से सम्पन्न और और कोई नहीं वह थे पं० मोतीलाल नेहरू। कानून के क्षेत्र में उन दिनों इनका बहुत बड़ा नाम था और यह उच्च श्रेणी के महान् वकीलों में थे।

पं० जवाहरलाल नेहरू इनके एकमात्र पुत्र थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा विदेशों में हुई थी। अपने पुत्र को उच्च शिक्षा प्राप्त कराने में पं० मोतीलाल नेहरू ने कोई कसर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उठा नहीं रखी। पिता का यह स्वप्न स्वाभाविक था कि मेरा एकमात्र पुत्र जवाहर मुझसे भी बड़ा बने।

बैरिस्टर जवाहरलाल नेहरू

नवयुवक जवाहरलाल बैरिस्टर बन कर इलाहाबाद आ गये। बैरिस्टरी प्रारंभ कर दी। अपने पिता के सहयोग से अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण यह सफलता की ओर बढ़े। कुछ दिनों तक यह बैरिस्टरी करते रहे। माता स्वरूपरानी नेहरू और पिता की जो लालसाएँ थीं उसकी पूर्ति के पथ पर जवाहरलाल को अग्रसर होते देख इन लोगों के आनन्द का ठिकाना न रहा। आनंद-भवन में जवाहरलाल जी के आ जाने पर सारे परिवार का आनन्द द्विगुण और विशेष आनन्दमय हो गया।

असहयोग आन्दोलन

पं० मोतीलाल नेहरू तथा उनके परिवार का सुख-स्वप्न अधिक दिन टिक न सका। आँधी का एक ऐसा बृहद् झोंका आया जिसमें सारा स्वप्न समाप्त हो गया। वह झोंका था देशपूज्य महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन।

गांधी जी ने अंग्रेजों के कुशासन को छिन्न-भिन्न करने के लिए जनता को एक सूत्र में बँधने का आवाहन करते हुए असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया। इस आन्दोलन में समस्त वर्ग के लोगों ने सहयोग दिया। इस आन्दोलन में अदालतों तथा स्कूल-कालेजों का बायकाट प्रमुख था।

असहयोग आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल जी केवल बैरिस्टर ही नहीं थे। देश की परिस्थितियों की ओर भी उनकी निगाह थी। भारत की दुर्दशा का चित्र भी उनके सामने था। भारत में अंग्रेजों के अत्याचार से वह अनभिज्ञ नहीं थे। गांधी जी के कार्यों तथा विचारों का वह गहराई से अध्ययन करते थे। कभी-कभी वह झुँझला उठते और कहते "अंग्रेजों को हमारे देश पर राज्य करने का क्या हक है।" उनके हृदय में परिवर्तन के लक्षण आने लगे। बैरिस्टरी से रुचि कम होने लगी। ऐसी स्थिति की झलक से माता-पिता चिन्तित होने लगे। आखिर उनसे रहा न गया और बिना माता-पिता की आज्ञा के वह असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। बैरिस्टरी तथा अपने सुख को तिलांजलि देकर आन्दोलन के कार्य में जुट गये। पं० मोतीलाल नेहरू तथा स्वरूपरानी नेहरू के दुःखों का ठिकाना न रहा। ये लोग रात-दिन चिन्ता में निमग्न रहने लगे।

पुरुषोत्तमदास टण्डन से सम्पर्क

उन दिनों टण्डन जी उत्तर प्रदेश के एकमात्र नेता थे। उनकी क्रियाशीलता की गहरी छाप जनता तथा आन्दोलन के नवयुवक कार्यकर्त्ताओं पर थी। ईमानदारी तथा त्यागपूर्ण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कार्यों के कारण वह सभी के पूज्य थे। उनके आवाहन में जादू का-सा असर था। असहयोग आन्दोलन को इन्होंने अपने क्रियात्मक कार्यों से सफलतापूर्वक चलाया।

श्री जवाहरलाल नेहरू राजनीतिक दृष्टि से टण्डन जी के संपर्क में नहीं थे। जब वह आन्दोलन में कार्य करने के लिए आये तो पहले कांग्रेस कमेटी तथा उनके कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क स्थापित किया। अनेक कार्यकर्त्ताओं से उनका परिचय हुआ। सब मिलकर छोटा-मोटा कार्य करने लगे। अन्यान्य कार्यकर्त्ताओं के साथ उन्हें टण्डन जी के यहाँ आने का मौका मिला। कांग्रेस कमेटी में भी वह टण्डन जी का दर्शन करते रहते थे। जब टण्डन जी को मालूम हुआ कि जवाहरलाल की दिलचस्पी इस कार्य की ओर है तो वे बड़े प्रसन्न हुए। जवाहरलाल भी निकट आये और टण्डन जी के मार्ग-दर्शन में कार्य करते रहे। यह जानकर कि जवाहरलाल एक ठोस कार्यकर्त्ता हैं, टण्डन जी उनके ऊपर जिम्मेदारी का भी कार्य सौंपने लगे। जवाहरलाल जी की टण्डन जी में बहुत श्रद्धा थी और उनके दिये हुए कार्यों को वह पूर्ण सफलता के साथ करते रहते थे। यदि काम में कमी रह जाती तो कई दिनों तक वह टण्डन जी के सामने तक नहीं आते थे। काम पूरा हो जाने पर ही मिलते थे। इसी तरह वह असहयोग आन्दोलन में सच्ची लगन से काम करते रहे। टण्डन जी से उनका सम्पर्क दिन-पर-दिन बढ़ने लगा।

माता-पिता की बेचैनी

जवाहरलाल जी की दिनचर्या निम्न प्रकार थी—वह सुबह आनंद-भवन में सब कामों से निवृत्त होकर कांग्रेस कमेटी चले आते थे और सारा दिन आन्दोलन का आवश्यक कार्य देखते, टण्डन जी से मिलकर भविष्य के कार्य की रूपरेखा बनाते। खाने-पीने की इनको कोई चिन्ता नहीं थी और न आनंद भवन जाने-आने का कोई निश्चित समय। कभी-कभी वह काम के सिलसिले में देहात भी जाते थे, अन्य कार्यकर्त्ताओं के साथ। अक्सर रात्रि को देहात में रह जाना भी पड़ता था। वहाँ मटर, चने और जौ की रोटियाँ, साग-पात खाकर अपने साथियों के साथ प्रसन्न रहते थे। देहात वाले भी इन लोगों के त्याग और कष्ट को देखकर दुःखी तो होते थे किन्तु ऐसे मेहमानों के स्वागत में अपना सौभाग्य समझते थे। उस समय इनका दिल और उछल पड़ता था जब उन्हें यह मालूम होता था कि ये लोग हम ग्रामीणों के लिए ही दुःख सह रहे हैं। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में जवाहरलाल जी की अच्छी छाप जम गयी थी। सब इनसे सहयोग पाते थे हर प्रकार के दुःख-सुख में।

जवाहरलाल जी के इस नित्य कार्यक्रम से और कभी-कभी दो-दो तीन-तीन दिन तक आनंद-भवन से अनुपस्थित होने पर पिता पं० मोतीलाल नेहरू तथा माता स्वरूपरानी नेहरू अत्यन्त दुःखी रहती थीं। अपने कार्य के आगे अपने घर के लोगों से जवाहरलाल जी बहुत कम सम्पर्क रखते थे। यह जानते हुये भी कि मेरे माता-पिता मेरे कामों से संतुष्ट नहीं रहते और खिन्न तथा दुःखी रहते हैं फिर भी वह इस विषय में उन लोगों से कोई विशेष बात नहीं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करते थे। उधर माता-पिता की बेचैनी उन्हें विह्वल बनाये जा रही थी किन्तु स्नेह और ममतावश वह जवाहरलाल जी से कोई ऐसी बात नहीं कहना चाहते थे जिससे कि उन्हें दुःख पहुँचे। स्थिति यों ही चलती रही। माता-पिता का आंतरिक दुःख असह्य हो गया। ये लोग अपने एकमात्र पुत्र जवाहर को किसी प्रकार उस मार्ग से हटाने का उपाय सोचने लगे। अपने अभिन्न हृदय मित्रों, रिश्तेदारों आदि को जवाहरलाल जी के पास भेजा और इन लोगों ने जाकर उनसे कहा कि तुम्हारे माता-पिता बहुत दुःखी हैं और कहते हैं कि तुम अपने भविष्य को चौपट कर रहे हो और सुख-समृद्धि में लात मार रहे हो। अभी तुम्हारे खेलने-खाने और आराम करने का समय है, इसके बाद जब समय आये तो देश की सेवा करना। अभी तो बहुत बड़ी जिन्दगी है। गांधी जी, टण्डन जी ये लोग बुढ़ाई के आगमन पर देश-सेवा में लगे हैं। तुम्हारी उम्र देश-सेवा लायक नहीं है। इस प्रकार की बातें कहकर लोगों ने समझाया किन्तु जवाहरलाल जी पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। इस तरह समझानेवालों को वह झुँझला कर जवाब भी दे देते थे कि "क्या मैं कोई बुरा काम कर रहा हूँ।" किसी-किसी से कहते थे कि देश की जनता कष्ट सहे और मैं सुख भोगूँ। इन उत्तरों से निराश हो लोग चले जाते थे। माता-पिता का लोगों द्वारा इस प्रकार का संदेश भेजना जवाहरलाल जी को और बुरा लगता था।

टण्डन जी तथा पं० मोतीलाल नेहरू

एक दिन सुबह पं० मोतीलाल नेहरू जानसेनगंज स्थित टण्डन जी के मकान पर आये। बिना किसी पूर्व सूचना के नेहरू जी के आगमन पर टण्डन जी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने आदर सहित, ऑफिस में कुर्सी पर बैठाने के साथ कहा कि आपने यकायक कैसे कष्ट किया, मुझे ही घर पर बुलवा लिये होते। तुरंत नेहरू जी ने कहा भीख माँगने वाले को दूसरे के घर जाना ही पड़ता है। टण्डन जी ने कहा आप यह कैसी बातें कर रहे हैं। उन्होंने पुनः कहा मैं ठीक कह रहा हूँ, आज मैं तुमसे भीख माँगने आया हूँ। लज्जित स्वर में टण्डन जी ने कहा मैं आपको भीख देने लायक हूँ? आपके देने लायक मेरे पास है क्या? उन्होंने झट कहा तुम देने लायक हो। मैं अपने 'जवाहर' की तुमसे भीख माँगने आया हूँ। मैं उनके बिना बहुत दुःखी हूँ और स्वरूपरानी उसके बिना विह्वल हो रही हैं। उन्होंने ही तुम्हारे पास मुझे भेजा है और कहा है कि 'जवाहर' के ऊपर टण्डन जी का पूरा अधिकार है। वह चाहेंगे तो 'जवाहर' मेरे घर आ जायगा। वह उनकी आज्ञा नहीं टालेगा। यह कहते हुए उनकी आँखें भर आयीं।

टण्डन जी पं० मोतीलाल नेहरू की बातें सुनकर आश्चर्यचकित हो गये और बोले मुझे साफ-साफ बताइये क्या बात है, मैं इस संबंध में विशेष कुछ नहीं जानता। सिर्फ इतना ही जानता हूँ कि वह कांग्रेस में दिलचस्पी के साथ कार्य करता है और कार्य में मुझसे परामर्श भी लेता रहता है। इसके बाद नेहरू जी ने जवाहरलाल के संबंध में सारी बातें बतायीं और अपने लोगों के प्रति उसकी उपेक्षा का भी प्रदर्शन किया, और फिर कारुणिक स्वर में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बोले, टण्डन जी! जवाहर के बिना हम लोग परेशान हैं, उसको मुझे दे दो, उसका जीवन बर्बाद होने से बचा दो। उस समय टण्डन जी के चेहरे पर क्रोध, विस्मय और उदारता का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलक रहा था। उन्होंने अपने को संयमित करते हुए बड़ी विनम्रता से पं० मोतीलाल नेहरू से कहा---जवाहर आपका पुत्र है, उस पर आपका पूरा अधिकार है, माता-पिता की आज्ञा मानना उसका पहला कर्त्तव्य है, पहले माता-पिता-परिवार की सेवा पीछे अन्य सेवा। जो अपनी सेवा से छोटे-से परिवार को संतुष्ट नहीं कर सकता वह इतने बड़े देश को अपनी सेवा से कैसे संतुष्ट करेगा। पं० नेहरू के तमतमाते दुःखी चेहरे पर उपर्युक्त ठण्डे वाक्यों का छींटा देते हुए बोले---मैं नहीं जानता था कि जवाहर आप लोगों की आज्ञा के बिना राजनीति में प्रवेश किया है, और इसके कारण आप लोग इतने दुःखी हैं। मैं उसे अभी बुलाकर समझाता हूँ और आप लोगों के अनुशासन में रहने की उसे सलाह देता हूँ।

जवाहरलाल का आगमन

टण्डन जी ने एक व्यक्ति भेजकर कांग्रेस कमेटी से जवाहरलाल को बुलाया। कमरे में घुसते ही उन्होंने अपने पिता को बैठे पाया। उनका अभिवादन कर मेज के पास खड़े हो गये। टण्डन जी ने कुर्सी पर बैठ जाने का इशारा किया। फिर टण्डन जी ने बड़े सरल भाव से जवाहरलाल जी को समझाया और कहा कि मुझे यह नहीं मालूम कि तुम अपने माता-पिता से असहयोग करके कांग्रेस में कार्य कर रहे हो। जिस पिता ने तुम्हें योग्य बनाने में इतना महान् सहयोग दिया है उसकी आज्ञा से चलना तुम्हारा प्रथम कर्त्तव्य है। यदि तुम्हें देश-सेवा में प्रेम है तो माता-पिता की आज्ञानुसार चलते हुए आंशिक रूप से तुम देश-सेवा का कुछ कार्य कर सकते हो। सेवा-कार्य करने के कई तरीके हैं। तुम्हारे महान् और विद्वान् पिता तुम्हें इसमें स्वयं सलाह दे सकते हैं। उनकी इच्छा है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुम्हें तैयार किया गया है उसकी ओर प्रथम ध्यान दो। उस काम को करते हुए भी तुम देश-सेवा कर सकते हो। अपने सुख को एकदम तिलांजलि देकर, अपने पहले से निर्मित विचारों को तजकर एकदम उस रास्ते से अलग हो जाना तुम्हारे माता-पिता को पसंद नहीं है। ये लोग तुम्हारा भौतिक सुख देखना चाहते हैं। मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि तुम पिता जी के साथ घर जाओ और इनके अनुशासन में रहकर अपने जीवन को आदर्श बनाओ।

टण्डन जी की इन बातों से जवाहरलाल का चेहरा तमतमा उठा। ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी इस सलाह का उनके ऊपर कुछ असर नहीं हुआ। वह झट उठे और बिना किसी से कुछ कहे-सुने कमरे से बाहर हो गये। मालूम हुआ कि सीढ़ी से उतर कर वह कहीं चले गये। जवाहर के चले जाने के बाद टण्डन जी तथा नेहरू एक-दूसरे को कारुणिक भाव से देखते रहे। निस्तब्धता तोड़ते हुए टण्डन जी ने पं० मोतीलाल नेहरू से कहा कि मैं उसे बुलाकर फिर समझाऊँगा और तीन-चार दिन में आपसे मिलकर बताऊँगा। इतना परेशान होने की आवश्यकता नहीं है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी का प्रयत्न

दूसरे दिन टण्डन जी ने जवाहरलाल को पुनः बुलवाया किन्तु पता नहीं चला कि वह कहाँ हैं। दूसरे, तीसरे दिन भी कुछ पता नहीं लगा। वह कांग्रेस ऑफिस भी नहीं गये और न तीन दिन से आनंद भवन ही गये। तीन दिन से आनंद-भवन न आने से माता-पिता को अजीब बेचैनी हुई। वहाँ से सूचना आयी कि जवाहर तीन दिन से घर नहीं आया है।

इधर टण्डन जी को घबराहट का भी ठिकाना नहीं था। बहुत पता करने पर मालूम हुआ कि जवाहरलाल कुछ कार्यकर्त्ताओं को लेकर आज तीन दिन हुए ग्रामीण क्षेत्र में काम करने गये हैं। वह तीसरे दिन शाम को कांग्रेस कमेटी में आये। वहाँ उन्हें पता चला कि टण्डन जी आपको कई दिन से बुला रहे हैं। वह उसी समय टण्डन जी के घर पर आकर उनसे मिले।

टण्डन जी ने जवाहरलाल जी को पुनः समझाया और माता-पिता को संतुष्ट करने के लिए आनंद-भवन जाने को कहा। जवाहरलाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि बाबू जी, मैं कौन-सा बुरा काम कर रहा हूँ जिसके कारण वे लोग असंतुष्ट हैं। देश-सेवा करना क्या पाप है? वे लोग मुझे सुख-भोग की ओर ले जाना चाहते हैं, उसके लिए धन पैदा करने का प्रोत्साहन देते हैं। मैं न तो सुख-भोग चाहता हूँ और न पैसा पैदा करने की मेरी इच्छा है। देश को गरीबी और अंग्रेजों द्वारा देश का शोषण मुझसे देखा नहीं जा रहा है। मेरी रुचि जिस ओर है मैं वही करूँगा चाहे मुझे कितना ही कष्ट क्यों न हो। बाबू जी! आप मुझ पर जोर न डालिए, अपनी तरह मुझे भी चलने दीजिए। यदि माता-पिता मुझे इस काम से अलग करने पर तुल जायँगे तो मैं आनंद-भवन जाना एकदम बन्द कर दूँगा। टण्डन जी विवश हो चुप रह गये। टण्डन जी ने आग्रह करके भोजन कराया और रात यहीं रहने को कहा लेकिन वह कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में रहने के लिए चले गये।

पं० मोतीलाल नेहरू का पुनः पदार्पण

चौथे दिन सुबह पं० मोतीलाल जी पुनः टण्डन जी के मकान पर पहुँच गये। आदर सहित बैठाते हुए टण्डन जी ने कहा—मैं तो आज आनंद भवन आने को था लेकिन आपने पुनः कष्ट कर ही दिया। नेहरू जी ने कहा तुमने तीन-चार दिन में मिलने को कहा था। आज चौथा दिन है, मुझे आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करनी चाहिये थी लेकिन लगातार तीन दिन से जवाहरलाल के आनंद-भवन न आने से सबको बड़ी चिन्ता हो गयी है और तरह-तरह के विचार हम लोगों के दिल में पैदा हो रहे हैं। हम लोग बहुत परेशान और चिन्तित हैं।

टण्डन जी ने कहा, ३ दिन से जवाहरलाल का पता नहीं था। मेरे बहुत खोज कराने पर पता चला कि वह कुछ कार्यकर्त्ताओं को लेकर ग्रामवासियों में चला गया है। मैंने कांग्रेस

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के दफ्तर में कहलवा दिया था कि जवाहरलाल जैसे ही आवें मेरे पास भेज देना। कल शाम को वह मेरे पास आया। मैंने उसे काफी देर तक समझाया और माता-पिता के अनुशासन में रहकर उनकी इच्छानुसार चलने की उसे प्रेरणा दी और आनंद-भवन भेजने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु उसने मुझसे स्पष्ट कहा कि बाबू जी! "मैं कौन-सा बुरा काम कर रहा हूँ जिसके कारण मेरे माता-पिता और परिवार के लोग असंतुष्ट हैं। देश-सेवा करना क्या पाप है? वे लोग मुझे सुख-भोग की ओर ले जाना चाहते हैं, उसके लिए धन पैदा करने का प्रोत्साहन देते हैं। मैं न तो सुख-भोग चाहता हूँ और न पैसा पैदा करने की मेरी इच्छा है। देश की गरीबी और अंग्रेजों द्वारा देश का शोषण मुझसे देखा नहीं जा रहा है। मेरी रुचि जिस ओर है मैं वही करूँगा, चाहे मुझे कितना ही कष्ट क्यों न हो। बाबू जी, आप मुझ पर जोर न डालिये, अपनी तरह मुझे भी चलने दीजिये। यदि माता-पिता मुझे इस काम से अलग करने पर तुल जायँगे तो मैं आनंद-भवन जाना एकदम बन्द कर दूँगा।" उसकी इस प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा से मैं भी विवश हो गया हूँ। समस्या कठिन है, अब आप सोचिये, क्या करना उचित है।

विह्वल और निराश पं० मोतीलाल जी

पुत्र की ऐसी प्रतिज्ञा से पं० मोतीलाल जी विह्वल हो उठे और निराश हो कहने लगे—इस प्रकार जवाहर का वियोग हम लोगों की शक्ति के बाहर है। वह मेरा एकमात्र पुत्र है। उसकी ममता हम लोगों के एक-एक रोम में समायी हुई है। वह हम लोगों के लिए अनमोल रत्न है। उसके सुख-भोग की चिन्ता मुझे अवश्य है। उसके दर-दर भटकने और कष्ट उठाने से हम लोगों को बहुत ही तकलीफ होती है। जिस प्रकार राजकुमार की तरह बचपन से लेकर अब तक मैंने उसे सुख से पाला, पोसा, पढ़ाया, लिखाया, योग्य बनाया, वह दिन भुलाने से भी भूल नहीं सकते, बड़ी-बड़ी लालसाएँ मन में थीं वह सब काफूर हो गयीं। अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये। कितने ही कठिन मामलों को सुलझाया किन्तु इसमें मेरा दिमाग काम नहीं कर रहा है, तुमसे बहुत आशा थी कि जवाहर तुम्हारे कब्जे में है। वह मुझे जरूर मिल जायगा लेकिन अब वह भी आशा नहीं है। तुम्हीं बताओ पुरसोतम, मैं क्या करूँ। जवाहर के बिना हमारा सुख-भोग वृथा है। हम लोगों के प्रति उसकी ममता कहाँ चली गयी। किसने उसके ऊपर जादू किया। बताओ टण्डन, बोलो मैं कैसे क्या करूँ। मुझे कैसे शान्ति मिले। जवाहर के बिना मुझे शान्ति नहीं। मुझे जवाहर चाहिये। आवेश में बोलते-बोलते नेहरू जी एकदम चुप हो गये।

टण्डन जी की प्रेरणा और प्रभाव

नेहरू जी के एकदम चुप होने पर टण्डन जी ने मौन भंग किया और बड़े ही विनम्र शब्दों में पं० मोतीलाल जी से कहा—मैं आपके अंदरूनी भावनाओं को खूब समझ रहा हूँ। पुत्र

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के प्रति पिता की ममता मेरे हृदय को पिघला रही है। आपके दुःख में दुःखी हूँ। पिता-पुत्र का विछोह न हो यह मैं हृदय से चाहता हूँ। आपको शान्ति के लिए मेरे मन में एक प्रेरणा उठती है, यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपके सामने रखूँ। नाराज़ न हों तो मैं अपना सुझाव दे सकता हूँ। आपको शान्ति के लिए इस समय इससे बढ़कर अन्य कोई सुझाव मुझे नहीं सूझता। नेहरू जी ने बड़ी उत्सुकता से टण्डन जी से कहा—आप वह सुझाव मुझे अवश्य दीजिये। अपनी शान्ति के लिए मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। टण्डन जी नेहरू जी की ओर मुखातिब होकर कहने लगे—आपने तथा आपके परिवार ने अपने जीवन में जो सुख-भोग किया वह विरले ही धनी-मानी तथा राजाओं-महाराजाओं ने किया होगा। नाम कमाने के साथ ही आपने पर्याप्त धन भी कमाया। आपके रहन-सहन और विलासिता की कहानी देश-विदेश में फैली हुई है। ऐसा कोई सुख नहीं रह गया है जिसे आपने न भोगा हो। मेरे कहने का आशय यह है कि आपके जीवन की सारी लालसाएँ पूरी हो चुकी हैं। सुख-भोग से आपका पेट भर चुका है। अब आप वह काम कीजिये जिससे आपका जवाहर आपको मिल जाय। मिल ही न जाय बल्कि आपका आज्ञाकारी भी बन जाय।

हाँ, टण्डन जी मैं क्या करूँ? बताइये।

आपको मेरी प्रेरणा है और सुझाव है कि आप भी राजनीति में आ जाइये। आपके महान् व्यक्तित्व और महान् योग्यता से देश को अत्यन्त लाभ होगा। जिस तरह की ख्याति अभी तक आपको मिल चुकी है उससे भिन्न और बहुत ऊँची ख्याति आपको मिलेगी। देश की त्रस्त जनता आपके प्रयत्नों से सुखी होगी। देश के अनेक लाड़ले बेटे आप पर निछावर होंगे। आपका जवाहर स्वयं आकर आपकी छाती से लिपट जायगा, बिना कहे आपका आज्ञाकारी बन जायगा। जवाहर और मोती का प्रयत्न भारत के स्वतंत्रता की नींव को मजबूत करेगा। मेरी प्रार्थना है कि आप भौतिक सुखों को लात मारकर देश-सेवा का सुख-भोग कीजिये। देश-सेवा मनुष्य को अमर बनाती है। मेरी प्रेरणा है कि आप अपने जवाहर के लिए ही सही, इसमें देर न कीजिये और शान्ति की राह पर आ जाइये।

पं० मोतीलाल नेहरू एकटक टण्डन जी की बातें सुनते रहे। जैसे ही टण्डन जी ने अपनी बात समाप्त की वैसे ही नेहरू जी बिना कोई जवाब दिये एकदम खड़े हो गये। अभिवादन के बाद नीचे उतर कर कार द्वारा आनंद-भवन चले गये।

वकालत छोड़कर राजनीति में प्रवेश

तीन-चार दिन के बाद 'लीडर' और 'इण्डिपेण्डेण्ट' पत्र में मोटे-मोटे कालमों में छपा कि इलाहाबाद हाईकोर्ट के प्रख्यात वकील पं० मोतीलाल नेहरू ने वकालत छोड़ दी और राजनीति में प्रवेश किया। अब वह अपने बँगले पर ही मुकदमों में केवल राय देंगे। कोर्ट नहीं जायँगे। हवा के समान भारत में यह सूचना फैल गयी। सूचना पढ़ते ही जवाहरलाल जी तुरंत टण्डन जी के पास आये और आश्चर्यचकित होकर कहा—बाबू जी, आपने क्या जादू कर दिया। टण्डन जी ने जवाहरलाल से कहा, तुरंत मेरे साथ आनंद-भवन चलो। यह दोनों आनंद-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भवन गये। माता-पिता ने जवाहर को छाती से चिपका लिया। सबकी आँखों में खुशी के आँसू आ गये। आनंद-भवन का वायुमण्डल उस समय आनंदमय हो गया।

टण्डन जी का प्रभाव तथा प्रेरणा

इस तरह टण्डन जी के प्रभाव और व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपना सुख-भोग त्यागकर श्री जवाहरलाल नेहरू ने असहयोग आन्दोलन में शरीक होकर देश-सेवा का व्रत लिया और टण्डन जी के अकाट्य सुझावों और उनकी प्रेरणा से ही पं० मोतीलाल नेहरू ने भी राजनीति में प्रवेश किया।

त्यागवीर टण्डन जी का प्रभावशाली तथा आकर्षक व्यक्तित्व सदा याद रहेगा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन-पुण्यस्मरण

श्री रामखेलावन मिश्र

⊙ ⊙

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन भारत के महापुरुषों में विशिष्ट स्थान रखते थे। उनके जैसा निःस्वार्थ, परोपकार-रत एवं महान् समाज-सेवी व्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है।

पूज्य बाबू जी के दर्शन मैंने बहुत छुटपन में किये थे। सन् १९३५ में पूज्य बाबू जी, डॉ० कैलाशनाथ जी काटजू तथा स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर जी शास्त्री बहुधा हमारे गाँव आया करते थे। हमारा गाँव शुक्लपुर, मेजा तहसील में प्रायः एक सौ पचीस घरों की एक छोटी-सी बस्ती है। वहाँ आप लोगों ने ग्राम-समिति बनायी। ग्रामोत्थान-सम्बन्धी कार्यों के प्रसार हेतु एक मकान 'स्वराज्य भवन' बनवाया गया जिसके लिए स्वयं श्री लालबहादुर जी ने आर्थिक सहायता दी थी। 'स्वराज्य भवन' में प्रति रविवार को कार्यकर्ताओं की बैठकें होती थीं जिनमें ग्रामोन्नति की योजनाओं पर विमर्श-परामर्श होते थे। वाचनालय एवं चिकित्सालय भी चलाया जाता था। गाँवों के पारस्परिक झगड़े और मतभेद मिटाये जाते थे।

पीछे चल कर १९४१ में हिन्दी विद्यापीठ में मैं स्थायी रूप से रहने लगा और क्रमशः बाबू जी के निकट सम्पर्क में आया। पूज्य बाबू जी के सिद्धान्तों में बहुत गहराई तक उतर तो नहीं सका, किन्तु समय-समय पर उनके आदेशों-उपदेशों को सुनने और ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे अपनी जीवन-धारा भी किसी सीमा तक प्रभावित हुई। अधुना अपने स्मृति-पटल से कुछ अमिट रेखाओं को लिपिबद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ जो उनके सम्पर्क में अंकित हुई।

उन दिनों पूज्य बाबू जी उत्तर प्रदेश विधान-सभा के 'स्पीकर' थे। उन्होंने बाजार से गुड़ मँगाया। 'कण्ट्रोल' दर से अधिक दाम देना पड़ा। बाबू जी ने तत्कालीन राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल जी मुन्शी को फोन किया कि पुलिस भेज कर मुझे गिरफ्तार कराइए। मैंने कानून की अवहेलना की है। राज्यपाल ने कहा, "हमारे घोड़ों के लिए जो दाना आता है, वह भी कण्ट्रोल के नियमों के विपरीत ही आता है।" बाबू जी ने उनसे कहा, "फिर ऐसे नियम क्यों रखे जाते हैं जिनका पालन नहीं हो पाता। जब हम लोगों की यह अवस्था है तो सामान्य-जनों की क्या दशा होगी। ये नैतिक-स्तर के गिरावट के साधन हैं।"

एक बार मुझे बताया था कि लड़कपन में उन्होंने अपने कमरे में एक वाक्य लिख रखा था—"जीना है तो मरना सीखो।" उन्होंने यह भी कहा था कि जीवन में जब कभी उनके

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

समक्ष इस प्रकार की समस्या आयी कि दो में से कौन-सा मार्ग अपनाया जाय तो उन्होंने सदैव उस मार्ग के अनुसरण का यत्न किया जिसे साधारणतः लोग ग्रहण नहीं करते। अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका त्यागपत्र इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। उनका वह त्यागपत्र एक ऐतिहासिक दास्तावेज है। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने उनके त्यागपत्र पर एक भावपूर्ण पत्र लिखा था जिसमें भगवान् रामचन्द्र जी के उस स्वरूप की तुलना की थी जिसमें तुलसीदास जी ने राम-वन-गमन की स्थिति पर "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः" इत्यादि लिखकर अपूर्व भावव्यञ्जना की है।

बाबू जी का यह क्रम था कि किसी कार्य के निमित्त पृथक् की हुई धनराशि में यदि उसके सम्पूर्ण का उपयोग न हो सके तो शेष धन वापस न लेकर किसी पोटली में बाँध कर रख छोड़ते थे। उनके कुछ नौकरों ने ऐसी चीजें हटा दीं। बाबू जी ने ऐसे ही एक नौकर को जिसने दस रुपये लिये थे उतनी रकम और देकर कार्य से पृथक् कर दिया।

हैदराबाद में जब पुनः नेहरू जी कांग्रेस के अध्यक्ष हुए तो बाबू जी ने उनसे कहा कि "तुमने यह क्रम तोड़ा है। तुम्हें विधान के अनुसार प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों से नाम माँगना उचित था।"

कुछ लोग धन से ही मनुष्य जीवन की महत्ता का अनुमान लगाते हैं। यह सच है, कि संसार में सुखमय जीवन व्यतीत करने में धन सहायक होता है, किन्तु मनुष्यता के नैतिक मूल्यों की बलि देकर धन प्राप्त करना आज की समस्याओं में सबसे जटिल समस्या है, और मनुष्य का सबसे बड़ा पतन भी।

आचार्य विनोबा के शब्दों में राजर्षि टण्डन ने जीवन में जिन नैतिक मूल्यों को परख कर स्थिर किया उन पर स्थिर रहने में उन्होंने बड़े-से-बड़े लाभ को ठुकराने में हिचक न दिखायी।

कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुआठी हाथ।
जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।

संत कबीर के उक्त कथन को चरितार्थ करने का यत्न उन्होंने जीवन भर किया था। सन् १९५३ में पिछड़ा वर्ग-आयोग का चेयरमैन बनाने के लिए भारत सरकार की ओर से स्व० श्री बलवन्तराम मेहता, स्व० लाला अचिन्तराम और स्वर्गीय लालबहादुर जी शास्त्री कई दिनों तक दिल्ली में टेलिग्राफ लेन के उनके निवास-स्थान पर आते थे। कई घंटे तक बातें होतीं किन्तु अन्त में बाबू जी ने उसे अस्वीकार ही कर दिया।

वे गम्भीर प्रकृति के सत्पुरुष थे। गम्भीरता से मनन कर अपना विचार व्यक्त करते थे। साधारण जन के विपरीत, उनका मनोरंजन अश्लीलता और वीभत्सता से दूर होता था।

सन् '५३ में बाबू जी के सबसे छोटे पुत्र का विवाह लखनऊ में होने जा रहा था। उन दिनों बाबू जी लोकसभा के सदस्य थे और नियमानुसार उन्हें सम्पूर्ण भारत में प्रथम श्रेणी के रेल डिब्बे में बिना किराया दिये यात्रा करने की सुविधा प्राप्त थी। किन्तु उन्होंने भी हम सबों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के साथ तीसरे दरजे का टिकट लेकर यात्रा की। जाड़े का दिन होने से सबके ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों के बण्डल ठेलों द्वारा घर से नाम लिखकर स्टेशन भेज दिये गये थे। नियत समय पर बाबू जी के साथ हम सब स्टेशन पहुँचे। यात्रा रात की थी अतः कपड़ों के बण्डल ऊपर-नीचे सोने की दृष्टि से रख दिये गये थे। मैंने देखा कि मेरे नाम की चिट पर आरम्भ में 'स्वर्गीय' जोड़ दिया गया है, जिसे देखकर सभी लोग हँस रहे हैं। बाबू जी ने हँस कर कहा—"स्वर्गीय का अर्थ है स्वर्ग से आया हुआ। बाकी सब पृथ्वीवासी हैं। यही स्वर्ग से आकर बारात में सम्मिलित हुए हैं।"

हिन्दी-विद्यापीठ के उपसभापति इञ्जीनियर साहब के घर पर एक दिन बाबू जी टहल कर वापस होते समय पहुँचे और उनसे पूछा कि—"सीमेण्ट वहाँ से अपने काम के लिए कैसे मँगा लिया?" इञ्जीनियर साहब ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। उन्हें विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने इसके लिए इञ्जीनियर साहब को सचेत किया। इञ्जीनियर साहब चुपचाप उनकी बात सुनते रहे। उनके चेहरे से बाबू जी को ऐसा लगा कि वह ज्यादती कर रहे हैं। वापस आकर उन्होंने पुनः सम्मेलन में छानबीन की। मालूम हुआ कि सीमेण्ट इञ्जीनियर साहब के कहने पर स्टाक से सम्मेलन के काम के लिए दी गयी है। बाबू जी बहुत दुःखी हुए और जाकर इञ्जीनियर साहब से कहा—"मेरी भूल ने कल तुम्हारा दिल दुखाया। वास्तव में लिखने वाले की असावधानी से मैंने अपराध किया। उसे क्षमा करो।"

श्रद्धेय बाबू जी उन दिनों लोकसभा के सदस्य थे। दिल्ली में वे टेलिग्राफ लेन के एक भवन में रहा करते थे। जितने दिनों वहाँ रहे, उनके साथ मेरा भी राशन-कार्ड बन कर आ जाता और लोकसभा के सत्र समाप्त होने पर उसे रद्द कर दिया जाता। उसी खाद्य-सामग्री से हमारा पूरा काम चलता। बाबू जी मंगलवार को अन्न नहीं ग्रहण करते और दिल्ली में जितने दिन रहे वे केवल एक वक्त ही भोजन करते थे।

आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि 'कण्ट्रोल' की दूकान से लाया गया जौ मामूली ढंग से भून लिया जाता था और उसी को खल में कूट कर भूसी अलग किये बिना कुछ देर पानी में भिगो कर बाबू जी उसी का जलपान करके लोकसभा जाया करते थे। मुझे भी खाने के लिए कहते थे किन्तु मैंने निवेदन किया कि "बाबू जी, पानी में इसकी भूसियाँ देख कर ही मन खाने को नहीं करता—यह भूसियाँ गले को खरोंचती हुई जायेंगी। हम लोगों के घर जौ की भूसी उतार कर ही पीसते हैं और रोटी बनाने के पूर्व उसे चलनी से चाल लेते हैं।" उन्होंने कहा, "इससे इसका मुख्य तत्त्व निकल जाता है।"

आज भी सोचता हूँ तो उनका वह वात्सल्य याद आ जाता है। जहाँ कहीं भी जाते थे मेरी विशेष चिन्ता करते थे। स्वयं बिना नमक, घी, दूध, चीनी और मसाले आदि का भोजन करते थे और मेरे लिये पूर्ण भोजन की व्यवस्था कराते थे।

इस प्रकार बाबू जी की महानता की सैकड़ों घटनाएँ हमें याद हैं। बाबू जी जैसा महान् और दूसरों के दुःख-सुख का चिन्तक दूसरा न मिलेगा।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बाबू जी के सम्पर्क में

श्री रामनिधि शर्मा

⊙⊙

बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन का नाम एक देशभक्त नेता के रूप में उसी समय से मैं सुनने लगा था जब मिडिल स्कूल का छात्र था। उन्हीं दिनों विभिन्न सार्वजनिक सभाओं में उनको सुनने और देखने का सुअवसर मिला था। उनके तेजस्वी रूप और ओजस्वी वाणी का प्रभाव जिसने उनका दर्शन किया और उनकी वक्तृता सुनी उस पर पड़े बिना नहीं रहा। उनका हृदय बोलता था, जिसकी ध्वनि वातावरण को राष्ट्र-प्रेमसिक्त और श्रोताओं को देश-भक्ति-विभोर बना देती थी। उनका त्याग चेहरे पर चमकता था। उनकी कुशाग्र बुद्धि उनकी जिह्वा पर नृत्य करती थी। "जापर कृपा करहिं जन जानी कवि उर अजिर नचावहिं बानी" की सार्थकता बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के व्यक्तित्व से सिद्ध होती थी। उनके आह्वान पर जनता विशेषकर युवकवर्ग आत्म-निछावर करने के लिए उछल पड़ता था।

वह १९२१ का जमाना था जब इलाहाबाद की मेजा तहसील के महावीर के मेले में एक जन-सभा में टण्डन जी ने विदेशी वस्त्र बहिष्कार की आवाज लगायी। कुछ ही देर में विदेशी वस्त्रों का अम्बार लग गया तथा सावन में फागुन की समा बँध गयी, जब टण्डन जी ने उसमें आग लगायी। सर्वसाधारण ने अपने विदेशी वस्त्रों को निर्ममता के साथ होली में फेंक दिया एवं यत्नक्रीत मूल्यवान वस्त्रों की भी शौकीनों ने परवाह नहीं की। रैलीवदर्स के सैकड़ों छाते, खाँचियों फैल्ट हैट, आबरवाँ के हजारों कुर्ते और ८४ की मखमली पाढ़ की तमाम धोतियाँ थोड़ी ही देर में जल कर खाक हो गयीं। धोतियाँ अग्नि देवता के हवाले कर लोगों ने अँगौछे पहन लिये। ऐसा था बाबू जी की बोली का चमत्कार।

१९३७ में प्रांतों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने सत्ता ग्रहण की। उसके पूर्व हुए विधान सभा के आम चुनाव के सिलसिले में श्री टण्डन जी ने मेजा तहसील का दौरा किया। तहसील में प्रवेश करने पर सबसे पहला स्वागत उनका मेजा रोड स्टेशन पर एक विशाल फाटक सजा कर किया गया। टण्डन जी की आरती उतारी गयी और उन्हें तिलक किया गया तथा पुष्पमालाएँ पहनायी गयीं। उस आयोजन में मैं भी शामिल था। वहाँ से आगे की यात्रा पर रवाना होने के पूर्व "तुम भी चलना चाहते हो तो आओ" कह कर बाबू जी ने मुझे मोटर में बिठा लिया। उस समय मैंने अपने को धन्य-धन्य माना और उसके बाद मैं उनसे बराबर मिलता रहा। एक अवसर पर प्रसंगतः बाबू जी ने मुझसे पूछ ही तो लिया कि "मेरे साथ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रहोगे ?" इस प्रश्नवाचक प्रस्ताव को मैंने अविलम्ब सोत्साह स्वीकार कर लिया और तभी से उनके निकट सम्पर्क में आने का राजयोग मेरे जीवन में आ गया जिसका सम्बन्ध सामान्यतः लगाये जाने वाले अर्थ—अर्थलाभ या समृद्धि से कदापि नहीं होता।

श्री टण्डन जो स्वयं धन से दूर रहना चाहते थे किन्तु गार्हस्थ्य जीवन की अपनी सारी जिम्मेदारियों का निर्वाह वे अपने ही सीमित साधनों के भीतर से करते थे। उन्होंने कभी किसी को भेंट या उपहार अथवा सहायता शायद ही स्वीकार की हो चाहे वह कितना ही बड़ा घनिष्ठ मित्र, हितैषी या निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न रहा हो। एक बार बाबू जी कुछ अस्वस्थ थे। डॉक्टरों ने उन्हें विश्राम करने की सलाह दी थी। शहर में रहते हुए वे विश्राम नहीं कर पाते थे। दिन भर लोगों का आना-जाना लगा ही रहता था। और न सही तो उनको देखने के लिए आने वालों की ही एक बड़ी संख्या हो जाती थी। इसलिए बाबू जी रसूलाबाद (गंगा तट) में एक बँगले में एकांतवास के लिए चले गये। एक दिन एक स्थानीय रईस कीमती फलों को लेकर उनसे मिलने आये और कुशल-प्रश्नोपरान्त उन्हें स्वीकार करने का बाबू जी से आग्रह किया। बाबू जी ने उन्हें अर्द्धनाम से सम्बोधित करते हुए कहा, "तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है क्या ? मैं इन चीजों को कभी खाता हूँ ?" वास्तव में बाबू जी इस तरह की कोई चीज कभी स्वीकार नहीं करते थे और ऐसे पदार्थों को जो सर्वसुलभ न हों वे खाते भी नहीं थे। फलों में केला, आम, संतरा और अमरूद ही वे ग्रहण करते थे और कहते थे कि ये फल छोटे और गरीब लोगों को भी कभी-कभी मयस्सर हो जाते हैं।

इसके विपरीत बाबू जी दूसरों को खिलाने-पिलाने तथा दीन और दुःखी लोगों की सहायता करने के लिए अधीर हो जाते थे। एक बार इटावा जिला राजनीतिक सम्मेलन का उद्घाटन करने के लिए बाबू जी जा रहे थे। मैं भी साथ था। इलाहाबाद से चलकर मेल ट्रेन जब फतेहपुर रुकी, तब वे अपने उच्च श्रेणी के डिब्बे से उतर कर मेरे डिब्बे के सामने आये और बोले "देखो यहाँ पूरियाँ अच्छी मिलती हैं। आगे ठीक न मिलेंगीं—अपने लिये ले लो।" मैंने कहा—"अच्छा।" इतने से उन्हें सन्तोष न हुआ। फिर लौटकर मेरे पास आये। इस बार मैं भी ट्रेन से उतर कर प्लेटफार्म पर आ गया और सोचने लगा कि कितनी लूँ। बाबू जी ने कहा "जल्दी ले लो—गाड़ी अधिक देर तक नहीं रुकेगी। कितनी लोगे, ६ लोगे, ८ लोगे ?" मैं कुछ नहीं बोला। फिर पूछा "एक पाव लोगे, डेढ़ पाव लोगे ?" मैं फिर चुप रहा। बाबू जी ने कुछ खीज कर कहा—"बोलते क्यों नहीं हो ?" मैंने साहस करके उत्तर दिया "मैं नहीं जानता। मैंने कभी गिन कर या तौल कर नहीं खाया है।" बाबू जी ने मेरी इस धृष्टता पर आर्द्र होकर उसी खीज की मुद्रा में आवेश में कहा—"अच्छा सब ले लो।" कहते हुए जल्दी से अपने डिब्बे में चले गये।

कानपुर रेलवे स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो मैं अपने डिब्बे से उतर कर उनके पास गया। वे विचारमग्न थे। लगभग दो मिनट के बाद सावधान हुए और बोले, "यहाँ तो गाड़ी कुछ देर तक ठहरेगी।" मैंने कहा—"हाँ बाबू जी, एकाध सन्तरा ले लीजिए।" धीमे स्वर में बोले—"नहीं।" यहाँ बाबू जी ने मेरे खाने-पीने के बारे में कुछ नहीं कहा। मैंने सोचा कि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

शायद इसीलिए बाबू जी संतरा नहीं ले रहे हैं। इस प्रकार कह देना चाहिए कि मेरे पास खाने-पीने का कुछ सामान है। मैंने कहा—"बाबू जी घर का खोया है, जरा-सा लेंगे।" बोले "नहीं, संतरा एक दे दो।" जब बाबू जी को विश्वास हो गया कि यह भूखा नहीं है, तो उन्हें संतरा खाने की इच्छा हो गयी।

बाबू जी के सम्पर्क में रह कर मैंने जीवन में बहुत-कुछ पाया, बहुत-कुछ सीखा। अगर उनके बताये किसी एक सिद्धान्त को कोई जीवन में उतार लिया जाय तो जीवन सुधर सकता है। वे तो आदर्श थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नैतिकता की मूर्ति : बाबू जी

श्री जयनारायण पाण्डेय

⊙ ⊙

राष्ट्रभाषा हिन्दी के भीष्मपितामह, महान् देशभक्त एवं महामानव स्वर्गीय पुरुषोत्तमदास टण्डन जी से ४२ वर्षों तक मेरा सम्पर्क रहा है। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। मुझे सन् १९१९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालय में लिपिक के रूप में सेवा करने का अवसर मिला। उस समय पूज्य बाबू जी सम्मेलन के प्रधान मन्त्री थे। उस समय से ले कर उनके देहावसान के अंतिम क्षणों तक उनसे तथा उनके परिवार से मेरा सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़ता गया। मैंने बाबू जी को अजातशत्रु के रूप में पाया। वे सच्चे अर्थ में 'पुरुषोत्तम' थे। मैंने उन्हें वकालत की शानदार वेशभूषा में देखा, उन्हें विधान-सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) के रूप में देखा, कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में देखा और हिन्दी के उन्नयन और उत्थान के लिए भगीरथ प्रयास करते हुए देखा, विभिन्न संस्थाओं और समितियों में विभिन्न पदों पर उन्हें विराजमान होते देखा। उनके जीवन में उनके ये पद भले ही बदलते रहे किन्तु उनकी नैतिकता कभी नहीं बदली । वे नैतिक सिद्धान्तों की सजीव मूर्ति थे। उनकी नैतिकता केवल भाषणों एवं उपदेशों तक सीमित नहीं थी वरन् उन्होंने उसे अपने दैनिक जीवन का अंग बना लिया था। समाज, संस्था, सरकार एवं परिवार में जहाँ भी वे रहते उनकी नैतिकता एक-समान, अटूट बनी रहती थी। इसी से वे अपने जीवन में सब के श्रद्धाभाजन बने रहे। मतभेद होते हुए भी विरोधी लोग उनकी नैतिकता का लोहा मानते रहे हैं। नैतिकता का इतनी बारीकी से पालन करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति तो मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। यहाँ पर प्रत्यक्ष देखी गयी उनकी नैतिकता के कुछ संस्मरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। प्रयाग के साहित्यिक लोग बाबू जी के साथ एक ही डिब्बे में बैठ कर इन्दौर जा रहे थे। खण्डवा स्टेशन पर प्रातःकाल गाड़ी पहुँची। सब लोग प्लेटफार्म पर सामान रखकर, स्नान आदि की व्यवस्था करने लगे। बाबू जी ने भी अपना सामान उतार दिया, मैं भी उन्हीं के साथ था। थोड़ी देर बाद बाबू जी ने भी अपना सामान उतारा और वहीं प्लेटफार्म के पास बम्बे पर स्नान करने जा रहे थे। इतने में बहुत-से लोग जो ऊँचे दर्जे के 'वेटिंग-रूम' में स्नान करने गये थे—आये और बाबू जी से कहा कि "बाबू जी आप 'वेटिंग-रूम' में ही चलें, वहाँ स्नान करने की अच्छी सुविधा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

है।" इस पर बाबू जी ने कहा कि मैं तृतीय श्रेणी का टिकट लेकर आया हूँ। इसलिए मुझे यहीं पर स्नान करना चाहिए। लोगों ने बहुत आग्रह किया पर बाबू जी नहीं माने और वहीं स्नान किया। यह देख सब लोग अवाक् रह गये।

एक बार इलाहाबाद स्टेशन पर मैं बाबू जी को पहुँचाने गया था। उस समय वे लखनऊ जा रहे थे। गाड़ी लेट थी और वे स्टेशन के बेञ्च पर बैठे थे। इतने में उन्होंने भगवानदीन चपरासी (जो उनका निजी सेवक था) को बुलाया और उससे पूछा—"तुम्हारा टिकट कहाँ है?" उसने टिकट निकाल कर दिखला दिया। मेरे मन में यह बात उठी कि आखिर बाबू जी टिकट क्यों देख रहे हैं। इस बीच जब बाबू जी किसी अन्य सज्जन से बातें करने में लगे थे, मैंने भगवानदीन से पूछा कि बाबू जी ने तुम्हारा टिकट क्यों देखा है? उसने बताया कि बाबू जी यह समझते हैं कि मेरे साथ रहने पर वर्दी देख कर कोई रेलवे का आदमी मुझसे टिकट माँगेगा नहीं और बाबू जी को मेरे यात्रा-बिल पर टिकट का मूल्य प्रमाणित करना होगा। और यदि मैंने टिकट नहीं लिया है तो उन्हें झूठ प्रमाणित करना पड़ेगा। इसलिए वे स्वयं बराबर यह देख लिया करते हैं कि मैंने टिकट लिया है कि नहीं। उस समय बाबू जी उत्तर प्रदेश विधान-सभा के अध्यक्ष थे।

सन् १९५४ का महाकुम्भ था। बहुआ (टण्डन जी की धर्मपत्नी जिन्हें घर में इसी नाम से जाना जाता है) ने गंगा-स्नान के लिए गाड़ी ले जाने की बात कही। बाबू जी ने उत्तर दिया कि यह गाड़ी 'स्पीकर' की है। तुम मेरे साथ तो जा सकती हो किन्तु अकेले नहीं। इस पर वह चुप हो गयीं। उसके बाद वह प्रतिदिन गंगा नहाने रामबाग स्टेशन पर ट्रेन से बैठ कर दारागंज जाती थीं और गंगा-स्नान कर घर लौटती थीं। एक दिन बाबू जी ने उनसे पूछा कि तुम कैसे गंगा-स्नान करने रोज जाती हो? तब बहुआ ने कहा कि आपने तो अपनी गाड़ी दी नहीं, मैं रेल से जाती हूँ।" बाबू जी ने कहा—"रेल में तो बड़ी भीड़ होती है, तुम टिकट ले लेती हो?" उन्होंने उत्तर दिया—"हम कई औरतें साथ-साथ जाती हैं, रामबाग स्टेशन पर बहुत भीड़ होती है टिकट नहीं ले पातीं किन्तु दारागंज स्टेशन पर उतर कर टिकट का पैसा टिकट बाबू को दे दिया करती हूँ।" इस पर बाबू जी बहुत बिगड़े और कहा कि "यह काम बहुत गलत है। बाबू पैसा अपने जेब में रख लेता होगा, इससे उसकी आदत बिगड़ जायगी। आइन्दा से तुम टिकट रामबाग स्टेशन से ही लेकर जाया करो।"

इसके दूसरे या तीसरे दिन बहुआ गंगा-स्नान के लिए रामबाग स्टेशन पर गयीं। बिना किसी को कुछ बताये बहुआ की परीक्षा करने बाबू जी रामबाग स्टेशन की ओर निकल पड़े। उनका चपरासी भगवानदीन इस बात को ताड़ गया और वह तुरन्त दौड़ता हुआ बाबू जी के पहुँचने के पहले ही रामबाग स्टेशन पहुँचा और टिकट लेने के लिए लाइन में खड़ा हो गया। बहुआ ने भगवानदीन को देख लिया था। इतने में बाबू जी पहुँचे और बहुआ को गाड़ी में ढूँढ़ने लगे। भेंट होने पर बहुआ से पूछा कि तुम्हारा टिकट कहाँ है? बहुआ ने उत्तर दिया कि भगवानदीन ला रहा है। बाबू जी चुप होकर घर लौट आये।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

एक बार भगवानदीन चपरासी बाबू जी से छुट्टी लेकर घर गया था। तीसरे दिन भगवानदीन के यहाँ जमीन के बारे में मारपीट हो गयी। मारपीट के तुरन्त बाद वह शहर आ गया और आकर बहुआ से सारा किस्सा कह सुनाया। बाबू जी उस समय अपनी बैठक में काम कर रहे थे। बाबू जी को घर आते देख कर वह बाहर निकल आया। बहुआ ने सारा किस्सा बाबू जी को बताया। इस पर बाबू जी बिगड़ पड़े कि फौजदारी करके मेरे पास सफाई की गवाही दिलाने आया है? भगवानदीन कहाँ है? बहुआ ने कहा कि वह बाहर होगा। बाबू जी भगवानदीन को ढूँढ़ने निकल पड़े और दो चक्कर बाहर-भीतर देखा, भगवानदीन कहीं नजर नहीं आया। इसके बाद बहुआ के पास पहुँचे और पूछा कि भगवानदीन कहाँ गया? बहुआ ने कहा कि अभी आप बिगड़ रहे थे तो डर के मारे कहीं चला गया होगा। इतना सुनकर बाबू जी चुपचाप अपने कमरे में चले गये। थोड़ी देर बाद बाबू जी ने किसी आदमी को भगवानदीन के घर देहात उसका पता लगाने के लिए भेजा पर वह घर पर नहीं मिला। तब उन्होंने किसी दूसरे आदमी को भेज कर भगवानदीन की उस मामले में मदद करा दी।

क्रास्थवेट रोड (प्रयाग) के मकान के जिस कमरे में बाबू जी बैठते थे उसमें एक बार चूहों ने बड़ा उपद्रव किया और बाबू जी की बहुत-सी पुस्तकों को काट डाले। बाबू जी सम्मेलन कार्यालय में आये और कहा कि मुझे एक पाव सीमेण्ट तथा एक राज आधे घण्टे के लिए चाहिए। उस समय सम्मेलन में काम लगा हुआ था। मैंने तुरन्त उनकी आज्ञा का पालन किया। राजगीर को थोड़ी-सी सीमेण्ट और बालू के साथ भेज दिया। वह जाकर चूहों के बिलों को बन्द कर वापस चला आया। इस कार्य में आध घण्टे से भी कम समय लगा। इसके थोड़ी देर बाद बाबू जी आये और सीमेण्ट का मूल्य तथा राज की मजदूरी कुल दो रुपये सम्मेलन में जमा कर दिये। मैंने उनसे बहुत कहा कि बाबू जी यह काम चार-छह आने का भी नहीं है, दो रुपये तो बहुत अधिक हैं। पर वे माने नहीं।

एक बार कलकत्ते के एक मारवाड़ी सज्जन ने बाबू जी के पास पचास हजार रुपये का एक चेक भेजा और लिखा कि इस रुपये को किसी अच्छे कार्य में लगा दीजिए। किन्तु बाबू जी के सामने उस समय कोई ऐसा कार्य नहीं आया जिसमें वे उस रुपये को लगा सकें। इस विषय में उन्होंने मुझसे भी सलाह ली थी। चार महीने तक चेक उनके पास पड़ा रहा। अन्त में उन्होंने दाता के पास चेक वापस कर दिया।

हिन्दी-विद्यापीठ, महेवा (प्रयाग) में खुल चुका था। मन्त्रिमण्डल की ओर से वहाँ कार्य होता रहा। कई वर्ष बाद विद्यापीठ में पच्चीसों हजार का घाटा हुआ। बाबू जी घबराये और सोचा कि इसका एक ट्रस्ट हम अलग कर दें। इसमें कुछ लोगों की सहमति थी तथा कुछ लोग असहमत थे। यह विषय सम्मेलन की स्थायी-समिति में पेश हुआ। बाबू जी ही सभापति थे और बराबर-बराबर वोट दोनों पक्ष में आये। बाबू जी ने अपना 'कास्टिंग वोट' इस पक्ष में दिया कि ट्रस्ट न बनाया जाय। इस पर सब लोग चुप हो गये। उनका कहना था कि सार्वजनिक जीवन में कोई काम ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें अधिक लोग विरोधी हों।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मेरा लड़का इण्टरमीडिएट पास हो चुका था। मैंने जाकर बाबू जी से कहा कि मेरे लड़के को नौकरी आप सम्मेलन में दिला दीजिए। उन्होंने पूछा कि कहाँ तक पढ़ाया है? मैंने बताया—इण्टरमीडिएट तक। "आगे क्यों नहीं पढ़ाते?" उन्होंने पूछा। मैंने जवाब दिया कि आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। इस पर वे बहुत बिगड़े और कहा कि फीस मुझसे ले लीजिए और खाना आप खिलाइए। बी० ए० पास होने पर मुझसे कहिएगा। एक बात और है सम्मेलन में नौकरी लगाने की बात मुझसे भविष्य में कभी मत कहना। मैं अवैतनिक कार्यकर्ता हूँ और आप वैतनिक कार्यकर्ता। यदि हम लोग अपने रिश्तेदारों को सम्मेलन में नौकरी लगवा देंगे तो आगे चल कर लांछित होंगे। इस बात को सुन कर मैं वापस आया और लड़के का नाम बी० ए० में लिखा दिया पर फीस बाबू जी से नहीं लिया।

बाबू जी के पास एक अधेड़ ब्राह्मण नौकर था और वह बाबू जी की बड़ी सेवा करता था। वह कई वर्ष तक उनके साथ रहा। एक बार बाबू जी का कुछ रुपया चोरी चला गया। बहुत छानबीन की गयी पर पता नहीं लगा। घरवालों को सन्देह हुआ कि यह इसी आदमी का काम है। पर बाबू जी इस कथन को नहीं माने। घरवालों ने कहा कि इसे आप निकाल दें पर उन्होंने निकाला नहीं। कुछ दिनों के बाद उसे नकद पुरस्कार देकर और भूदान से कई बीघे जमीन दिलाकर अलग किया।

बाबू जी गोरखपुर जेल में थे। उनके चतुर्थ पुत्र अमियविन्दु ने अपने प्रभाव से राज्य सरकार के कार्यालय में नौकरी प्राप्त कर ली थी। जेल से मुक्त होने पर जब बाबू जी आये तब उन्होंने लड़के से कहा कि तुम नौकरी से त्यागपत्र दे दो, नहीं तो लोग कहेंगे कि मेरे प्रभाव से नौकरी मिली है। इसमें मुझे लांछित होना पड़ेगा। बाबू जी के कहने पर इच्छा न होते हुए भी अमियविन्दु ने राज्य सरकार की सेवा से त्यागपत्र दे दिया।

आज समाज, सार्वजनिक संस्थाओं और सरकार में कितने ऐसे लोग हैं जो इतने ऊँचे दर्जे की नैतिकता का पालन करते हैं?

सम्मेलन की सेवा में आने के बाद ही मुझे बाबू जी की नैतिकता की बातें मालूम हो गयीं। लोगों ने बताया कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही विद्वान् और कर्मठ क्यों न हो किन्तु यदि वह सच्चा और ईमानदार नहीं है तो बाबू जी का विश्वासपात्र और स्नेहभाजन नहीं हो सकता। अतः मैंने सम्मेलन के कार्यों में सदैव सच्चाई और ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन किया है और मुझे परम सन्तोष है कि पूज्य बाबू जी का विश्वास एवं स्नेह मुझे बराबर मिलता रहा। हमारे राष्ट्र को आज पूज्य बाबू जी जैसे तपःपूत, नैतिकता-सम्पन्न व्यक्तियों की परम आवश्यकता है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन
(संक्षिप्त परिचय)

श्री पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

⊙ ⊙

बाबू पुरुषोत्तमदास एक प्रतिष्ठित और उच्चवंशीय टण्डन खानदान के खत्री हैं। आपके पूर्व पुरुष यद्यपि पंजाब के रहने वाले थे किन्तु आपका खानदान बहुत दिनों से प्रयाग जिले में आलमगंज में रहता था। आपके पिता तथा आपका जन्म प्रयाग में ही हुआ था। आपके पिता बाबू शालिग्राम जी एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ्तर में नौकर थे। राधास्वामी सम्प्रदाय में उनका पूरा विश्वास था। उनका जीवन सदा तपस्वियों के समान बीतता था। उनका चरित्र उत्तम और आत्मा बलिष्ठ था। वे योगाभ्यासी थे और साम्प्रदायिक सत्संग में ही अधिक समय व्यतीत किया करते थे। सत्संग से उन्हें इतना अधिक प्रेम था कि उसके छूटने के डर से कई रियासतों में बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिलने पर भी नहीं गये। पिता के स्वभाव और चरित्र की छाया बाबू पुरुषोत्तमदास के स्वभाव और चरित्र पर बहुत कुछ पड़ी।

बाबू पुरुषोत्तमदास का जन्म संवत् १९३९ के श्रावण मास में हुआ। छह वर्ष की अवस्था में एक मुसलमान अध्यापक से आपने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया। एक साल तक वहीं पढ़ने के बाद उस समय की शिवराखन पाठशाला (आजकल के सिटी ऐंग्लो वर्नाक्यूलर हाईस्कूल) में भरती हुए। सन् १८९४ में मिडिल परीक्षा पास करने पर एण्ट्रेन्स पढ़ने के लिए गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में गये। सन् १९०४ में आपने बी० ए० और सन् १९०६ में वकालत (एल-एल० बी०) की परीक्षा पास की। इसके बाद वकालत करते हुए सन् १९०७ में आपने एम० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। इस परीक्षा में आपके विषय इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र थे। उर्दू का अभ्यास आपने बी० ए० क्लास में उस समय आरम्भ किया जब अदालतों में नागरी के प्रवेश का आन्दोलन चल रहा था और माननीय मालवीय जी के तत्सम्बन्धी उद्योग में आप योगदान कर रहे थे।

आप विद्यार्थी अवस्था में बड़े खिलाड़ी, झगड़ालू और कुशल थे। कालेज में आप खेलों की टीम के कप्तान थे। आपका विश्वास है कि जन-संग्रह की शक्ति उसी समय से आप में आयी। क्योंकि खेलों के कप्तान को भिन्न-भिन्न स्वभाव के विद्यार्थियों का मन रख कर काम लेने और कार्य सम्पादन करने का अभ्यास करना पड़ता है। झगड़ालू होने के कारण कभी-कभी आपको कुछ हानि भी उठानी पड़ती थी। एक बार आपने हाईस्कूल के गोरे हेडमास्टर के

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

माली को पीट दिया। उस समय तो उसने इनसे कुछ नहीं कहा किन्तु उसकी गाँठ मन में लगा रखी। जब आप एण्ट्रेन्स पास कर एफ० ए० पढ़ने के लिए कायस्थ पाठशाला कालेज जाने लगे तब उसने सर्टीफिकेट में इनके आचरण को 'इनडिफनेट' (ऐसा वैसा) लिख दिया। आपने भी आवेश में आकर इस विषय में उससे कुछ नहीं कहा। उसे पढ़ कर प्रोफेसर रामानन्द चटर्जी ने इन्हें सिर से पैर तक देखा, किन्तु प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण बिना किसी आपत्ति के इन्हें भर्ती कर लिया। और, अब भी मुलाकात होने पर हँसकर श्री चटर्जी उसकी चर्चा किया करते हैं। इसी तरह कालेज में एक बार प्रोफेसर हिल से झगड़ा हो जाने के कारण एक साल परीक्षा में बैठने से आपको हाथ धोना पड़ा था, किन्तु आपकी चपलता और उत्साह की परख माननीय मालवीय जी ने खूब की। विद्यार्थी अवस्था से ही उन्होंने अपने कामों में इनसे सहायता लेनी आरम्भ की। अदालतों में नागरी-प्रवेश के आन्दोलन में आप मालवीय जी के सहायक थे, हिन्दू बोर्डिङ्गहाउस के उद्योग में आप उनके सहायक थे और अभ्युदय निकालने पर मालवीय जी ने उसका प्रथम सम्पादक भी आपको ही बनाया था। एक प्रकार से इनके राजनीतिक गुरु मालवीय जी हैं, किन्तु पण्डित बालकृष्ण जी भट्ट के लेखों और सत्संग का प्रभाव भी इन पर कम नहीं पड़ा था।

इनके स्वभाव में स्वाधीनता की मात्रा इतनी अधिक है, किसी विषय में सोचते इतना अधिक हैं, विषय का तारतम्य और उसे शृंखलाबद्ध करने में इतने लवलीन हो जाते हैं कि कार्य की पूर्ति सहसा नहीं हो पाती। काम इनके पास इतने अधिक हैं कि उनकी शृंखला टूटने नहीं पाती। यही कारण है कि इच्छा रहने पर भी, विचार कोटि में विषय रहने पर भी, आप अब तक कोई बड़ा ग्रन्थ नहीं लिख सके। केवल विद्यार्थी अवस्था में आप दो-तीन छोटी पुस्तकें लिख सके। जिनमें से 'भाषा प्रकाश', 'व्याकरण', 'राजपूत वीरता' और 'बन्दर सभा' नामक राजनीतिक व्यंग्य काव्य प्रकाशित हो चुके हैं। यह तो स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण भट्ट का ही काम था कि दस-बीस खरी-खोटी सुना कर जबरदस्ती 'हिन्दी प्रदीप' के लिए इनसे कुछ लिखवा लिया करते थे। हिन्दी साहित्य से आपका सम्बन्ध सन् १८९९ से अब तक अविच्छिन्न रूप से चला ही आ रहा है। 'अभ्युदय' के सम्पादक के नाते सन् १९०७ में आप सम्पादक समिति के मन्त्री भी रह चुके हैं। किन्तु समयाभाव के कारण आप अधिक समय तक उस कार्य को न कर सके। उस समय सम्पादक समिति का आन्दोलन जोरों पर था किन्तु आज उस संस्था का अस्तित्व भी नहीं है।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के लेखों के मनन और पठन का जो असर आपके हृदय पर पड़ा वह अब तक हिन्दी की सेवा करने के लिए आपको लगाये रहता है। जहाँ-जहाँ आपका क्षेत्र है वहाँ हिन्दी का प्रवेश क्रमशः अवश्य होता जाता है। आठ-दस वर्षों के पहले एक जमाना था कि प्रान्तीय कांग्रेस का काम अंग्रेजी में ही होता था और उसके व्याख्यान भी अंग्रेजी ही में होते थे। आपने उस प्रवाह को रोकने में बड़ा काम किया। फैजाबाद की प्रान्तीय कान्फ्रेन्स में आप और बाबू शिवप्रसाद जी हिन्दी के लिए अड़ गये। इस विषय में मिस्टर चिन्तामणि जी आपसे रुष्ट भी हो गये थे। आपकी जातीय खत्री सभा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का काम भी उर्दू में हुआ करता था, आपने उसे हिन्दी में करवाया। वकालत करते समय अपने मुवक्किलों को हिन्दी में अर्जी दावे पेश करने के लिए बराबर उत्साहित करते रहे। जहाँ कहीं हिन्दी की रुकावट देखी वहाँ आप अड़ गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रजिस्ट्री कराते समय हिन्दी में ही उसके नियमादि लेने में रजिस्ट्रार से आपकी खासी लिखा-पढ़ी हुई। इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी में आपने हिन्दी का बहुत-कुछ प्रवेश कराया। उसके अधिवेशनों में हिन्दी में भाषण होने लगे, काम-काज में हिन्दी चलने लगी और अपनी अध्यक्षता में तो आपने सरकार के पास म्युनिसिपैलिटी की सालाना रिपोर्ट भी हिन्दी-उर्दू में ही भेजी थी। सन् १९१४ में आप नाभा राज्य के फारेन मिनिस्टर थे। उन दिनों आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे। श्रीमान् नाभा नरेश से आपने आरम्भ में ही कह दिया था कि सम्मेलन के कामों से मुझे अक्सर प्रयाग जाना पड़ेगा। एक बार एक आवश्यक अधिवेशन में आपको आना था और महाराज बाहर थे। इन्होंने प्रयाग आने की आज्ञा माँगी, किन्तु समय पर उत्तर न मिला। अतएव आपने नौकरी पर लात मार दी और अधिवेशन में उपस्थित हुए। काशी के प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आप उसके प्रधान मंत्री बनाये गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उन्नति और कार्य-विस्तार के प्रधान कारण आप ही हैं। इस समय सम्मेलन अपने सभी अंगों की ओर दृष्टिपात कर रहा है। उसकी परीक्षाओं ने प्रभाव जमा लिया है। उसके प्रकाशित ग्रन्थ समाज में आदर पा रहे हैं, उसके मद्रास में हिन्दी प्रचार विभाग ने राष्ट्रीय कार्यों में बड़ी मदद पहुँचायी है। जिन्होंने इस वर्ष गया की कांग्रेस के समय देखा है कि आन्ध्र प्रान्त के सैकड़ा पीछे ५० और दविड़ प्रान्त के सैकड़ा पीछे १५-२० डेलीगेट हिन्दी समझ लेते हैं और कुछ तो बोल भी लेते हैं, जिन्होंने रिपोर्टों में देखा है कि मद्रास प्रान्त में हिन्दी की हजारों पुस्तकें बिक रही हैं, वे इसका महत्त्व सहज ही समझ सकते हैं।

वकालत आप सन् १९०६ ई० से ही करने लगे थे, पर आप रोजगारी वकील कभी नहीं हुए। सार्वजनिक कामों में लगे रहने के कारण वकालत से केवल पैसा कमाना यद्यपि आपका उद्देश्य कभी नहीं रहा, तथापि आपकी वकालत अच्छी चल पड़ी थी। 'स्वराज्य' के सम्पादक बाबू शान्ति स्वरूप और बाबू नन्दलाल के मुकदमों में आपकी वकालत-चातुरी सर्व-साधारण ने विशेष रूप से समझी। मेहर नरेश के खून के मामले में भी अभियुक्तों को छुड़ाकर आपने अपनी बुद्धि की प्रखरता प्रकट की। किन्तु असहयोग आन्दोलन में पड़कर आपने वकालत छोड़ दी और जानने वाले ही समझ सकते हैं कि अपने देश के लिए कितने ऊँचे दर्जे का स्वार्थ-त्याग किया और किस प्रकार कष्ट सहन पूर्वक बाबू पुरुषोत्तमदास के बदले आप दिनोंदिन बाबा पुरुषोत्तमदास बनते चले जा रहे हैं। यों तो राजनीति में आपकी रुचि बचपन से ही थी, किन्तु कांग्रेस के काम में पहले १८९९ में वालण्टियर हुए और १९०६ से आप उसके डेलीगेट होकर जाने लगे। सार्वजनिक कामों में किस प्रकार धैर्य की अपेक्षा होती है, किस प्रकार दृढ़ता-पूर्वक काम में लगे रहने से सफलता मिलती है, किस प्रकार लोगों के दिल में स्थान कर लोक-संग्रह करना होता है और किस प्रकार लोगों को अपने काम में सहायक और साथी बनाना होता है यह बात आपकी जीवनी और कार्यावली का आदर्श है। आपके स्वभाव की

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

निर्भीकता कभी-कभी आपके लिए कष्टकर भी हो जाती है। इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन का काम आपने बड़ी ही निर्भीकता और स्वतन्त्रता के साथ किया। आप अफसरों के माया-जाल और भुलावे में कभी नहीं फँसे। आपने सदा वही किया जो उचित समझा। इसीलिए गत वर्ष युवराज के बहिष्कार के समय जब माननीय पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रभृति के साथ आप पकड़े गये तब जहाँ औरों को छह-छह महीने की सजा हुई वहाँ आपको डेढ़ वर्ष की सजा सुनायी गयी। इस जेल-निवास ने आपको और भी चोखा बना दिया। वहाँ से आप एक फलाहारी, तपस्वी, वानप्रस्थ और महात्मा के स्वरूप में सर्वसाधारण के सामने आये।

शिक्षा-प्रचार के काम में आपकी रुचि पहले से ही है। जब आप बी० ए० में पढ़ते थे तभी आपने 'गौरी पाठशाला' नाम की लड़कियों की पाठशाला खोली थी। ईसाइयों ने एक बंगाली लड़की को बहकाकर ईसाई कर दिया, तभी से आपने सोचा कि हमारी लड़कियों की शिक्षा के लिए ईसाई अध्यापिकाओं की आवश्यकता नहीं है। आपके इस उद्योग और निश्चय में बाबू चन्द्रकान्त नामक बंगाली सज्जन से बड़ी सहायता और सहयोगिता प्राप्त हुई थी। इस पाठशाला के आप मन्त्री रहे और आजकल उसके उपसभापति हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के लिए समुचित शिक्षा देने के विचार से आपने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना करायी। आपकी बड़ी अभिलाषा है कि एक हिन्दी विश्वविद्यालय स्थापित हो। हिन्दी विश्व-विद्यालय हिन्दी संसार के लिए एक गौरव की वस्तु होगी, इसमें सन्देह नहीं।[1]

---

१. 'कलकत्ता समाचार' से उद्धृत तथा 'सम्मेलन-पत्रिका' भाग १०, अंक १० ज्येष्ठ, संवत् १९८० में प्रकाशित।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कला का आदर्श

श्री वासुदेव गोस्वामी

⊙ ⊙

विन्ध्य प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का छठाँ वार्षिक अधिवेशन छतरपुर में राज्य की विधान सभा के अध्यक्ष श्री शिवानन्द जी के सभापतित्व में २६ मई, १९५५ ई० से प्रारम्भ हुआ। राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने उद्घाटन करके उस समारोह को गौरवान्वित किया था। छतरपुर से ४५ किलोमीटर की ही दूरी पर मूर्तिकला के लिए विश्व के आकर्षण का केन्द्र खजुराहो स्थित है। अतः अधिवेशन में पधारे हुए सम्मान्य अतिथियों के लिए खजुराहो-यात्रा का कार्यक्रम भी अधिवेशन की स्वागत समिति ने रखा।

कदाचित् राजर्षि टण्डन जी का खजुराहो जाने का वह प्रथम ही अवसर था। खजुराहो की कला-कीर्ति ने भी उनसे वहाँ जाने के लिए अनुरोध किया; और वे गये भी। किन्तु वहाँ से लौटने पर वे क्षुब्ध थे। यद्यपि खजुराहो के मन्दिरों का वास्तु शिल्प एवं मूर्तिकला के अनेक स्वरूपों को उन्होंने सराहा किन्तु जो मिथुन दृश्य वहाँ पर उत्कीर्ण हैं, उनके प्रति अपना विरोध व्यक्त करते हुए उन्होंने वहाँ से वापस आकर सम्मेलन के मंच से कहा था कि सरकार को चाहिए कि ऐसी अश्लील मूर्तियों को सीमेण्ट से ढक दे। उनके विचार में कला को वासनोन्मुख होने से बचाना अभीष्ट था। उनका मत था कि उसी कला और साहित्य से जनता का कल्याण हो सकता है जिसे भाई-बहन, बेटा-बेटी आदि सभी के साथ समान रूप से देखा-पढ़ा जा सके।

'वाणी विहार', भरतगढ़, दतिया (म० प्र०)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

युग-विभूति राजर्षि टण्डन

श्री लक्ष्मीशंकर व्यास

⊙⊙

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी के दर्शन तथा उनसे वार्ता के अनेक अवसरों का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। आज जब उन क्षणों का स्मरण करता हूँ तो अनुभव होता है कि वे देश की कैसी असाधारण युग-विभूति थे। भारत, भारती और भारतीयता के लिए राजर्षि का जीवन समर्पित था। उनका महान् व्यक्तित्व जहाँ भारतीय ऋषि-परम्परा का परिचायक था, वहीं उनका सम्पूर्ण कर्तृत्व भारतीय गरिमा से महिमामण्डित था। काशी में 'आज' कार्यालय में आपके दर्शन का प्रथम सौभाग्य मिला था। उस समय आपने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के अंगभूत ग्रामीण क्षेत्रों में नवजागरण तथा चेतना-प्रचार की आवश्यकता पर बल दिया था। पुनः सन् १९६१ ई० में जब देश में पण्डित मोतीलाल नेहरू की जन्मशती का आयोजन हो रहा था, तो मैं 'आज' का विशेषांक निकालने के सिलसिले में प्रयाग पहुँचा। वहाँ पहुँच कर सर्वप्रथम मैंने राजर्षि के दर्शन किये। उन दिनों टण्डन जी का स्वास्थ्य ठीक न था। सायंकाल वे अपने उद्यान में काठ की बनी ऊँची चौकी पर बिछे गद्दे पर गावतकिया के सहारे आसीन थे। मैंने निवेदन किया कि आपके ही दर्शन के लिए काशी से आया हूँ। बड़ी कृपा हो कि आप पण्डित मोतीलाल जी नेहरू के कुछ संस्मरण हमें दें। उस समय राजर्षि ने पण्डित मोतीलाल जी के तीन-चार अद्भुत संस्मरण सुनाये। एक संस्मरण उनके ऐतिहासिक भाषण सम्बन्धी था। उस संध्या को उनके सान्निध्य में दो-तीन घण्टे बैठने का जो सौभाग्य मिला, उसका वर्णन और विवरण एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है। तीसरी और सम्भवतः अन्तिम बार राजर्षि के दर्शन का सौभाग्य उस समय मिल पाया जब आपका सार्वजनिक अभिनन्दन समारोह राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। उस अवसर पर मैंने 'आज' का टण्डन अभिनन्दनांक निकाला था।

'आज' के प्रधान सम्पादक श्री सत्येन्द्र कुमार गुप्त जी के साथ मैं टण्डन जी के निवास पर पहुँचा और समारोह के पूर्व ही हमने उक्त अभिनन्दनांक उन्हें सादर समर्पित किया। राजर्षि ने जिस विनम्रता, स्नेह एवं आभार के साथ 'आज' के उक्त विशेषांक को ग्रहण किया, उस क्षण की उनकी भाव-मुद्रा इन पंक्तियों को लिपिबद्ध करते हुए सजीव और साकार हो उठी है। कुछ देर बाद ही राजर्षि अभिनन्दन स्थल के उस मंच पर पधारे जहाँ देश के राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में ऐतिहासिक समारोह का आयोजन हुआ था। यहाँ राजर्षि ने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आभार प्रकट करते हुए कहा था कि जिस रामराज्य की स्थापना का राष्ट्र ने संकल्प किया था, वह अभी साकार नहीं हो सका है। इस कथन में आपकी मर्मवेदना कितनी सूक्ष्मता और सार-गर्भिता के साथ अभिव्यक्त हुई थी, उसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन प्राण ही थे। आपने संविधान सभा में हिन्दी को राजभाषा घोषित कराने में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया था, वह हमारे राष्ट्र के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निर्माण में राजर्षि टण्डन जी का अवदान चिरस्मरणीय है। और, आज ही नहीं, आने वाले युग-युग में यह समस्त हिन्दी-जगत् को नवप्रेरणा तथा नवशक्ति प्रदान करता रहेगा।

सन् १९३८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन के सभापति सम्पादकाचार्य पण्डित बाबूराव विष्णु पराड़कर निर्वाचित हुए। इसके पूर्व सन् १९२५ ई० में वृन्दावन साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये थे। इस प्रकार सन् १९२५ से १९४५ ई० तक पराड़कर जी सम्मेलन की स्थायी समिति के सदस्य रहे और उसकी प्रायः समस्त विशेष समितियों में विशिष्ट रूप से योग देते रहे। इस अवधि में सम्पादकाचार्य पराड़कर जी और राजर्षि टण्डन जी में जो महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श तथा पत्राचार हुआ है, उससे हिन्दी की अनेक समस्याओं तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विकास-यात्रा का परिचय मिलता है। राजर्षि टण्डन जन्मशती के अवसर पर दोनों साहित्य महारथियों के मध्य हुए पत्राचार का विशेष महत्त्व है। यहाँ हम राजर्षि टण्डन जी के कुछ पत्रों की चर्चा करेंगे, जिनसे तत्कालीन स्थिति और समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है। सम्मेलन के पूना अधिवेशन को लेकर साहित्यकारों में मतभेद तथा विवाद हो गया था। पूना में समझौता कराने के लिए एक उपसमिति का गठन हुआ था। पराड़कर जी इसके सदस्य थे और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन संयोजक। इन दोनों महानुभावों ने इस कार्य में आचार्य काका कालेलकर का सहयोग लिया। इस सम्बन्ध में हुए प्रयत्नों पर राजर्षि टण्डन जी के पत्रों से प्रकाश पड़ता है—

१० क्रास्थवेट रोड
इलाहाबाद
२२-५-४०

प्रिय पराड़कर जी
नमस्कार।

आपका ६ ज्येष्ठ का पत्र अभी लखनऊ से यहाँ पहुँचने पर मिला। 'आज' में मैंने कल ही लखनऊ में अपना छपा हुआ पत्र और आपकी सम्पादकीय टिप्पणी देख ली थी। अगले सम्मेलन के सम्बन्ध में काका जी का पत्र पुणे से आया था। पुणे में वह कुछ दिन रहने वाले हैं। उन्होंने लिखा था कि वह सम्मेलन सम्बन्धी वायुमण्डल ठीक करने का यत्न करेंगे। मैंने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उनसे पूछा है कि यदि हम लोगों के वर्धा या पूणे आने की आवश्यकता हो तो तुरन्त लिखें। उनके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सस्नेह

पुरुषोत्तमदास टण्डन

दैनिक पत्र के प्रधान सम्पादक की व्यस्तता टण्डन जी भलीभाँति जानते थे। इसलिए जब सम्मेलन की कार्य समिति में कोई बहुत महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय रहता तो पत्र लिख कर उनका ध्यान आकृष्ट किया जाता था।

(१)

स्पीकर भवन

लखनऊ

२८-६-४०

प्रिय पराड़कर जी,

सम्मेलन की अगली कार्य समिति २ जुलाई को हो रही है। उसमें आगामी सम्मेलन के बारे में हम लोगों को अपने विचार रखने हैं।

मैंने अपनी ओर से जो रिपोर्ट लिखी है, उसकी एक प्रति आपके पास भेजता हूँ। आप भी इस पर अपनी स्वीकृति और यदि कुछ अधिक लिखना चाहें तो लिखकर तुरन्त सम्मेलन के मन्त्री के पास सीधे भेज दीजिए जिससे २ जुलाई के पहले ही उनके हाथ में पहुँच जाय।

यह अधिक अच्छा होगा कि आप २ जुलाई को कार्य समिति की बैठक में स्वयं आ जायँ। मैं यहाँ से कल या परसों इलाहाबाद चला जाऊँगा।

सस्नेह

पुरुषोत्तमदास टण्डन

(२)

१०-१०-४५

प्रिय पराड़कर जी,

अगले रविवार १३ तारीख को सम्मेलन की स्थायी समिति की एक बैठक है। उसमें जिस अद्‌भुत प्रस्ताव पर विचार करना है वह आपने पढ़ लिया होगा। मेरा अनुमान है कि आपने आने का विचार किया होगा। सम्मेलन के भविष्य की दृष्टि से इस बैठक में आपकी उपस्थिति की बहुत आवश्यकता है। विश्वास है आपसे १३ तारीख को भेंट होगी।

सप्रेम

पुरुषोत्तमदास टण्डन

अस्वस्थता के कारण पराड़कर जी पूना-सम्मेलन में सम्मिलित नहीं हो सके। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में काका कालेलकर जी ने जो पत्र पराड़कर जी को लिखा वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजर्षि टण्डन जी की भी चर्चा आयी है। काका

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कालेलकर ने यह पत्र ६ जनवरी, १९४१ ई० को लिखा था—पूना सम्मेलन में जो कुछ होना था वही हुआ। गांधी जी की राष्ट्रभाषा की जो व्याख्या है और उसकी जो परम्परा है, उसको इस सम्मेलन में पूर्ण विफलता मिली। इसका व्यावहारिक परिणाम जो होना चाहिए वह तो होगा ही परन्तु आध्यात्मिक परिणाम सम्मेलन और हिन्दी के लिए बाधक होगा। आज चार वर्षों से टण्डन जी से कह रहा हूँ कि राष्ट्रभाषा समिति को स्थायी तथा स्वतन्त्र कीजिए किन्तु उनके मस्तिष्क में यह बात नहीं आयी। आप यदि पूना में उपस्थित रहते तो अधिक अच्छा रहता। राजेन्द्र बाबू भी अनुपस्थित ही रहे। मैंने भी हमेशा तटस्थ रहने की नीति अपनायी। राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में चार-पाँच वर्षों से जो टण्डन जी कहते थे वही कर रहा हूँ।"

आपका
काका कालेलकर

इन पत्रों से स्पष्ट है कि राजर्षि टण्डन जी हिन्दी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए किस अनन्य भाव से समर्पित थे। सम्मेलन निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो और आपसी भेद-विभेद दूर हों, यही आपका सतत प्रयास रहता था। हिन्दी के विकास के निमित्त आपने सम्मेलन के त्रयोदश अधिवेशन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में जिन सुझावों को उपस्थित किया है, वे आज भी भाषा के प्रश्न के समाधान में बहुत सहायक हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार में उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाने की आजकल जो राजनीतिक चाल चली जा रही है, वह उन दिनों भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी के रूप में चल रही थी। टण्डन जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उर्दू भाषा की प्रकृति तथा उसकी परम्परा का विशद विवेचन और विश्लेषण करते हुए जो सुझाव दिये हैं वे अत्यन्त व्यावहारिक और उपयोगी हैं। राजर्षि टण्डन की जन्मशती के अवसर पर राजभाषा हिन्दी की उन्नति तथा उत्कर्ष विषयक उनके विचारों और सुझावों का सम्यक्-रूपेण यदि अध्ययन-मनन किया जाय तो हमें राजभाषा हिन्दी को संविधान सभा के ऐतिहासिक तिथि के अनुसार पूर्णरूपेण प्रतिष्ठापित करने में बहुत सहायता मिल सकती है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सांस्कृतिक एकता के प्रतीक राजर्षि टण्डन जी

डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन एक व्यक्ति नहीं, एक युग हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के समस्त प्रचार-प्रसार और परिष्कार का आन्तरिक इतिहास उनके साथ दुर्निवार रूप से जुड़ा हुआ है। उनका हिन्दी-प्रेम उस सांस्कृतिक परम्परा की कड़ी रहा है, जो देश की एकता और अखण्डता के तट चाहे कितने ही तोड़ता हो, अपना तल नहीं छोड़ता है।

राजर्षि टण्डन को अपनी सांस्कृतिक परम्परा के सूक्ष्म-गहन ज्ञान के कारण ही यह सदैव ध्यान रहा है कि हिन्दी किसी एक सम्प्रदाय, धर्म, वर्ग या वर्ण की भाषा न होकर जनता की भाषा रही है। पूरे देश का जन-मानस इसी में बोलता रहा है और बोलने की शक्ति रखता है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दी ने जन-संघर्ष की भाषा के रूप में अपना विकास-परिष्कार किया है। इस जनभाषा की सम्पूर्ण क्षमताओं और सम्भावनाओं को उजागर करने में ही राजर्षि जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक कर्मयोगी की भाँति समर्पित कर दिया है। जनभाषा हिन्दी का भावी रूप कैसे निखर सकता है, इस सम्बन्ध में राजर्षि जी के विचार बड़े स्पष्ट रहे हैं। उनके शब्दों में—"राष्ट्रभाषा की नींव वह हिन्दी है जिसकी परम्परा प्राचीनकाल से होते हुए चन्द, सूर, तुलसी, कबीर, रसखान, रहीम, जायसी, हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों से हमें मिली है और जो मुख्य रूप में उत्तर-भारत के प्रदेशों में लिखी-पढ़ी जाती है। किन्तु इस राष्ट्रभाषा का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ भिन्नता रखेगा। जिस प्रकार हिन्दी भाषा पर बहुत काल से अरबी और फारसी का असर पड़ा है, उसी प्रकार जैसे-जैसे अन्तर्प्रान्तीय व्यवहारों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रयोग बढ़ेगा, वैसे-वैसे उस भाषा के विकास में प्राचीन भाषाओं का असर पड़ना अनिवार्य है। साहित्य और राष्ट्रीयता दोनों की दृष्टि से यह आदान-प्रदान हिन्दी को समृद्धिशाली बनायेगा।" कहना न होगा कि उनका यह विश्वास आज अक्षरशः सत्य हो गया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ राजर्षि का ध्यान भारतवर्ष की समस्त भारतीय भाषाओं की ओर जाता है। काफी चिन्तन-मनन के बाद इस निष्कर्ष पर आते हैं कि देश की सांस्कृतिक धरोहर और अखण्डता के रक्षण का कार्य हिन्दी ही कर सकती है। विदेशी भाषा की दासता जिन्दा जाति के इतिहास और संस्कृति को खोखला तो करती ही है, जिन्दा जाति के मौलिक चिन्तन को भी नष्ट कर देती है। वे मानते रहे हैं कि विदेशी भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान का

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आदान-प्रदान तो काम्य है किन्तु पराधीनता नहीं। उन्होंने यह सोच-समझ कर ही विदेशी भाषा-अंग्रेजी के खिलाफ एक बड़ा समर लड़ा है। इस समर में उन्हें राष्ट्रपिता गांधी का आशीर्वाद एवं सहयोग लगातार शक्ति देता रहा है।

राजर्षि टण्डन जी में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनीतिक राष्ट्रीयता बाद में जनमी है। आधुनिक युग का सांस्कृतिक नवजागरण उनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के पोषक एवं उन्नायक के रूप में अभिव्यक्त होता है। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के इस प्रबल आधार पर टिकने के कारण उनमें विश्वास दृढ़ होता रहा है कि अनेक भाषाओं और अनेक संस्कृतियों का नारा हमारी अखण्डता का विनाश कर सकता है। इस तथ्य को गहराई से समझते हुए वे द्वि-संस्कृतिवाद तथा बहु-संस्कृतिवाद का प्रत्यक्ष खण्डन करते रहे हैं। एक संस्कृतिवाद अपने चरम लक्ष्य में सम्प्रदायवाद न होकर एक व्यापक मानवतावाद है। इसी भावना में भावना की एकता और अखण्डता बनी रह सकती है तथा इसी दृष्टिकोण से हम अपनी अनेक समस्याओं को सुलझा सकते हैं। अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के समान अपने देश और भाषा से प्रेम भी सहजता से प्राप्त हो जाता है। परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव से यह प्रेम और भी प्रबल रूप धारण कर लेता है। वातावरण का यह सम्पर्क और संघर्ष उसके कर्म-जगत् को निर्मित ही नहीं करता वरन् उसे संशोधित और सम्पादित भी करता है। उसका सम्पूर्ण अन्तर्जगत् और मानसिक संस्कार उसी के तत्त्वचिन्तन से आन्दोलित और संचालित हो उठता है। विशिष्ट समय और संस्कार पाकर यह तत्त्व-जगत् मनोमय जगत् के साथ एकाकार होकर महान् मानव की वाणी के रूप में साकार हो उठता है। राजर्षि टण्डन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन भी इसी प्रक्रिया से किया जा सकता है। उनका राष्ट्रभाषा-प्रेम अकारण नहीं है, वह अपने युग और समाज की समस्याओं का एक तार्किक प्रतिफलन प्रतीत होता है। युग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक संस्कार साहित्य में प्रसाद और निराला को रचनात्मकता की नयी मानसिकता से जोड़ सकते हैं तो वे ही प्रबल संस्कार हिन्दी-भाषा, विशेष रूप से राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षेत्र में राजर्षि टण्डन जैसा अदम्य जिजीविषा का युग-पुरुष भी निर्मित कर सकते हैं। मैं मानता हूँ कि टण्डन जी उसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण की मनीषा के मूर्तिमन्त रूप रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में भाषा के लिए जो कार्य गांधी जी कर रहे थे, साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में वही कार्य टण्डन जी।

टण्डन जी के साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्य-क्षेत्र के कुछ संकेत देना भी मेरी बात की पुष्टि के लिए आवश्यक है। टण्डन जी गांधी विचार और दर्शन में रमे रहे हैं। गांधी जी इतने दूरदर्शी थे कि उन्होंने राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित उन सभी समस्याओं का संकेत दिया है जो आज भी हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। राष्ट्र की सांस्कृतिक-भावनात्मक एकता की दृष्टि से राष्ट्रभाषा हिन्दी का महत्त्वांकन और प्रचार-प्रसार का बड़ा श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने भाषा के साथ लिपि पर भी ध्यान आकृष्ट किया था और कहा था कि सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखा जाना चाहिए। गांधी जी से पहले स्वामी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दयानन्द सरस्वती, बंकिमचन्द्र चटर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जस्टिस शारदाचरण मित्र आदि प्रबुद्ध विचारकों ने देश के लिए एक सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी को स्वीकार कर लिया था। देवनागरी लिपि के लिए आन्दोलन की जोरदार आवाज बंगाल से उठी थी और बाद में उसी आवाज को राजर्षि टण्डन ने पहचान-परख कर देश भर में गुंजरित किया है। गांधी जी की आत्मकथा के 'सत्यनो प्रयोग' की यह बात टण्डन जी को मान्य थी कि "मैं जब दक्षिण अफ्रीका में था, तब यह स्वप्न देखा करता था कि संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं की एक समान लिपि होनी चाहिए और वह लिपि एकमात्र देवनागरी ही है।" खेद है कि गांधी जी का यह स्वप्न बाद में साकार न हो सका। नासमझ राजनीतिज्ञों ने इस स्वप्न को बाद में इतना विकृत भी किया है कि इसे ठीक कर पाना बड़ा कठिन हो गया है। इस सपने के अधूरे रहने का एक कारण तो यही है कि आज हिन्दी के पास राजर्षि टण्डन जैसा तपस्वी व्यक्तित्व नहीं है, अन्यथा यह कार्य शुरू तो किया ही जा सकता था।

टण्डन जी अपने जीवन-काल में लिपि के प्रश्न को तो नहीं सुलझा सके थे, लेकिन राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर वे समस्या का समाधानमूलक पहलू पा गये थे। उन्हें ज्ञान था कि इस विशाल देश की सांस्कृतिक एकता को राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा ही रक्षित किया जा सकता है। इस विशाल देश में अनेक बोलियाँ और भाषाएँ चौंकाने वाली बात नहीं है। भिन्न-भिन्न धर्म, दर्शन तथा आचार-विचार वाले लोगों में ऊपर से जो विविधता दृष्टिगत होती है, उसके मूल में सांस्कृतिक एकता का सूत्र वे खोज चुके थे। हमारी वैविध्य और वैचित्र्यपरक लोक-परम्पराओं में एक गहरी सांस्कृतिक एकता का सूत्र विद्यमान है। यही वह सूत्र है जो आज तक उत्तर तथा दक्षिण को जोड़े हुए है। जरूरत यही थी कि इस अन्तःसूत्र को सही सन्दर्भों में अन्वेषित किया जाय तथा समस्त भारत को भावनात्मक एकता में रचा-पचा दिया जाय। टण्डन जी के विचार से यह कार्य हिन्दी ही कर सकती थी। इसी दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की महत्त्व-प्रतिष्ठा की थी। देश भर में हिन्दी-सेवा के कार्य को संस्थाओं के माध्यम से कराने में टण्डन जी ने अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा का वरदान रूप टण्डन जी के द्वारा राष्ट्रभाषा प्रचार-नीति का एक क्रमबद्ध कार्य था। हिन्दी-जगत् के साहित्यकारों तथा समस्याओं आदि को ध्यान में रख कर ही उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना में बड़ा भारी सहयोग दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन सन् १९१० में काशी में हुआ। उसके सभापति महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी बने। इस सम्मेलन में उपस्थित राजर्षि टण्डन जी ने यह प्रस्ताव स्वीकृत करवाया कि सरकारी दफ्तरों में नागरी लिपि के प्रचार तथा हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए कोश-संग्रह का महत्त्वपूर्ण कार्य शीघ्र ही किया जाय। इस कार्य के लिए हिन्दी पैसा-फण्ड समिति का गठन भी किया और उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप तुरन्त पैसों की वर्षा शुरू हो गयी। इसी धन से आगे चल कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नींव पड़ी। दूसरे वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पं० गोविन्दनारायण मिश्र की अध्यक्षता में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

तीर्थराज प्रयाग में हुआ। इसमें टण्डन जी सर्वसम्मति से साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री भी निर्वाचित हुए और उन्होंने सम्मेलन के लिए एक संक्षिप्त नियमावली भी प्रस्तुत की थी जिसका हार्दिक स्वागत किया गया। इसके पश्चात् सम्मेलन की प्रगति का अपना ही गौरवमय इतिहास निर्मित हुआ है। रात-दिन एक करके टण्डन जी ने सम्मेलन में प्राण डाल दिये। उनकी कृपा से हिन्दी-साहित्यकारों-प्रेमियों तथा सेवियों का मेल-मिलाप और संगठन धीरे-धीरे सम्भव हो सका। देश के सभी प्रान्तों में इन सम्मेलनों का आयोजन किया जाता रहा। परिणामस्वरूप इसे एक अखिल भारतीय स्तर प्राप्त हो गया। टण्डन जी के भगीरथ प्रयत्नों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सन् १९१८ में इन्दौर में हुआ। इस सम्मेलन के सभापतित्व का गौरव राष्ट्रपिता गांधी जी ने बढ़ाया। गांधी जी के सभापतित्व में ही टण्डन जी ने सम्मेलन के कार्य को देशव्यापी स्तर पर करने का संकल्प दुहराया, जिसका समर्थन स्वयं गांधी जी ने मुक्त हृदय से किया था। इस प्रकार गांधी जी के आशीर्वाद और टण्डन जी के महत्प्रयासों से सम्मेलन ने दक्षिण भारत में हिन्दी सेवा का कार्य शुरू किया है।

राष्ट्रपिता गांधी जी की बलवती स्पृहा यही रही है कि दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार-प्रसार एवं शिक्षण का कार्य हो। धीरे-धीरे हिन्दी इतनी लोकप्रिय होती जाय कि समस्त जनता इसे हृदय से लगा ले। हमारी सांस्कृतिक एकता और अखण्डता का अन्तःसूत्र हिन्दी ही बन सकती है। यही कारण है कि सम्मेलन का कार्य अत्यधिक बढ़ जाने पर गांधी जी की इच्छानुसार दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई, जो सम्मेलन से सम्बद्ध होकर भी स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रही है। आज दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के महत्त्वपूर्ण कार्य पर गौरव होता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि तथा क्षमताओं से परिचित कराने, ज्ञान-विज्ञान के अनेक अनुशासनों से सम्पर्क रखने के लिए राजर्षि टण्डन ने 'हिन्दी-संग्रहालय' की स्थापना की है। यह हिन्दी-संग्रहालय आज भी अपने ढंग का देश में अद्भुत संग्रहालय है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन कानपुर के १३वें अधिवेशन में बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी उसके अध्यक्ष चुने गये। वहीं यह प्रस्ताव पारित किया गया कि एक हिन्दी-संग्रहालय स्थापित किया जाय। इस संग्रहालय को भरा-पूरा बनाने में टण्डन जी जीवन भर जुटे रहे। उन्हें जो भी पुस्तकें भेंट-रूप में प्राप्त होती थीं, उन्हें वे संग्रहालय को देते रहे। उनकी ही कृपा का फल है कि देश भर के शोधार्थी आज इससे लाभान्वित हो रहे हैं। टण्डन जी ने प्रयाग में 'हिन्दी विद्यापीठ' के लिए भी अनवरत श्रम किया था। अनेक अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन हेतु आते थे और यह संस्था उनकी सेवा में सक्रिय थी।

देश के अनेक प्रदेशों में हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के गठन-पुनर्गठन का कार्य राजर्षि ने किया था। राजर्षि इस कार्य में इतने समर्पित रहे हैं कि जब सन् १९५२ में दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आकस्मिक व्यस्तताओं के कारण कार्य रुकने लगा था तो इसके कर्मठ सूत्रधार टण्डन जी ने इसमें अपना कन्धा दे दिया था। डॉ० युद्धवीर सिंह को अध्यक्ष तथा श्री गोपालप्रसाद व्यास को प्रधान मन्त्री बना कर इसमें पुनः प्राण डाला था। इसकी अनेक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नवीन योजनाओं को राजर्षि टण्डन के आशीर्वाद और प्रेरणा के फलस्वरूप नये क्षितिज प्राप्त हुए हैं। इस ढंग से टण्डन जी वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों का भेदभाव त्याग कर राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए सदैव तत्पर रहे। विविधता में एकता की खोज टण्डन जी की परिकल्पना का आधार थी। उसी आधार की शक्ति ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंच से अमीर खुसरो और तुलसीदास; रहीम, रसखान और नानक को सदैव भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इसी शक्ति के कारण हिन्दी साहित्य आज बंगाली, मराठी, गुजराती और तमिल के प्रख्यात साहित्यकारों का अभिनन्दन कर सका है। अपनी विचारगत व्यापकता के कारण यह मंच हिन्दी पर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का आरोपण देखने वालों को भी सार्थक ढंग से समझा रहा है। टण्डन जी ने हिन्दी किसी पर लादने का प्रयत्न नहीं किया, उसे प्रेम एवं सद्भाव की भाषा बनाकर पनपाया है। छोटी-छोटी कटुताओं से ऊपर उठ कर आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के गौरव को बढ़ाने में प्रवृत्त है। राजर्षि टण्डन जी के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज देश भर में हिन्दी-सेवी संस्थाएँ अनेक कार्यों में संलग्न हैं।

अंग्रेजों के समय भारत की राजभाषा अंग्रेजी थी। सन् १९३७ से कांग्रेस के हाथों में प्रान्तीय शासन की बागडोर आयी थी। उसी समय से हिन्दी को तथा प्रान्तीय भाषाओं को महत्त्व देने का कार्य शुरू हुआ था। किन्तु उसके बाद भी राजभाषा के रूप में अंग्रेजी का ही वर्चस्व बना रहा। सन् १९४७ में यह चेतना भी आजादी के साथ जागृत हो उठी कि अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी चली जायेगी। १४ सितम्बर १९४९ को जबकि भारतीय संविधान सभा ने भारत संघ राज्य की राजभाषा के विषय में निर्णय किया। यहाँ पर हिन्दी के रूप के सम्बन्ध में देश में स्पष्ट दो मत थे। एक मत यह था कि भारत की राजभाषा के रूप में देवनागरी तथा उर्दू लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी प्रतिष्ठित हो। यह एक बोलचाल की ऐसी भाषा रहे जिसमें संस्कृत के भारी-भरकम, अप्रचलित तत्सम शब्दों का अभाव हो और जिसे हिन्दू-मुसलमान सभी आसानी से समझ सकें। इस मत के समर्थन में गांधी जी तथा अनेक गांधीवादी थे। किन्तु इस मत का समर्थन राजर्षि टण्डन ने नहीं किया। वे दूसरे मत के समर्थक थे जिनका कहना था कि नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी ही केन्द्र की राजभाषा हो। टण्डन जी के इस मत को हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के अलावा अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों का भी समर्थन प्राप्त था। किन्तु इन दो मतों के अतिरिक्त एक तीसरी धारा भी थी जो खुले तौर पर कहती थी कि अभी हिन्दी को ठीक से विकसित-परिष्कृत होने का मौका दिया जाय और उसे लाने की अवधि निश्चित कर दी जाय। दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों का विचार था कि राजभाषा के रूप में हिन्दी को लाने के लिए पन्द्रह वर्ष का समय अपर्याप्त है। उन सभी का विचार था कि इस अवधि को बढ़ाया जाय। इस अवधि को बढ़ाने के बाद हिन्दी 'राजभाषा' के नाम पर कैसे-कैसे राजनीतिक कुचक्रों का शिकार बनती रही, यह इतिहास आज किसी भी प्रबुद्ध चिन्तक से छिपा नहीं है। धीरे-धीरे राजभाषा का प्रश्न पूरे भारतवर्ष के लिए एक ऐसा चिन्तनीय प्रश्न बन बैठा कि शिव की जटाओं की भाँति अब वह सुलझने में ही नहीं आता है। इस चिन्तनीय प्रश्न और उसकी स्थिति को सुलझाने के लिए राजर्षि टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ने बड़ा भारी कार्य किया था। उन्होंने दिल्ली में देश के सभी प्रख्यात भाषाविदों एवं विद्वानों की एक परिषद् को आमन्त्रित किया था। इसमें सभी भाषाओं के विद्वान् सम्मिलित भी हुए थे। तीन दिन तक विचार-चर्चा का क्रम जारी रहा। अन्ततोगत्वा सभी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि हिन्दी ही अपनी प्रकृति तथा गठन के कारण भारत की सभी भाषाओं के अत्यधिक निकट है। ऐसी स्थिति में हिन्दी को ही भारत की राजभाषा स्वीकार किया जाय। आगे चल कर राजभाषा सम्बन्धी जो भी निर्णय हुए हैं, उन पर राजर्षि टण्डन के निर्णयों का एक अर्थ में काफी असर रहा। उन्हीं के कारण संविधान में राजभाषा धारा के अन्तर्गत यह स्वीकृति मिल सकी है कि संघ की राजभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि होगी। संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा। समग्रतः यह जानना ही पर्याप्त है कि राजभाषा नीति के मूलाधार में राजर्षि टण्डन थे। उनके बाद राजभाषा नीति में जो अजीबोगरीब सुधार आये हैं और हम कुछ नहीं कर सके हैं, इसका प्रधान कारण तो यही है कि हमारे पास आज टण्डन जी जैसे तेजस्वी संगठनकर्ता का अभाव है।

राजर्षि टण्डन जीवन भर इस नारे का विरोध करते रहे कि बिना अंग्रेजी के हम भारतीयों का कार्य नहीं चल सकता है। अंग्रेजी समर्थकों को यह बात उन्हें बेहद मूर्खतापूर्ण लगती थी कि अंग्रेजी का आश्रय छूटा तो भारतवर्ष की अखण्डता खण्डित हो जायगी तथा विश्व-संस्कृति से वह छिन्न-भिन्न होकर अलग-थलग पड़ जायेगी। ऐसी स्थिति में अंग्रेजीदाँ लोग अंग्रेजी को ही राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में थे। इन अंग्रेजीदाँ लोगों से टण्डन जी का सीधा टकराव था। इस विशाल देश में यदि हमारी अपनी भाषा राष्ट्रभाषा-राजभाषा न हो सकी तो दुनिया में हम अपना मस्तक कैसे ऊँचा रख सकेंगे! हमारी अपनी अस्मिता का क्या होगा? इस प्रकार के अनेक प्रश्न टण्डन जी को मथते थे और वे राष्ट्रभाषा आन्दोलन में कूद पड़ते थे। स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में उन्हें महात्मा गांधी का वरदहस्त भी प्राप्त था। उन्हीं से प्रेरणा पाकर वे न तो भारतीय भाषाओं पर हिन्दी लादना चाहते थे, न हिन्दी लादने का भूत खड़ा करना चाहते थे। किन्तु हमेशा अंग्रेजी को बनाये रखना भी वे अनुचित मानते थे। उन्हें ज्ञात भी था कि रूस और चीन जैसे देशों ने कितनी कुर्बानी करके भी अपनी मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा का पोषण किया था। टण्डन जी को यह भी ज्ञात था कि गांधी, सुभाष और तिलक ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन देश को एक नया व्यक्तित्व देने के लिए ही किया था। गांधी जी तथा तिलक जैसे अनेक लोग हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर असन्तुष्ट भी थे किन्तु वे गांधी जी को अन्यथा नहीं लेते थे। स्वयं गांधी जी तथा उनके समर्थकों ने हिन्दी को लेकर जितना कार्य दक्षिण भारत में किया, उतना किसी राजनीतिक संस्था ने नहीं किया। गांधी जी के इस प्रयास ने ही राजर्षि टण्डन को सही दिशा प्रदान की थी और वे आजीवन हिन्दी को समर्पित हो गये थे। वे जानते थे कि अंग्रेजी भाषा साम्राज्यवादी व्यवस्था में घोर अन्याय-उत्पीड़न का साधन रही है। उसी के द्वारा सम्पूर्ण देश को दबोच

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लिया गया है। ऐसी स्थिति में गुलामी तथा शोषण की भाषा के विरुद्ध टण्डन जी को भयंकर लड़ाई लड़नी पड़ी थी।

टण्डन जी जीवन भर यह कहते रहे कि अंग्रेजी को जानना एक अलग बात है; अंग्रेजी को अपने सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों का माध्यम बना लेना एकदम अलग बात है। हमारे तमाम पड़ोसी देशों ने अंग्रेजी को सीखा है, लेकिन अपनी भाषाओं को अविकसित मान कर अंग्रेजी को राजभाषा बनाने का आग्रह उन्होंने कभी नहीं रखा है। हमें भी इस दिशा और दृष्टि से सबक लेना चाहिए। यही कारण रहा है कि हमारे सांस्कृतिक-राष्ट्रीय नवजागरण के सभी प्रबुद्ध नेता अँग्रेजी को सीख कर भी उसे राजभाषा बनाने के विरुद्ध थे। साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला, महादेवी और अज्ञेय जी से यही सिद्ध होता है कि ये सभी साहित्यकार अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को अपनी भाषा में ही रचते-परिष्कृत करते रहे हैं। भाषा संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया है, भाषा द्वारा हम अपनी संस्कृति ही बनाते हैं। ऐसी स्थिति में टण्डन जी का भाषा-प्रेम सांस्कृतिक बोध की सम्पन्नता का सूचक है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनन्त युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है और जो मूर्ति खरोंच आने पर भी अखण्ड और अक्षत रही है; जिस मूर्ति के समक्ष सम्प्रदायों, धर्मों, प्रदेशों आदि की कठोर सीमाएँ भी तरल होकर गल गयी हैं। उस भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे टिक सकती हैं। राजर्षि टण्डन का यह चिन्तन ही उन्हें सन्त-परम्परा का आधुनिक साधक सिद्ध कर देता है। समग्रतः कह सकते हैं कि टण्डन जी के सेवा-कार्यों में आज भी प्रखर मनीषा के सन्त का तेज चमकता हुआ दृष्टिगत होता है। वे निश्चय ही आगे आने वाली हमारी पीढ़ियों के प्रेरणा-पुरुष थे।

हिन्दी-विभाग हिन्दू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी की अस्मिता और राजर्षि टण्डन जी

डॉ० मदन केवलिया

⊙ ⊙

"न केवल प्रदेश अपितु सम्पूर्ण देश में अपनी कारयित्री प्रतिभा, कथनी और करनी की एकरूपता, शांत, सौम्य और तेजस्वी व्यक्तित्व के बल पर श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन राजर्षि-परम्परा की एक कड़ी बन गये।"

'सम्मेलन' परिवार की ओर से दी गयी एक श्रद्धांजलि में उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त यह भी कहा गया कि उनकी ओजस्वी वाणी में अद्भुत शक्ति थी, जिनके कारण इन्सान सहज ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। श्री रामेश्वर गुरु ने टण्डन जी को एक अप्रतिम प्रतिभा का साधक और संत बताते हुए कहा—"उनके जीवन के विभिन्न स्वरूप, विभिन्न क्रिया-कलाप और विभिन्न घटना-क्रम आदर्शों के यथार्थ उपमान हैं।"

राष्ट्रभाषा हिन्दी की अस्मिता की रक्षा हेतु टण्डन जी अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही सक्रिय थे। वस्तुतः १९वीं शती के अंतिम दिनों में 'राष्ट्र भावना एवं भाषायी इतिहास' पर विशेष बल दिया जाने लगा था। अंग्रेजों की उपेक्षापूर्ण नीति एवं स्वतंत्रता-संग्राम के बाद 'सम्पर्क भाषा' की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। सम्पूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधने वाली भाषा की तलाश शुरू होने लगी थी। करोड़ों देशवासियों की भावनाओं व कामनाओं का प्रतीक न तो अंग्रेजी भाषा हो सकती थी और न संस्कृत, अरबी-फारसी जैसी भाषाएँ। प्रांतीय भाषाएँ भी जन-जन तक राष्ट्रीय-संदेश पहुँचाने में असमर्थ थीं। तभी १८७३ ई० में श्री केशवचंद्र सेन ने अपने पत्र 'सुलभ समाचार' (बंगाली) में लिखा—"यदि भाषा एक न होने पर भारतवर्ष में एकता न हो तो उसका उपाय क्या है? . . .इस समय भारत में जितनी भी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र प्रचलित है।" ('भारत की सम्पर्क भाषा—डॉ० शर्मा एवं डॉ० मधोक, पृ० ५९)। इस बात का समर्थन स्व० बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, श्री भूदेव मुखर्जी, श्री राजनारायण बोस प्रभृति देशभक्तों ने भी किया।

१९ जुलाई, १८९३ को 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। वैसे राजर्षि टण्डन जी स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद चुके थे और राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार हेतु सक्रिय हो चुके थे; किन्तु अब उनके सम्मुख एक सुगठित मञ्च था। टण्डन जी हिन्दी भाषा की शक्ति और प्रभाव से परिचित थे और इस बात को वे जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे। वे चाहते थे कि हिन्दी को शैक्षणिक एवं राजकीय कार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान उपलब्ध हो सके। उत्तर प्रदेश में ही

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी की सबसे बुरी हालत थी। अदालतों और सरकारी स्कूलों में उर्दू का बोलबाला था। इसीलिए नागरी प्रचारिणी-सभा के मूल उद्देश्यों में रखा गया—(१) देश-विदेश में हिन्दी भाषा और लिपि का प्रचार करना, (२) हिन्दी भाषा की उन्नति करना, (३) हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का उद्योग करना इत्यादि। इस कार्य हेतु श्रीयुत् टण्डन जी ने अथक प्रयास किया। अदालतों में देवनागरी को समुचित स्थान दिलाने हेतु उन्होंने लाखों लोगों के हस्ताक्षर करवा कर सरकार को सजग किया। यह टण्डन जी, मालवीय जी जैसे महापुरुषों का ही प्रयास था कि १८९५ ई० में 'बोर्ड ऑफ रेवेन्यू' के संमनों में हिन्दी को स्वीकृति मिली और फिर १८ अप्रैल, १९०० ई० में उत्तर प्रदेश की अदालतों में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी में भी प्रार्थना-पत्र आदि लेने की व्यवस्था को स्वीकृति मिली। (दे० भारत की सम्पर्क भाषा, पृष्ठ ६२)।

यह बात समझ में आती है कि जब उत्तर प्रदेश में ही हिन्दी उपेक्षित थी तो उसे आदर किस प्रदेश में मिलता? अतः राष्ट्रीय स्तर पर इस समस्या से जूझने के लिए राजर्षि जी कटिबद्ध हुए। नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में अनेक सम्मेलन किये गये जिनमें राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकारने पर बल दिया गया। उस समय प्रांतीय समस्याएँ इतनी अधिक थीं कि भाषायी प्रश्न पर समग्रता से विचार करने हेतु लोगों का मानस बनाना बड़ा कठिन काम था। १९०५ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के एक अधिवेशन में श्री लोकमान्य तिलक ने कहा—"मैं कहता हूँ कि समग्र भारत के लिए एक भाषा मान लेने का यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन है। हमारा लक्ष्य न केवल समग्र उत्तर ही, वरन् मैं तो कहूँगा कि आगे चल कर मद्रास के दक्षिण भाग समेत समस्त भारत के लिए एक भाषा करने का भी है।" इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए राजर्षि टण्डन जी ने काफी प्रयास किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि अलग-अलग भाषाएँ होने से राष्ट्र-एकता की भावना अधूरी ही रहेगी। उन्होंने हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशनों को बढ़ावा देना शुरू किया और इस ओर ठोस प्रगति होने लगी। 'बंग-भंग' के बाद टण्डन जी ने, श्री बंकिमचन्द्र के आह्वान पर, इस ओर विशेष सक्रियता प्रदर्शित की।

अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रभाषा का प्रचार-प्रसार प्रायः नगण्य ही था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १० अक्टूबर, १९१० ई० को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गयी। हिन्दी को अन्तरप्रान्तीय भाषा बनाने और विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाये जाने के लिए आन्दोलन, हिन्दी की उच्च परीक्षाओं की व्यवस्था, हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज व प्रकाशन आदि की व्यवस्था आदि उद्देश्य सामने रखे गये। कर्मठ मंत्री के रूप में टण्डन जी ने पूरी निष्ठा से कार्य किया और उनके सहयोग से 'सम्मेलन' का कार्यक्षेत्र भी बढ़ा। हिन्दी-प्रचार के लिए परीक्षाएँ आयोजित की जाने लगीं, जो बड़ी लोकप्रिय हुईं और इसके माध्यम से अनेक हिन्दी-अहिन्दी भाषियों को हिन्दी पढ़ने-लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्री राजेश्वर गुरु के शब्दों में—"वे राष्ट्रधर्मी सच्चे अर्थों में थे। उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्र राष्ट्र बिना अपनी राष्ट्रभाषा के वाणीहीन है, गूँगा है और हमें

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

निर्भीक होकर मानना चाहिए कि हिन्दी को यह 'सम्मान मिलना चाहिए।"—('राष्ट्रभाषा संदेश', ३१ अक्टूबर, १९८१, पृष्ठ ९)।

टण्डन जी स्वाभिमानी एवं निर्भीक व्यक्तित्व के धनी थे। जिन मुद्दों पर उनके विचार दूसरों से मेल नहीं खाते थे, उन्हें वे पचा नहीं पाते थे। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अध्यक्ष होते हुए गांधी जी को, टण्डन जी को स्पष्ट वक्तृता के कारण, त्यागपत्र देना पड़ा। टण्डन जी हिन्दी की शुद्धता के पक्षधर थे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंच से टण्डन जी ने हिन्दी के सम्बन्ध में फैली हुई सभी भ्रांतियों को दूर करने की चेष्टा की। उस समय विभिन्न प्रांतीय भाषाओं को उभारने और हिन्दी की शक्ति को कम करने का कुचक्र चल रहा था। यहाँ तक कि क्षेत्रीय भाषाओं के समर्थक भी हिन्दी का विरोध करने लगे थे। इस शंका का समाधान करते हुए राजर्षि टण्डन जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन में कहा था—"राष्ट्रभाषा होने के कारण प्राचीन समय से हिन्दी सब प्रांतीय भाषाओं को बड़ी बहिन है, उसके और उसकी छोटी बहिनों के स्वरूपों में माता का अमर सौन्दर्य छलकता है। बहिनें एक-दूसरे के रूप में अपना रूप देखती हैं। उनका आपस का प्रेम स्वाभाविक है। बड़ी बहिन, छोटी बहिनों के अधिकार सुरक्षित रखती है। उसका द्वार सब बहिनों के लिए खुला है और उसके घर में सब बहिनों को आपस में मिलने और मिल कर राष्ट्रोपासना करने की सुविधा है।"

कर्मठता और निःस्वार्थ सेवा का जीवन जीने वाले टण्डन जी ने हिन्दी के अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा के लिए प्राण-पण से प्रयास किया। उन्होंने न केवल विदेशी शासन के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई, अपितु हिन्दी के प्रश्न पर अपने सहयोगियों से भी विरोध मोल लिया। वास्तव में "टण्डन जी की देशभक्ति में और अटूट हिन्दी-प्रेम में अक्षय एकरूपता थी और वे इन दोनों में कहीं विरोधाभास नहीं देखते थे। देश की अखण्डता के लिए वे सरल हिन्दी का समन्वय और प्रचार तथा उपयोग अनिवार्य मानते थे।"—('राष्ट्रभाषा संदेश', अंक १-२, पृष्ठ ९)। हिन्दी के नाम पर समझौता करने को वे कतई तैयार नहीं थे। नीति और आदर्श उनके जीवन मंत्र थे।

वर्षव्यापी राजर्षि टण्डन जन्मशती के कार्यक्रम घोषित हो चुके हैं। सम्मेलन के प्रधान मन्त्री श्री प्रभात शास्त्री ने इस अवसर पर पत्र-प्रतिनिधियों के सम्मुख कहा है—"यह वर्ष वास्तव में राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रीय अस्मिता के अन्वेषण, सर्वेक्षण और समर्थन का वर्ष है। हमें चाहिए कि हम एक बार पुनः उन मूल्यों और रचनात्मक भावनाओं का वरण करें, जो हमारे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के समय प्रतिष्ठित थीं। राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी समस्या उन्हीं मूल्यों से जुड़ी हुई है।"—('राष्ट्रभाषा संदेश', ३१ जुलाई, १९८१, पृष्ठ १५)।

संसद् में हिन्दी के प्रश्न पर टण्डन जी ने सदा ही जोरदार दलीलें दी हैं और उसे राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता के लिए अनिवार्य तत्त्व बतलाया है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज उठाने में वे कभी पीछे नहीं रहे। जीवन के अंतिम क्षणों तक वे हिन्दी की अस्मिता व प्रगति की चिन्ता करते रहे। अपने निष्कलंक एवं पूत सार्वजनिक जीवन में अपने विचारों द्वारा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

असंख्य लोगों के प्रिय-भाजन बने। वे सभी के प्रेरणा पात्र थे। आज वे हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनका मौन आशीर्वाद ही हमारा सम्बल है। "उनकी अनुपस्थिति में भी बाहर और भीतर एक शान्त, सौम्य, चिन्मय, अगोचर, शाश्वत उपस्थिति का अनुभव हो रहा है।"

आज भी राष्ट्रभाषा की समस्या विकट है। इसमें अंग्रेजी-भक्तों की निहित स्वार्थता आर्थिक-राजनीतिक लाभ आदि बातें स्पष्ट दिखायी दे रही हैं। क्षेत्रीय भाषाओं को हिन्दी से टकराहट करा कर कई स्वार्थी लोग नारेबाजी और हुल्लड़बाजी से अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं। उनके सामने राष्ट्रीय एकता का प्रश्न नहीं है, अपनी आभिजात्य प्रवृत्ति को जिन्दा रखने की समस्या है। हिन्दी की 'व्यापकता, सरलता, वैज्ञानिकता' के लिए टण्डन जी ने जो आदर्श सामने रखे हैं, उन पर चलना होगा। श्री प्रभात शास्त्री के शब्दों में हम भी कह सकते हैं कि—"सम्पूर्ण राष्ट्र-अस्मिता के समग्र रूप का उन्नयन करना और राष्ट्रीय हितों, राष्ट्रीय आदर्शों के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न को गति देना ही, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को वास्तविक श्रद्धांजलि देना होगा।" ('राष्ट्रभाषा संदेश', ३१ जुलाई, १९८१)।

पार्वती सदन, कोटगेट
बीकानेर-३३४००१
(राजस्थान)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रण-प्रयास-पुरुषार्थ और प्राणाहुति का एक नाम : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

डॉ० कुन्तल गोयल

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन एक ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने स्वेच्छा से राजपद का परित्याग कर कण्टकाकीर्ण जन-सेवा का पथ अंगीकार किया था। न जाने कितने कष्ट, कितनी बाधाएँ उनके सामने आयीं पर उनके साहस, संकल्प और अडिग आस्था की चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो गयीं। उनकी कामना में देश-हित सर्वोपरि था। वे एक ऐसे शासन के इच्छुक थे जो जनता के निकट हो। उनकी मान्यता थी कि जन-भावना से दूर रहने पर शासन से यदि जन-हित नहीं हो पाया तो स्वराज्य के लिए लड़ी गयी लड़ाई से देश को क्या मिलेगा।

अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी भाषा—इन्हीं तीन बिन्दुओं के सम्मिलित साकार स्वरूप थे राजर्षि टण्डन। भारतीय संस्कृति के पोषक राजर्षि सदैव देश के उन उन्नायकों में अग्रणी रहे जिन्होंने भाषा, संस्कृति और आचरण की गरिमा से मण्डित होकर देश के सौभाग्य का मूल्यांकन किया था। वे चाहते थे—सभी दृष्टियों से देश की उन्नति। उनका कथन था कि देश अथवा विदेश में जहाँ कहीं भी भारतीय नागरिक जायें, वे अपने देश के अनुकूल शिष्टाचार और आचरण प्रदर्शित करें। उनकी रीति-नीति अपने देश की संस्कृति के सर्वथा अनुकूल हो। इसी भाव को लेकर उन्होंने 'भारतीय संस्कृति सम्मेलन' की स्थापना की थी। इस संगठन के माध्यम से उन्होंने देश के अन्यान्य भागों में एक सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्मित करने का प्रयास किया था। विदेशों में भी वे अपने देश की सांस्कृतिक गरिमा को उकेरना चाहते थे। धार्मिक सहिष्णुता और सौहार्द—यह उनके राष्ट्र-प्रेम की एक शर्त थी।

हिन्दी भाषा के प्रति शैशव से ही उनका अगाध प्रेम था। दिल्ली में हो रहे दरबार को लक्ष्य बना कर उन्होंने 'बन्दर सभा' महाकाव्य का सृजन किया था तथा 'अभ्युदय' का एक वर्ष तक बड़ी कुशलता से सम्पादन किया। महामना मदनमोहन मालवीय तथा पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का उन पर अटूट विश्वास था। हिन्दी के प्रति उनकी आस्था को देखकर उन्होंने उन्हें राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा का दायित्व सौंपा जिसका व्रत लेकर वे बड़ी निष्ठा से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति और सुरक्षा के लिए जीवनपर्यन्त संलग्न रहे। अपने 'काशी और प्रयाग की साहित्यिक यात्रा' संस्मरण के अंतर्गत राजर्षि टण्डन की अनन्य हिन्दी उपासना का उल्लेख करते हुए स्व० आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा था—"हिन्दी के अभ्युदयार्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा जोरों से काम कर रही थी। १९१० में जिसने हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जन्म दिया जिसे राजर्षि टण्डन अपने साथ प्रयाग ले गये; जैसे विश्वामित्र ने राम को शक्तिशाली बना कर इस योग्य किया कि उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिए सबकी आकांक्षाएँ जागृत हुईं और महाराज दशरथ ने सबकी इच्छाओं की पूर्ति करने का निश्चय किया उसी तरह राजर्षि ने सम्मेलन को अप्रतिम शक्ति देकर इस योग्य कर दिया कि उसकी विजय हुई।" राजर्षि मानस पुत्र की तरह सम्मेलन के संवर्द्धन में अपने कर्म की आहुति देते रहे। यह उनके अतुलनीय प्रयासों का ही प्रतिफल था कि संविधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में समादृत हुई। उनकी दृष्टि में बिना अपनी भाषा का सम्मान किये राष्ट्र कभी समृद्ध नहीं हो सकता, न ही कोई अपने राष्ट्र को प्रेम कर सकता है। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रवासियों को बार-बार सचेत किया और कहा—"हिन्दी को अपनाओ, पनपाओ। हिन्दी राष्ट्रीयता के उत्थान में सहायक बने। हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए प्रत्येक भाषा-भाषी को कुछ काम करना चाहिए।" उनकी यह कामना थी—"हिन्दी दूर-सुदूर फैले प्रेम की मधुर बयार से, अधिकार की अन्धी आँधी से नहीं।" हिन्दी के प्रश्न को राजर्षि टण्डन ने भारत की आजादी का प्रश्न मान कर कहा था—"दृढ़ता से किन्तु विनम्रतापूर्वक हिन्दी की सेवा करो। जो कुछ कहो, नाप-तौल कर कहो। हिन्दी के लिए अभी बहुत काम करना है। हिन्दी मेरे जीवन का मुख्य अंग है।" सचमुच राजर्षि टण्डन और हिन्दी एक-दूसरे का पर्याय है। उनका यह हिन्दी-प्रेम उनकी अंतरात्मा का एक ऐसा उज्ज्वल और पावन पक्ष था जिसका विरोध वे कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, चाहे वे महात्मा गांधी या पं० जवाहरलाल नेहरू ही क्यों न हों। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि सम्मेलन को राजर्षि टण्डन न मिले होते तो हिन्दी को राजभाषा बनने का सौभाग्य कभी भी नहीं मिल सकता था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा उन्होंने अपने इसी हिन्दी-प्रेम को पल्लवित किया और अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उन्होंने सम्मेलन की परीक्षाओं को समाविष्ट कराया। टण्डन जी के सपनों का यह आगार अपना आकार पाने में जाने कितने व्यवधानों और जटिलताओं से गुजरा है पर दृढ़ इच्छा-शक्ति और उत्साह की जीवन्त मूर्ति राजर्षि टण्डन के अद्भुत संकल्प के सम्मुख सब कुछ सहज होता गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सुन्दर विशाल भवन इसका साक्षी है। उन्होंने सम्मेलन की सुघड़ व्यवस्था के लिए सम्मेलन विधेयक भी पास कराया। साथ ही, शासन द्वारा इसे राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था की मान्यता दिलायी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन राजर्षि टण्डन के जीवन की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है जिसमें उनका देश-प्रेम, हिन्दी-प्रेम के रूप में हिलोरें ले रहा है।

राजर्षि टण्डन राजनीति से संबंधित अवश्य थे पर सर्वोपरि वे साहित्य के थे। साहित्य के प्रति इसी प्रेम और सेवा-भाव ने ही उन्हें राजनीति में आने के लिए प्रेरित किया था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उनका यह साहित्य-प्रेम और सेवा-भाव देख कर गांधी जी ने कहा था—"हिन्दी यदि देश की मूर्ति है तो इसीलिए कि पुरुषोत्तमदास जैसे महान् व्यक्ति उसके संचालक हैं।" प० माखनलाल चतुर्वेदी भी उनके इस प्रेम को देखकर अभिभूत थे। उनका कथन था—"हिन्दी की सेवा और उसकी रक्षा के लिए किये गये प्रण, प्रयास, पुरुषार्थ और प्राणाहुति का सम्मिलित नाम है पुरुषोतमदास टण्डन।" राजर्षि टण्डन के लिए ग्रन्थों की संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं थी। महत्त्वपूर्ण था—उसका वैभवशाली होना। उनकी मान्यता थी कि परमोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी भी साहित्य को महिमा मण्डित कर सकते हैं। हिन्दी का 'रामचरित मानस' अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रन्थ समुदाय से लोहा ले सकता है।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन सरलमना थे। वे सरलता और निश्छलता की प्रतिमूर्ति थे। उनके कार्य साहस और आदर्श की मिसाल थे। राजनैतिक विचारों में मतभेद होते हुए भी श्री नेहरू टण्डन जी के विचारों को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे और अनेक अवसरों पर टण्डन जी के साहसिक आदर्श जीवन की सराहना करते थे। उनका कथन था कि जिस बात को वे जीवन में उतार लेते थे, उसे जीवन और कर्म दोनों में पूरी तरह निभाने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू यह कहने से नहीं चूके कि "जो भी व्यक्ति टण्डन जी के सम्पर्क में आये, सबने उनसे कुछ-न-कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। जो उनसे मिले, लेकर गये। हमने भी उनसे लिया, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी।" अपने सिद्धांतों पर अटल स्तम्भ की भाँति दृढ़ रहने वाले राजर्षि टण्डन नैतिकता और नियम के पाबन्द थे। उनका जीवन त्याग, आदर्श और सिद्धान्तों की नियमबद्धता और नैतिकता की नींव पर पला और बढ़ा। उन्होंने देश की राजनैतिक समस्याओं को बड़ा होते हुए भी अपेक्षाकृत सरल माना और कहा कि "वे कोई समस्याएँ नहीं हैं। देश की वास्तविक समस्या नैतिक है और जब तक वह हल नहीं होगी तब तक और समस्याएँ उलझती जायेंगी।" उनके व्यक्तित्व में सत्य और साधना की उज्ज्वलता थी। इसी को उन्होंने प्रत्येक के जीवन का मूल मंत्र माना। उनका कथन था—"हमारा जीवन सादा और विचार स्तर उच्च होना चाहिए। हमारी आवश्यकताएँ सीमित होनी चाहिए और ईमानदारी के साथ अपने दूसरे भाइयों की सेवा करने का आदर्श हमें सदैव अपने सामने रखना चाहिए।" यह था जन-हित के प्रति उनका उदात्त दृष्टिकोण।

किसानों के प्रति भी उनके मन में प्रबल स्नेह था। उन्होंने 'किसान संघ' की स्थापना कर किसान आन्दोलन में प्रमुख रूप से भाग लिया। इस संदर्भ में उनके इस गुण की प्रशंसा करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"उन्होंने जो भी कार्य हाथ में लिये, तहेदिल से उसमें गहरे डूबे। टण्डन जी और हम में जवानी थी। गरूर था। हममें गर्व था कि हम बड़ी फौज के सिपाही हैं। किसी से डरते नहीं। घबड़ाते नहीं। किसानों का जो काम हाथ में उठाया, उसमें टण्डन जी सबसे आगे थे। उस जमाने की तस्वीर देखना हो तो टण्डन जी को देखिए जो अटल खम्भे की तरह अपने सिद्धांत में पक्के हैं। हममें से कुछ लोग बह गये लेकिन वह डटे रहे। एक आदमी का खास बातों में जमे रहना इस बात की याद दिलाता है कि उसके

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पीछे सिद्धांत हैं।" गांधी जी भी राजर्षि टण्डन के इन गुणों के प्रशंसक थे। १९२९ में इलाहाबाद में हुए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था—"प्रयाग को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसने कांग्रेस के लिए जवाहरलाल नेहरू तथा लोक सेवक मण्डल को पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे व्यक्ति अध्यक्ष पद के लिए दिये हैं।" 'यंग इण्डिया' में गांधी जी ने टण्डन जी के संबंध में लिखा था—"ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।"

सब जानते हैं कि राजर्षि टण्डन एक महान् नेता थे, एक तपोनिष्ठ हिन्दी सेवी थे। पर सम्भवतः बिरलों को ही यह विदित होगा कि टण्डन जी एक महान् सुधी साधक भी थे। जिस तरह उनका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के अनुरूप था, उसी तरह उनकी वेशभूषा और भोजन भी किसी साधक की साधना की भाँति स्वल्प और सीधा-सादा था। इस दृष्टि से वे गांधी जी के समकक्ष थे। वे नमक नहीं खाते थे। दूध नहीं पीते थे और दूध के बने पदार्थों का भी सेवन नहीं करते थे। दूध के संबंध में उनका कथन था—"जब तक मनुष्य को दूध की आवश्यकता थी तब तक प्रकृति ने माता के स्तनों में उसके लिए उपलब्ध कर दिया। जो दूध तुम पीते हो, वह मनुष्य का नहीं बछड़े का भोजन है। प्रकृति ने उसे बछड़े के लिए उत्पन्न किया है।" यह थी उनकी उदारता भरी मानवीय दृष्टि। उनकी इसी दृष्टि ने उनके व्यक्तित्व को उदारता, सहिष्णुता, करुणा और त्यागपूर्ण गुणों से अलंकृत किया। सही अर्थ में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन राष्ट्र के निर्माता थे। ऐसे तपोनिष्ठ राजर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि और देवर्षि टण्डन जी को सबका शत-शत प्रणाम।

मनीषा भवन, न्यू कालोनी,
अम्बिकापुर, सरगुजा (मध्यप्रदेश)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पुण्यश्लोक टण्डन जी

श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

⊙⊙

टण्डन जी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के तपस्वी योद्धा और राष्ट्रभाषा हिन्दी के अन्यतम पुजारी थे। राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए उन्होंने सुख और सम्पन्नता को स्वेच्छा से ठुकरा कर आजीवन कठोर तपस्या और सर्वस्व त्याग का मार्ग चुना था।

टण्डन जी की सत्यनिष्ठा, सदाचरणशीलता, परदुःखकातरता, प्रखर देशभक्ति और आदर्श राष्ट्र भावना सर्वथा अनुकरणीय हैं। वे राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए सतत संघर्ष करने वाले अग्रिम पंक्ति के सेनानी थे।

आधुनिक भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायकों में जिन दो जननायक राष्ट्रीय महापुरुषों का स्थान सर्वोपरि है वे हैं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्रीय चेतना का विकास तथा राष्ट्र-वासियों की प्रतिभा का मौलिक निखार असंभव है, इस तथ्य को जितनी सहज निष्ठा से इन दो नेताओं ने समझा और तदनुसार कार्य किया वैसा अन्य लोगों ने नहीं किया। राष्ट्रीय स्वाधीनता के समान ही राष्ट्रभाषा का प्रचार और प्रसार आवश्यक है। इसको ध्यान में रख कर टण्डन जी ने सन् १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थापना की थी। साहित्य सम्मेलन का पल्लवन एवं उसकी राष्ट्रव्यापी मान्यता राजर्षि के रचनात्मक व्रती महापुरुष होने का सर्वोत्तम उदाहरण है। टण्डन जी के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी भाषा और साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय कीर्तिमान स्थापित किये। सम्मेलन की गरिमा और गौरवशाली भारतीय परम्परा के वे एकमात्र प्रतीक थे। वस्तुतः भारत राष्ट्र, भारतीय संस्कृति और समस्त भारतीय भाषाओं के प्रति की गयी उनकी सेवाएँ इतिहास के सुनहले पन्नों में सदैव अंकित रहेंगी।

इसी प्रकार विधि के क्षेत्र में उनका योगदान कम नहीं है। वे उच्चकोटि के वकील थे ही और उत्तर प्रदेश विधान सभा में उनकी निष्पक्षता की बड़ी धाक थी। तब के संयुक्त प्रान्त और आज के उत्तर प्रदेश की विधान सभा के जब वे स्पीकर (अध्यक्ष) चुने गये तब उनके निर्णयों को कोई चुनौती नहीं दे सका। उनके निर्णय एवं टिप्पणियाँ भारतीय विधानपालिका के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। सन् १९३७ में जब वे प्रान्तीय एसेम्बली के अध्यक्ष चुने गये थे तब की प्रमुख विरोधी पार्टी मुस्लिम लीग ने भी कभी उनकी निष्पक्षता पर उँगली नहीं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उठायी। सन् १९४६ में टण्डन जी दुबारा स्पीकर (अध्यक्ष) चुने गये और सन् १९५० तक वे इसी पद को गौरवान्वित करते रहे। सन् १९५० में जब वे अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए तब उन्होंने उत्तर प्रदेशीय विधान सभा की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। इस अवसर पर उत्तर प्रदेश विधान सभा भवन, लखनऊ में आयोजित विदाई समारोह में टण्डन जी के अप्रतिम व्यक्तित्व की अभ्यर्थना करते हुए प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने कहा था—

"आपकी (टण्डन जी की) अध्यक्षता से हमारे जीवन का स्तर ऊँचा रहा है और आप जिन सिद्धान्तों को रखते थे और आपसे जो आशाएँ हमने प्रकट की थीं, उनका पूरी तरह से आपने सदन में पालन किया। सभी का आपके लिए आदर और सम्मान का भाव रहा है।

मेरी एक उत्कट अभिलाषा थी कि कम-से-कम जमींदारी उन्मूलन बिल के वाद-विवाद खत्म होने तक आप हमारे अध्यक्ष बने रहे क्योंकि उसमें ऐसे जटिल प्रश्न आ सकते थे, जबकि हमें एक वयोवृद्ध और अनुभवी अध्यक्ष की आवश्यकता थी। आपने मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया। आपको इस बात से कुछ हर्ष होगा कि आपकी अध्यक्षता में यह बड़ा बिल पारित हुआ, जिसके बारे में हमारे प्रान्त ने सबसे पहले आपने दुन्दुभी बजाई थी। इसके अनुसार प्रान्त के करोड़ों कृषकों को सब तरह के अधिकार प्राप्त होंगे, जो आप चाहते थे। आपका नाम और आपकी अध्यक्षता इस बिल के साथ सदैव बनी रहेगी। परन्तु जिस स्वतंत्रता से और जिस निष्पक्षता से और सबके स्वत्वों और विचारों को सामने रखते हुए आपने इस सदन का कार्य किया है, वह इससे भी बड़ा और व्यापक है और वह हमारी व्यवस्थापिका सभा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में सदैव अंकित रहेगा।"

स्मरण रहे कि उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन के प्रवर्तक राजर्षि टण्डन जी ही थे। पं० जवाहरलाल नेहरू इस कार्य में उनके सहयोगी बने। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों की भूमिका का श्रीगणेश टण्डन जी के ही द्वारा हुआ था।

टण्डन जी के हिन्दी-प्रेम और भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी निष्ठा को लेकर यदा-कदा कुछ लोगों ने स्वार्थवश उन पर उर्दू-विरोधी और सांप्रदायिकता का आरोप लगाने की कुचेष्टा की है। परन्तु ऐसे लोगों को यह नहीं मालूम है कि टण्डन जी के अनेक मुसलमान नेता अनुयायी और भक्त थे तथा उर्दू और फारसी के वे बहुत अच्छे जानकार थे। इन भाषाओं के साहित्य का उन्होंने बहुत अच्छा अध्ययन किया था। राष्ट्रीयता से नीचे की कोई भी बात उनके दिमाग में कभी नहीं आती थी। वे मानवता के अनन्य पुजारी थे। हिन्दी के प्रति उनका आग्रह राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय विकास और राष्ट्र की मेधा और वाणी को वर्चस्व देने के कारण ही था।

टण्डन जी का जीवन एक महान् साधक का जीवन था। मितव्ययिता उनमें गजब की थी। संत साहित्य के वे गम्भीर विवेचक थे। क्रान्तिद्रष्टा कबीर के साहित्य का उनका अध्ययन बहुत गहरा था। संत साहित्य और उर्दू-फारसी के सूफी साहित्य के उच्चकोटि के कवियों के साहित्य में उनकी पैठ गहरी थी। अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर भी उनका समान अधिकार

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

था। एक दृश्य मेरी आँखों के सामने है। उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन बस्ती में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की अध्यक्षता में हुआ था। बस्ती से कुछ दूर पर करीब की निर्वाण-स्थली मगहर का नया रेलवे स्टेशन बनाया गया था। उसके उद्घाटन समारोह का विशाल आयोजन उत्तर पूर्वीय रेलवे के तत्कालीन महाप्रबन्धक श्री भीष्म अरोड़ा ने नवनिर्मित मगहर स्टेशन पर किया था। नेताओं के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभी प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया था। मगहर स्टेशन पर हजारों श्रोताओं की उपस्थिति थी। समारोह में राजर्षि टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द और 'नवीन' जी के मुख्य रूप से भाषण हुए थे। मुझे आज भी स्मरण है कि ऊपर के तीनों विद्वानों द्वारा दिये गये भाषणों में राजर्षि टण्डन का भाषण अद्वितीय था। लगभग एक घण्टे तक राजर्षि टण्डन ने कबीर के दार्शनिक आधार और उनके साहित्य की बारीकियों पर बड़ा ही सारगर्भित प्रवचन किया था। संत साहित्य पर राजर्षि टण्डन का अध्ययन कितना गहरा है यह मैंने उसी दिन जाना।

एक प्रसंग नेहरू जी और टण्डन जी के मतभेद के अवसर का है। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर जब टण्डन जी चुने गये थे उसी समय पं० नेहरू से उनका कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हो गया था। सरदार वल्लभ भाई पटेल की मृत्यु के पश्चात् नेहरू जी के अनुयायियों ने टण्डन जी को अपदस्थ करने का अभियान चला दिया था। मौलाना आजाद ने टण्डन जी की कार्य समिति से अपना त्यागपत्र देकर इस स्थिति को निर्णायक दौर तक पहुँचा दिया था। पूरे देश में कांग्रेस विभाजन के आसार दिखायी देने लगे थे। राजनीतिक तिकड़म-बाजों ने टण्डन जी को और नेहरू जी को आमने-सामने खड़ा कर दिया था। मौलाना के समर्थन में पण्डित नेहरू ने भी अपना त्यागपत्र टण्डन जी को भेज दिया। टण्डन जी के समर्थक इस बात पर जोर दे रहे थे कि वे नेहरू जी और मौलाना आजाद का त्यागपत्र स्वीकार कर लें। किन्तु टण्डन जी इसके लिए तैयार नहीं हुए। यह द्वन्द्व जब चल रहा था इसको समाप्त करने के लिए राजर्षि टण्डन ने कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलायी और उसी में सारे मामले को रख देने का फैसला किया। महासमिति की बैठक बुलाने के बाद बीच के समय में टण्डन जी दिल्ली से इलाहाबाद जा रहे थे। कानपुर स्टेशन पर कुछ मित्रों के साथ मेरी उनसे मुलाकात हुई। टण्डन जी की त्यागवृत्ति, उदात्त जीवन-दृष्टि, निःस्वार्थ सेवा का परिचय उस थोड़े-से समय में पुनः मिला। मैंने बाबू जी से पूछा, "जब आपके प्रायः सभी सहयोगी इस बात के लिए आप पर दबाव डाल रहे हैं कि आप पं० नेहरू का त्यागपत्र स्वीकार कर लें तब आप स्वीकार क्यों नहीं कर लेते, कार्य समिति का बहुमत तो आपके साथ है ही। मेरी बात सुनते ही टण्डन जी ने एक मीठी-सी झिड़की के साथ उत्तर दिया "क्या तुम पागल हो गये हो? देश को जवाहरलाल की जरूरत है। मैं एक छोटे-से पद पर रहने के लिए देश का नुकसान नहीं कर सकता। यदि महासमिति की बैठक के पूर्व मामला नहीं सुलझेगा तो मैं स्वयं अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर अलग हो जाऊँगा लेकिन जवाहरलाल का इस्तीफा मंजूर नहीं करूँगा और न कांग्रेस को टूटने दूंगा।" उनका उत्तर सुन कर मैं उनकी ओर अवाक् देखता ही रह गया। मुझे बिलकुल खामोश देख कर बाबू जी ने बड़े स्नेह से इस विवाद की अन्तर्कथा भी संक्षेप

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में बताई। मैंने देखा कि टण्डन जी के हृदय में पण्डित नेहरू के इस अप्रत्याशित व्यवहार से व्यथा तो थी परन्तु नेहरू जी के प्रति कटुता या दुर्भावना का कहीं भी लेश नहीं था। पं० नेहरू के प्रति उनका स्नेह बहुत ही पवित्र और गहरा था। इस बात से सभी लोग परिचित हैं कि उक्त विवाद में राजर्षि ने नेहरू जी का त्यागपत्र मंजूर न करके स्वयं ही कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर कांग्रेस को विभाजित होने से बचा लिया और देश को राजनीतिक संकट से उबार लिया। टण्डन जी के सदाचरण का यह भी प्रमाण है कि जब टण्डन जी के त्यागपत्र देने से कांग्रेस अध्यक्ष पद पर पण्डित जवाहरलाल नेहरू आसीन हुए तो कार्यसमिति में रहने के लिए नेहरू जी ने टण्डन जी को आमंत्रित किया और उनके आग्रह को स्वीकार करके टण्डन जी नेहरू जी की कार्यसमिति में सम्मिलित होकर सहयोग देते रहे। वस्तुतः टण्डन जी तथा नेहरू जी एक-दूसरे को बड़े और छोटे भाई के समान प्रेम और सम्मान देते थे। नीतियों को लेकर यदा-कदा मतभेद हो जाने के बावजूद उनके बीच कभी कटुता नहीं हुई। पं० नेहरू ने टण्डन जी के प्रति सम्मान करते हुए ठीक ही लिखा है कि "—जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये, सबने उनसे कुछ-न-कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। हमने भी उनसे लिया जिससे हमारे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी।" सन् १९५२ के आम चुनाव में राजर्षि टण्डन जी को इलाहाबाद शहर से लोकसभा के लिए उम्मीदवार बनाया गया। इच्छा न होते हुए भी पं० जवाहरलाल जी के विशेष आग्रह के कारण उन्होंने चुनाव लड़ना स्वीकार कर लिया। टण्डन जी के नाम की घोषणा होने के बाद ही सभी कांग्रेस विरोधी उम्मीदवारों ने जिनमें दो मुस्लिम उम्मीदवार भी थे, टण्डन जी के सामने उम्मीदवारी से नाम वापस ले लिया और टण्डन जी लोक सभा के लिए निर्विरोध निर्वाचित हुए। मुसलमानों के हृदय में टण्डन जी के प्रति कितना विश्वास एवं आदर भाव था यह घटना इसका भी सर्वोत्तम उदाहरण है।

सन् १९५० की घटना है। टण्डन जी प्रदेश एसेम्बली के स्पीकर पद से त्यागपत्र दे चुके थे। त्यागपत्र देते ही उन्होंने स्पीकर वाला बँगला और अन्य सभी सुविधाओं को छोड़ कर दारुलसफा के विधायक निवास में आकर रहने लगे। इसी समय मैं उनसे मिलने लखनऊ पहुँचा। टण्डन जी कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिए सरदार पटेल के विशेष आग्रह के कारण उम्मीदवार बन गये थे। कांग्रेसी क्षेत्रों में इस चुनाव की विशेष हलचल थी। मैं कानपुर के सुप्रसिद्ध देशभक्त एवं कांग्रेस नेता बाबू नारायणप्रसाद अरोड़ा के अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए उनका सन्देश या लेख प्राप्त करने के लिए गया था। टण्डन जी की व्यस्तता के कारण लेख मिलना तो असंभव था, सन्देश लिखने का भी समय नहीं मिल पा रहा था। टण्डन जी ने मुझे रोक लिया और रात्रि में संदेश लिखने बैठे। टण्डन जी ने १५-२० पंक्तियों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी संदेश अपने मित्र और साथी अरोड़ा जी के लिए लिखा जो सन् १९५० में उनकी ७०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रकाशित नारायणप्रसाद अरोड़ा अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। इतने छोटे-से संदेश लिखने में टण्डन जी ने काफी समय लगाया। एक-एक शब्द और वाक्य में इतनी काटा-पीटी की कि मैं घबड़ा गया। बोलने में एक-एक शब्द नाप-तौल

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कर बोलते हुए उन्हें हम लोग देखा करते थे परन्तु लिखने में वे कितनी देर लगाते हैं और अपने आलेख में कितनी काट-पीट करके अपने मंतव्य को प्रकट करते हैं इस आदत का पता मुझे प्रथम बार इसी अवसर पर मिला। बाद में मुझे अन्य मित्रों से मालूम हुआ कि टण्डन जी चाहे जितना छोटा लिखें, सुगठित और सारगर्भित रूप देने के लिए वे काफी समय लगाते हैं। सन्देश को अंतिम रूप देने के बाद अपने सहायक से प्रतिलिपि करा कर मुझे देते हुए घड़ी की ओर देखा और चिन्तातुर होकर बोल उठे, "अरे बहुत देर हो गयी। तुम्हें अब कानपुर जाने के लिए गाड़ी नहीं मिलेगी।" और कृपापूर्वक मुझे अपने पास ही रोक लिया। मेरे पास पहने हुए कपड़ों के अलावा और कुछ था नहीं। जाड़े का मौसम। रात्रि की सर्दी। कम्बल ओढ़ने के लिए दिये। कदाचित् वे रात्रि को उठे और मुझे घुटने समेटे हुए सोते देख कर एक कम्बल और ओढ़ा दिया। सुबह जब मैं जागा तो अपने ऊपर एक कम्बल और पड़ा देख कर चकित हुआ। पता चला कि पूज्य टण्डन जी ने मुझे सर्दी लग रही है और आराम से नहीं सो पा रहा हूँ, देख कर अपने पास का एक कम्बल और ओढ़ा दिया था। मैं उनकी वत्सलता पर नतमस्तक हो गया। अब कहाँ हैं ऐसे वत्सल नेता? और कौन चिन्ता करता है अपने से छोटों की? इसी प्रकार का एक प्रसंग और याद आ रहा है—

श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा की अध्यक्षता में देहरादून में प्रदेश साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। दून एक्सप्रेस से श्री टण्डन जी लखनऊ से देहरादून के लिए रवाना हो रहे थे। इलाहाबाद से डॉक्टर उदयनारायण तिवारी, पं० वाचस्पति पाठक इत्यादि कई महानुभाव इसी गाड़ी के तीसरे दर्जे में सवार थे। मैं कानपुर से चल कर लखनऊ से इन्हीं आदरणीय मित्रों के साथ देहरादून जाने के लिए लखनऊ पहुँचा। तीसरे दर्जे में देहरादून जाने वाले मित्रों के पास डेरा जमाया। पूज्य टण्डन जी प्रथम श्रेणी की बोगी में बैठ चुके थे। मैंने देखा कि इधर तीसरे दर्जे में बैठी हुई साहित्यकारों की मनमौजी मण्डली में इस बात की चर्चा चल रही थी कि हममें से एक आदमी बाबू जी के साथ रहे। बाबू जी के प्रति श्रद्धा-भक्ति होने के बावजूद हम लोगों की मस्तमौला मण्डली में से सभी प्रमुख सहयोगी बाबू जी के साथ यात्रा करने में आनाकानी कर रहे थे। अन्त में सबने मिल कर मुझे ही बाबू जी के साथ रहने के लिए प्रथम श्रेणी में उनके पास जाकर बिठा दिया। टण्डन जी के निकट रहूँगा यह सोच कर मैं भीतर-ही-भीतर बहुत प्रसन्न हुआ। लखनऊ से देहरादून की यात्रा पूरी रात की थी। किसी कारण से गाड़ी कई घण्टे लेट हो गयी। सो हम लोग दोपहर को देहरादून पहुँचे। रास्ते भर पूज्य बाबू जी के वात्सल्य भाव का जो आनन्द उस समय मिला वह मेरे लिये धरोहर है। देश के कई बड़े राजनीतिक नेताओं का संग-साथ जब तक मुझे मिलता रहा है और दो-चार लोगों को छोड़ कर सभी की कृपा के प्रति मैं विनत हूँ। अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि जैसा पवित्र स्नेह, वात्सल्य, करुणा और कृपा की जो निश्छलता मुझे टण्डन जी में मिली वैसी कहीं नहीं मिली। उस यात्रा में भी पूज्य टण्डन जी ने सोने, जागने, नित्य कर्म, हाथ-मुँह धोने, प्रातःकालीन नाश्ता और भोजन इत्यादि नित्य की जीवनचर्या पर बहुत-कुछ बताया और समझाया। पूज्य टण्डन जी कैसे मीठे ढंग से आदेश देकर शिक्षित करते थे, देख कर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मैं धन्य हो गया। घर का बना हुआ सामान, ताड़ के गुड़ से बने पेड़े, खजूर, सूखे मेवे, फल इत्यादि आग्रह करके बाबू जी ने खिलाये और मैंने प्रसाद रूप में ग्रहण किये। यात्रा समाप्त होने पर पं० वाचस्पति पाठक ने देहरादून में पूछा "कहो कैसी कटी?" मैं तो बाबू जी के वात्सल्य भाजन होने के गर्व से अभिभूत था सो मैंने विस्तार से टण्डन जी के साथ बीते १७ घण्टे की यात्रा की चर्चा की। सब कुछ सुनने के बाद पाठक जी बोले कि बस ठीक, बस बस, हम सब लोगों में से कोई इसीलिए बाबू जी की सेवा में नहीं गया कि कोई भी काम अपनी मर्जी से नहीं कर पायेंगे। टण्डन जी की आज्ञा और वर्जनाओं के कारण हम सब उनके सामने वह आनन्द और मस्ती कैसे ले सकते थे जो रास्ते भर लेते आये। तब मैं समझा बाबू जी के पास इस बड़ी मण्डली में से मैं ही क्यों ठेल करं उनके साथ के लिए भेजा गया था। परन्तु मेरे जीवन की तो यह उपलब्धि ही बन गयी। मेरा सौभाग्य।

टण्डन जी जब अंतिम समय में बहुत बीमार थे तब उन्होंने मुझे याद किया। उनके दौहित्र ने कानपुर आकर मुझे इस बात की सूचना दी। मैं बाबू जी के दर्शनार्थ इलाहाबाद पहुँचा। बाबू जी अपने डॉक्टर पुत्र की कल्याणी देवी मुहल्ले में निर्मित कोठी में थे। मुझे देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें बोलने में भी बहुत कष्ट होता था। कष्ट की इन घड़ियों में भी वे साहित्य सम्मेलन की चिन्ता से ग्रस्त थे। हिन्दी की स्थिति से व्याकुल थे और देश के चारित्रिक पतन से दुःखी। पूज्य बाबू जी ने इसी भेंट में बताया कि जवाहरलाल मिलने आये थे। मैंने कमरा बन्द करा कर उनसे पूछा कि "आखिर तुम क्या चाहते हो, क्या हिन्दी को नहीं आने दोगे? जवाहरलाल ने कहा, "नहीं, ऐसी बात नहीं। हिन्दी जरूर आयेगी, मगर सरकार की तरफ से कोई सख्त नीति अपनाना इस मामले में ठीक नहीं होगा। आप चिन्ता न करें सब ठीक हो जायेगा।" टण्डन जी ने आगे बताया कि कुछ देर चर्चा करने के बाद मैंने जवाहरलाल से कहा कि साहित्य सम्मेलन की हालत देख कर मुझे बहुत कष्ट हो रहा है। मेरी इच्छा है कि इस सम्मेलन को सरकार राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था मान कर इसे अपने संरक्षण में ले ले और राष्ट्रभाषा का महत्त्वपूर्ण कार्य इसके द्वारा कराये। यह मेरी अंतिम इच्छा है क्या तुम इसे करना पसन्द करोगे? जवाहरलाल ने इस सम्बन्ध में दो-चार बातें करने के बाद स्वीकृति दे दी और लालबहादुर शास्त्री से कहा कि "इस सम्बन्ध में भारत सरकार की ओर से संसद् में पेश करने के लिए एक बिल का मसौदा तैयार करा दें जिसमें मेरी भावनाएँ सम्मिलित हों। लालबहादुर शास्त्री भारत सरकार के विधि मंत्रालय तथा गृह मंत्रालय के अधिकारियों के साथ मेरे पास आकर बिल की रूप-रेखा बना ले गये हैं। शीघ्र ही पार्लियामेण्ट में बिल आ जायेगा और सम्मेलन राष्ट्रभाषा का कार्य निर्विघ्न होकर सम्पन्न कर सकेगा।" मैंने उन्हें बोलने के लिए मना करने की प्रार्थना की और कहा आप स्वस्थ्य हो जायें। देश को. हिन्दी को और हम सबको आपके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है तो मुस्कराते हुए बाबू जी बोले, "मृत्यु का क्या भय? यह तो अनिवार्य है। चिन्ता करने की क्या जरूरत।" और निम्नलिखित शेर कहा—

दिला मुल्के अदम जाने से क्यूँ इतना तू डरता है।
हजारों रोज जाते हैं यह रास्ता खूब चलता है॥

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मैंने सिर झुका लिया। बाबू जी ने मेरे सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। मैंने चरण स्पर्श करके विदा ली। उनकी व्यथा-वेदना देखकर आँखें भर आयीं। हिन्दी और हिन्दुस्तान की चिन्ता से ग्रस्त राष्ट्र का यह महान् तपस्वी पुरुष कितना बेचैन है, बराबर सोचता रहा। अन्तिम क्षणों में भी हिन्दी उनके मन-प्राण में बसी हुई थी। रास्ते भर सोचता आया कि जैसे क्षत-विक्षत भीष्मपितामह शर-शय्या पर पड़े महाभारत के भविष्य को देख रहे थे उसी तरह बाबू जी आहत, रोग शैय्या पर पड़े भावी भारत को देख रहे हैं। टण्डन जी से यह मेरी अंतिम भेंट थी। स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ ही वर्षों में भारतीय जीवन पर बढ़ती अंग्रेजियत से वे बहुत खिन्न रहने लगे थे। भारतीयता के इस अनन्य उपासक ने जीवन के अंतिम वर्षों में इस ओर बराबर अपने भाषणों में चर्चा की। विदेशी नकल की बढ़ती प्रवृत्ति को देख कर वे अक्सर कहा करते थे, "**महफिल उनका साकी उनका आँखें अपनी बाकी उनका।**"

बाबू जी की महानता का एक दृश्य और आँखों के सामने आ रहा है। देहरादून के साहित्य सम्मेलन की ही बात है। हम लोगों ने सम्मेलन का उद्घाटन महापण्डित राहुल सांकृत्यायन से जो उस समय मसूरी में निवास करते थे, कराना निश्चय किया था। राहुल जी का उद्घाटन भाषण डॉ० उदयनारायण तिवारी जो सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे, प्रयाग से छपा कर साथ ले आये थे। सम्मेलन के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा थे और स्वागताध्यक्ष थे एक महन्त जी। देहरादून पहुँचने पर मालूम हुआ कि आयोजनकर्त्ता स्थानीय कांग्रेसी नेताओं ने जिनमें कुछ सांसद और विधायक थे, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमंत्री डॉ० कैलाशनाथ काटजू को उद्घाटन के लिए आमंत्रित किया है और वे कार द्वारा दिल्ली से देहरादून आ रहे हैं। दोपहर में विषय समिति की बैठक में जब हम लोगों को इसकी सूचना मिली तो हम सभी का दिमाग चकराया। आयोजकों ने बिना हम लोगों की स्वीकृति और सूचना दिये ऐसा क्यों कर लिया इससे नाराजगी भी आयी। मैंने डॉ० काटजू द्वारा सम्मेलन के उद्घाटन का विरोध करते हुए कहा कि यह तो आप हिन्दी के एक महान् साहित्यकार का अपमान कर रहे हैं जो मैं किसी भी हालत में नहीं होने दूँगा। जब प्रदेश की कार्य समिति राहुल जी के द्वारा उद्घाटन कराने का निर्णय महीनों पहले कर चुकी है और राहुल जी को सूचित करके उनकी स्वीकृति भी प्राप्त कर चुकी है तदनुसार उनका उद्घाटन भाषण भी छपा कर लाया गया है। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य सम्मेलन में एक महान् साहित्यकार को अपमानित करके गृह मंत्री से उद्घाटन कराना सर्वथा अनुचित है। विषय समिति में उपस्थित प्रायः सभी साहित्यकार और प्रतिनिधिगण मेरी इस बात से सहमत थे किन्तु स्वागत समिति के कांग्रेसी नेता जिनमें प्रमुख थे। श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एवं श्री नरदेव शास्त्री प्रभृति महानुभाव चूँकि डॉ० काटजू को आमंत्रित करके उनकी स्वीकृति ले आये थे, मेरी बात मानने को तैयार नहीं हुए। जिद करते हुए कहने लगे कि राहुल जी का देहरादून में बड़ा विरोध हो रहा है तथा उनके विरुद्ध कुछ संस्थाएँ काले झण्डों का प्रदर्शन भी करेंगी क्योंकि राहुल जी बराबर गोमांस भक्षण की बात करते हैं तथा कम्युनिस्ट हैं। मुझे इन नेताओं की यह बातें बहुत खटकीं। मैंने उत्तर दिया कि मैं भी कांग्रेसी हूँ परन्तु साहित्य के क्षेत्र में कम्युनिस्ट और

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कांग्रेसी का क्या प्रश्न है। लेखक की निजी विचारधारा क्या है इससे विद्वत्ता के क्षेत्र में क्या फर्क पड़ता है। और पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार राहुल जी से ही उद्घाटन कराने पर जोर दिया। विषम स्थिति देखते हुए मैंने यह भी कह दिया कि यदि स्वागत समिति के नेतागण इस प्रकार का अनुचित कार्य करके एक महान् विद्वान् का एक मिनिस्टर के सामने अपमान करना चाहते हैं तो हम सभी प्रतिनिधिगण सम्मेलन में भाग नहीं लेंगे। डॉ० उदयनारायण तिवारी, पं० वाचस्पति पाठक, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी और पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' इत्यादि अनेक विद्वान् साहित्यकारों ने मेरा पक्ष समर्थन किया और मामला तूल पकड़ने लगा। बाबू जी बड़े धर्म-संकट में पड़े। एक ओर साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारी और प्रतिनिधिगण और दूसरी ओर कांग्रेस कार्य समिति के नेता और मिनिस्टर। एक ओर हिन्दी की निष्ठा और एक ओर सत्ता का प्रतिनिधि। चूँकि उद्घाटन कराने का निर्णय प्रदेश कार्य समिति ने टण्डन जी की उपस्थिति में ही प्रयाग में लिया था और यह अधिकार भी स्वागत समिति का न होकर प्रदेश समिति का था अतः टण्डन जी के सामने ही अंतिम निर्णय के लिए समस्या को रख दिया गया। टण्डन जी हम लोगों का कड़ा रुख देख ही रहे थे। फिर भी स्वागत समिति के पदाधिकारी, कांग्रेसी संसद् सदस्य और विधायकों का आग्रह और डॉ० काटजू का नाम इस मामले में कहीं बाबू जी हम लोगों को झुका न दें यह डर भीतर-ही-भीतर लग रहा था किन्तु इस विषम स्थिति में पूज्य टण्डन जी ने जो निर्णय लिया वह न केवल हम सब लोगों की प्रसन्नता का कारण था प्रत्युत उनके हिन्दी-प्रेम एवं राजनीति के ऊपर विद्वत्ता की महत्ता एवं साहित्यकार की सर्वोच्चता का प्रतीक था। दोनों पक्षों को सुनने के बाद टण्डन जी ने निर्णय दिया कि राहुल जी महान् लेखक, विद्वान् और हिन्दी के निष्ठावान् सेवक हैं। उनसे सम्मेलन ने पूर्व ही उद्घाटन की प्रार्थना की थी जिसे राहुल जी ने स्वीकार भी किया है। ऐसी स्थिति में उनके स्थान पर सरकारी मिनिस्टर को वरीयता नहीं दी जा सकती। स्वागत समिति ने डॉ० काटजू को उद्घाटन के लिए आमंत्रित करके अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लंघन किया है। स्वागत समिति को इस प्रकार का कोई कदम सम्मेलन से पूछ कर ही उठाना चाहिए था अतः समारोह का उद्घाटन डॉ० काटजू से नहीं राहुल जी से ही कराना उचित होगा। डॉ० काटजू आयेंगे तो उनका भाषण करा दिया जायेगा यह स्थिति कांग्रेसी नेताओं को स्वीकार नहीं थी। पर्याप्त विचार-विनिमय के बाद पूज्य टण्डन जी से प्रार्थना की गयी कि वे स्वयं डॉ० काटजू को फोन करके स्थिति को सँभालने की कृपा करें। और, बाबू जी ने डॉ० काटजू को फोन करके देहरादून आकर उद्घाटन करने की उलझी स्थिति को बतला कर उनसे आने के लिए मना कर दिया। इस प्रकार बिगड़ी स्थिति बनी और राहुल जी ने ही उद्घाटन किया। राहुल जी का उद्घाटन भाषण बड़े महत्त्व का था। देहरादून साहित्य सम्मेलन दो दिन तक बड़े धूमधाम से सम्पन्न हुआ। हम लोगों ने देखा बड़े-से-बड़े राजनीतिक पद के समक्ष एक विद्वान् साहित्यकार के सम्मान की रक्षा के लिए पूज्य टण्डन जी ने जो कार्य किया, ऐसा साहस तो कदाचित् ही कोई नेता कर सके।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बाबू जी के सम्पर्क में आये बहुत-से प्रसंग और घटनाएँ याद आती जाती हैं जिनमें हमने उनकी महानता को देखा। वे सदैव न्याय का पक्ष लेते थे। अन्याय और अनौचित्य चाहे जितने बड़े और नामधारी व्यक्ति का हो, समर्थन नहीं करते थे। ऐसी एक घटना को लेकर लेख समाप्त करना चाहूँगा। घटना फर्रुखाबाद में हुए प्रदेशीय साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन की है। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की अध्यक्षता में यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में पूज्य टण्डन जी सहित पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० देवराज, पं० वाचस्पति पाठक, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, कविवर बचनेश,, श्री सत्याचरण शास्त्री, श्री सन्तप्रसाद टण्डन इत्यादि पचासों हिन्दी महारथी उपस्थित थे। खुला अधिवेशन चल रहा था। हजारों की संख्या में श्रोतागण भाग ले रहे थे। इस अधिवेशन में मैंने एक प्रस्ताव रखा जिसमें केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मंत्री की हिन्दी के प्रति उपेक्षा नीति और शिथिल कार्य-पद्धति की आलोचना की गयी थी। अत्यन्त संक्षिप्त भाषण के साथ मैंने प्रस्ताव प्रस्तुत किया। ईरान में रहे भारत सरकार के राजदूत श्री सत्याचरण शास्त्री ने अपने भाषण के द्वारा प्रस्ताव का समर्थन किया। श्री सन्तप्रसाद जी ने अपने भाषण में अनुमोदन किया। प्रस्ताव की वैधानिक प्रक्रिया पूरी होने के पहले ही अध्यक्ष पद पर विराजमान श्रद्धेय 'नवीन' जी ने बीच में ही खड़े होकर मेरे प्रस्ताव के विरुद्ध अपना एक व्याख्यान दे डाला और उस व्याख्यान में शिक्षा मंत्री की प्रशस्ति गायन करते हुए अतिशय भावुकता में कुछ ऐसी बातें कह दीं जो मेरे ही लिये नहीं पूज्य टण्डन जी और उपस्थित हिन्दी-प्रेमियों को भी कष्टप्रद प्रतीत हुईं। 'नवीन' जी के इस भाषण का प्रभाव मंच पर उपस्थित नेताओं और श्रोता मण्डली पर भी अनुकूल नहीं पड़ा। 'नवीन' जी ने अपनी भावुकता में यह भी कह दिया कि यदि इस प्रकार के प्रस्ताव पास होते हैं तो वे साहित्य सम्मेलन ही छोड़ देंगे। 'नवीन' जी के ऐसे विचार सुनकर सभा-स्थल पर सन्नाटा छा गया। कुछ अप्रिय न घट जाये इसकी बेचैनी भी मंच पर लक्षित हुई। यूँ मैं अपने विरोध की विशेष चिन्ता नहीं करता परन्तु अध्यक्ष के रूप में 'नवीन' जी का यह व्यवहार खल गया। मेरे प्रस्ताव पर जिस प्रकार की अनुचित और बेतुकी प्रक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने शिक्षा मंत्री की हिन्दी-विरोधी नीति का प्रकारान्तर से समर्थन देने का कार्य कर दिया था उससे सभी हिन्दी-प्रेमियों को ठेस लगी थी। परन्तु बोला कोई नहीं। मुझे उनकी यह कार्यवाही असह्य लगी। फलस्वरूप मेरी तरुणाई अध्यक्ष 'नवीन' जी से उलझ गयी। मैंने तुरन्त एक चिट लिख कर अध्यक्ष 'नवीन' जी को दी जिसमें मंच प्रस्ताव पर की गयी टिप्पणी पर बोलने की अनुमति चाही थी। 'नवीन' जी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार की और बोलने के लिए आमंत्रित किया। मैं न मालूम अपने भाषण में क्या कह जाऊँ इस आशंका से कुछ मित्रों ने धीरे से रोका-टोका भी। परन्तु मेरा पारा बहुत गर्म था। अध्यक्ष के नीति-विरुद्ध और असह्य आचरण से आवेश में था। क्रोध भी था यह स्वीकार करता हूँ। यद्यपि 'नवीन' जी मेरे नगर के ही निवासी और नेता थे। मेरे परमादरणीय और श्रद्धेय थे। परन्तु उस समय आहत सर्प की भाँति मैं फुंकार रहा था। इस पर भी मैंने अपना भाषण संयमित होकर आरम्भ किया और लगभग आधे घण्टे तक धारावाहिक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रूप से 'नवीन' जी की उक्तियों को सप्रमाण काटते हुए अध्यक्ष पद से किये हुए उनके अनुचित व्यवहार की निन्दा भी की। उनके द्वारा कही हुई साहित्य सम्मेलन को छोड़ने की बात को लेकर मैंने यह भी कह दिया कि इस सम्बन्ध में मैं 'नवीन' जी को वही उत्तर देना चाहता हूँ जो श्रद्धेय टण्डन जी ने पूज्य महात्मा गांधी को दिया था। महात्मा गांधी द्वारा साहित्य सम्मेलन को हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी अपनाने या गांधी जी के नेतृत्व को छोड़ देने के लिए तैयार रहने की बात पर श्रद्धेय टण्डन जी ने गांधी जी को लिखा था "बापू आप बहुत बड़े हैं परन्तु हिन्दी आपसे भी बड़ी है। यदि छोड़ना ही पड़ेगा तो सम्मेलन आपको छोड़ देगा, हिन्दी को नहीं।" मैं भी यहाँ कहना चाहता हूँ कि 'नवीन' जी यदि इसी प्रकार का दुराचरण करेंगे तो सम्मेलन 'नवीन' जी को छोड़ देगा, हिन्दी को नहीं। मेरे जोशीले भाषण के बीच उपस्थित जनता तालियाँ बजा-बजा कर मेरा समर्थन कर रही थी। मंच पर सन्नाटा छाया हुआ था। लोग शान्त होकर मुझे और 'नवीन' जी को देख रहे थे। 'नवीन' जी अपनी रीढ़ की हड्डी बिलकुल सीधी और आँखें बन्द किये अध्यक्ष आसन पर बिलकुल खामोश बैठे रहे। न मुझे रोका न टोका। यद्यपि वातावरण से मैं यह समझ गया कि मैंने जो कुछ कहा है वह सभी लोगों के मन की बात थी। मैं भाषण समाप्त करके बैठा तो देखा कि वातावरण मेरे पक्ष में है किन्तु अध्यक्ष क्या करेंगे यह चिन्ता सबके चेहरों पर थी। इसी आड़े समय पर पूज्य टण्डन जी ने माइक सँभाला और जितनी ऊँचाई, विवेक और प्रेम के साथ उन्होंने अपना भाषण दिया यह उन्हीं जैसे महापुरुष से सम्भव हो सकता था। पूज्य टण्डन जी के अनुरोध पर मैंने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया परन्तु टण्डन जी के भाषण में मुझे उनका समर्थन मिल चुका था। टण्डन जी ने इस अप्रिय प्रसंग की कटुता को अपनी शान्ति और उदारता के सलिल से धो दिया। पत्रकारों से उन्होंने व्यक्तिगत रूप से आग्रह और अनुरोध किया कि वे इस प्रसंग को प्रकाशित न करें। अध्यक्ष के रूप में 'नवीन' जी के अनौचित्य को बड़ी प्यारी मुस्कान और मार्मिक शब्दों के द्वारा बाबू जी ने इंगित कर दिया। वातावरण की दृष्टि से सम्मेलन को और आगे चलने की स्थिति नहीं रह गयी और सारी औपचारिकताओं को पूरी करके सम्मेलन को समाप्त करने की घोषणा की गयी। मंच से उतरते ही 'नवीन' जी ने अपने स्वभाव के अनुसार बड़प्पन का परिचय दिया। मेरे कंधे पर हाथ रख कर छाती से लगाते हुए बोले, "क्षमा कर देना बेटे!' भाव-विह्वल होकर मैंने झुककर उनके पैर छू लिये। बात आयी गयी हो गयी। आज सोचता हूँ कि मेरी क्षुद्रता को 'नवीन' जी ने अपनी महानता से जीत लिया। यह भी सोचता हूँ कि यदि पूज्य टण्डन जी वहाँ न होते तो क्या होता कौन कह सकता है। 'नवीन' जी से झगड़ जाने की ग्लानि बराबर सताती रही और इससे मैं तब मुक्त हुआ जब रात्रि में टण्डन जी को विदा करने के लिए मैं स्टेशन पर पहुँचा। उनके चरण स्पर्श करके मैंने उनसे पूछा "बाबू जी! क्या मैंने अपराध कर दिया? क्या मुझसे गलती हो गयी है।" बड़ी गम्भीरता के साथ बाबू जी ने मुझे शान्त करते हुए कहा, "नहीं, तुम्हारी कोई गलती नहीं। तुमने कुछ अनुचित भी नहीं कहा। हाँ, कुछ आवेश और तीखापन तुम्हारे भाषण में जरूर था। खैर, भूल जाओ सब कुछ।" मैं बराबर सोचता रहा कि बड़ों के सामने छोटों के औचित्य को

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आज कौन सराहेगा? बाबू जी ऐसे ही मर्यादा पुरुषोत्तम थे, बिगड़ी को बना देने वाले महापुरुष।

मनुष्यता के दुर्लभ गुणों का उनके व्यक्तित्व में मोहक समावेश था। अपने प्रति वे जितने ही कठोर और निर्मम थे, दूसरों के लिए उनके हृदय में उतनी ही अधिक ममता और स्नेह था। बड़ों के प्रति बहुत-से लोग जिस प्रकार शिष्ट एवं विनम्र हो जाते हैं, परन्तु उसी प्रकार छोटों के प्रति सम्मान, प्रेम तथा अपनत्व की भावना रखने वाले बहुत कम, विरले व्यक्ति ही होते हैं।

टण्डन जी ऐसे ही विरले व्यक्तित्व के धनी थे। बड़ों को वे जिस प्रकार श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, उसी प्रकार वे नवयुवकों तथा उत्साही बालकों को अपने वात्सल्य भाव से रसमग्न कर देते थे। पुरुष में जो कुछ भी उत्तम होना चाहिए वह सब उनमें सहज रूप में विद्यमान था। वे 'पुरुषोत्तम' थे—सही और सच्चे अर्थों में 'पुरुषोत्तम'।

१११/७८, अशोक नगर,
कानपुर–२०८०१२

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व और कृतित्व की कुछ झाँकियाँ

डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय

⊙⊙

भारत ऋषि, मुनि और महात्माओं की तपःपूत भूमि रहा है। यहाँ का भव्य गौरव स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। इस भूमि का ही महत्त्व है कि यहाँ देवता भी तन धारण कर आने को मचलते हैं। भारतीय धर्म और अध्यात्म साधना में तीर्थराज प्रयाग का महत्त्व-पूर्ण स्थान है और उसकी पावन भूमि में अवतरित हुए पुरुषोत्तमदास टण्डन। १ अगस्त, १८८२ मंगलवार तदनुसार श्रावण शुक्ल पक्ष द्वितीया, संवत् १९३९ को सालिगराम टण्डन की चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद उन्हें पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। वह मलमास (अधिकमास) था, जिसे 'पुरुषोत्तममास' भी कहा जाता है। अतएव, इनका उसी आधार पर नामकरण होना भी स्वाभाविक था।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात—घटना १८९२ के आसपास की है। उस समय उनकी आयु लगभग १० वर्ष थी। वे अपने साथियों के साथ इलाहाबाद की सिविल लाइन्स में टहल रहे थे। संयोग की बात कि दूसरी ओर से कुछ अंग्रेज लड़के चले आ रहे थे। दोनों दलों में कुछ कहा-सुनी हो गयी। इन्हें कटुवचन सहना स्वीकार नहीं हुआ। इन्होंने न आव देखा न ताव, उन्हें मारना शुरू किया। इसी बीच अंग्रेज लड़कों का एक दल और आता दिखायी पड़ा। पुरुषोत्तम पर चण्डी सवार थी। दोनों दलों में लड़ाई चलती रही और साथियों के लाख मना करने पर भी वे डटे रहे— मारते रहे, मार खाते रहे। मैदान तभी छोड़ा, जब अंग्रेज लड़कों को बाध्य होकर भागना पड़ा। प्रारंभ से ही बालसुलभ चांचल्य में भी विदेशियों के प्रति घोर उपेक्षा और उसे मार भगाने का संकल्प बोलता था।

उस समय ये दसवीं कक्षा के छात्र थे। एक दिन उनका वर्ग अंग्रेजी के एक नये शिक्षक ले रहे थे। उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए बोअर युद्ध का कुछ अंश बोलना प्रारंभ किया। जैसे ही शिक्षक ने हिन्दी वाक्य बोलना समाप्त किया, पुरुषोत्तमदास टण्डन ने अपनी कापी उनकी मेज पर रख दी। शिक्षक को बिना अनुवाद किये कापी जमा करने पर क्रोध आया। वे बिगड़े भी, पर नम्रतापूर्वक पुरुषोत्तम ने कहा—'मास्टर साहब, अनुवाद मैं कर चुका हूँ।' अनुवाद देखकर अध्यापक केवल चौंक ही नहीं उठे वरन् उन्हें आश्चर्य हुआ और शिष्य के प्रति आदरभाव जगा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इनके विद्यालय के हेडमास्टर के अंग्रेज होने के कारण अधिकांश विद्यार्थी अंग्रेजी पोशाक ही पहनते थे, परन्तु ये भारतीय पोशाक पहनकर ही स्कूल जाते। इन्हें अपने इस पहनावे के लिए न केवल जुर्माना भरना पड़ा, वरन् स्कूल छोड़ते समय हेडमास्टर ने उनके ट्रांसफर सर्टीफिकेट में चरित्र के समक्ष 'कुछ कहा नहीं जा सकता' लिख दिया। ऐसे प्रमाण-पत्र देखकर कायस्थ पाठशाला के प्रधानाध्यापक का चौंकना वाजिब था। अंततः सारी बात खुलने पर ही उनका प्रवेश हो सका।

भारतीयता के प्रति अखण्ड आस्था—इन्हें छात्र-जीवन से ही अपने और अपने देश के प्रति गौरव था। ये अपने देश का अपमान स्वप्न में भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। सन् १९०१ ई०। पुरुषोत्तम जी म्योर कॉलेज के छात्र। इसी कॉलेज में वार्षिक टूर्नामेण्ट होने का निश्चय हुआ। इसके प्रबंधक नियुक्त हुए कॉलेज के प्रोफेसर हिल। श्री हिल मनमौजी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने खेल समिति से परामर्श लिये बिना ही पुलिस को बुला लिया। छात्र उत्तेजित हो उठे। इसी बीच एक सिपाही एक भारतीय छात्र को धक्का देकर बाहर निकालने लगा। टण्डन जी इस अपमान को सह नहीं सके और दौड़कर सिपाही को भला-बुरा ही नहीं कहा, जान से मारने की धमकी देने लगे। बात प्रोफेसर हिल तक पहुँची और टण्डन जी ने भी स्वयं जाकर बड़ी निर्भीकतापूर्वक वस्तुस्थिति स्पष्ट की। हिल ने पुलिस वालों को छूट दे दी कि वे टण्डन जी को गिरफ्तार कर सकते हैं। फिर क्या था। उनका रौद्र रूप देखने लायक था। वे हिल पर ही बिगड़ते हुए बोले—"पुलिस में हिम्मत नहीं है, जो मुझे हवालात भेज सके। यदि आप में साहस है, तो आप मुझे हवालात भेजें।" प्रोफेसर अवाक् हतप्रभ। पुलिस कुछ नहीं कर सकी। इतना ही नहीं, दूसरे दिन ही कॉलेज के लगभग ३०० विद्यार्थियों ने इस घटना के विरोध में हड़ताल कर दी। उन्होंने खेलों में भाग लेने से इन्कार कर दिया। अंग्रेजी शासन की दमनकारी नीति के समक्ष एक छात्र ने आन्दोलन कर न केवल भारतीयता के प्रति सम्मान व्यक्त किया, वरन् अपनी नेतृत्व शक्ति का अद्भुत परिचय भी दिया।

शिक्षा-दीक्षा और सार्वजनिक जीवन में प्रवेश—इनकी प्रारंभिक शिक्षा हुई चौधरी महादेवप्रसाद के घर के सामने वाले पीपल के पेड़ के नीचे (प्रयाग)। वहाँ एक मौलवी इन्हें हिन्दी की वर्णमाला और अंकों का ज्ञान कराते थे। फिर सी० ए० वी० स्कूल में भर्ती हुए थे। १८९७ में एण्ट्रेन्स की परीक्षा, १८९९ में इण्टर १९०४ में बी० ए० दो वर्षों में वकालत परीक्षा और १९०७ ई० में इतिहास में एम० ए० उत्तीर्ण किया था।

इन्होंने १९०८ में वकालत प्रारंभ की। इनका नैतिक पक्ष इतना प्रबल था कि कभी झूठे मुकदमें नहीं लड़े। प्रलोभनों की विशाल सेना इन्हें डिगाने के लिए डटी रही, पर ये हिमालय के समान अडिग रहे। फलतः उनकी लोकप्रियता दिनानुदिन बढ़ती गयी। अपने पेशे की अतिशय व्यस्तता के बावजूद भी ये समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा के लिए समय निकाल ही लेते थे। पं० मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर इन्होंने सन् १९१४ में नाभा रियासत के कानून सचिव का पद सँभाला और शीघ्र ही अपनी ईमानदारी और कार्य-दक्षता के कारण वहाँ के विदेश सचिव बन गये।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अपने छात्र-जीवन (१८९९) में ही ये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक स्वयंसेवक के रूप में सम्मिलित हुए थे। सन् १९०६ के कांग्रेस अधिवेशन में टण्डन जी इलाहाबाद के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। १९०५ के बंगभंग आंदोलन से प्रभावित होकर स्वदेशी का व्रत धारण किया और आजीवन देश-सेवा में रत रहे। जलियाँवाला बाग काण्ड की जाँच समिति के सदस्य टण्डन जी भी थे। १९२० के असहयोग आंदोलन में इन्होंने वकालत को लात मारी। १९२१ में जेल-यात्रा हुई। १९२३ में गोरखपुर कांग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए। नवम्बर, १९२८ में लाला लाजपतराय के कहने पर इन्होंने पंजाब नेशनल बैंक, लाहौर के संयुक्त मंत्री का भार सँभाला और शीघ्र ही उसके मंत्री भी बन गये। नवम्बर, १९२८ में ही लाला लाजपतराय के निधन पर सर्वसम्मति से इन्हें लोक सेवक मण्डल का अध्यक्ष बनाया गया। १९२९ में महात्मा गांधी ने इलाहाबाद की एक सार्वजनिक सभा को संबोधित करते हुए कहा—"प्रयाग को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसने कांग्रेस के लिए जवाहर-लाल नेहरू तथा लोक सेवक मण्डल को पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे व्यक्ति अध्यक्ष पद के लिए दिये हैं।" 'यंग इण्डिया' में भी गांधी जी ने उनकी प्रशंसा में लिखा था—"ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।" टण्डन जी पूरी निष्ठा और जान हथेली पर लेकर आजादी के लिए जूझते रहे। कभी गिरफ्तार होते, कुछ महीने जेल के मेहमान बनते, कभी नजरबंदी चलती, पर भारतमाता का यह वीर सपूत अपेक्षाकृत अधिक उत्साह से जूझता रहा। देश के विभाजन पर टण्डन जी ने न केवल विरोध प्रकट किया, परंतु स्वाधीनता उत्सवों में भाग भी नहीं लिया। ये धारा सभा के अध्यक्ष हुए, फिर कांग्रेस की अखिल भारतीय समिति के भी अध्यक्ष निर्वाचित हुए, पर कभी भी अपने सिद्धांत और मानदण्ड से नहीं डिगे। अपने सिद्धांतों के ये उतने ही पक्के थे कि सारी दुनिया एक ओर और टण्डन जी ध्रुवतारा के समान दृढ़, निश्चल एक ओर। सिद्धांत और कर्तृत्व का ऐसा सामंजस्य दुर्लभ होता है। किसानों की दुर्दशा को देखते हुए उनकी हालत सुधारने और उन्हें उनके अधिकार दिलाने के लिए इन्होंने १९३० में केन्द्रीय किसान संघ की स्थापना की।

इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष—इलाहाबाद के म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष पद का पहली बार १९१९ में चुनाव हुआ और टण्डन जी निर्वाचित हुए। उन्होंने नगरपालिका का उद्धार तो किया ही, दो रोचक उदाहरणों से उनकी कर्त्तव्यपरायणता और निर्भीकता का पता चलता है। पहला उदाहरण है अंग्रेजी फौज के कैण्टोनमेण्ट से म्युनिसिपैलिटी की लंबित बकाया राशि का भुगतान कराना। उन्होंने टैक्स की राशि के भुगतान के लिए एक सप्ताह की नोटिस दी और अवधि बीतते ही पानी देना बंद कर दिया। उन्हें हारकर कर चुकाना पड़ा। दूसरा उदाहरण है जनता के लिए पानी-संकट को देखते हुए लाट साहब के इलाहाबाद पहुँचने पर उनके तालाब में पानी न भरवाने का। उनका अंग्रेज सचिव गुस्से से उबलता हुआ आया और इन्हें भला-बुरा कहकर धमकाने लगा। टण्डन जी हिमालय के समान दृढ़ रहे और साफ-साफ कहा—"जिस समय जनता को पीने के पानी की कठिनाई है, उस समय वे तालाब भरने के लिए पानी नहीं दे सकते।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राधास्वामी मत के अनुयायी—टण्डन जी को कभी न आत्म-प्रदर्शन पसंद हुआ और न अपने धर्म-मत को किसी पर थोपना ही। इनका विश्वास था—"यः परधर्मं बाधते न सः धर्मः अपितु कुधर्मः" (जो दूसरे धर्म में बाधा पहुँचाता है, वह धर्म नहीं, कुधर्म है)। बहुत कम लोगों को पता है कि ये राधास्वामी मत के अनुयायी थे और प्रायः गुरु की समाधि के समीप बैठकर ध्यानमग्न होना उन्हें रुचता था। परंतु कभी इन्होंने न अन्य धर्मों के प्रति अनुदारता और असहिष्णुता दिखायी और न इसे किसी पर लादने की चेष्टा ही की। इनके आचरण पर इनके मत का गहरा प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि इन्हें कबीर, दादू, रैदास, दरिया, सहजो प्रभृति संत कवियों की वाणी से विशेष मोह था। इन संतों की शिक्षा को भी उन्होंने अपने जीवन में क्रिया की वाणी दी थी। टण्डन जी मानव-धर्म के पक्के समर्थक थे। इनमें परायी पीर की पहचान थी, परदुःखकातरता कूट-कूट कर भरी थी। सेवा और त्याग इनके स्वभाव में बस गये थे। आत्मोपलब्धि को लोकोपलब्धि के लिए न्यौछावर करना, व्यष्टि का समष्टि के लिए बलिदान इनका अभीष्ट रहा। यही कारण है कि टण्डन जी सभी धर्मावलंबियों के दिलों में बसे हैं, हर दिल अजीज हैं। सारा देश उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक है। 'कहैंगे सबहिं नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे पुरुषोत्तम की कहानी रहि जाएगी।' ये सचमुच ही राजर्षि ही नहीं, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी थे।

साहित्य-सेवा के साकार रूप : टण्डन जी

ध्यातव्य है कि लोक सेवक मण्डल का प्रधान कार्यालय लाहौर में था। इसलिए उन्हें अधिकतर वहीं रहना पड़ा। इस स्थिति से पंजाब के हिन्दी आन्दोलन को बड़ी प्रेरणा मिली और इनके पथ-प्रदर्शन में प्रांतीय हिन्दी सम्मेलन और आर्यसमाज, सनातन-धर्म सभा, देव समाज आदि द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी के लिए अधिकाधिक स्थान देने की भावना को बल मिला। हिन्दी के सभी केन्द्रों से उन्होंने निकट का संपर्क बनाये रखा। फलतः हिन्दी के केन्द्र लाहौर, अमृतसर, जालंधर और अबोहर को टण्डन जी ने यथासमय उचित सलाह और सहायता दी। इससे हिन्दी के प्रचार-प्रसार को गति मिली।

कहा जाता है कि दान घर से प्रारंभ होता है। टण्डन जी ने भी साहित्य-सेवा का श्रीगणेश साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को जन्म देकर किया। इनके अथक प्रयासों से सम्मेलन को भूमि मिली, विशाल भवन बना, मुद्रणालय हुआ और उसे राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था का दर्जा मिला, जहाँ से साहित्य के विकास की किरणें पूरे देश में बिखरती रही हैं। इसी के तत्त्वावधान में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना भी हुई जिसे १९३० में पृथक् करके स्वतंत्र रूप दे दिया गया।

सन् १९२२ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए टण्डन जी और कई बार प्रांतीय सम्मेलनों का सभापतित्व भी कर चुके हैं। गांधी जी 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थे और टण्डन जी हिन्दी के पक्ष में। यह मतभेद अंत तक बना रहा। सन् १९४५ में गांधी जी ने इसी मतभेद के कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे और १९४९ ई० में देश के संविधान परिषद् ने भी हिन्दी और देवनागरी लिपि को ही मान्यता दी।

सच पूछिए तो उच्चकोटि के नेता और व्यवस्थापक की हैसियत से ही उन्होंने हिन्दी की इतनी सेवा की हो—ऐसी बात नहीं है, वरन् वे उच्चकोटि के साहित्यिक और साहित्य के मर्मज्ञ थे। साहित्यिक गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में उनकी सहृदयता, रसिकता, कविता में रुचि आदि देखने योग्य थी। अपनी कविता भी सुनाते थे। सन् १९२२ ई० में तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से भाषण देते हुए टण्डन जी के विचारों और उद्गारों में उनका साहित्यिक हृदय झाँकता नजर आता है—"यह समय भारतवर्ष के लिए महापरिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही एक ऐसा अवसर है, जबकि वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का सारा मानसिक प्रवाह बदल दे।...कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए। सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखलायी पड़ता है।...आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के चलन के अनुसार भी, परकीया नायिका को अधिक होती है। स्वकीया सती का शृंगार आभूषणों पर न निर्भर ही है और न उससे बढ़ता ही है।...वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से वाणी का उद्गार हुआ है।...आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें।...निस्सार नीचे गिरानेवाले रसों और उन्हीं के समान संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़कर दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए। उनके उपयुक्त संचारी भावों से उन्हें संचरित कीजिए और तब उनके परिणामस्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए।" इस प्रकार के सुन्दर और साहित्यिक विचारों द्वारा वे सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी सेवी संस्थाओं में प्राण भरते रहते थे।

हिन्दी को विकसित, सम्मानित और जन-जन का कण्ठहार बनाने में टण्डन जी का अप्रतिम योगदान काल-प्रवाह कभी भुला नहीं सकता है। उन्होंने जन-जन के कानों में मंत्र फूँका—"हिन्दी को अपनाओ, पनपाओ। हिन्दी राष्ट्रीयता के उत्थान में सहायक बने। हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए प्रत्येक भाषा-भाषी को कुछ काम करना चाहिए।" वे हिन्दी को प्रेम की मधुर बयार से फैलाना चाहते थे। इसके लिए अधिकार का प्रयोग करना उन्हें स्वीकार नहीं था—"हिन्दी दूर सुदूर फैले, प्रेम की मधुर बयार से, अधिकार की अन्धी आँधी से नहीं।" हिन्दी की सेवा के लिए दृढ़ता और विनम्रता दोनों की अपेक्षा है और इससे भी अधिक जरूरत है वाणी पर संयय की। इसीलिए टण्डन जी कहते हैं—"दृढ़ता से किन्तु विनम्रतापूर्वक हिन्दी की सेवा करो, और जो कुछ कहो नापतौल कर कहो।" उनके लिए हिन्दी का सवाल देश की आजादी के सवाल से अभिन्नता के साथ जुड़ा था। इसलिए हिन्दी की भूमि बनाने की ओर उनका सर्वाधिक ध्यान रहता था—"हिन्दी का सवाल मेरे लिये भारत की आजादी का सवाल है। हिन्दी के लिए अभी बहुत काम करना है। हिन्दी मेरे जीवन का मुख्य अंग है।" टण्डन जी हिन्दी के ऐसे संरक्षक और प्रहरी थे जिन्होंने मंच से ही उनका समर्थन मात्र नहीं किया,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वरन् अपनी भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा से उसका भण्डार भी समृद्ध किया, जिन्हें उनके भाषणों, लेखों, पुस्तकों में रखा जा सकता है। वे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

उर्दू की परम्परा और टण्डन जी

एक समय ऐसा आया, जब इस पर विचार किया जाने लगा, देश के चोटी के नेता इस पर चिन्तन करने लगे कि उर्दू की सांस्कृतिक परंपरा क्या हिन्दी की सांस्कृतिक परंपरा से मेल खाती है? क्या इस परंपरा के साथ हिन्दी का मेल बैठ सकता है? निष्कर्ष यही निकला कि उर्दू की परंपरा पृथकता सिखाती है। उसे राष्ट्रीय धारा के साथ जोड़ने के समर्थक थे श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सम्पूर्णानन्द और श्री टण्डन जी। चूँकि टण्डन जी साहित्यकार थे, उर्दू-हिन्दी की नब्ज पहचानते थे, दोनों का अदब जानते थे, इसलिए उन्होंने बड़ी ही रोचक शैली और काव्यात्मक भाषा में अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है—"उर्दू कवियों की जो कविताएँ हुईं, वे अरब और ईरान के तहजीब की प्रतीक थीं। उर्दू कविताएँ हमें अपने नगर, अपने देश, अपने गली-कूचों की ओर ले जाने के बजाय, ईरान और अरब के नगर तथा गली-कूचों की ओर ले जाती हैं। उसकी सांस्कृतिक परंपरा हमारे देश की, हमारी मिट्टी से निकली हुई जो संस्कृति है, उसके विपरीत है।" इसी की वजह से देश का बँटवारा हुआ। आगे वे फिर लिखते हैं—

"उर्दू कवियों के रूपकों में उर्दू कविता का सांस्कृतिक प्रयत्न स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनकी कविता में यदि वीर की उपमा दी जाती है तो रुस्तम, सोहराब, अफ्रासियाब को याद किया जाता है। कहीं पर भी आपको भीम, अर्जुन आदि की उपमा नहीं मिलेगी। नदी की उपमा जब आती है तो उन्हें अरब की, मेसोपोटामिया की और ईरान की नदियाँ याद आती हैं। पर्वत की याद आती है तो उन्हें ईरान के पहाड़ों की याद आती है, हिमालय पर्वत की याद नहीं आती। फूलों में उन्हें नर्गिस की याद आती है। पक्षियों में उनको बुलबुल दिखायी पड़ता है, अपने देश के जो सुन्दर और अच्छे पक्षी हैं, उनकी चर्चा नहीं करते। उनका यह प्रयत्न था कि लखनऊ की गलियाँ 'अश्वाँ' बन जायँ। 'अश्वाँ' ईरान का एक नगर है। सरूर जो लखनऊ का एक कवि था उसका एक शेर "फसाना अजायब' में यह है—'बुलबुले शीराज को है रश्क नासिख का शुरू। अश्वाँ इसने किये हैं, लखनऊ के कूचे और गलियाँ।' कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू का सांस्कृतिक क्रम पृथकवाद है और उसका परिणाम यह हुआ कि जैसे-जैसे उर्दू का विकास हुआ, वैसे-वैसे सांस्कृतिक पृथकता बढ़ती गयी। जहाँ-जहाँ उर्दू का साम्राज्य था, वहाँ-वहाँ पृथकवाद का विशेष बल था, जैसे उत्तर प्रदेश और पंजाब में।" (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पैंतीसवें अधिवेशन का विवरण; प्रयाग, पृ० ७९–८०)

काव्य संकलन और लेख—टण्डन जी को कविहृदय प्राप्त था, जिसकी झाँकी कवि-सम्मेलनों में देखी जा चुकी है। इनके प्रकाशित काव्य संकलन भी हैं—'कुटीर का पुष्प', 'बन्दर सभा' और 'स्वतंत्रता' (महाकाव्य)। १९०५ में दिल्ली दरबार को लक्ष्य कर व्यंग्य शैली में लिखा गया है 'बन्दर सभा'। इस महाकाव्य की रचना आल्हा-ऊदल शैली में तीन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चुटकियों में की गयी है। इसके अनुसार गढ़बन्दर नामक देश में बन्दर-ही-बन्दर रहते थे। उनके राजा का नाम मल्लू था। उस देश में एक बार बन्दरों की सभा जुड़ी। उसी बन्दर सभा का वर्णन वहाँ अंकित है। इसका व्यंग्य बड़ा पैना, धारदार और मारक है, पर डाइडन की तरह सुधारवादी है। दो उदाहरण (तीसर चुटकी से) ध्यातव्य हैं—

यह तुम सब तो जानत हइहौ। आपन एकै यही उसूल।
जौन भाँति से रुपया आवै। वो ही धर्म न्याय को मूल।

× × ×

जितने बेदुम के हैं बानर। उनका हरी हरी दिखलाय॥
चूनी भूसी उन्हें फेंक दें। बढ़िया माल लेंय गठियाय॥

अर्थलोलुपता, अर्थ को ही धर्म और न्याय का मूल समझना तथा सबको सब्जबाग दिखाकर अच्छे माल पर हाथ फेरना यहाँ व्यंग्य के विषय हैं। सबके मूल में है अराजकता और स्वार्थपरता से सनी राजनीतिक व्यवस्था का कर्दम।

इन्होंने १९०८ से १९०९ तक 'अभ्युदय' का सम्पादन बड़ी कुशलता और निर्भीकता से किया। उसने पत्रकारिता जगत् में एक कीर्तिमान तो स्थापित किया ही है, टण्डन जी के कई महत्त्वपूर्ण लेखों का उसमें प्रकाशन भी हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं में, भाषण संकलनों में बिखरी इनकी साहित्यिक अभिव्यक्तियों को एकत्र किया जा सकता, तो साहित्य का बड़ा उपकार होता और यही उनके प्रति बड़ी श्रद्धांजलि होती। इन्हें हिन्दी सेवाओं के लिए भारत सरकार की ओर से १९६१ में 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया और इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और वैदुष्य के कारण सम्मेलन ने इन्हें 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित किया।

'हरि अनंत हरि कथा अनंता' की तरह इनके गुणों का बखान कठिन है। जैनेन्द्र कुमार के शब्दों में स्वीकारना पड़ता है—"जिन्होंने बन्धन के मध्य मुक्ति की और मृत्यु के बीच अमरता की साधना की है, ऐसे पुरुष स्वयं ही जीवन का मापदण्ड बन गये हैं। इनसे ही हम जीवन-सत्य को समझा करते हैं।" राजर्षि टण्डन जी ऐसी ही मुक्ति और अमरता की अलख जगा रहे हैं—वे आदर्श प्रतिमान हैं, मानवता के प्रकाश स्तम्भ, जिसके स्मरण मात्र से आज की सहस्रशीर्षा समस्याएँ चुटकी में सुलझ जाती हैं। ऐसे कालजयी पुरुष को काल-प्रवाह कभी भुला नहीं सकता। आज की हताश, हतदर्प, कुण्ठित, दिशाहारा पीढ़ी ऐसे भव्य व्यक्तित्व से प्रेरणा का सम्बल ले भविष्य-पथ प्रशस्त कर सकती है। कुण्ठा, संत्रास, मूल्य-संकट और विघटन के इस कुज्झटिकाच्छन्न वातावरण में भी राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के आदर्शों और सिद्धांतों पर चलकर न केवल रचनात्मक कार्य की दिशा में आशातीत प्रगति की जा सकती है, वरन् यह उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि भी होगी।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आधार ग्रंथों की सूची

१. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनंदन ग्रंथ, १९६०, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली।

२. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व एवं संस्मरण, संपादक—लक्ष्मीनारायण, ओंकार शरद, १९६७, ज्योत्स्ना प्रकाशन, इलाहाबाद, डालमियानगर।

३. टण्डन निबंधावलि—ज्योति प्रसाद मिश्र, 'निर्मल', १९७०, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा।

४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली), २० से २६ सितम्बर, १९८१।

५. हिन्दी विश्वकोश, भाग ७, प्रथम संस्करण, १९६६, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

६. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, प्रथम संस्करण, सं० २०२०, ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

७. भारत की भाषा समस्या—डॉ० रामविलास शर्मा, द्वितीय संस्करण, १९७८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

८. स्वतंत्रता संग्राम—विपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी एवं वरुण दे, प्रथम संस्करण, ५ अगस्त, १९७२, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली।

९. मेकर्स ऑफ माडर्न इण्डिया, प्रथम संस्करण, १५ अगस्त, १९७३, भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली।

१०. कांग्रेस का इतिहास—डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या, १९४८ प्रथम, द्वितीय और तृतीय खण्ड, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

११. 'राष्ट्रभाषा : प्रश्न और निदान' पुस्तक का निबंध 'उच्चतर शिक्षा का माध्यम हिन्दी' लेखक डॉ० मृत्युञ्जय उपाध्याय।

१२. यंग इण्डिया।

१३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के ३५वें अधिवेशन का विवरण।

१४. साहित्य की कसौटी—जैनेन्द्र कुमार।

१५. समय और हम—जैनेन्द्र कुमार।

—वृन्दावन, राजेन्द्रपथ,
धनबाद, ८२६००१ बिहार।

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री पतञ्जलि मिश्र 'हलायुध' शास्त्री

⊙ ⊙

महामना श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का प्रादुर्भाव प्रयागराज (इलाहाबाद) के एक सम्भ्रान्त खत्री परिवार में सन् १८८२ ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा की व्यवस्था इनके पिता ने प्रयाग के 'गवर्नमेण्ट कॉलेज' तथा 'सेण्ट्रल कॉलेज' में की थी। बी० ए० तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने इलाहाबाद से ही वकालत पास की थी। वे जन्म से ही प्राणिमात्र के हितैषी थे। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के प्रति जन्मना प्रगाढ़ स्नेह से इनका हृदय आविल था जिसका परिचायक इनका राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी की सुरक्षा के लिए जीवनपर्यन्त अपने को मातृभूमि पर न्यौछावर तक करने का दृढ़ निश्चयी होना था। १९१४ ई० में इन्होंने अपनी उच्च शिक्षा समाप्त की थी और प्रयाग में ही उसी वर्ष से वकालत का पेशा अपनाया था। सन् १९१४ से १८ तक टण्डन जी ने पंजाब राज्य के 'नाभा स्टेट' में विधिमंत्री का पद सुशोभित किया था।

मैंने अपने पिता जी से सुना है कि सन् १९१९ में 'रौलेट बिल' के विरुद्ध जब देशव्यापी आन्दोलन छिड़ा तब मनस्वी टण्डन जी ने उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया था। देश की दुर्दशा देख उनका हृदय काँप उठा था। अतएव उन्होंने न आव देखा न ताव चट, से १९२१ ई० में वकालत से मुख मोड़ लिया और पूर्णतः विनम्र आन्दोलनकारी बनना ही रुचिकर माना। १८९९ में ही टण्डन जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रवेश पाया था। उत्तर प्रदेश को कांग्रेस का गढ़ बनाने का एकमात्र श्रेय उक्त महापुरुष को ही है। १९२३ एवं १९४८ ई० में उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष भी वे रह चुके थे। १९५० ई० में इन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया था किन्तु स्वाभिमानी विचारक होने के कारण अन्य सदस्यों से मतभेद के कारण ८ सितम्बर, १९५१ को उन्होंने उक्त पद से त्यागपत्र देकर अपने स्वाभिमान की रक्षा की थी। कांग्रेस के अध्यक्ष पद से हट कर भी इन्होंने उसके प्रति पूर्ववत् अपनी सच्ची निष्ठा बना रखी थी।

टण्डन जी बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इन्होंने अपना सम्बन्ध कई संस्थाओं से बनाया था। कई वर्षों तक तो ये प्रयाग नगरपालिका के अध्यक्ष भी थे। १९२९ में लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'सर्वेण्ट ऑफ पीपुल्स सोसाइटी' तथा १९३० में 'किसान संघ' की अध्यक्षता भी उक्त महाशय ने की थी। सन् १९३० और '३२ में होने वाले 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सम्मिलित होकर भी इन्होंने अपनी देशभक्ति की भावना को गुरुतर बनाया था। १९३७ और १९४६ ई० में वे दो बार उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष निर्वाचित किये गये थे। उक्त पद पर इन्होंने १९५० ई० तक कार्य किया था।

उक्त वर्षों में जीवन-यापन के क्रम में टण्डन जी को कई बार जेल-यात्राएँ भी करनी पड़ी थीं। सन् १९४२ के 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय उन्होंने सातवीं बार जेल की यात्रा की थी। १९४४ ई० के अगस्त महीने में जेल से इनकी रिहाई हुई थी। सम्भवतः रिहाई के समय टण्डन जी ने अपनी स्वस्थता खो दी थी जिसके फलस्वरूप इन्हें कारामुक्त किया गया था। १९५७ ई० में इन्हें राज्य-सभा के लिए मनोनीत किया गया था। १९६० ई० में इन्होंने संसद् की सदस्यता से अपने को त्यागपत्र देकर मुक्त कर लिया था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि टण्डन जी हिन्दी के अनन्य भक्त थे। इनकी इच्छा के फलस्वरूप संसद् ने 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' को राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान बनाने के लिए सन् १९६० में ही एक विधेयक पास किया था।

टण्डन जी भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के अभिन्न मित्रों में अन्यतम थे। इन्हें २३ अक्टूबर, १९६० को तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने एक विशेष समारोह में 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया था। टण्डन जी के जीवन-काल का यह अन्तिम सार्वजनिक कार्यक्रम था।

टण्डन जी एक कुशल वक्ता, संसत्पण्डित तथा शास्त्रार्थ महारथी थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इन्हीं के सत्प्रयास से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिला। इनकी देश-सेवा से मुग्ध होकर भारत-सरकार ने इन्हें 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित किया था। देश के राष्ट्रीय जीवन में इन्होंने लगभग चालीस वर्षों तक सराहनीय कार्य किये थे। अतएव इनकी गणना देश के उन राजनीतिज्ञों में है जो धुन के पक्के रहे हैं। भारतीय विद्वानों ने इन्हें 'राजर्षि' की पदवी प्रदान कर इनके वास्तविक महनीय गुणों का समादर किया था। ये सच्चे अर्थ में ऋषि थे। ऋषि कान्तदर्शी हुआ करते थे। इन्होंने भी परतन्त्र भारत की जनता की मानवता का करुण क्रन्दन अपने ऋषित्व के वशीभूत होने के कारण सुना था। टण्डन जी ने समालोचक की दृष्टि पायी थी। भारत के विभिन्न प्रान्तों से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं पर अपना बहुमूल्य विचार सूत्र-शैली में प्रकट कर उन्हें प्रोत्साहित करते रहना मात्र अपनी राष्ट्रभाषा की सेवा वे समझते थे। 'सस्ता साहित्य मण्डल, अजमेर' से प्रकाशित 'त्याग-भूमि' नामक मासिक हिन्दी पत्रिका (जिसके सम्पादक श्री हरिभाऊ उपाध्याय थे) से प्रभावित होकर टण्डन जी की राष्ट्रभाषा हिन्दी की पूजा के निमित्त जो वचन प्रस्फुटित हुए थे जिसे स्वयं उन्होंने कलकत्ता से छपने वाले 'विशाल भारत' नामक हिन्दी मासिक पत्र (मार्च, १९३० के अंक) के माध्यम से व्यक्त किया है जो निम्नलिखित है—

"मैं हिन्दी में 'त्याग-भूमि' को सर्वोपरि मासिक पत्रिका समझता हूँ।"

(पुरुषोत्तमदास टण्डन)

[भाग ६६ : संख्या १-४

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उपर्युक्त बिन्दुओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि टण्डन जी का जीवन सादा और संयमी था। मैं बता चुका हूँ कि 'भारतरत्न' टण्डन जी 'देशरत्न' राजेन्द्रप्रसाद के अभिन्न मित्र थे। यही कारण है कि अपने राष्ट्रपति पद से अवकाश प्राप्त करने के अनन्तर दिल्ली से चल कर पटना आने के क्रम में राजेन्द्र बाबू प्रयाग में स्थित अपने सहृदय मित्र टण्डन के दर्शनार्थ उनके निवास-स्थान पर गये थे। उस समय दोनों मित्रों के मिलन से वातावरण जगमगा उठा था तथा दोनों ने प्रेमालाप के प्रसंग में अपने दृग्बिन्दुओं से भारत भूमि को सिक्त किया था।

टण्डन जी अहिंसा के पालक थे। इन्होंने अहिंसा का सच्चे अर्थ में पालन किया था। वे मारे गये जानवरों के चमड़े से निर्मित जूते का व्यवहार नहीं करते थे। गो माता की पूजा करना इनके दैनिक जीवनचर्या का अभिन्न अंग था।

सन् १९६२ ई० की पहली जुलाई को प्रातः १० बज कर ५ मिनट पर भारतमाता के सपूत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण-तत्त्व तथा स्वतन्त्रता सेनानियों में अग्रगण्य महामना राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की देदीप्यमान पञ्चभौतिक काया अपने मूल-तत्त्वों में विलीन हो गयी थी। भारत अद्यावधि उक्त महापुरुष को खोकर शोक-मग्न है।

—कमलेश कुटीर
बासाटाँड़, केआल
गया (बिहार)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति में राजर्षि का स्वरूप एवं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

डॉ० शिवकुमार शाण्डिल्य

⊙ ⊙

मानव-संस्कृति के इतिहास में सर्वथा अग्रणी भारतीय संस्कृति की आधार-शिला वैदिक ऋषियों का परमार्थ-चिन्तन है। वैदिक ऋषियों का चिन्तन-स्थल था—प्रकृति का विराट् मुक्त प्रांगण। इसी कारण आर्ष-चिन्तन में भी मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार की मुक्तावस्था के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

"ऋषि" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जाती है—"ऋष्"+इगुपधात् कित् ४।११९ इति उणादि सूत्रेण इन्। "ऋष्" का धात्वर्थ है—जाना, पहुँचाना, मारना, क्षति पहुँचाना, आग बढ़ाना या धकेलना। "ऋष्" धातु से निर्मित पद "अर्षति" का अर्थ होता है प्रवाहित होना, लुढ़कना। मत्स्य पुराण के अनुसार—"ऋषि"[१] धातु हिंसा तथा गति अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः ब्रह्म ज्ञान, विद्या, सत्य, तप और शास्त्रीय ज्ञान, वेद-ज्ञान का जो लाभ करता है वही ब्राह्मण "ऋषि" कहलाता है।.....गति अर्थ में प्रयुक्त होने वाले "ऋषि" धातु से निष्पन्न ऋषि शब्द सभी जीवों की निवृत्ति का कारण होता है एवं स्वयमेव उद्भूत होता है। इसलिए उसकी ऋषिता मानी गयी है।"[२]

ऋषि-सम्बन्धी भारतीय अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं:

१. इन्द्र के लिए सूक्त (स्तोत्र)—रचयिता।...याज्ञिक...। देवों के लिए सूक्त (स्तोत्र)—रचयिता...। यज्ञ में स्तोत्र-उच्चारण करनेवाले। स्तोत्र गायक...। हविदाता...।"[३]

२. असत्। प्राण। सबसे पहले सृष्टि को चाहनेवाले। श्रम तथा तप से खिन्न।[४]

---

१. गति अर्थ में 'ऋषी' धातु का प्रयोग होता है, 'ऋषि' का नहीं।

२. अनुवादक श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, मत्स्य पुराण, अध्याय १४५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संवत् २००३, पृ० ३६९।

३. अनुवादक पं० श्रीराम शर्मा, ऋग्वेद, प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, १९६५-१।१३०।६, ५।२।११, ५।२९।१५, ७।३६।१-९, ८।३२।२७, तथा ८।५७।५।

४. शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

३. चक्षु आदि प्राण।[१]

४. ब्रह्म-ज्ञान, विद्या, तप और शास्त्रीय ज्ञान का लाभ करनेवाले, ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होनेवाले परम ऐश्वर्यशाली ब्राह्मण।[२]

५. सम्पूर्ण नष्ट पापोंवाले।[३]

६. दिव्य-ज्ञान एवं आभा से परिपूर्ण।[४]

अर्थात् सृष्टि की हित-कामना से अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, इन्द्र, मित्र, उषा, सविता, पर्जन्य, पूषा, विश्वेदेवा, यम, हिरण्यगर्भ तथा वाक् आदि को प्रसन्न करने के लिए सूक्तों के रचयिता; शास्त्रकृदाचार्य; सम्पूर्ण नष्ट पाप; दिव्य ज्ञान एवं आभा से परिपूर्ण; ज्ञान के माध्यम से संसार के पार देखनेवाले; ब्रह्मज्ञान, विद्या, तप और शास्त्रीय-ज्ञान का लाभ करनेवाले ब्रह्मज्ञानी; निवृत्ति-बुद्धि द्वारा उस परम महान् में आश्रित; ब्रह्मा के मन से स्वयं उद्भूत महर्षि-सन्तान को "ऋषि" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

वेद-परवर्ती वैदिक एवं पौराणिक[५] साहित्य में ऋषियों को सात वर्ग तथा पाँच जातियों में वर्गीकृत किया गया है :

सात ऋषि-वर्ग ये माने गये हैं : महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि तथा काण्डर्षि।

पाँच ऋषि-जातियाँ ये हैं : अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा तथा इन्द्रियात्मा।

मत्स्यपुराण अध्याय १४५ में महर्षि, परमर्षि तथा श्रुतर्षि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :..."ब्रह्मज्ञान, विद्या, सत्य, तप और शास्त्रीय ज्ञान (वेदज्ञान)—इनका जो लाभ करता है वही ब्राह्मण ऋषि कहलाता है। वही ऋषि जब निवृत्ति के समय बुद्धिबल से परम अव्यक्त में गमन करता है तब परम ऋषि का पद प्राप्त करता है। गति अर्थ में प्रवृत्त होनेवाले ऋषि धातु से निष्पन्न ऋषि शब्द सभी जीवों की निवृत्ति का कारण होता है एवं स्वयमेव उद्भूत होता है इसलिए उसकी ऋषिता मानी गयी है। ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होनेवाले वे परमैश्वर्यशाली ऋषिगण स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं और उनकी निवृत्ति बुद्धि द्वारा उस परम महान् में आश्रित होती है। यतः वे परम तत्त्व के ज्ञानी थे अतः उन्हें महर्षि कहा गया। उन परमैश्वर्यशालियों के मानस तथा औरस पुत्र हुए, जो उक्त परम तत्त्व के आश्रय से परमर्षि कहे गये। उनसे उत्पन्न होनेवालों को ऋषि कहा गया, उन ऋषियों के पुत्र ऋषीक कहे गये, जो कि स्त्री-पुरुष संयोग से उत्पन्न हुए।

---

१. शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१।

२. मत्स्यपुराण, अध्याय १४५, पृष्ठ ३६९।

३-४. श्रीमद्भगवद्गीता ५।२५, ११।१५।

५. मत्स्यपुराण, अध्याय १४५ तथा वाचस्पत्यम् एवं शब्द कल्पद्रुमः आदि संस्कृत कोशादि।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

परत्व के कारण महत्त्व के आश्रय से इनको ऋषिक कहा जाता है। इन ऋषिकों के पुत्रों को ऋषिपुत्रक जानना चाहिए। यतः वे महत्तत्त्व को सुनकर परवर्ती हुए अतः उन्हें श्रुतर्षि कहा गया। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, मनं, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं। ये परत्व और ऋषित्व दोनों ऋषि-धर्मों से युक्त हैं अतः महर्षि कहे जाते हैं।"[१]

अन्यत्र देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा काण्डर्षि को इस प्रकार परिभाषित किया गया है : तप के बल से देवत्व को प्राप्त ऋषि जैसे कण्व तथा नारद, जिन्हें देवताओं के ऋषि भी कहा जा सकता है देवर्षि कहे जाते हैं। ब्रह्म को जाननेवाले, परब्रह्म में गमन करने वाले ऋषि ब्रह्मर्षि माने जाते हैं जैसे वसिष्ठ। जो राजा तप के बल से ऋषित्व को प्राप्त कर ले उसे राजर्षि कहा जाता है। ऋषित्व-प्राप्ति से ऐसा राजा क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है। इसी कारण ऋग्वेद में विश्वामित्र को राजा अथवा क्षत्रिय न मान कर ब्राह्मण माना गया है। वेद-विभाग काण्ड के ऋषि काण्डर्षि कहे गये जैसे—जैमिनि।

इस सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि राजर्षि का सम्बन्ध मूलतः क्षत्रिय वर्ण से होता था। इन्हें ऋषित्व वंश-परम्परा से प्राप्त नहीं होता था। राज-कार्य जैसे कठोर एवं विपरीत धर्म कार्य करते हुए ऋषित्व को प्राप्त करना अत्यन्त दुस्साध्य है। एक हाथ में राज-दण्ड और दूसरे हाथ में नैतिकता की चरम सीमा का पालन विरले पुरुषों का कार्य होता है। यही कारण है कि महर्षि, परमर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि तथा काण्डर्षि अनेक हुए हैं जबकि देवर्षि तथा राजर्षियों की संख्या अत्यल्प रही है। अकेले वसिष्ठ गोत्र में ये तैंतीस महर्षि हुए हैं : व्याघ्रपाद, औपगव, वैकल्व, शाद्वलायन, कपिष्ठल, औपलोम, अलब्ध, शठ, कठ, गोपायन, बोधय, दाकव्य, वाह्यक, वालिशय, वाग्ग्रन्थय, आपस्थथूण, शीतव्रत, ब्राह्मपुरेयक, लोमायन, स्वस्तिकर, शाण्डिलि, गौडिनि, वाडोहलि, सुमना, उपावृद्धि, चौलि, बौलि, ब्रह्मबल, पौलि, श्रवस, पौडव तथा याज्ञवल्क्य। राजर्षि वर्ग के ऋषियों की संख्या सीमित है यथा—कर्कोकट, नाग, दमयंत, नल, ऋतुपर्ण, कुशिक, गाथिन (गाधि), विश्वामित्र, मधुच्छन्दस्, अष्टक, शुनः शेप, तरंत, पुरमीद, मनु, इल, पुरूरवा, जनक तथा ऋषिक आदि।

महर्षियों के मानस तथा औरस पुत्र हुए—परमर्षि, परमर्षियों से उत्पन्न होनेवाले ऋषि, ऋषियों के पुत्र ऋषीक हुए। ऋषीक, स्त्री-पुरुष-संयोग से उत्पन्न माने जाते हैं। इन ऋषिकों के पुत्रों को ऋषिपुत्रक कहा जाता है।[२] इन्हें क्रमशः अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा तथा इन्द्रियात्मा कहा जा सकता है।

राजर्षि में स्थूलतः कर्म-विभागशः निम्नलिखित गुण माने जा सकते हैं :

१. क्षत्रिय कुलोत्पन्न, राजवर्ग से सम्बन्धित पुरुष।

२. स्वभावतः "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।"

१–२. मत्स्य पुराण, अध्याय १४५ तथा वाचस्पत्यम् एवं शब्दकल्पद्रुमः आदि संस्कृत कोशादि।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

३. आत्म-त्यागी, आत्म-संयमी तथा कामना-जयी।

४. संस्कृति का रक्षक एवं उन्नायक।

५. दृढ़ निश्चयी।

६. आदर्श व्यवहारवादी, कर्तव्यनिष्ठ, निस्पृही, सेवाव्रती तथा उदारमना।

७. शील एवं ओज-युक्त।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश २।५३ तथा ४।१२ में क्षत्रिय तथा राजा के गुण इस प्रकार दिये हैं :

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढ़ः।[1]

तथा—

यथा प्रह्लादनात् चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात्॥[2]

राजर्षि पुरुषोतमदास टण्डन क्षत्रिय (>खत्री) कुलोत्पन्न राजधर्मा पुरुष थे। अपने जन्म १ अगस्त १८८२ के पश्चात् १८९९ में १७ वर्ष की अल्पायु से ही ये राजनीति में आ गये थे। १८९९ में ये कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में स्वयं सेवक रहे। १९०५ में काशी-कांग्रेस अध्यक्ष; १९१४-१६ में नाभा रियासत के कानूनी सचिव तथा विदेश-मंत्री; १९१९ में प्रयाग म्यूनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन; १९२३ में प्रान्तीय कांग्रेस गोरखपुर अधिवेशन के अध्यक्ष; १९४६ में प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य; १९४८ में प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष; १९५० में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष आदि अनेक राजनीतिक पदों पर रहे। स्वाधीनता-सेनानी के रूप में १९२१ में पहली जेल-यात्रा से लेकर १९४४ तक अनेक बार जेल-यात्राएँ कीं।

सभी राजनैतिक पदों पर रहते हुए टण्डन जी ने भारतीय जनता के रंजन (-सुख देने) में अपना सर्वस्व समर्पित किया। उन्होंने देश को परतंत्रता की बेड़ी में कराहते हुए देख कर उसके कष्टों को दूर करने के लिए अनेक कष्ट उठाये। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् वे उसके क्लेशों को दूर करने के लिए सांस्कृतिक उत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

टण्डन जी स्वभावतः "वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि" थे। इनके राजनैतिक जीवन की अनेक घटनाओं में से कुछ घटनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा। टण्डन जी जब प्रयाग म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन थे तब इन्होंने अंग्रेजी शासकों से रक्षण प्राप्त प्रयाग के फौजी क्षेत्र से कई वर्ष से बकाया जल-कर दृढ़तापूर्वक वसूल किया था। इन्हीं दिनों इन्होंने युक्त प्रांत के अंग्रेज गवर्नर के लिए गवर्नमेण्ट हाउस प्रयाग का स्नान सरोवर पीने

१-२. संपादक : सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रंथावली, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण, रघुवंशम् २।५३ तथा ४।१२।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के पानी से भरने से मना कर दिया क्योंकि उन दिनों प्रयाग में पीने के पानी की कमी थी। टण्डन जी स्वभावतः "मृदुनि कुसुमादपि" थे। उनका क्रोध क्षणिक होता था और कुछ ही क्षणों पश्चात् वे कुसुम सदृश मुसकराते पाये जाते थे।

टण्डन जी के आत्म-त्याग, आत्म-संयम तथा कामना-जयी स्वभाव से सभी लोग परिचित हैं। इन्होंने कभी भी अपने, परिवार एवं स्वजनों के लिए सिफारिश एवं संचय-वृत्ति का आश्रय नहीं लिया। अत्यल्प में ही अलमस्त रहा भारत का यह अद्वितीय योद्धा।

टण्डन जी को भारतीय संस्कृति के उन्नायक के रूप में सदैव याद किया जाता रहेगा। उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी भाषा के उद्धार के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दिया था। १९१८ में इन्होंने हिन्दी विद्यापीठ प्रयाग की स्थापना की और उसके प्रथम आचार्य रहे। १९२९ में ये लोक सेवा मण्डल के अध्यक्ष रहे और १९३० में किसान मंच की स्थापना की। १९४७ में इन्होंने "हिन्द रक्षक दल" की स्थापना की। १९०५ में इन्होंने बंग-भंग आन्दोलन के समय विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के रूप में चीनी खाना छोड़ दिया। गो की खाल से अधिकांशतः बने होने के कारण १९०७ में इन्होंने चमड़े का जूता पहनना छोड़ दिया।

टण्डन जी की दृढ़ निश्चयात्मिका बुद्धि का परिचय इनके बचपन से ही मिल जाता है। तीन वर्ष की अल्पायु में ही ये अपने समवयस्क एक बालक के साथ पैदल रात के समय चित्रकूट की यात्रा के लिए निकल पड़े थे। नाभा-नरेश ने इन्हें बार-बार पुनः विदेश मंत्री के पद के लिए बुलाया किन्तु एक बार निश्चय कर लेने के बाद ये पीछे मुड़कर नहीं देखते थे।

टण्डन जी सदैव आदर्श व्यवहारवादी, कर्तव्य-निष्ठ, निस्पृही, सेवा-व्रती तथा उदार-मना रहे। उनके जीवन के अनेक प्रसंगों में इन गुणों के स्पष्ट दर्शन किये जा सकते हैं। राधास्वामी संप्रदाय में टण्डन जी का बहुत ऊँचा स्थान रहा है।

टण्डन जी शरीर एवं स्वभावतः शील-ओजयुक्त थे।

मैं टण्डन जी के दर्शन-मात्र केवल एक बार प्रयाग-स्नान के समय प्रयाग में ही कर पाया था किन्तु अपने साथी से उनकी प्रशंसा एवं गुणों को सुनकर इतना अभिभूत हुआ था कि उनकी रुग्णावस्था की भी वह भव्य मूर्ति मेरी आँखों के सामने यदा-कदा तैर जाती है।

मुझे यह कहते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है कि महर्षि देवरहवा बाबा द्वारा १५ अप्रैल १९४८ को सरयू तट पर समारोह में प्रदत्त "राजर्षि" की उपाधि के टण्डन जी पूर्णतः अधिकारी थे।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा उपाधि-प्रदाता महर्षि देवरहवा बाबा के चरणों में मेरी विनत श्रद्धांजलि।

—प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : एक समर्पित जीवन

डॉ० रघुनाथ बिवलकर

⊙ ⊙

विशेष प्रसंगों में महान् व्यक्तियों का स्मरण सामान्य जनों के भविष्यकालीन कार्य में प्रेरक होता है। जन्मशती जैसे अवसर महात्माओं के कार्य का पुनः स्मरण, एक समग्र वर्ष के काल में विभिन्न उपक्रमों का आयोजन निश्चय ही उन कार्यों को आगे बढ़ाता है, विकसित करता है जिनके लिए इन महान् आत्माओं ने अपना जीवन समर्पित किया होता है। व्यक्तियों का कर्तृत्व उनके व्यक्तित्व को प्रभावित ही नहीं करता अपितु उनका जीवन बन जाता है।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी का जीवन राष्ट्र-कार्यार्थ समर्पित था। व्यक्तिगत जीवन की सफलता एवं भौतिक सम्पन्नता उन्हें अपने पाशों में बाँधने में असमर्थ रहीं। राष्ट्र-कार्य में भी राजनीतिक क्षेत्र से उन्हें अधिक प्रिय था हिन्दी साहित्य का, राष्ट्रभाषा का क्षेत्र और उसी में वे जीवन में रम रहे।

हिन्दी भाषा के राष्ट्रीय स्तर के विकास में उन्होंने सक्रिय योगदान दिया। वे सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि हिन्दी एक प्रादेशिक भाषा मात्र न रहे बल्कि वह सही रूप में 'राष्ट्र' संकल्पना की पूर्ति करनेवाली संपन्न एवं समर्थ भाषा बने, देवनागरी लिपि में राष्ट्र की लिपि बनने की क्षमता हो। भारत एक राष्ट्र बने, भाषा-भेद, राज्य-भेदों के होते हुए भी हिन्दी के माध्यम से सारे भारतीय एक बनें, यह उनका स्वप्न था और उसे वास्तविक सत्य के रूप में प्रस्तुत करने में ही उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया है।

हिन्दी साहित्यसेवियों के वार्षिक सम्मेलनों द्वारा जो हिन्दी संतवाणी, भक्तवाणी के रूप में भारतवर्ष में मान्यता प्राप्त कर चुकी थी, उसी का राष्ट्र की वाणी, राष्ट्र की भाषा के रूप में पुनरावर्तन उनका लक्ष्य था। सन् १९१० ई० में काशी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में हिन्दी साहित्य की व्यापक उन्नति एवं सरकारी कार्यालयों में नागरीलिपि के आग्रह का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। इस कार्य की पूर्ति हेतु एक ऐसे फण्ड का भी गठन किया गया, जिसमें संकलित राशि से 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का निर्माण हुआ। हिन्दी भाषा-साहित्य के प्रेमियों के परस्पर विचार हेतु स्वर्गीय राजर्षि टण्डन जी के सफल नेतृत्व एवं अथक परिश्रम के कारण देश के विभिन्न स्थानों में प्रदेशीय सम्मेलन भी संपन्न होते थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना, और उसके अन्तर्गत हिन्दी संग्रहालय, पाण्डुलिपि कक्ष, हिन्दी साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी प्रकाशन, हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए भारत एवं भारत के बाहर विभिन्न क्षेत्रों में परीक्षाओं के संचालन का सूत्रपात, यह राजर्षि टण्डन जी के नैष्ठिक, कर्मठ व्यक्तित्व और उनके कर्तृत्व को सिद्ध करता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग उनके कार्य का पवित्र एवं संस्मरणीय स्मारक है।

हिन्दी का कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ था स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के एक अंग रूप में। स्वाधीनता प्राप्ति के उत्तर-काल में विगत ३०-३४ एवं राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में हम किस प्रकार कार्य कर रहे हैं, यह सर्वविदित है। स्वाधीनता वर्षों में राष्ट्र प्राप्ति के पश्चात्, लगता है, समूचे भारतवर्ष में राजनीति प्रधान हो गयी है। राजनीति का भी शुद्ध सात्त्विक रूप न रह कर वह मात्र स्वार्थ नीति बनी है। अपनी राष्ट्रभाषा का निर्धारण हम नहीं कर पाये हैं। राष्ट्र भी अपनी समस्त राष्ट्रीय संकल्पना के साथ विकसित नहीं हो पाया है।

स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी की जन्मशती के इस मंगलमय अवसर पर अगर हम इतना भी संकल्प करें कि, राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा हमारे जीवन का उद्देश्य बने। उसी दिशा में हम सक्रिय बनेंगे तो यही उनका वास्तव में पुण्यस्मरण होगा। मंगलमय भगवान् से हम प्रार्थना करें कि अपने राष्ट्रभाषा विधायक संकल्प की पूर्ति में हमें उचित बल एवं धैर्य प्रदान करें।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना

डॉ० मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

⊙ ⊙

भारत में राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चेतना उद्‌बुद्ध करने वाले नेताओं में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का स्थान अग्रणी है। इस दिशा में उनके प्रेरणा-केन्द्र तीन महान् नेता थे--पण्डित मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी एवं लाला लाजपतराय। कांग्रेस में उनकी राजनीतिक दृष्टि की समता सरदार वल्लभभाई पटेल से की जा सकती है। वे प्राचीन भारतीय परम्परा के पोषक थे। हिन्दी के प्रति विशेष आकर्षण एवं निर्भीकतापूर्ण लगाव के कारण लोगों ने उनकी भाषायिक अतिराष्ट्रीयता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा लेकिन उनके व्याख्यानों, लेखों तथा विविध वक्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि उनकी सार्वदेशिकतापूर्ण भावना एवं गहरी सूझ-बूझ में अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए भी न्यायोचित स्थान निश्चित था। अपने समय में किसानों की उन्नति, जनतंत्रीय परम्पराओं की स्थापना तथा १९४७ में भारत के विभाजन को रोकने के लिये किये गये उनके प्रयत्न आज के सन्दर्भ में भी मूल्यवान् एवं सार्थक हैं।

बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश उनके छात्र-जीवन में ही हो गया था। जन-सेवा एवं सार्वजनिक क्षेत्र में उनके परामर्शदाता पं० मदनमोहन मालवीय एवं लाला लाजपतराय थे। इनसे प्रेरित होकर जो भाव-धारा टण्डन जी ने प्राप्त की उसे उन्होंने यावज्जीवन निभाया।

अखिल भारतीय कांग्रेस की गतिविधियों में भाग लेना वे अपने छात्र-जीवन (१८९९ ई०) में ही प्रारम्भ कर चुके थे। राष्ट्रीय विचारधारा के कारण उन्हें म्योर कॉलेज से निष्कासित किया गया। सन् १९०६ में इलाहाबाद से उन्होंने भारतीय कांग्रेस समिति का प्रतिनिधित्व किया और इसी वर्ष उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में वकील के रूप में काम शुरू किया। १९०८ में सर तेजबहादुर सप्रू के जूनियर के रूप में उनकी ख्याति फैल गयी। सन् १९०९ में महामना मालवीय जी ने टण्डन जी को 'अभ्युदय' का सम्पादक बनाया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का समस्त कार्यभार उनके सुपुर्द कर दिया। अपने वैयक्तिक सुखों का परित्याग करके उन्होंने अपने दृढ़ सिद्धान्तों एवं अडिग विचारों को निश्चित रूप प्रदान किया।

पण्डित मदनमोहन मालवीय के परामर्श पर उन्होंने १९१४ में नाभा राज्य के विधि

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मंत्री का कार्य-भार सँभाला किन्तु हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने १९१७ में वहाँ से त्यागपत्र दे दिया।

लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लोक सेवक मण्डल के सदस्य बन जाने से टण्डन जी ने पंजाब (१९२३-२९) को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। मण्डल के प्रधान कार्यालय लाहौर में रह कर उन्होंने पंजाब में हिन्दी-आन्दोलन को प्रेरित किया। उनके परामर्श पर आर्य समाज, सनातनधर्म सभा, देव समाज आदि द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार पर बल दिया। लाहौर, अमृतसर, जालंधर और अबोहर को आपने हिन्दी के प्रचार के लिए केन्द्र बनाया।

किसानों की दशा सुधारने के लिए उन्होंने १९१८ में इलाहाबाद जिला किसान कमेटी की स्थापना की। १९१९ में जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड की जाँच के लिए नियुक्त कांग्रेस कमेटी से वे सम्बद्ध हुए। १९२१ में असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण वे गिरफ्तार हुए। सार्वजनिक सेवा-कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता के कारण १९२१ में ही उन्होंने वकालत को तिलांजलि दे दी।

१९२९ में उन्होंने फिर से इलाहाबाद में किसानों की दशा सुधारने के लिए संगठन-कार्य शुरू किया। पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में—"इनके नेतृत्व में किसानों के भूमि सम्बन्धी सुधार आंदोलन से उनकी दशा को काफी राहत मिली। प्रदेश सरकार को कोई कर न चुकाने की दिशा में (१९३०) इससे काफ़ी प्रगति हुई।"

१९३१ में सविनय अवज्ञा आंदोलन में वे बंदी बनाये गये। इसी समय वे कांग्रेस वर्किंग कमेटी के कराँची अधिवेशन के सदस्य बने और १९३१ के बाद किसान सभाओं द्वारा संचालित आंदोलनों को आयोजित करने के सिलसिले में वे कई बार जेल गये। १९३७-३८ तथा १९४८ में वे उत्तर प्रदेश विधान सभा के स्पीकर बने। यह कार्य उन्होंने बड़ी निपुणता से सम्पन्न किया। जब कुछ लोगों ने उनके स्पीकर बनने पर कांग्रेस पार्टी की सदस्यता से त्यागपत्र देने के लिए कहा तो उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और अपना कार्य इतनी निष्पक्षता एवं कुशलता से सम्पन्न किया कि बाद में विरोधियों तक ने उनकी कार्य-विधि की प्रशंसा की।

१९५० में वे अखिल भारतीय कांग्रेस के सभापति चुने गये। कांग्रेस के संगठन पक्ष एवं सरकार के कार्य विभाजन की प्रक्रिया तथा वर्किंग कमेटी के गठन के बारे में पं० जवाहरलाल नेहरू से मतभेद होने के कारण १९५१ में उन्होंने सभापति पद से त्यागपत्र दे दिया।

वे १९५२ में लोकसभा के लिए तथा १९५६ में राज्यसभा के लिए चुने गये। परन्तु कुछ ही समय बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्होंने राज्यसभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और सक्रिय राजनीति से पृथक् हो गये।

३ अक्टूबर, १९६० को इलाहाबाद में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में महात्मा गांधी ने स्नेह से इन्हें 'राजर्षि' कह कर सम्बोधित किया और भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इन्हें 'टण्डन अभिनन्दन ग्रंथ' प्रदान किया। १९६१ में उन्हें 'भारतरत्न' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत किया गया। १ जुलाई, १९६१ को उनका देहावसान हुआ।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी धार्मिक आस्था के दृढ़ पुरुष थे। वे राधास्वामी मत के अनुयायीथे। कबीर, दादू तथा रैदास आदि की बानियों से वे बहुत प्रभावित थे। वे काव्य-प्रेमी और रसिक थे तथा स्वयं भी कविताएँ लिखा करते थे। इन्हीं के सुझाव पर अब्दुर्रहीम खानखाना के मकबरे को सरकार ने ठीक कराने के लिए अपने संरक्षण में लिया। आपकी ही प्रेरणा से दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इस मकबरे पर प्रति वर्ष रहीम कवि की बरसी मनानी शुरू की।

टण्डन जी जातिवाद, छुआछूत और साम्प्रदायिकता के विरोधी थे। वे हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक मत-भेद को समाप्त करने के पक्षधर थे। वे कहते थे—"मेरी कामना है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों एक ही मुहल्ले में, पड़ोस में रहें। उनमें आपसी सामाजिक सम्बन्ध हों। मनुष्यों की तरह हिन्दू-मुसलमान नारियों में भी परस्पर सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हों।" उनका विश्वास था कि अंग्रेज सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों में मतभेद पैदा करके उन पर शासन का ढंग अपनाया है। वे भारत-विभाजन के पक्ष में नहीं थे लेकिन जब इसे स्वीकार करके जश्ने आजादी मनाये गये तो उन्होंने स्वयं को इससे अलग कर लिया क्योंकि उन्हें यह कटी-छँटी आजादी पसंद न थी।

अपने राजनीतिक जीवन में उन्होंने दलितों—विशेषतः किसानों—के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न किये। नागरिक स्वतंत्रता की भावना को दबाने का प्रयत्न करने के लिए उन्होंने अंग्रेज सरकार की कड़ी आलोचना की क्योंकि उसने मजदूर, किसान और राष्ट्रीय आन्दोलन को समाप्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। १९३६ में कांग्रेस के ४९ वें लखनऊ अधिवेशन में राजर्षि टण्डन ने 'कांग्रेस और जन सम्पर्क' नाम से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि कांग्रेस को एक ऐसी व्यापक एवं विशाल संस्था के रूप में विकसित होना चाहिए जो अंग्रेज सरकार की विरोधी समस्त शक्तियों का सहयोग ले और जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित करके उनकी आवश्यकताओं को समझे और तदनुसार कार्य करे।

शिक्षा के माध्यम से वे भारत की सांस्कृतिक परंपरा का ज्ञान छात्रों को देना आवश्यक मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा-माध्यम बालक की मातृभाषा होनी चाहिए। हिन्दी के कट्टर पक्षधर होते हुए भी वे अन्य क्षेत्रीय एवं प्रान्तीय भाषाओं को उनका उचित स्थान देने के समर्थक थे। वे स्वयं उर्दू, फारसी और अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे।

—अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
डी० ए० वी० कालेज, जालंधर
पिन-१४४००८

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

साहित्यकार राजर्षि टण्डन

डॉ० विश्वदेव

⊙ ⊙

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, माँ वाणी सरस्वती के वरदपुत्र थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में समर्पित कर दिया था। आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा अन्य क्षेत्रों में जो गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसके लिए टण्डन जी ने आजीवन सतत संघर्ष किया। वह हिन्दी के इतने प्रबल समर्थक थे कि उसके लिए वह महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू से भी हिन्दी के पक्ष को लेकर उलझ पड़ते थे।

राजर्षि उद्भट प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। उनके साहित्य में उनकी मौलिक प्रतिभा, प्रखर पाण्डित्य, ओजस्वी वैचारिकता, तार्किकता एवं सम्वेदनशील भावुकता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगत होता है। उन्होंने कवि-हृदय पाया था। उनकी दृष्टि में कविता सम्पूर्ण सृष्टि का सौन्दर्य है। उसी में उसका सुख और जीवन-प्राण निहित है। अपने 'कविता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कविता के स्वरूप का परिचय साहित्यिक शब्दावली में दिया है:—

"कविता सृष्टि का सौन्दर्य है, कविता सृष्टि का सुख है, कविता ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। परमाणु में कविता है, विराट रूप में कविता है, बिन्दु में कविता है, सागर में कविता है, जल और थल में कविता है, आकाश में कविता है, प्रकाश में कविता है, अन्धकार में कविता है, सूर्य-चन्द्र और तारागण में कविता है। किरण और कौमुदी में कविता है। मनुष्य में कविता है, पशु में कविता है, वृक्ष में कविता है। जिधर देखो कविता ही का साम्राज्य है।"

एक भावुक कवि की भाँति उनको सर्वत्र कविता का अखण्ड साम्राज्य लहराता दृष्टिगोचर होता है।

राजनीतिक जीवन व्यतीत करते हुए भी टण्डन जी निरन्तर साहित्य-सर्जना और साहित्य-सेवा में तल्लीन रहते थे। उन्होंने स्वयं कविता की भाँति साहित्य के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण किया है।

"साहित्य क्या है? मनुष्य के भावों का शाब्दिक चित्र। ईश्वरीय शक्ति की सबसे अनूठी रचना, जो संसार में हमें दिखायी पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्य में सबसे उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावों को व्यंजित करने के कई मार्ग हैं, किन्तु उनके

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लिए सबसे श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही हैं। शब्द सृष्टि का आधार है और जितने ही अंश में मनुष्य उस मुख्य शक्ति का सहारा लेने का सामर्थ्य रखता है, उतना ही वह श्रेष्ठ है और सृष्टि के केन्द्र के समीप पहुँचता है।"

टण्डन जी मूलतः अध्ययनशील विचारक थे। उनके साहित्य में, विशेष रूप से उनके निबन्धों में, उनके विस्तृत अध्ययन और गहन विचारों की स्पष्ट झलक देखने में आती है। वह तार्किक शैली में विवेच्य विषय का सप्रमाण विवेचन करते थे। 'कवि और दार्शनिक' निबन्ध में लेखक ने विस्तार से दोनों की तुलना करते हुए तर्कपूर्ण ढंग से दोनों के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

"दार्शनिक भाव का वर्णन करता है, भाव कैसे बना है, उसके निर्माण में किन-किन पदार्थों से सहायता ली गयी है? बाहरी पदार्थों को देखकर वह भीतरी पदार्थों का वर्णन करता है और कवि बाहरी पदार्थों का वर्णन भीतरी पदार्थों की सहायता से करता है। यही कारण है कि कवि की बातें मन को प्रसन्न करती हैं और दार्शनिक के उपदेश आत्मा को बलवान् बनाते हैं।"

टण्डन जी ने संस्कृत, हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया था। वह हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रबल पक्षधर होते हुए भी साहित्यिक क्षुद्रता, संकीर्णता, क्षेत्रीयता, भाषावाद के नितान्त विरुद्ध थे। साहित्य को किसी देश, जाति के विकास का प्रमुख साधन मानते हुए भी उन्होंने साहित्य के सार्वजनीन गुण को सर्वोपरि माना है।

"श्रेष्ठ और सार्वजनिक साहित्य वही है जो समस्त सभ्य संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हो और समस्त देशों और विविध मत वालों के निकट आदरास्पद बन सके।" (टण्डन निबन्धावलि, पृ० ७७)

महाकवि कालिदास, तुलसीदास और शेक्सपियर की प्रशंसा करते हुए उन्होंने सार्वजनिक साहित्य को ही सत्-साहित्य, चिरस्थायी एवं सर्वप्रिय माना है, जो लोग टण्डन जी पर हिन्दी भाषा और साहित्य का पक्षपाती होने का आरोप लगाते हैं, उनको भी उनके इन विचारों पर ध्यान देना चाहिए। वह कितने उदारमना, विशालहृदय, सच्चे विचारक तथा सत्-साहित्य एवं सार्वजनीन साहित्य के प्रबल समर्थक थे। भले ही इस प्रकार के साहित्य की सर्जना किसी भी देश, काल, भाषा में क्यों न की गयी हो—

"संकुचित भावों की सहायता से महत् साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। मत-मतान्तर के भेदभावों से पूर्ण सहस्रों ग्रन्थ विद्यमान रहते हुए भी कोई साहित्य अमर और समग्र जाति में, आदरणीय नहीं बन सकता। किसी विशेष सीमा तक परिमित रहने वाले संकुचित भावों को तिलांजलि देकर जो मानवहृदय सर्वकाल और सर्वदेश में एक है उसी को हर्षित, उत्साहित, आनन्दित और आकर्षित करने के लिए जिस सत् साहित्य की सृष्टि की जाती है, वही वास्तव में चिरस्थायी और सर्वप्रिय बन सकता है और उसी को कहते हैं—सार्वजनिक साहित्य।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

साहित्यकार टण्डन को भाषा पर अनन्य अधिकार है। वह विषय के अनुरूप सरस, मधुर, गम्भीर, उदात्त, प्रवाहमयी प्राञ्जल, संस्कृतनिष्ठ भाषा के साथ सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य भाषा के प्रयोग में भी बड़े निपुण थे। वह तत्सम शब्दों के साथ अंग्रेजी, अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करने से कभी नहीं हिचकिचाये।

"हिन्दी के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना जागी है। कांग्रेस की पहुँच जनता के पास मुख्यतया इसी के द्वारा हुई है। पहले कांग्रेस में अंग्रेजी का ही जोर रहता था। कांग्रेस का कांस्टीट्यूशन, कांग्रेस के कागज-पत्र, कांग्रेस की कुल कार्यवाही अंग्रेजी में ही रहती थी। प्रायः नेता लोग कोट-पतलून और हैट लगाकर आते थे और लच्छेदार अंग्रेजी भाषा में ठाट के साथ बोलते थे और वहीं पर उनके काम की इतिश्री थी।" (टण्डन निबन्धावली, पृ० ८४)

उनके साहित्य में उनके ओजस्वी, प्रखर, संघर्षशील, उदात्त एवं दृढ़निश्चयी व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र विद्यमान है। वह समन्वयवादी अवश्य थे, किन्तु अवसरवादी समझौते के विरुद्ध थे। स्वभाषा और संस्कृति को लेकर वह किसी के समक्ष समर्पण करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। उनका आत्मविश्वास, आस्था और संकल्प उनके प्रत्येक शब्द में मुखरित होता था—

"मैं सदा समन्वय के लिए तैयार हूँ। लेकिन यह दोनों ही तरफ से हो सकता है और अगर ऐसा नहीं हो सकता, तो मैं हिन्दी के साहित्यिकों से कहूँगा कि अपने मार्ग पर आप आगे बढ़ते चले जाएँ, अपना कर्त्तव्य निबाहें और हिन्दी की आन्तरिक शक्ति पर भरोसा करें।

अपने भाइयों को मैं सचेत करना चाहता हूँ कि वह मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायँ। छोटी-छोटी-सी बातों के ही लिए हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।" (टण्डन निबन्धावलि, पृ० ८५)

टण्डन जी की कविसुलभ भावुकता उनकी अनेक कविताओं में झलकती है। निस्पृह त्याग और सांसारिक वैभव से दूर एकान्त भाव से जीवनयापन करना उनका अभीप्सित लक्ष्य है। उसी को वह अपना सौभाग्य समझते हैं—

"भाग्यवान हूँ इस ही में यह
विजन कुटीर करूँ सुरभित।
नहीं तनिक इच्छा मुझको,
मधुकर मंडित आरामों की।"

—(कुटीर का पुष्प)

'बन्दर सभा—महाकाव्य' कविता में हास्य और व्यंग्य का अद्भुत प्रयोग किया गया है। सामान्यतः गम्भीर और ओजस्वी व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध टण्डन जी का इस कविता में दूसरा ही रूप उभरकर आया है। कहानी की शैली में विनोदपूर्ण ढंग से सरल, सहज और जन भाषा में कटाक्ष किया गया है—

"यह कौतुक अचरज हम देखा, पूछा एक वानर से जाय।
बोला वानर सुनो विदेशी, यह सब केवल मांसै खाय।।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

घासौ पत्ती खाय लेत हैं, कबहूँ लोहू करै अहार।
बानर मिलै वहू का खावैं खान-पान को नहिं विचार।"

'आल्हा' शैली में कवि का वर्णन-चातुर्य बड़ा चित्ताकर्षक और रोचक है—

"हियाँ की बातें हियनै रह गई, अब आगै कै सुनौ हवाल।
गढ़-बन्दर के देश बीच माँ, पड़ा रहा एक खेत बिसाल।।
× × ×
ओढ़े गउन लगाये टोपी, हीरे जड़े पाँत के पाँत।
भटकट आवत भाव दिखावत, आखिर मेहरारू की जात।।"

देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत कवि का मन अपनी मातृभूमि की परतन्त्रता को देखकर विह्वल हो उठता है। वह स्वतन्त्रता देवी का आह्वान करते हुए भारतभूमि की पीड़ा को वाणी प्रदान करता है—

'हे स्वतन्त्रता प्यारी तू क्यों हमको इतना विसर गयी।
भारत छोड़ किधर को भागी हमको इकला छोड़ गयी।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन एक भावुक, सहृदय और प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में साहित्यसर्जना की है। उनके निबन्धों, लेखों, भाषणों आदि में उनके गद्यकार तथा उनकी कविताओं में उनके कवि-व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

—हिन्दी विभाग, शम्भुदयाल कॉलेज
गाजियाबाद

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गाँधी-टण्डन पत्राचार : सिद्धान्त और व्यवहार का द्वन्द्व

डॉ० कृष्णचन्द्र गुप्त

⊙ ⊙

राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित टण्डन जी का गांधी जी से हुआ पत्र-व्यवहार भले ही हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर चला हो लेकिन उसके मूल में हिन्दी और उर्दू की समस्या ही थी जिसमें मूल कठिनाई लिपि—फारसी लिपि को लेकर थी और इस सारी समस्या का आधार हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना का प्रयास था जो कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य प्रश्न था। गांधी जी तत्कालिक एवं सार्वकालिक दृष्टि से राजनीतिक एवं मानवीय आधार पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और सौमनस्य को स्थापित एवं पुष्ट करने के पक्षधर थे। इस महान् उद्देश्य के प्रति टण्डन जी भी समर्पित थे लेकिन गांधी जी की तुलना में उन्होंने व्यावहारिक स्तर पर तार्किक ढंग से समस्या पर विचार करते हुए सम्बद्ध जन-मानस की मानसिकता के संदर्भ में जो दृष्टि अपनायी, कालान्तर में वह अधिक उपयोगी और व्यवहार्य सिद्ध हुई। हिन्दुस्तानी भाषा के माध्यम से ऐक्य स्थापना के गांधी जी के अनुमान फलीभूत नहीं हुए क्योंकि वे भाषा, लिपि और साहित्य तथा जनसामान्य की मानसिकता से उतने परिचित नहीं थे, जितने टण्डन जी। मात्र-सदाशयता और संकल्प बाँझ रह जाते हैं; यदि दूसरे तथ्यों को अनदेखा कर दिया जाता है। यदि यह कार्य गांधी जी या उनके अनुयायियों को ही करना होता तो इसमें सफलता निश्चित रूप से मिल जाती। लेकिन इसका सम्बन्ध हिन्दी-उर्दू भाषी सामान्य जनता से था और यह कार्य हिन्दी-उर्दू साहित्यकारों के माध्यम से सम्पन्न होना था। इसलिए गांधी जी का देखा हुआ सपना पूरा नहीं हो सका और टण्डन जी द्वारा प्रस्तुत व्यावहारिक तर्क और सम्भावित निष्कर्ष ही इतिहास की कसौटी पर खरे उतरे। देश के दो शीर्षस्थ व्यक्तित्वों के विचार-विमर्श और उसमें उभरने वाला मतभेद आज के क्षुद्र स्वार्थान्ध साम्प्रदायिक नेताओं को दिशा-संकेत कर सकता है यदि वे इस सारे प्रसंग को ध्यान से देखें, और दोनों व्यक्तित्वों की सहिष्णुता एवं शालीनता, तार्किकता और वैचारिक दृढ़ता का अहसास कर सकें तो।

पत्राचार का प्रारम्भ गांधी जी ने किया—"सब पूछते हैं मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूँ और हिन्दुस्तानी सभा में भी। वे कहते हैं सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है जिसमें नागरीलिपि को स्थान दिया

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जाता है जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतमयी।" (राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ९०)।

टण्डन जी ने इसका समाधान किया कि दोनों संस्थाओं के कामों में कोई विरोध नहीं है। "आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि 'सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है, उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है—आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है—मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें" क्योंकि, "यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ायी है तो विरोध की कोई बात नहीं।" (वही)

टण्डन जी ने अत्यन्त तार्किकता से गांधी जी के कार्य को सम्मेलन का ही कार्य सिद्ध कर दिया। गाँधी जी कुछ अतिरिक्त कार्य—उर्दू के प्रचलन का प्रयास कर रहे थे, उसके औचित्य-अनौचित्य, व्यावहारिकता-अव्यावहारिकता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, क्योंकि अभी उसकी आवश्यकता नहीं थी। इस तरह से एक समस्या का समाधान देने की चेष्टा के मतभेद को बचाकर। लेकिन यह मतभेद स्पष्टतः उभरकर सामने आ ही गया। गांधी जी ने इसके उत्तर में लिखा—"आप जो लिखते हैं, उसे मैं बराबर समझता हूँ तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होता नहीं है।" (वही पृष्ठ)। क्योंकि इसके न होने का कारण सम्मेलन और टण्डन जी के अनुयायियों का केवल हिन्दी और नागरी के प्रति झुकाव था, यद्यपि इसके व्यावहारिक तर्क पुष्ट कारण थे, जो आगे चलकर सही सिद्ध हुए। जैसे टण्डन जी गांधी जी के हिन्दी और उर्दू प्रचार एवं दोनों के समन्वय को सम्मेलन का भी काम—हिन्दी-प्रचार मानते थे, उसी तर्क से गांधी जी ने लिखा—"मेरी दृष्टि में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिलकुल आप का ही काम कर रही है इसलिए यह आपके धन्यवाद की पात्र है और कम-से-कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए।" (वही पृष्ठ) क्योंकि उर्दू के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के माध्यम से होता है। तो जैसे टण्डन जी गांधी जी को सम्मेलन से सम्बद्ध रखना चाहते थे वैसे ही गांधी जी ने टण्डन जी को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बद्ध करना चाहा। क्योंकि तर्क के आधार पर दोनों के दृष्टिकोणों में कोई अन्तर सिद्ध नहीं हो पाता। सम्मेलन के प्रति गांधी जी की प्रगाढ़ता का प्रमाण इस अकेले वाक्य से लग जाता है—"हिन्दी साहित्य सम्मेलन में से निकलना मेरे लिये कोई मजाक की बात नहीं है।" (पृष्ठ ९१)।

अब टण्डन जी ने समस्या की एक पर्त और उघाड़ी— "१३ जून के पत्र में आपने (गांधी जी ने) लिखा—'आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें' मैंने (टण्डन जी ने) स्पष्ट किया कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता। मेरी बुद्धि नहीं स्वीकारती कि आपका नया कार्यक्रम व्यावहारिक है, मुझे तो दिखायी देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि बोलनेवाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे।" (पृष्ठ ९२), निर्धन, अशिक्षित और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए अधिकांश जनों के देश भारत में दो-दो भाषाएँ सीखी जायेंगी हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी और उर्दू भाषी जनता के द्वारा। यह अव्यावहारिक आज भी नहीं है, तब की तो बात ही क्या थी? फिर अन्य प्रांतीय भाषा-भाषी दोनों भाषाओं को दो लिपियों में सीखेंगे। यह केवल कल्पना ही सिद्ध होगी। टण्डन जी की यह आशंका सही सिद्ध हुई। दोनों भाषाओं को सीखने की अव्यावहारिकता को किशोरलाल घ० मशरूवाला ने भी टण्डन जी को पत्र लिखते हुए स्वीकार किया था जब गांधी जी ने इस सारे विचार-विमर्श पर उन्हें स्वतन्त्र निर्णय देने के लिए लिखा था—"हिन्दुस्तानी के प्रचार में आप (टण्डन जी) सहयोग दे नहीं सकते। इसका कारण सिर्फ आपको गांधी जी का कार्यक्रम 'व्यवहार्य' मालूम नहीं होता . . . 'अव्यवहार्य' से अगर यह मतलब हो कि लोगों को दोनों शैलियाँ या लिपियाँ सीखने के लिए राजी करना मुश्किल चीज है तो मैं उसे मान लूँगा। पर आप जानते हैं कि मुश्किलों से डरना तो गांधी जी का स्वभाव नहीं रहा।" (पृष्ठ ९५)। किशोरलाल घ० मशरूवाला भी इस तथ्य को नहीं समझ पाये कि यह कार्य अकेले गांधी जी या उनके अनुयायियों के बलबूते का नहीं था, वे प्रचारक तैयार कर सकते थे लेकिन यह कार्य केवल प्रचारकों के द्वारा होने-वाला नहीं था। टण्डन जी ने इस समन्वय के लिए यह मार्ग सुझाया—"हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न में श्रद्धा दिखायें, उर्दू की संस्थाएँ भी इस समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार करें, क्योंकि 'उर्दू लेखक न चाहें तथा आप और हम समन्वय कर लें, यह असम्भव है।' (वही)।

क्योंकि केवल राष्ट्रीय नेताओं के प्रयास से या केवल हिन्दी लेखकों के प्रयास से यह समन्वय नहीं हो सकेगा। उर्दू लेखक न चाहें, इस आशंका का क्या आधार है? ११-७-४५ को लिखे गये इस पत्र में उर्दू लेखकों की समन्वय के प्रति अरुचि के प्रमाण में लगभग दस वर्ष २९ दिसम्बर, '३४ को दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधि वितरण के अवसर पर उर्दू से हिन्दी में आनेवाले प्रेमचन्द ने मुस्लिम उर्दू लेखकों की इस मनो-वृत्ति पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा था—"मुझे अपने मुस्लिम दोस्तों से शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दों से भी परहेज करते हैं हालाँकि हिन्दी में आमफहम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।" (प्रेमचन्द 'कुछ विचार' पृष्ठ १२४)। इससे भी पहले बम्बई में राष्ट्रभाषा सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष के रूप में २७ अक्टूबर, '३४ को दिये गये भाषण में भी प्रेमचन्द ने उर्दू लेखकों की संस्कृत के बोलचाल के शब्दों को भाषा से निकालने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया था—"हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिना तकल्लुफ के स्थान देते हैं लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अन्दर नहीं आने देते।" (वही, पृष्ठ १९४)। प्रेमचन्द के इस प्रमाण के बाद अब किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती, टण्डन जी के इस कथन पर विश्वास करने के लिए। प्रेमचन्द संकीर्ण राष्ट्रीयता या हिन्दी या

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दूवादी नहीं हैं जो उर्दू के प्रति दुराग्रह या द्वेष रखकर उसकी अच्छाइयों को अनदेखा करते हों।

गांधी जी द्वारा प्रस्तावित भाषा और लिपि के समन्वय को व्यावहारिकता की कसौटी पर कसते हुए टण्डन जी ने इसी पत्र में लिखा--"भाषा और लिपि दोनों ही के समन्वय का प्रश्न है क्योंकि अनुभव से दिखायी पड़ रहा है कि साधारण कामों में तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपियों में उसे लिख लें किन्तु गहरे और साहित्यिक कामों में एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नहीं। भाषा का स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम देश के लिए एक साधारण लिपि का विकास कर सकें"। (राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ९२)।

सरकारी कामकाज में दोनों लिपियों में एक भाषा-चलायी जा सकती है लेकिन गम्भीर लेखन के लिए दोनों लिपियों का उपयोग दुगुना श्रम और व्ययसाध्य तो होगा ही, दूरगामी भी नहीं होगा। विषयानुसार भाषा निर्धारित होती है, पाठकानुसार उसका निर्धारण बहुत दूर तक सम्भव नहीं है और विशेषतः उच्च कक्षाओं एवं गम्भीर चिन्तन-मनन के लिए लिखे गये साहित्य में तो व्यवहार्य है ही नहीं। अतः टण्डन जी का यह तर्क अकाट्य है। इसी-लिए इस सैद्धांतिक कठिनाई के कारण, उर्दूवालों की मानसिकता के कारण तथा राजनीतिक वातावरण के कुछ अनुकूल होने के कारण "केवल राष्ट्रभाषा के हिन्दी रूप की ओर मैंने (टण्डन जी ने) ध्यान दिया। यह समझकर कि इसके द्वारा प्रांतीय भाषाओं को हम एक राष्ट्र-भाषा की ओर लगा सकेंगे। मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दूवालों को भी अपने साथ ले सकें किन्तु उस काम को व्यावहारिक न देखकर देश की अन्य भाषाभाषी जनता का हिन्दी के पक्ष में करना एक बहुत बड़ा काम राष्ट्रीयता के उत्थान में कर लेना है।" (वही, पृष्ठ ९२)।

सद्भावना और उद्देश्य के प्रति गांधी जी ही जैसी निष्ठा थी टण्डन जी में। यहाँ हम उनको हिन्दी या हिन्दूवादी नहीं सिद्ध कर सकते, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि और पिछला अनु-भव उन्हें विवश करता है कि वे दोनों लिपियों में लिखी जानेवाली हिन्दी और उर्दू के सम-न्वित रूप हिन्दुस्तानी के भविष्य पर राष्ट्रहित की दृष्टि से विचार करते हुए सम्भाव्य एवं व्यावहारिक दृष्टि को ही कार्यरूप में परिणत करने के लिए दृढ़ता से तत्पर रहे। केवल सदाशय और संकल्प के उत्साहाधिक्य में सम्बद्ध पक्षों की मानसिकता को अनदेखा करके रेत में नाव चलाने जैसा यदि नहीं तो तट पर बँधी हुई नाव को खेने का प्रयास जैसा तो है ही।

राष्ट्रभाषा के हिन्दी स्वरूप को नागरी में प्रचारित करने के संकल्प की दृढ़ता होते हुए भी उर्दू के प्रति कोई अरुचि, उपेक्षा, दुराग्रह या द्वेष की गंध भी कहीं दूर-दूर तक टण्डन जी के मानस में नहीं थी—"उर्दू के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न ही नहीं हो सकता। मैं तो उर्दू वालों को भी उसी भाषा की ओर खींचना चाहूँगा जिसमें राष्ट्रभाषा कहूँ और उस खींचने की प्रतिक्रिया में स्वभावतः उर्दू वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन में भी बहुत-कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जाने को तैयार हूँ किन्तु जब तक वह काम नहीं

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

होता तब तक इसी से संतोष करता हूँ कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बड़े अंशों में एकता स्थापित हो।" (वही पृष्ठ)।

यह है टण्डन जी की सदाशयता, व्यावहारिकता एवं सहिष्णुता। लक्ष्य, राष्ट्रीय सन्दर्भ में हिन्दू-मुस्लिम एकता है, जिसकी पूर्ति राष्ट्रभाषा के माध्यम से भी सम्भव है। हिन्दी के प्रति आग्रह भाषावैज्ञानिक कारणों से है, जिसमें शब्दावली और लिपि प्रमुख है। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की शब्दावली में समान उद्गम होने के नाते, समानता है किन्तु उर्दू की लिपि (फारसी लिपि) के अस्तित्व और उसके प्रति सहज आकर्षण एवं भावनात्मक आसक्ति, हिन्दुस्तानी के प्रचलन में सबसे बड़ी अड़चन है, जैसा कि मशरूवाला जी ने इस सारी चर्चा के निष्कर्ष के रूप में माना है—"राष्ट्रभाषा के काम में मुझे तो लिपि की अड़चन ही अधिक महत्त्व की मालूम होती है। अगर हम एक लिपि पर नहीं आ सकते तो हर एक सुशिक्षित के लिए कम-से-कम चार लिपियाँ और भाषाएँ सीखना लाजिमी हो जायेगा। समन्वय असिद्ध ही रहेगा। अंग्रेजी का स्थान भी स्थिर ही रह जायेगा। इसे टालने के लिए मैं स्वयं रोमन के प्रति झुका हूँ लेकिन मैं जानता हूँ कि आज तो यह मत बिलकुल अस्वीकार्य माना जायेगा, दूसरा प्रगतिशील और ऐक्यवर्द्धक मार्ग तो वही दीखता है जिस पर गांधी जी जोर दे रहे हैं।" (वही, पृष्ठ ९९)।

मशरूवाला जी ने एक और तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट कराया कि यदि हिन्दी-उर्दू का समन्वय भाषा और लिपि के स्तर पर नहीं हो पाया तो राष्ट्रभाषा अपंग बनी रहेगी जिससे अंग्रेजी को बनाये रखने का, व्यावहारिकता के आधार पर तर्क प्रबल होता जायेगा। भाषा के स्तर पर समन्वय कोई बहुत कठिन या अव्यावहारिक नहीं था क्योंकि टण्डन जी जैसा हिन्दी-प्रेमी भी जनभाषा में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों को निकालने के पक्ष में नहीं था और अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी हिन्दी में बनाये रखने के भी पक्ष में नहीं था। लेकिन समस्या तो लिपि की थी।

यहीं एक और तथ्य उल्लेख्य है। गांधी जी दोनों लिपियों के प्रचलन को ऐक्य की साधना के लिए आवश्यक मान रहे हैं, व्यापक राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखकर। टण्डन जी इसे व्यवहार्य और अभीष्ट फलदायक नहीं मान रहे हैं, पिछले अनुभव के आधार पर। टण्डन जी यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रभाषा का स्वरूप-निर्धारण भले ही राजनेता कर लें लेकिन उसका विकास साहित्यकारों और पत्रकारों के माध्यम से ही होना है। इसीलिए उन्हें इसमें सन्देह है। यदि दोनों में से एक भी साहित्यकार होता या साहित्यकारों से, राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न उदारवृत्ति के साहित्यकारों से विचार-विमर्श किया होता तो सम्भवतः यह विवाद ही खड़ा न होता। गांधी जी की सदाशयता और टण्डन जी की व्यावहारिकता के इस द्वन्द्व के औचित्य-अनौचित्य एवं व्यवहार्य-अव्यवहार्य रूप पर निर्णय करने के लिए प्रेमचन्द के विचार सहायक हो सकते हैं जो उन्होंने इस विवाद से दस-पन्द्रह वर्ष पहले आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में व्यक्त किये थे—"भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है और जहाँ संस्कृति में भेद होगा, वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

है।" (कुछ विचार, पृष्ठ ६९)। यह विचार भाषा की प्रकृति के निर्धारक तत्त्व को उद्घाटित करता है, जो हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में उपेक्षणीय नहीं है। उर्दू भाषा मुसलमानों का भारत की समन्वित संस्कृति के साथ-साथ अरबी-फारसी संस्कृति के प्रति भी ऐतिहासिक एवं भावनात्मक कारणों से सहज लगाव है। इसे अनदेखा नहीं करना चाहिए और आज तो यह पाकिस्तान में बसे अपने बहन-भाइयों, बेटे-बेटियों, माँ-बाप-रिश्तेदारों के कारण और भी अधिक पुष्ट हुआ है। प्रेमचन्द क्या गांधी जी और टण्डन जी में वाद-विवाद के समय में भी यह जटिल समस्या नहीं थी। प्रेमचन्द के सामने भी हिन्दी-उर्दू और इसकी जड़ में अधिकांशतः हिन्दू-मुस्लिम समस्या ही थी। लेकिन वे ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकारने में हिचकिचाते नहीं थे, भावनात्मक तथ्यों का सामना करने से भी वे नहीं घबराते थे भले ही वे कितने ही दुःखद-विषम और भीषण क्यों न हों। इसी भाषण में प्रेमचन्द ने निर्भीकता से इस तथ्य को उजागर किया—"दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है।" (वही, पृष्ठ ८१)। दयाशंकर निगम को लिखे गये एक पत्र में प्रेमचन्द ने इस वाद-विवाद से बीसों वर्ष पहले इस तथ्य को स्वीकार कर लिया था कि उर्दू और हिन्दी में एकता की कोई सम्भावना नहीं है—"उनका (जफरुल मुल्क का) ख्याल है कि अब उर्दू और हिन्दी अपनी-अपनी शख्सियतों का इस कदर इश्तका (विकास) कर चुकी हैं कि अब उनमें इत्तिहाद (एकता) की कोई सूरत पैदा हो ही नहीं सकती। इस ख्याल में सदाकत (सच्चाई) है। इसमें शक नहीं है।" (चिट्ठी-पत्री भाग १, पृ० २१३)।

भाषा के अतिरिक्त अब नागरी और फारसी लिपि और उसके लिखनेवालों की मानसिकता पर भी प्रेमचन्द के विचार देखे जायँ—"हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्रलिपि हैं और हमें अख्तियार है कि हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे" (कुछ विचार, पृष्ठ १५२)। बम्बई में राष्ट्रभाषा सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के रूप में २७ अक्टूबर, '३४ को दिये गये इस भाषण में प्रेमचन्द के राष्ट्रभाषा विषयक निष्ठावान, गंभीर एवं व्यावहारिक-यथार्थपरक चिन्तन का सार है। वे भी इस समस्या से जूझ रहे थे राष्ट्रीय मनोवृत्ति से और लेखन के स्तर पर और अपने लेखकीय अनुभव, सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि एवं यथार्थपरक चिन्तन से समाधान निकालने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन जो तथ्य हैं वे चाहे कितने ही आशा-विश्वास के प्रतिकूल हों, उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए। उन कारणों की खोज करनी चाहिए जिनसे इनका अस्तित्व बना हुआ है, तभी कोई चिन्तन और मंथन सार्थक हो सकता है। तो दोनों भाषाओं में एकता की सम्भावना ही जब क्षीण हो चुकी तब लिपि-भेद मिटने की बात तो और भी अधिक कठिन और अव्यावहारिक है। 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' शीर्षक से अप्रैल '३४ में लिखित टिप्पणी का यह वाक्य वस्तुस्थिति को स्पष्टतः व्यक्त करता है—"लिपि-भेद के मिटने की सम्भावना दूर भविष्य में भी नजर नहीं आती।" (विविध प्रसंग, भाग ३, पृ० २९३)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इस प्रकार भाषा और लिपि के समन्वय के इस राष्ट्रीय प्रयास की कठिनाइयाँ ही नहीं अपितु असम्भाव्यता स्पष्ट हो जाती है एक प्रतिष्ठित एवं हिन्दी-उर्दू समन्वय का-भी लेखक के अनुभवसिद्ध कथनों से। इन कथनों के संदर्भ में टण्डन जी के तर्क और निर्णय उचित और व्यवहार्य लगते हैं जबकि गांधी जी के तर्क और निर्णय एक विकट राष्ट्रीय समस्या के मानवीय आधार पर समाधान खोजने की उदार और स्पृहणीय मनोवृत्ति को तो उजागर करते हैं और दृढ़ संकल्प के बल पर इस सदाशयता को सफल बनाने के-लिए प्रयास करते हैं। टण्डन जी गांधी जी की निष्ठा और स्वप्न से सहमत हैं लेकिन उसकी सफलता में उन्हें पूरा सन्देह है। इसीलिए उन्होंने बड़ी शालीनता से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। गांधी जी की निष्ठा के प्रति श्रद्धावनत होते हुए भी—"आपने जिस प्रकार का काम उठाया है, वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए काम से बिलकुल अलग है, मैं उसका विरोध नहीं करता किन्तु मैं उसे अपना काम नहीं बना सकता।" (राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ ९३)। गुजरात के लोगों की दुविधा का कारण खोजते हुए टण्डन जी ने लिखा—"उनके हृदयों में दोनों लिपियों के सीखने का सिद्धान्त घुस नहीं रहा है किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति की जाय। मेरी भी तो ऐसी ही इच्छा होती है किन्तु बुद्धि आपके बताये मार्ग का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।" (पृष्ठ ९३)

गांधी जी के प्रति श्रद्धा और व्यावहारिक तर्क पुष्ट विवेक का यह द्वन्द्व बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। मतभेद की विवशता और श्रद्धासंवलित शालीनता वास्तव में शीर्षस्थ राष्ट्रीय व्यक्तित्वों की भव्यता और गरिमा का ऐसा दुर्लभ उदाहरण है जो देखने-सुनने वाले को बड़ी गहराई से प्रभावित करता है। टण्डन जी गांधी जी के समक्ष सबसे अधिक उपयोगी एवं आवश्यक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—"सन् ४२ में काका (कालेलकर जी) ने जब चर्चा की तो उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुल हक और उर्दूवालों को लाने को बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था जो आज भी है अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उर्दू लेखक हिन्दी-उर्दू के समन्वय में शरीक नहीं होते तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा यदि इस काम में कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरे धन्यवाद की पात्र होगी। आज तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में शामिल होने से मेरी कठिनाई इसलिए बढ़ गयी कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को दिखाने की बात करती है।" (वही, पृष्ठ ९४)। यदि भाषा के स्तर पर हिन्दी-उर्दू को एक मानकर या पास-पास लाकर हिन्दुस्तानी का रूप दे दिया होता हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने, तो समस्या केवल दो लिपियों की ही रह जाती। दो शैलियों या भाषाओं की नहीं रहती। लेकिन दोनों भाषाएँ या शैलियों को भी बनाये रखने एवं उन्हें सीखने का प्रचार जब हो रहा है तो समन्वय की आवश्यकता क्या रह जाती है?" (वही, पृष्ठ ९३)। इसीलिए टण्डन जी ने इस कार्य में अपना सहयोग देने में सैद्धांतिक आधार पर जो असमर्थता व्यक्त की है वह अनुचित या दुराग्रहपूर्ण नहीं लगती। लेकिन गांधी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी को सम्मेलन में बनाये रखने में उनका तर्क बुद्धिसंगत ही लगता है—"सम्मेलन हृदय से आप सब को अपने भीतर रखना चाहता है—आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं।" (वही, पृष्ठ ९४)।

यदि सम्मेलन गांधी जी का काम—हिन्दी-नागरी प्रचार—करता है और टण्डन जी गांधी जी के सम्मेलन से निकलने का औचित्य नहीं देखते तो इसी तर्क से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा भी टण्डन जी और सम्मेलन का काम हिन्दी नागरी प्रचार करती है। फिर टण्डन जी उसमें क्यों नहीं शामिल हो जाते? जैसे गांधी जी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से सम्बद्ध रहते हुए सम्मेलन में रह सकते हैं तो टण्डन जी सम्मेलन में रहते हुए हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में क्यों नहीं आ जाते, क्योंकि दोनों ही संस्थाएँ एक-दूसरे के उद्देश्य को आंशिक रूप से ही सही, पूरा तो कर रही हैं क्योंकि टण्डन जी की मान्यता के अनुसार उर्दू और फारसी लिपि का अलग अस्तित्व राष्ट्रभाषा के विकास के लिए न केवल अनावश्यक है अपितु बाधक भी है। गांधी जी के विचार से केवल हिन्दी और नागरी का प्रचार अलगाव पैदा करके हिन्दी उर्दू और उसके माध्यम से हिन्दू और मुसलमानों में सौमनस्य और समन्वय स्थापित करने में बाधक सिद्ध होगा। यहाँ टण्डन जी अपने और इतिहास के अनुभव, व्यावहारिक तर्क और यथार्थपरक दृष्टि के कारण हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में सम्मिलित नहीं हो सके तो गांधी जी भी अपनी निष्ठा और समन्वय की सफलता के प्रति आश्वस्त होने के कारण सम्मेलन से अपने को अलग करने के लिए बाध्य हो गये, क्योंकि सम्मेलन में उनकी उपस्थिति, सम्मेलन की नीति—केवल हिन्दी और नागरी प्रचार का पक्षधर माने जाने के कारण उनके राष्ट्रभाषा के प्रचार कार्य में बाधक क्या घातक मानी जाती जिसे वे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के माध्यम से राष्ट्रीय साम्प्रदायिक सौमनस्य और समन्वय के लिए परमावश्यक मानते थे। इसीलिए उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा खयाल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनायी नहीं है। अब तो मेरे विचार इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। राष्ट्रभाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिए मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी प्रचार का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूँगा और उर्दू की भी।" (वही, पृष्ठ ९४)।

समय ने टण्डन जी के व्यावहारिक तर्क को सही सिद्ध किया।

गांधी जी ने यह सारा पत्राचार और वाद-विवाद श्री किशोरलाल घनश्याम मशरूवाला को सौंप दिया जिनकी इस विषय में तटस्थता 'जगजाहिर' थी। मशरूवाला जी ने टण्डन जी की हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपि की जानकारी समन्वयकर्त्ताओं के लिए आवश्यक मानते हुए लिखा—"सवाल यह है कि यदि आप हिन्दी-उर्दू दोनों का समन्वय करना चाहते हैं तो क्या आप यह नहीं मानते कि जो दोनों शैलियाँ और लिपियाँ जानते होंगे, वैसे ही लेखक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और दोनों का प्रचार करनेवाली संस्थाएँ ही समन्वय का काम करेंगी।" (वही, पृष्ठ ९५)। जबकि टण्डन जी ने यह समझा था कि सामान्य जनता को दोनों शैलियाँ और लिपियाँ सीखनी होंगी। इस स्पष्टीकरण के अतिरिक्त मशरूवाला जी ने उर्दूवालों की हिन्दुस्तानी प्रचार में सहयोग न देने की मनोवृत्ति का विश्लेषण इस प्रकार किया—"इन ४०-५० साल में उर्दू का फैलाव पहले की अपेक्षा संकुचित हुआ है और क्योंकि उर्दू शैली और लिपि के कम होने से मुस्लिमों को ज्यादा नुकसान प्रतीत होता है, उन्हें यह परिस्थिति चुभी है और उनमें इस विषय में एक तरह की आत्मरक्षा की भावना काम कर रही है। इसलिए यदि यह मान लिया जाय कि मुस्लिम लेखक या उनकी संस्थाएँ समन्वय के काम में मदद न देंगी तो भी उर्दू जाननेवाले हिन्दू लेखक और समन्वय चाहनेवाली राष्ट्रीय वृत्ति के सब जातियों के लोगों की संस्थाएँ इसे शुरू कर सकती हैं।" (वही)। निर्विरोध काम करनेवालों के लिए यह मार्ग सुझाया गया था। फिर भी इस व्यावहारिक तर्क से मशरूवाला जी भी सहमत थे—"मैं स्वीकार करता हूँ कि एक ही लिपि रहती तो यह काम बहुत सरल हो सकता, पर यह काल अभी कुछ दूर मालूम होता है। यहाँ पर यह भी याद रखा जाये कि इसमें वास्तव में स्पर्द्धा नागरी-उर्दू की नहीं नागरी-रोमन की है, परन्तु साम्प्रदायिक भावों के कारण तथा उर्दू लिपि का इन ४०-५० वर्षों में धीरे-धीरे पैर पीछे हट जाने के कारण नागरी के प्रति विरोध पैदा हुआ है।" (वही)।

"रोमन-लिपि की स्पर्द्धा का संकट भी उर्दू-हिन्दी लिपियों के समन्वय में प्रेरक नहीं हो सका, भाषा और लिपि की अपनी प्रकृति और बोलने वालों की संस्कृति के कारण। भले ही राजनेताओं ने समन्वय की कितनी ही अपरिहार्य आवश्यकता को प्रतिपादित किया। मशरूवाला जी ने समन्वय चाहने वालों के लिए हिन्दी शैली के उत्तम साहित्य का उर्दू लिपि में और उर्दू का नागरी में प्रचार करना आवश्यक माना (जिसके लिए उनके विचारानुसार उर्दू लिपि से सुधार भी जरूरी हो सकता है) तथा दोनों लिपियों में समन्वित शैली में लिखे हुए साहित्य के प्रचार की आवश्यकता पर बल दिया। इसलिए टण्डन जी को सचेत किया—"आप लोग स्वयं जो इस काम के नेता हैं और समन्वय मानते हैं, एक ही शैली या लिपि का प्रचार करने से संतोष पकड़े तब तो आप अपने ही हाथ से अपने ध्येय पर प्रहार करनेवाले हो जाते हैं।" इसलिए "न सिर्फ गांधी जी को वरन् आपको भी एक ही शैली और लिपि का प्रचार करनेवाली संस्था में रहना उचित नहीं है न यह कि गांधी जी तो दोनों संस्थाओं में रह सकते हैं परन्तु आप दोनों का प्रचार करनेवाली संस्था में नहीं रह सकते।" (वही)।

इस प्रकार के तर्क-वितर्क से वास्तविकता छिपी नहीं रह सकी। स्पष्टतः टण्डन जी को अपना दोटूक उत्तर देना पड़ा। दोनों लिपियों और भाषाओं को सीखने की बात उन लोगों के लिए है जिनकी मातृभाषा हिन्दी (या उर्दू) नहीं है—"अहिन्दी भाषी उस (उर्दू-फारसी) लिपि को सही-सही सीख पावें, यह अपवाद ही होगा, साधारण नियम नहीं...राष्ट्रीयता के नाम पर यह सम्भावना मुझे नहीं लगती कि यह सिद्धान्त हिन्दी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रांतों में चल सके। जो शक्ति इस काम में लगेगी उसका फल आपेक्षिक दृष्टि से बहुत थोड़ा होगा और यह भी सम्भव है कि कुछ लोगों को इन दो लिपियों के प्रश्न से एक प्रकार की उदासीनता पैदा हो जाय।" (वही)। यह है व्यावहारिक बुद्धि। वास्तव में टण्डन जी और गांधी जी का हिन्दुस्तानी सम्बन्धी यह सारा विचार-विभेद व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि का भेद है। लक्ष्य के प्रति टण्डन जी में भी उतनी ही निष्ठा है।

इस प्रकार टण्डन जी की उर्दू फारसी-लिपि के प्रति सदाशयता, व्यावहारिक एवं राष्ट्रीय वृत्ति स्वतः सिद्ध है। इसीलिए वे अब दोनों शैलियाँ और लिपियाँ सीखना अनावश्यक समझते हैं—"यदि दोनों शैलियाँ और लिपियाँ सीखना है तो फिर समन्वय की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?...भाषा और लिपि के समन्वय की बात इसीलिए है कि हमारी एक राष्ट्रीय कठिनाई दूर हो और आपसी व्यवहार में सफलता आवे।" (वही पृष्ठ ९७)। अपने विचार को तर्कसंगत सिद्ध करते हुए गांधी जी के विचार और तर्क पर सोचते हैं तथा उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाते हैं—"जनता अपनी बुद्धि से समन्वय नहीं करेगी, वह तो समन्वय की हुई शैली को ग्रहण करेगी।" (वही)। मशरूवाला जी ने उर्दू के हिन्दी लेखकों और संस्थाओं के माध्यम से समन्वय करने की सम्भावना व्यक्त की थी जिसका उत्तर टण्डन जी ने यह दिया—"ऐसी उर्दू संस्थाएँ कहाँ हैं जिनके निर्णयों को उर्दूवाले स्वीकार कर लेंगे...इसमें (समन्वय में) हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की धारणा है। मुस्लिम लेखकों को छोड़कर समन्वय की बात अनावश्यक हो जाती है। (वही) क्योंकि टण्डन जी जानते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की साधना के लिए ही यह अवैज्ञानिक सलाह उन्होंने दी थी—"हिन्दुस्तानी बोलनेवाले भागों में हर एक विद्यार्थी को हिन्दी-उर्दू दोनों जानने की सलाह वैज्ञानिक दृष्टि से कभी न देते यदि हिन्दू-मुसलमान ऐक्य का प्रश्न हमारे सामने न होता। यदि अपनी ओर से हम अपने किसी क्रम में इस दृष्टि से परिवर्तन करने को तैयार हैं कि वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को जड़ बनावे तो हमारी यह तत्परता व्यर्थ हो जाती है यदि वास्तव में उसे हिन्दू या मुस्लिम स्वीकार नहीं करता।...आपने (गांधी जी ने) समन्वय चाहनेवालों के लिए जो निश्चित कार्य रखा है वह आंशिक रूप से अच्छा है, मुझे इसका कुछ विरोध तो हो ही नहीं सकता। आज भी वह काम कुछ अंशों में हो रहा है। परन्तु उतने काम से वह समन्वय जिससे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापित हो, बहुत दूर है...हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य हमारी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा अन्य सामाजिक ध्येयों के अन्तर्गत और राष्ट्रीयता और सामाजिक स्वतन्त्रता भी हमारे नैतिक ध्येयों से सीमित है। बड़े ध्येयों की अवहेलना कर छोटे ध्येयों की पूर्ति नहीं हो सकती।...जब तक यह नहीं होता तब तक मूल भाव से अपने दूसरे कर्त्तव्य निभाते हुए हमें उसका आसरा देखना होगा और उन लोगों की सेवा करनी होगी जो प्रकृति से हमारे अधिक निकट रख दिये गये हैं। (वही, पृष्ठ ९७)।

अतः विवशता में ही हिन्दी और नागरी लिपि के प्रचार तक टण्डन जी को सीमित होना पड़ा, क्योंकि दोनों शैलियों एवं लिपियों का प्रचार अभीष्ट फलदायक नहीं हो सकता,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उनके अनुभव और विचार के अनुसार। मशरूवाला जी ने टण्डन जी के इस विचार और अनुमान से कि गैर हिन्दुस्तानी लोगों को फारसी लिपि सीखने में मुश्किल होगी, अपनी तर्कपुष्ट असहमति व्यक्त की—"गैर हिन्दुस्तानी बोलनेवाले प्रांतों में फारसी लिपि सीखने की मुश्किल के बारे में आपकी जो धारणा है वह मुझे कुछ गलत मालूम होती है। मेरे अनुभव और विचार में फारसी लिपि नागरी के मुकाबले में अपूर्ण होते हुए भी और फारसी ही क्या, एक या दूसरी लिपि की पसंदगी सिर्फ आदत का सवाल हो जाता है।" (वही, पृष्ठ ९७)। टण्डन जी की लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता का तर्क मशरूवाला जी ने करा दिया। मशरूवाला जी के विचार की पुष्टि प्रेमचन्द के इस वाक्य से हो जाती है—"हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति और हमारे संस्कार इसका (लिपि के चयन का) फैसला करेंगे।" (कुछ विचार, पृष्ठ १५२)। अकेली सुविधा ही निर्णायक नहीं होती, मनोवृत्ति और संस्कार भी कभी-कभी सुविधा से ऊपर उठकर निर्णायक हो जाते हैं और इसका प्रमाण मशरूवाला जी ने गुजराती भाषा और फारसी, नागरी एवं गुजराती लिपि के व्यवहार से दिया—"फारसी लिपि में गुजराती लिखनेवाले लोग भी पिछली सदी में थे और कुछ ऐसे आज भी हैं जो गुजराती लिपि में लिख नहीं सकते, पढ़ सकते हैं, परन्तु नागरी ही लिख सकते हैं और बहुत-से ऐसे, जो नागरी नहीं लिख सकते, पढ़ सकते हैं परन्तु गुजराती ही लिख सकते हैं।" (राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ९८)। अतः लिपि का प्रश्न सुविधा के साथ-साथ मनोवृत्ति, संस्कारों से जुड़ा हुआ है और फिर मशरूवाला जी ने टण्डन जी को याद दिलायी—"कानपुर के दंगों की रिपोर्ट से आपकी कम से-कम यह अपेक्षा मालूम होती है कि राष्ट्रभाषा-प्रचारकों को दोनों लिपि सिखाने का प्रबन्ध करना चाहिए।" (वही)।

टण्डन जी का यह विचार सन् १९३१ का था। यह पत्राचार १४ वर्ष बाद सन् ४५ में हो रहा है। परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन आ गया है और व्यावहारिकता की कसौटी पर यह दो लिपियों के सिखाने का सिद्धान्त टण्डन जी को अभीष्ट फलदायक नहीं लग रहा है। मशरूवाला जी ने दोनों शैलियों और लिपियों के सीखने के औचित्य को प्रतिपादित किया—"कुछ समय बाद दो शैलियाँ नहीं, दो पूरी-पूरी भाषाएँ बन जावेंगी, इसलिए जब तक दोनों को अच्छी तरह जाननेवाले लेखक अच्छी तादाद में नहीं होंगे, समन्वय न बन सकेगा। इसलिए दोनों के सीखने के ऊपर जोर देना जरूरी मालूम होता है (वही)। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि सामान्य जनता और लेखकों के सामने दोनों को सीखने की क्या मजबूरी है? प्रचारकों के लिए दोनों सीखना आवश्यक हो सकता है। लेखकों के लिए दोनों शैलियों का भेद मिटाना तो सम्भव माना जा सकता है।

टण्डन जी की यह धारणा थी कि उर्दूवालों को मान्य कोई संस्था नहीं है। मशरूवाला जी ने इसका समाधान किया—"उर्दूवाले मान्य करें वैसी समन्वय को मानने वाली कोई उर्दू-संस्था आज न हो तो वह काम राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) के उद्देश्य के माननेवालों को करना होगा और उन्हें अपने काम से और योग्यता से उर्दूवालों में भी प्रतिष्ठा पाना होगा... मुसलमान समन्वय स्वीकार नहीं करता तो समन्वय करने का प्रश्न ही नहीं उठता, यह विचार

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मुझे पटा नहीं। मेरे विचार से पेशावर, पंजाब, सिन्ध आदि के हिन्दू और सिक्ख भी हिन्दी शैली नहीं समझ सकते। यह दूसरी बात है कि आइन्दा धर्माभिमान से या मुस्लिम विरोधी वृत्ति से वे प्रयत्नपूर्वक हिन्दी को अपनाने की कोशिश करें (वही पृष्ठ)। कालान्तर में यही हुआ।

लिपि की अड़चन और उसके मूल में धार्मिक संस्कारों के कारण समन्वय के लिए आवश्यक सहिष्णुता, उदारता और सौमनस्य दुर्लभ होता जा रहा था, विशेषकर उन लोगों में जिनके माध्यम से यह कार्य सम्पन्न होना था तथा जिनके लिए होना था। इस अप्रिय सत्य की स्वीकृति मशरूवाला जी की यथार्थपरक दृष्टि की सूचक है—"हम अपने ही कामों से प्रांतीय व्यवहारों के लिए तीन भाषा और तीन लिपियाँ हिन्दी (नागरी), उर्दू (फारसी), अंग्रेजी (रोमन) को अनिवार्य बनाने की परिस्थिति में घसीटे जा रहे हैं, लाचार होकर यह करें, इससे तो बेहतर यह होगा कि विचारपूर्वक इस सच्चाई का स्वागत करें। राष्ट्रभाषा के काम में मुझे तो लिपि की अड़चन ही अधिक महत्त्व की मालूम होती है। अगर हम एक लिपि पर नहीं आ सकते तो एक सुशिक्षित के लिए कम-से-कम चार लिपियाँ और भाषाएँ सीखना लाजमी हो जायगा। समन्वय असिद्ध रहेगा।" (वही, पृष्ठ ९९)। एक लिपि नागरी ही हो सकती है जिसके लिए टण्डन जी का तर्कपुष्ट आग्रह था, लेकिन गांधी जी फारसी लिपि का भी प्रचार चाहते थे, मुसलमानों को राष्ट्रीय धारा में बनाये रखने के लिए। उनके इस उद्देश्य से तो टण्डन जी का कोई विरोध था नहीं, लेकिन लिपि के माध्यम से और उर्दू के समन्वय से, जिस राष्ट्रभाषा के विकसित एवं पुष्ट होने का स्वप्न गांधी जी देखते थे, वह पूरा नहीं हुआ। उसके पूरा होने में सन्देह तब भी था और आज भी है। यदि नागरी लिपि को ही गांधी जी समग्र समर्थन देते तो अंग्रेजी को बनाये रखने के लिए हिन्दी की अक्षमता का बहाना न ढूँढ़ते। यद्यपि गांधी जी के विश्वास और सदिच्छा को पूरी निष्ठा से उनके अनुयायियों ने भी लागू नहीं किया, लागू करने का नाटक भर करते रहे। टण्डन जी के व्यावहारिक तर्कसंगत विचार और पद्धति से हिन्दी नागरी लिपि में विकसित हुई तो भी अंग्रेजी की प्रभुता से उसे मुक्ति नहीं मिल सकी। यही आशंका मशरूवाला जी को भी थी—"अंग्रेजी का स्थान भी स्थिर ही रह जावेगा, इसे टालने के लिए मैं स्वयं रोमन के प्रति झुका हूँ लेकिन मैं जानता हूँ कि आज तो यह मत बिलकुल अस्वीकार्य माना जायेगा, दूसरा प्रगतिशील और ऐक्यवर्द्धक मार्ग तो वही दीखता है जिस पर गांधी जी जोर दे रहे हैं। (वही, पृष्ठ ९९)।

लेकिन फारसी लिपि में उर्दू शैली हिन्दी शैली से मिलने के स्थान पर और अलग होती गयी क्योंकि उर्दूभाषी मुसलमानों की अरबी-फारसी संस्कृति, धर्म के प्रति सहज और मौलवियों द्वारा प्रचारित होने के कारण आकर्षक बनी रही, जिसे हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने अपने-अपने ढंग से बढ़ाया। अतः गांधी जी का दृष्टिकोण सैद्धांतिक रूप में तो प्रगतिशील और ऐक्यवर्द्धक लगता था और था भी, लेकिन व्यावहारिक स्तर पर वह क्रियान्वित नहीं हुआ, सम्भवतः हो भी नहीं सकता था। अनेक प्रकार की शक्तियाँ इसके विरोध में सक्रिय थीं जबकि इसकी पोषक शक्तियाँ क्षीण होती गयीं। फिर गांधी जी के नेतृत्व

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के अभाव में स्वतन्त्र भारत में इन शक्तियों को दिशा-निर्देश करनेवाला कोई रहा नहीं। टण्डन जी द्वारा संकेतित मार्ग पर चलकर हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का स्वरूप प्राप्त किया और उसके दायित्व को निभा रही है, जितनी भी सीमा तक निभा सकती है। हिन्दी-उर्दू और उसके सम्भावित समन्वित रूप हिन्दुस्तानी विषयक यह वाद-विवाद दोनों व्यक्तित्वों की गरिमा के अनुकूल तार्किक एवं निष्ठा के धरातल पर चला। गांधी जी की दृष्टि साम्प्रदायिक सौमनस्य पर अधिक थी जो कि राष्ट्र के लिए मूलतः चुनौती बनने जा रही थी। टण्डन जी इस उद्देश्य के प्रति समर्पित होते हुए भी भाषा, लिपि और बोलनेवालों की मानसिकता एवं उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति व्यावहारिकता और तर्क-दृष्टि से इसे देखते थे। समय ने उन्हीं की दृष्टि को उपयोगी और सच्चा सिद्ध किया, लेकिन इससे गांधी जी की निष्ठा और सदिच्छा का महत्त्व नहीं घट जाता। हाँ, टण्डन जी की व्यावहारिक तार्किक पद्धति की सफलता सिद्ध हो जाती है।

—सनातन धर्म कालेज,
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बन्दर-सभा महाकाव्य

राजर्षि टण्डन का रचनात्मक अवदान

डॉ० अशोक त्रिपाठी

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की विश्रुत छवि राजनेता की है साहित्यकार या रचनाकार की नहीं। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि टण्डन जी का साहित्य से या साहित्यकारों से कोई लेना-देना नहीं था। बल्कि यह कहा जाय कि टण्डन जी के अन्दर का जो राजनेता था, वह अपनी समूची प्राण-शक्ति से भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा उसके सतत संवर्द्धन के प्रति निरन्तर संघर्षरत रहा तो अत्युक्ति न होगी। साहित्य और साहित्यकारों के संरक्षण का जो महान् दायित्व राजर्षि टण्डन जी ने निबाहा, वह किसी भी बड़े-से-बड़े साहित्यकार के अवदान से कम नहीं है।

यदि टण्डन जी न होते तो हिन्दी-साहित्य और हिन्दी भाषा को जो गौरवपूर्ण पद आज मिला है, वह शायद संभव न होता। हिन्दी को राज-भाषा पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए टण्डन जी को पं० जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुलकलाम आजाद जैसे धुरंधर राजनेताओं का विरोध भी झेलना पड़ा था। लेकिन अंत में टण्डन जी की निष्ठप्रतिबद्धता से हिन्दी को अपना अधिकार मिला और हिन्दी राज-भाषा तथा राष्ट्रभाषा पद की अधिकारिणी हुई; उसका साहित्य शिखर पर पहुँच सका।

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' तथा 'हिन्दी विद्यापीठ' जैसी संस्थाओं की स्थापना से टण्डन जी ने हिन्दी-साहित्य को जिस प्रकार संरक्षित और सतत विकसनशील बनाने में अपनी महती भूमिका अदा की है, वह अपने आप में एक मिसाल है।

साहित्य और साहित्यकारों के संरक्षण की क्षमता के साथ ही टण्डन जी में रचनात्मक क्षमता भी थी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन क्षमता होते हुए भी जैसा कि उनके एकमात्र उपलब्ध काव्य 'बन्दर सभा महाकाव्य' से पता चलता है—उन्होंने अपनी प्रतिभा को इस ओर क्यों नहीं लगाया, इसका कारण शायद यह था कि जिस समय टण्डन जी का आविर्भाव हुआ था उस समय जरूरत रचनात्मक रूप से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की कम, उसके संरक्षण-संवर्द्धन, सम्मान और प्रोत्साहन की अधिक थी। हिन्दी का तमाम साहित्य बिखरा और उपेक्षित था तथा साहित्यकार मारे-मारे फिर रहे थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उन्हें उनका यथोचित अधिकार नहीं मिल रहा था। यही सोच कर टण्डन जी ने अपनी उस सर्जनात्मक प्रतिभा को साहित्य तथा साहित्यकारों की सेवा के लिए न्यौछावर कर दिया।

टण्डन जी में रचनात्मक प्रतिभा थी, इसका स्पष्ट प्रमाण उनका 'बन्दर सभा महाकाव्य' है। इसका प्रकाशन सन् १९०५ में इलाहाबाद से प्रकाशित पत्रिका 'हिन्दी -प्रदीप' में हुआ था, जिसके संपादक पं० बालकृष्ण भट्ट थे।

'बन्दर सभा महाकाव्य' कई अर्थों में ऐतिहासिक महत्त्व की एक विशिष्ट रचना है। 'बन्दर सभा महाकाव्य' ५५ आल्हा छन्दों में, अवधी भाषा में 'तीन चुटकिन माँ' लिखी गयी एक लम्बी कविता है।

प्रस्तुत रचना की भाषा से टण्डन जी की भाषा-नीति का आभास होता है। ऐसा लगता है जैसे टण्डन जी साहित्य की भाषा सरल, सुबोध और लोक-भाषा से संपुष्ट मानते थे। शायद वे यह चाहते थे कि साहित्य जनता से जनता की भाषा में ही संवाद करे,ताकि साहित्य केवल किताबी और पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित न रहे, वह बेपढ़े-लिखे लोगों की चेतना को भी संवेदित करे; उन्हें जगाये और झकझोरे।

लोक-भाषा के साथ-ही-साथ टण्डन जी लोक छंद और लोक शैली के भी पक्षधर थे, यह बात भी इस रचना से प्रमाणित होती है। उन्होंने इस रचना में उत्तरी भारत के प्रसिद्ध और लोकप्रिय छंद 'आल्हा' को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। अब यहीं एक सवाल पैदा होता है कि उत्तर भारत में ही तमाम लोक-छंद हैं, टण्डन जी ने उन सभी छंदों में से 'आल्हा' को ही क्यों चुना ?

'आल्हा' ओज और पौरुष का छन्द है। आल्हा सुनकर भुजाएँ अपने आप फड़कने लगती हैं। सोया हुआ पौरुष जाग उठता है। टण्डन जी ने जिस समय इसकी रचना की थी उस समय इसी प्रकार की भावनाओं की जरूरत थी। देश गुलामी की जंजीरों में कैद पड़ा अलसाया हुआ था। देशवासी अपनी संस्कृति और सभ्यता को छोड़कर अंग्रेजों की जूठी संस्कृति और सभ्यता के कायल हो रहे थे। ऐसे समय में उन्हें जगाने की और गुलामी की जंजीरें तोड़ कर फेंक देने की तथा उनमें अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अनुराग पैदा करने की जरूरत थी।

अपनी इस रचना के द्वारा टण्डन जी ने एक ऐसी परम्परा डाली कि आगे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा केदारनाथ अग्रवाल जैसे दिग्गजों ने भी 'आल्हा' छन्द में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस प्रकार, एक तथाकथित असाहित्यिक (!) व्यक्ति ने तमाम साहित्यकारों को मजबूर किया कि वे उसका अनुकरण न सही तो अनुसरण जरूर करें।

'बन्दर सभा' 'तीन चुटकिन माँ' लिखा गया एक व्यंग्य-काव्य है। जैसा कि 'चुटकी' शब्द से स्वयं प्रतिध्वनित होता है। इस पूरी रचना में बन्दरों को अंग्रेजों का प्रतीक मान कर, उनकी भौतिक सम्पन्नता के बावजूद, उनके संस्कारगत अदेसपन, उनकी नीतियों तथा उनकी कार्य-पद्धतियों पर व्यंग्य कसा गया है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

'पहिल चुटकी' में बन्दरों को अंग्रेजों का प्रतीक मानकर उनकी मूल बन्दरी प्रकृति और प्रवृत्ति तथा उनकी मूल उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए भौतिक रूप से समृद्ध होने के बावजूद उनकी संस्कारगत विकृतियों को व्यक्त किया गया है। उनके खान-पान, रहन-सहन को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है।

यहाँ पर एक सवाल यह उठाया जा सकता है कि टण्डन जी अंग्रेजों को 'बानर' ही क्यों कहते हैं—दुम वाले बानर?

इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह हो सकता है कि पाश्चात्य विचारक मानव की उत्पत्ति बन्दर से मानते हैं, इसलिए टण्डन जी ने उन्हें बन्दर कहा।

दूसरा कारण यह हो सकता है कि सामान्य भारतीय जनमानस अंग्रेजों को, उनके रंग-रूप के कारण, उस समय 'ललमुहाँ बानर' ही कहता था।

इस चुटकी में टण्डन जी ने अंग्रेजों की उस झूठी शान पर व्यंग्य किया है, जिसमें वे भारतीयों के सामने यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वे सबसे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि उनकी संस्कृति अभी-अभी जुमा-जुमा चन्द वर्षों की ही है और भारतीय संस्कृति हजार-हजार वर्षों की समृद्ध परंपरा अपने में समोये हुए है।

टण्डन जी मानते हैं कि यद्यपि अंग्रेजगण सभ्य हैं, भौतिक समृद्धि भी उन्होंने हासिल कर ली है, परन्तु अभी तक सुसंस्कृत नहीं हो पाये हैं, वानर-वृत्ति उनमें आज भी बरकरार है, वे असंस्कृत हैं। बाहर से भव्य, सभ्य और सुसंस्कृत दीखने वाले ये अंग्रेज अन्दर से अभी भी विकृतियों से भरे हैं, तभी तो बाहर से भव्य लगने वाली इमारतों के अन्दर बाँस गड़े हुए हैं, घर के अन्दर सजी-धजी मेज पर टूटे गिलास पड़े हुए हैं, घर के भीतर का सारा सामान अस्त-व्यस्त बिखरा पड़ा है, सुन्दर परदे चिथे हुए हैं तथा खान-पान में भक्ष्य-अभक्ष्य का कोई विचार नहीं है—

"ऊँची-ऊँची थलन माँहि बस। बनी इमारत आलीसान॥

× × × ×

इनहिं घरन के बीच बीच मँह। लम्बे-लम्बे बाँस दिखायँ॥
घर में टेबुल मेज सजे हैं। उन पै चुने अनेक गिलास॥
तामें टूटे फूट बहुत हैं। और धरी बोतल हैं पास॥
भाँत-भाँत सज धज के कमरे। तितिर बितिर पै सबै समान॥
यहिते एक निमिख में जानो। यहाँ बसैं बन्दर बलवान॥
चिलमन परदे रंग ढंग के। खिंचे द्वार-द्वार के बीच।
फटे चिथे पै बहुत ठौर वे। देत गवाही आदत नीच॥
घासों पत्ती खाय लेत हैं। कबहूँ लोहू करैं आहार।
बानर मिलै वहू का खावैं। खान पान को नहीं विचार॥"

ऐसी प्रवृत्ति और संस्कार वाले बन्दरों के विशाल देश के राजा हे 'मल्लूसा।' 'मल्लूसा' अर्थात् बन्दरों में सबसे चालाक, बूढ़ा और बन्दरों के 'गिरोह' का सरदार। आज

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भी ललमुहा वानरों के गिरोह के मुखिया को 'मल्लू' कहा जाता है। उसे ही टण्डन जी ने 'मल्लूसा' कहा है।

'दूसर चुटकी' में बन्दरों की सभा के आयोजन का वर्णन करते हुए टण्डन जी कहते हैं कि एक खाली मैदान में सभी वानर इकट्ठे होकर कुर्सी पर शान्ति से बैठने के बजाय, उछल-कूद करते हुए ऊधम मचा रहे हैं। इसी बीच बन्दरों का राजा 'मल्लूसा' अपनी बन्दरिया रानी के साथ उसका हाथ थामे अपने मुसाहिबों से घिरा हुआ आता है। 'मल्लूसा' ने गाउन पहन रखा है और टोपी लगा रखी है। बन्दरिया रानी ने बड़ा ही चटक-मटक परिधान पहन रखा है। चलते समय वह मटक रही है और अपने हाव-भाव का छिछला प्रदर्शन कर रही है, क्योंकि वह "आखिर मेहरारू की जात" है। "मल्लूसा' मंच पर रखी कुर्सी पर आसीन हो जाता है और रानी बंदरिया भी दुम फटकारती हुई बगल हो जाती है।

इस 'दूसर चुटकी' में टण्डन जी अंग्रेजों की उस खास प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं जिसमें वे जब कभी भी किसी सभा-सोसायटी में जाते हैं तो अपने साथ बंदरिया के समान अपनी मेम साहब को भी अपनी दुम की भाँति पीछे लगाये रहते हैं और भारतीय परम्परा के विपरीत अपनी मेम साहब के हाथ में हाथ डाले चलते हैं। जहाँ भारतीय नारियाँ संकोच, लाज और अवगुंठन को अपना आभूषण मानती हैं, वहीं पाश्चात्य मेमें, अंग-प्रदर्शन, भाव-प्रदर्शन और दिखावे में विश्वास करती हैं तथा चकर-मकर देखती हुई अपने अंगों का बेतुका प्रदर्शन करती हैं।

'तीसर चुटकी' अंग्रेजों की नीति-निर्धारक प्रवृत्तियों पर ली गयी चुटकी है। इस चुटकी में अंग्रेजों की उन तमाम नीतियों का पर्दाफाश किया गया है जिसके सहारे वे 'कैसर' और 'जार' की तरह निरंकुश तानाशाही का शासन हम भारतीयों पर करते हैं; किस तरह वे 'स्वारथ के दूत' फैलाकर हम भारतीयों को 'कठपुतली' की तरह नचाते हैं। अंग्रेजों का भारत पर शासन करने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि यहाँ का सारा धन लूट-पाट कर, नोच-खसोट कर हम इंग्लैण्ड भेज दें। 'मल्लूसा' के शब्दों में—

"यह तुम सब तो जानत हइहौ। आपन एकै यही वसूल।
जौन भाँत से रुपया आवे। वो ही धर्म न्याय को मूल॥"

अंग्रेज व्यवहार में भारतीयों के साथ हमेशा पक्षपात करते थे और मुँह से समानता की बात करते थे। 'मुँह में राम बगल में छूरी' यह उनकी शासन-नीति का मुख्य सिद्धांत था—

"मुंह कुछ धरे, पेट कुछ धारैं। दगा झूठ को करैं अहार।
येहू से जो काम न निकलै। तो फिर कैद मार फिटकार॥"

अंग्रेजों की नीति के मुख्य पाँच अंग थे। पहला अंग यह था कि यदि कोई भी 'बेदुम का वानर' अर्थात् भारतीय उनकी नीति का विरोध करे, तो उसे बलपूर्वक दबा दो—

"तनिकौ हाँथ-पाँव फटकारैं। हन कै थप्पड़ दिया लगाय।"

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

यदि वे इससे भी नहीं मानते और न्याय का दरवाजा खटखटाते हैं तो इसके लिए भी व्यवस्था की जा चुकी है—

"ऊपर हमरी खुली कचहरी। रुपया देत न्याय ले जात।"

अंग्रेजों की दूसरी नीति यह भी थी कि जो व्यक्ति हमारा विरोध करे, उसे हम प्याला बनाकर, पैसा, पद, मान, सम्मान और कामिनी देकर उन्हें भी अपने समान दुमवाला बन्दर बना लो। वह सारी देशभक्ति भूलकर हमारे 'खर देवता' की पूजा करने लगेगा। हमारे सामने दुम हिलाता हुआ, हमारे राग में राग अलापने लगेगा—

'दूसर धर्म बड़ा यह फन्दा। जो जो हमसे करैं विरोध।
जहाँ ग्लास एक हमसे लेवैं। आवै तुरतहि उनकहं बोध॥
सबहि लड़ाई छूट जात है। लेकचर देन जायँ सब भूल।
झूठी दुमहु लगाय लेत हैं। औरहु बातैं करैं फजूल॥
जूठहु खाय नहीं सकुचावैं। पूजहिं खर जो हमरा देव।
खर ही खर चिल्लात फिरत हैं। लेव स्वर्ग मुफत लै लेव॥
× × ×
धन स्त्री अरु मान लोभ दै। फाँसा जेहि नहिं सकता भाज।"

अंग्रेजों ने इसी नीति के आधार पर तमाम 'राय साहबों', 'सरों' तथा 'रायबहादुरों' को अपना पालतू कुत्ता बनाया था, जो उन्हीं के स्वर-में-स्वर मिलाकर भूँकते थे।

ऐसा कहकर टण्डन जी एक ओर अंग्रेजों की इस नीति का पर्दाफाश करते हैं और दूसरी ओर अंग्रेजों की इस नीति के शिकार भारतीयों पर चुटकी भी लेते हैं और प्रकारान्तर से उन्हें धिक्कारते भी हैं, जो अंग्रेजों के आगे-पीछे उनकी जूठन के लिए लालायित होकर उनके धर्म उनकी सभ्यता और उनके 'गॉड' के आगे-पीछे दुम हिलाते रहते हैं और अपनी सदियों पुरानी सभ्यता और संस्कृति को हेय मानकर अंग्रेजी सभ्यता के उपासक बन गये हैं।

अंग्रेजों की तीसरी नीति थी कि हिन्दुस्तान का सारा धन, जिस तरह से भी हो, हमारे देश में चला जाय।

"जितना धन अन पैदा होवै। सब ढोइ आवै हमरे गेह।"

टण्डन जी के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अंग्रेजों की इस नीति को समझते थे—

"अंग्रेज राज सुख साज सजे हैं भारी
'पै' धन विदेस चलि जाह यहै है ह्वारी॥"

टण्डन जी भारतेन्दु से कुछ आगे जाकर इस नीति को गहराई से समझते हैं। भारतेन्दु जी जहाँ यह स्वीकार-सा करने लगते हैं कि अंग्रेजों के राज में सुख सुविधाएँ जनता को उपलब्ध

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हैं, वहीं टण्डन जी मानते हैं कि वास्तविकता इसके विपरीत है। ऐसा केवल ऊपर से दिखायी पड़ता है—

"ऊपर से यह परगट करहीं। सगरी परजा बड़ी अमीर।
लीन लंगोटी छीन दीन के। हम जानहिं वे फिरैं फकीर॥"

अंग्रेजों की सारी नीतियाँ हिन्दुस्तान को दीन-हीन और निर्धन तथा जर्जर बनाने की नीतियाँ थीं। मानवीयता से शून्य उनका एकमात्र उद्देश्य पैसा कमाना था। 'मल्लूसा' की स्वीकारोक्ति है कि—

"मरैं भूख से जाड़े से वा। हम से यहिसे कुछ नहिं काम।
हमका खाली मिलै रुपैया। हम घर बैठ करैं आराम॥"

अंग्रेजों की चौथी नीति थी कि जो लोग अंग्रेजों की इन चालों को समझते थे और उनके प्रलोभन में न आकर देश को उनके चंगुल से छुड़ाने का प्रयास करते थे, उन्हें अनेक तरह से काबू में रखना। जो लोग अंग्रेजों की 'बँदरघुड़की' से नहीं डरते थे, उनके पीछे वे कुत्तों की तरह जासूस लगा देते थे, उन्हें धोखा देते थे, झूठ-मूठ के अपराधों में फँसाते थे, शराब पिलाते थे, विष देते थे, कामिनी समर्पित करते थे, और जब ये सब भी व्यर्थ जाते थे, तो पाँचवीं नीति के रूप में बल प्रयोग को अपनाते थे।

उनकी पाँचवीं नीति का मूल मंत्र था सैनिक बल, सैनिकों के द्वारा देश-भक्तों को मौत के घाट उतारना। यही कारण था कि अंग्रेज, कोष का एक बहुत बड़ा भाग सैनिकों पर खर्च करते थे और उन्हें बड़ा सम्मान देते थे 'मल्लूसा' कहता है—

याही ते जे लड़ने वाले। उनका हम करते बहु मान।
सबसे चूस रुपैया लावैं। इनही को बस देते दान॥

इस प्रकार, ५५ आल्हा छंदों में टण्डन जी ने अंग्रेजी साम्राज्य की समूची राजनीति को उकेरने में सफलता प्राप्त की है। साथ ही, अंग्रेजी राज्य की दिखावटी कल्याणप्रद विकास-नीति के पीछे छिपे हुए षडयंत्र को भी बेनकाब किया है।

तत्कालीन परिस्थितियों में टण्डन जी ने अंग्रेजों की जो तीन चुटकी ली है, और जितनी निर्भीकता और स्पष्टता के साथ ली हैं, यह उनके बूते की ही बात थी। टण्डन जी का एकमात्र यह साहित्यिक अवदान उसी प्रकार महान् और गरिमापूर्ण है जैसे अनेक छोटे-छोटे यज्ञों की तुलना में एक अश्वमेघ यज्ञ होता है।

—२२, लाउदर रोड, इलाहाबाद

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन हिन्दी के चिन्तन थे

श्री रज्जन त्रिवेदी

⊙ ⊙

निश्चित उद्देश्यों और अडिग आस्थाओं को लेकर जीने वाले—व्यक्तित्व का नहीं वरन् समाज का नया निर्माण करते हैं और अपने सम्पूर्ण जीवन में उसी की निर्माण-प्रक्रिया में अपने को समर्पित कर देते हैं। राजर्षि टण्डन इन्हीं पंक्तियों की सार्थकता थे। उनकी कर्मण्यता समाज के लिए, हिन्दी के लिए, चाहे देश के लिए क्यों न रही हो उन्होंने निःस्वार्थ भाव से इसके लिए अपने को अर्पित कर दिया था। संस्कृति और-सभ्यता की गरिमा में उन्होंने देश की, समाज की उज्ज्वलतर छवि देखने की हमेशा कोशिश की। उन्होंने सारी स्पृहाओं को त्याग कर देश के लिए, हिन्दी के लिए जीते रहे। इस सब के लिए उन्हें फिर चाहे कितना भी कष्ट क्यों न सहना पड़ा हो। आक्षेपों, विरोधों का कष्ट उनकी मानसिकता को विचलित नहीं कर पाता था। कदाचित् इसलिए कि उनमें कृतित्व के प्रति अपनी सद्धारणा और संयोजना का सही विश्वास होता था। उस सबके प्रति कष्ट-सहन में वे अप्रतिम थे, वे अपने उद्देश्यों की ओर बराबर बढ़ते ही जाते थे। वे केवल दुःख का प्रतिकार करना ही नहीं वरन् सहने की क्षमता का परिचय देना भी जानते थे, दुःख के प्रति कभी किसी घटना को लेकर मन में पश्चात्ताप को नहीं आने देते थे। यही कारण था कि वे न तो अर्थ की हानि के विषय में सोचते थे और न अपने को आगे के काम करने से हटा ही लेते थे। वे जैसे इन्हीं पंक्तियों की सार्थकता थे,—

आपत्स्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः।
अतीतकार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते॥

क्रिकेट के एक खिलाड़ी का रूप सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों से कहीं हटा नहीं। हर जगह पर वे एक खिलाड़ी की तरह ही दिखायी पड़ते हैं। खेल-भावना उनके हर कार्य में जैसे अपने आप जुड़ गयी हो। हार-जीत के किसी भी सन्दर्भ को उन्होंने खेल-भावना से कभी अलग नहीं लिया। संसद् की वक्तृता में चमत्कार-पाण्डित्य की बात हो अथवा कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में गुरु दायित्व के निर्वाह की बात हो, उन्होंने अपनी उसी संयत और परिमार्जित कार्यक्षमता का सदैव परिचय दिया। उद्देश्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता उनके दृढ़ मानस को अधिक अभिव्यक्ति कर जाती है। यही कारण था कि कभी भी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

निर्णायक क्षणों में वे कभी विचलित नहीं होते और असीम धैर्य का परिचय देते हुए महाप्राण की गरिमा को प्रकट करते।

उनका सम्पूर्ण जीवन खुद का रचा हुआ था, वे उसकी संवेदनाओं और आवश्यकताओं से भलीभाँति परिचित थे। एक अच्छे वकील के रूप में उन्होंने अच्छी ख्याति अर्जित कर ली थी। नाभा स्टेट की दीवानी और बैंक की ऊँची नौकरी अथवा कांग्रेस की अध्यक्षता में अपनी क्षमता को उन्होंने बड़े ही सहज ढंग से रखा था। इन सबके प्रति उनमें आसक्ति नहीं, कर्म का निर्वाह था। वे अपनी बात के प्रति कहीं भी और कभी भी ईमानदार रहे। सार्वजनिक जीवन में उनका यह आचरण उनकी महिमा को असाधारण ही बनाता है। यही कारण है कि उनमें एक ऐसे आत्मविश्वास के दर्शन होते हैं जो उनके श्रेष्ठ कार्यों के नियामक थे। कर्म-पथ पर आसक्ति के परे उन्होंने जय का पूजन ही नहीं किया वरन् वहाँ निष्ठा का कालव्यापी धरातल भी प्रस्तुत किया है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी के विवाद के समय पता नहीं कितने आक्षेपों और विवादों के चक्रव्यूह के बीच वे बड़ी आस्था के साथ खड़े दिखायी पड़ रहे थे, कदाचित् इसलिए कि उनकी दृष्टि में कहीं मैलापन नहीं और वह अपने में एकदम साफ थी। विचारों की स्पष्टता और अडिगता चाहे संसद् हो या गांधी जी के निकट वह कहीं भी उभरी हुई दिखायी पड़ती थी। एक ढंग से हिन्दी उनका आत्मचिन्तन थी जो सम्पूर्ण राष्ट्रीयता से जुड़ी हुई थी और लोक-जीवन की एकता और आत्म-उन्नयन की कड़ी थी। वे जिस क्षेत्र में पहुँचते या जिस काम को हाथ में लेते उसकी तमाम कठिनाइयों को देखते हुए हटते नहीं। उसे पूरा करते और अपने दायित्व का निर्वाह-प्रतिभा और श्रम के स्तर पर करते। दायित्व-बोध और निर्वाह उनके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग था। इसी गुण पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामहिम स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद मुग्ध थे। जब भी वे उनके व्यक्तित्व की चर्चा करते तो यह कहना नहीं भूलते "टण्डन जी का व्यक्तित्व इतना बड़ा है कि वह राजनीति और साहित्य की परिधि में ही नहीं समा सकता, सामाजिक जीवन के जिस पहलू से भी उनका संबंध रहा, उसी को उन्होंने समृद्ध किया।" सार्वजनिक क्षेत्र में उदारता और सहिष्णुता, निष्क्रियता और अहंकारहीनता के वे जीते जागते प्रतिमान थे। उन्होंने व्यक्ति को कभी महत्त्व नहीं दिया। देश उनकी सोच की ऊँचाइयों से कभी रिक्त नहीं हुआ। मेले, सभाएँ, संगठन, सहजता और सक्रियता उनके निकट अंग थे। प्रयाग का कुम्भ मेला, गाँव की सभा, पार्टी की मीटिंग अथवा संसद् ही क्यों न हो उनके इसी गुण से संयुक्त थे। अपनी अर्थगर्भित वाणी में तथ्यों की ऊर्जा को पकड़ना उसकी विवेचना करना जैसे उनकी वाणी का धर्म हो गया था। गाँव के मनई की ईमेज को वे तोड़ने के पक्षपाती कभी नहीं रहे। गाँव जब भी जाते उसके संवेग को वहाँ भी अपने में जीता पाते और बाहर भी उसी से प्रतिध्वनित होते रहते। गाँव को या गाँव के मनई को उसके सही परिवेश में देखते उसकी समस्याओं को सुलझाने में सचेष्ट रहते, वे नेताशैली के आश्वासनों का श्मशान कभी नहीं रचना चाहते रहे।

१९१० को वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन के प्रधानमंत्री बने। सम्मेलन की प्राणप्रतिष्ठा की यह शुरुआत हो चुकी थी। १९२३ में अखिल भारतीय सम्मे-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लन के अधिवेशन के वे सभापति निर्वाचित हुए। १९१४ से १९१८ तक नाभा स्टेट से संबंधित रहे। आगे चल कर उन्होंने हिन्दी के काम के सम्बन्ध में दीवानी का यह पद भी छोड़ दिया। १९२५ में कांग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति में प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का काम हिन्दुस्तानी में हो। जो काफी विरोध के बाद स्वीकृत हो गया। १९२०-२१ के समय गांधी जी के असहयोग आन्दोलन से वे पूरी तरह जुड़ गये थे। देश में जागृति का जो शंखनाद गूंजने लगा था उसे वे एक सच्चे देशभक्त की तरह गाँव-गाँव, शहर-शहर पहुँचाने लगे थे। इस समय उनकी चमकती हाईकोर्ट की वकालत असहयोग आन्दोलन के कारण छोड़ देनी पड़ी। १९२५ से अगस्त १९२९ तक पंजाब नेशनल बैंक का भी काम करते रहे, लेकिन अधिक समय तक वहाँ भी नहीं बने रह सके। सिद्धान्तों की कीमत पर उन्होंने कभी पद का सौदा नहीं किया। सिद्धान्तों से मिलने वाली चरित्र-शक्ति को वे इन समझौतों में बिखेरना नहीं चाहते थे। यहीं पर उनके विरोधी ठगे-से रह जाते थे। राधास्वामी सम्प्रदाय वाला दीक्षित मन विरोधियों से भी हर स्तर पर सहिष्णुता बरतता था।

१९२३ में जब वे गोरखपुर के प्रांतीय कांग्रेस के अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, तब उनका उत्साह देखने लायक था। १९२८ में लाला लाजपतराय के निधन के बाद सर्वेण्ट आफ दि पीपुल्स सोसायटी के अध्यक्ष पद को गांधी जी के आग्रह-के-कारण स्वीकार कर लिया बैंक की या नाभा स्टेट की नहीं वरन् जब नेहरू जी-ने-उन्हें उड़ीसा के राज्यपाल बनाने की पेशकश की तो वह सब उनके आदर्शों के सामने विनम्रता से अस्वीकार करने की लाचारी बन गये थे। यू० पी० में श्री जवाहरलाल नेहरू और बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन से गांधी जी विशेष रूप से प्रभावित थे। वे अपनी प्रसन्नता को छिपा भी नहीं पाते थे। १९२९ की प्रयाग की सार्वजनिक सभा में गांधी जी ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था "प्रयाग को गर्व होना चाहिए कि उसने कांग्रेस के लिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू और 'लोक सेवक मण्डल' के लिए पुरुषोत्तमदास टण्डन को दिया है।" इसी के साथ 'यंग इण्डिया' में टण्डन जी की उदारता और त्याग की चर्चा करते हुए लिखा भी कि "ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।" गांधी जी की दृष्टि में टण्डन जी की उपयोगिता और महत्त्व कम नहीं था। सन् '३० के लगभग टण्डन जी देश के अन्य भागों से घूमते हुए लौट आये और प्रयाग में मंदी के प्रभाव के कारण किसानों में जो हतोत्साह था, उसे देखते हुए 'किसान आन्दोलन' को बढ़ाया और 'लगानबंदी' का नेतृत्व भी किया। और यहीं से किसान आन्दोलन की नींव मजबूत होने लगी। बाद को 'केन्द्रीय किसान संघ' की स्थापना भी की गयी और टण्डन जी उसके सभापति बने।

जमींदारी उन्मूलन की बात में आचार्य नरेन्द्रदेव और बाबू जयप्रकाश नारायण के विरोध का सामना भी करना पड़ा। जिन धाराओं का ये विरोध कर रहे थे, उनसे टण्डन जी सहमत नहीं थे। सन् ३६-३७ में धारासभा के लिए चुने गये और धारासभा के वे सर्व-सम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित हुए-कांग्रेस-और-जनजागरण एक ढंग से एक-दूसरे के पर्याय बन गये थे। टण्डन जी ने इस जागरण की बेला में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और कृतित्व को

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जैसे झोंक दिया था। उनकी त्यागशील मनोवृत्ति और काम करने की लगन मतवादों के परे निष्पक्षता, किसी को भी प्रभावित कर लेती थी। यही कारण था कि पण्डित नेहरू आपको 'बड़े भाई' कह कर सम्मानित किया करते थे। उनके विभिन्न गुणों से नेहरू जी अप्रभावित नहीं थे। उन्होंने कहा भी है कि "जो भी व्यक्ति टण्डन जी के सम्पर्क में आये, सबने उनसे कुछ-न-कुछ सीखा। वह महापुरुषों की निशानी हैं। जो उनसे मिले, उनसे लेकर गये। हमने भी उनसे लिया है, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी है।" उनकी इस सम्पर्क चेतना को जो भी उनके निकट आया, प्रभावित हुए बिना न रह सका। वे किसी का भी अनादर करने और छोटा समझने के विश्वासी नहीं थे। साथ लेकर चलने का विश्वास उनके पास अधिक था। जो सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में समान रूप से विद्यमान था।

टण्डन जी ने जब भी किसी को उठाया तो उसमें अपने हित को या पद को नहीं देखा। उनकी दृष्टि काम की लोक-परिणति में सदैव केन्द्रित रही। वे हर कार्य को देश-हित में लेते और उसी के अनुरूप काम किया करते। जनाकांक्षाओं को नेताओं के आचरण और कृतित्व में प्रतिबिम्बित होता हुआ वे पाना चाहते थे। वे जनाधार से कट कर किसी भी उपलब्धि के विश्वासी नहीं थे। उन्होंने कभी भी व्यक्ति के लिए अथवा वंश के लिए काम ही नहीं किया वरन् सोचा तक नहीं। यह आदर्श उन्हें जैसे गांधी जी की ओर से प्रदत्त किया गया था। वे गांधी को और उनके स्वप्नों को अपने ही देश में देखना चाहते थे। गांधी जी की गुणज्ञता को विदेशों के माध्यम या मात्र बार-बार गुहार करते रहने से समुचित नहीं मानते थे। देश की एकात्मता का वहन करने वाली भाषा ही होती है-और उसका सही दाय ग्रहण करने की शक्ति वे हिन्दी को ही मानते थे, वह सम्पूर्ण राष्ट्र की जीवन-धारा में निमज्जित थी। उसे उबारना और सांस्कृतिक धरातल पर उपस्थित कर राष्ट्र की गरिमा को प्रकट करना ही उनकी चिन्तना थी। उनके जीवन में हिन्दी राष्ट्र की एकात्मता, अस्मिता का सही वहन करनेवाली राष्ट्रीय शक्ति थी। इसी के साथ उन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कभी नहीं चाही। वे सभी के उन्नयन को आवश्यक मानते थे। राष्ट्रीय मूल्यों में भाषाओं की भूमिका को सदैव महत्त्वपूर्ण मानते थे। अंग्रेजी का प्रभुत्व देश की जिस मानसिक और बौद्धिक गुलामी का नियमन आज भी कर रहा है, वे उसी का समूल उन्मूलन चाहते थे। हिन्दी राष्ट्र की आत्मा थी, जो हमारी सभ्यता और संस्कृति की चेतना थी। वह किसी-न-किसी रूप में सम्पूर्ण राष्ट्र में छायी दिखायी पड़ती थी, लोक-जीवन में उसके अर्थ थे, गहरे संवेदन थे। राजनैतिक दुराग्रहों, स्वार्थों और अवांछित समीकरणों से हिन्दी को राष्ट्र के हित में सर्वोपरि मानते थे। हिन्दी के सर्वमान्य रूप के लिए वे बराबर संघर्षरत रहे। हिन्दी जिस पद पर अभिषिक्त होना चाहती थी वहाँ उसे रोका जा रहा था। पदों के बँटवारे, विरोध के माध्यम व्यक्तित्व रचना के प्रयास, कूटनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ हिन्दी के लिए गतिरोध बन गयी थीं। टण्डन जी इन सभी हथकण्डों से परिचित थे, वे उनका बराबर विरोध करते रहे। यहीं पर हिन्दी के साम्राज्यवाद की बात पैदा की गयी। सन् १९७४ में नागपुर में विश्व हिन्दी सम्मेलन का वृहद् आयोजन भी किया गया। जो अपनी फलश्रुति में व्यक्तित्वों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के लिए बड़े आसन और निखार का साधन बन कर रह गया। हम अपने घर में ही हिन्दी को वह श्रेष्ठ पद न दिला सके, लेकिन बड़े-बड़े जलसों के माध्यम 'विश्व हिन्दी' के स्वप्न देखने लगे। अपने ही घर में माँ पनिहारिन बनी रहे, यह कहाँ तक उचित लगता है? व्यक्तित्वों की स्थापना में इन हिन्दी-जलसों का कितना महत्त्व रहा है या पनिहारिन की स्थिति बदलने में काश! टण्डन जी की विचारधारा का भारतीयता के उन्नयन की दिशा में उपयोग किया गया होता तो, हिन्दी राजनैतिक स्वार्थों के चक्रवात से मुक्त हो, राष्ट्रीय गौरव का प्रतिनिधित्व करती।

हिन्दी के लिए टण्डन जी ने जिस ढंग से अपने को समर्पित किया था, उसमें देश की महत्तर भावनाओं का ही संदर्भ था। इसके बावजूद उनके विरोधियों-ने उन्हें हिन्दी के नाम पर साम्प्रदायिक तक कह डाला। हिन्दी के एक 'फैनेटिक' के रूप में उन्हें प्रचारित किया गया, जबकि उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं था। वे भारतीयता के लिए हर जगह उदार थे। साम्प्रदायिकता को उनमें खोजना तो एक ढंग से उनके 'चरित्र हनन' की कोशिश करना था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग उनकी कर्मण्यता और निष्ठा का जीवंत स्मारक है। टण्डन जी ने इसे खपरैल वाले मकान से बढ़ा कर एक भव्य इमारत के रूप में खड़ा कर दिया। वे इस सम्मेलन के लिए ही नहीं वरन् हिन्दी और राष्ट्र की गरिमा के महान् पक्षधर थे। सार्थकताओं के लिए संघर्ष करना किसी भी महाप्राण का आधेय होता है-और साम्प्रदायिकता टुकड़ों और विखण्डन का टुचपुँजिया काम होता है। टण्डन जी एक रचनाकार थे, तभी वे अपनी हर जगह सार्थकता प्रकट कर जाते थे। निरर्थक आक्षेपों की जगह सही ढंग से आये आक्षेपों को वे बतौर चुनौती स्वीकार करने को तत्पर-रहते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रति जब आक्षेप आये तो उन्होंने बड़ी बुलंदी से कहा "यदि मैं यह देखूँ कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्र के ऐक्य साधन में बाधक बन रहा है तो मैं उसमें अपने हाथों से आग लगा दूँगा।" जिसे रोपा, पुष्पित और पल्लवित किया उसे ही उजाड़ने की-चुनौती से वे अपरिचित नहीं थे, बशर्ते वैसी कोई गलत बात हुई हो। बकवास छोटे आदमी ज्यादा करते हैं, उन्हें तरह देना टण्डन जी खूब जानते थे। हिन्दी का उन्नयन जन-मानस का उन्नयन-का पर्याय था। इस उन्नयन की दिशा में किसी भी गतिरोध को स्वीकार करने में असमर्थ थे। अपने समकालीनों से चाहे वे श्री कृपलानी हों या पं० जवाहरलाल नेहरू, सिद्धान्तों की बलिबेदी पर समझौता करने को वे कभी तैयार नहीं होते थे। जैसे उनका विश्वास था कि असुविधाओं, आक्षेपों की काल-रात्रि अधिक समय तक सार्थकताओं की सुबह को आने से रोक नहीं सकती, आयुष्य का काल-चिन्तन उसकी दिशा निर्धारित करता है और नहीं तो फिर चेतना की मशाल जलाने का बोध अभी छूटा कहाँ है? मराठी के सशक्त कवि श्री सुरेश भट की इन पंक्तियों में जैसे इसी संदर्भ को उजागर कर दिया गया है—

"उषःकाल होता होता कालरात्र झाली,
अरे, पुन्हा आयुष्यांचा पेटवा मशाली"

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सांस्कृतिक जीवन में गाय की महिमा को, उसके संरक्षण को उन्होंने हमेशा महत्त्व दिया। गोहत्या के विरोध में आवाज उठायी। गाय की उपयोगिता में सामाजिक मूल्यों की विवेचना की। तब उन पर हिन्दूवादी संकीर्ण होने के आरोप किये जाने लगे थे, लेकिन वे अपनी मान्यताओं से नहीं डिगे। आज वही बात विनोबा के स्वर में सत्य बन कर उठ आयी है। आक्षेपों का खोखलापन नीचा दिखाने की कोशिशें अपने आप सामने आ गयी हैं। टण्डन जी की मान्यताओं के भीतर सांस्कृतिक जीवन की-गहरी दार्शनिकता होती थी और वे उसे लोक-जीवन के संदर्भ में ही प्रतिपादित किया करते थे। उसी तरह उर्दू और फारसी की बातें उठा-उठा कर माहौल को दूषित किया जाता-रहा। जबकि वे स्वयं फारसी के चाहने वालों में थे। उर्दू को वे हिन्दी की एक शैली के-रूप में मानते थे। उन्हें बचपन में एक मौलवी जी फारसी-उर्दू पढ़ाने आते थे। टण्डन जी बड़ी लगन से मौलवी जी से पढ़ते। मौलवी जी भी उन्हें पुत्रवत् चाहने लगे थे, उनकी लगन देखकर। उन्होंने लड़कपन में ही शेख सादी की "माकीमा को खूब पसंद किया था। जब भी अवसर आता वे फारसी-उर्दू की खूबियों का विधिवत बखान किया करते।

फारसी और उर्दू के संदर्भ उठा कर टण्डन जी पर पुराने आक्षेपों को ही अक्सर दुहराया जाता, जबकि उसके प्रति दुराग्रह नहीं, सम्मान था। हिन्दी के साथ उसकी कोई तुलना नहीं थी। हिन्दी की महत् राष्ट्रीय भूमिका राजनीति से दबती जा-रही थी, उसी की प्रतिष्ठा टण्डन जी का लक्ष्य थी। हिन्दी के लिए उनके समर्पित व्यक्तित्व के कारण स्व० पं० किशोरीदास वाजपेयी ने एक सभा में उनके चरणस्पर्श करते हुए कहा था "टण्डन जी ने हिन्दी के लिए अपने को जिस ढंग से समर्पित किया है, उसे देखते हुए मैं ब्राह्मण होते हुए उनके चरण स्पर्श कर रहा हूँ।" गोरखपुर की एक सभा में अपने राजनैतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए हिन्दी-उर्दू की मिली-जुली जबान में वह शानदार तकरीर की थी कि तमाम उर्दूदाँ देखते रह गये थे। टण्डन जी की फारसी-उर्दू की प्रशंसा में श्री हसन निजामी साहब बड़े कद्रदाँ थे। अगर उनमें किसी भी तरह की तंगदिली होती तो इस ढंग का व्यवहार देखने को नहीं मिलता। वे कभी फारसी-उर्दू पर ही नहीं रुक-जाते थे वरन् वे तो अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के भी पक्षधर थे। अपनी इसी उदारता का परिचय देते हुए संसद् में कहा भी था कि "अहिन्दी प्रान्तों के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उन पर हिन्दी हरगिज नहीं लादी जानी चाहिए।" उनके दृष्टिकोणों को समझने या परिभाषित करने की जगह विरोधी घटिया स्तर की राजनीति पर उतर आते थे और तब उनकी हँसी दाढ़ी के बीच स्थितियों की पहचान करवाने लगती थी। वे अन्ततः सहिष्णु ही बने रहते थे।

इसी के साथ जीवन-मूल्यों के प्रति उनमें कहीं उदासीनता नहीं थी। महानगरीय सभ्यता के प्रभाव में टूटने वाले जीवन से वे अपरिचित नहीं थे, वरन् वे लोक-जीवन में उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप आस्था और विश्वास की स्थापना करना चाहते थे। आजादी के बाद जिस स्वातंत्र्य सुख की कल्पना जन-जीवन के निकट थी, वह उन्हें भटकी हुई ही नहीं बल्कि निराशा की स्थिति में लगी। जैसे एक स्वप्नभंग हो गया हो। इसी संदर्भ में टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी ने अपने एक भाषण (२१ अप्रैल ५४) में कहा था कि, "जो आकांक्षाएँ हमारी स्वतंत्र गवर्नमेण्ट से की जाती थीं वे पूरी नहीं हो रही हैं। मुझको इस असंतोष में मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि जनता तो बहुत वर्षों से दबी हुई थी, उसने अपने स्वरूप का दर्शन नहीं किया था। बहुत वर्षों तक दबाव से अपनी आत्मा को झाँसा दिया था। उसको आशा थी कि स्वतंत्रता के आते ही हमें उस आत्मा का दर्शन होगा। हमारे देश की आत्मा पर जो खोल चढ़े हुए थे, वे हटेंगे और हमें अपना स्वरूप दिखायी पड़ेगा।" आजाद होने के बाद शासक दल से जनता को जो आशाएँ थीं, वे सब उन्हें भी अनुभव नहीं हो रही थीं, वे जनता के बाहर कहाँ थे? लोक-जीवन के हित में जिस चेतना की जरूरत थी, उसे उन्होंने पहचाना था और सही अर्थों में शासकीय नीतियों को लोक-चिन्तन के हित में झकझोर दिया था।

निरर्थकताओं के खिलाफ आत्मशक्ति का परिचय देने में आप अद्वितीय थे। रिश्वत हो या शोषण उसे वह असामाजिक मानते थे। अपने लिये जीने की अपेक्षा वे औरों के लिए जीने में अधिक सार्थकता अनुभव करते थे। नगर-जीवन के साथ-साथ ग्राम-जीवन और उसकी संस्कृति के वे पोषक थे। शहरों के बढ़ते दबाव गाँवों का हर किस्म से शोषण करते चले जा रहे थे। ग्राम-जीवन की खुशहाली नागरी सभ्यता के हाथों दबोची जाती देख वे व्यथित थे। हमारे देश की जिन्दगी तो गाँवों में होती है। गाँव ही हमें जिलाते हैं। पन्त जी ने कहा भी है "भारतमाता ग्रामवासिनी" उसी को विच्छिन्न होते देख टण्डन जी ने कहा था "हमें गाँवों की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिए। ये जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं, वे अन्त में जाकर शायद कुछ लाभ करेंगी, परन्तु चाहिए यह था कि हम आरम्भ में ही जनता के उत्साह को बढ़ाते, गाँवों के अंदर जाकर उनके लिए रास्ता निकालते, उनके लिए उद्योग सोचते। कितनी बेकारी चारों ओर फैली है। लोगों की यह बेकारी बढ़ती जाती है। लोग गाँव छोड़-छोड़ कर शहरों में आ रहे हैं, इसको रोकने की आवश्यकता है।" गाँधी जी भी सर्वोदय वाली भावना को विकसित करना चाहते थे। ताकि ग्राम-जीवन, ग्राम कलाएँ, ग्राम-संस्कृति अपने ही धरातल पर सही ढंग से जी सकें। इसके विकास से हममें काम करने की शक्ति बढ़ेगी, बेकारी घटेगी। हमारे जीवनाधार सशक्त होंगे। औद्योगिकीकरण गाँव की बरबादी की कीमत पर किसी को स्वीकार नहीं हो सकता। अन्न और संस्कृति के वे मूल हैं। उनकी उपेक्षा करके सांस्कृतिक जीवन का कटाव झेलने की विवशता क्यों स्वीकारी जाय? 'रोबेट' और माटी का रिश्ता जिन्दगी के नाम पर कभी अपनी सार्थकता दे सकेगा? मशीन जिन्दगी का पर्याय बन कर क्या देगी? भौतिक उन्नति का अंत कितना भयावह है, यह अपने आप सामने आता जा रहा है। माटी की उर्वरता तो खून और पसीने को अनुभूति के क्षण देती है, जीवन को स्पंदन देती है। उसे नकारना संस्कृति और सभ्यता को ही नकारना नहीं, सम्पूर्ण जीवन को नकारना है। ग्रामोत्थान टण्डन जी की दृष्टि में मानवीयता की एक बड़ी आवश्यकता थी। उसका महत्त्व आज भी बना हुआ है।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्रीयता और हिन्दी की पारस्परिकता के टण्डन जी व्याख्याकार थे। हिन्दी को वे केवल राष्ट्र की वाणी के रूप में ही नहीं देखते थे वरन् उसे राष्ट्रीयता की अन्तर्धारा के रूप में अनुभव करते थे। उसका विकास सम्पूर्ण राष्ट्र के विकास की संभावनाओं को सामने लाकर रखने का दायित्व रखता था। हिन्द के लिए हिन्दी एक राष्ट्रीय धर्म थी, वह राष्ट्रीयता का वहन करती थी। उन्होंने कहा भी है कि 'राष्ट्रीयता ही हिन्दी और हिन्दी ही राष्ट्रीयता है। जो भारत जननी को एक हृदय करने का आभास देती है। इसी के साथ टण्डन जी को यह दुःख भी था कि हिन्दी के अनुयायी सामने तो हिन्दी की बात करते हैं, मंच पर बड़े-बड़े प्रस्ताव पास करते हैं और व्यवहार में हिन्दी का अनहित करते हैं। उनका दुहरा आचरण हिन्दी के लिए घातक बनता जा रहा था। राजकीय प्रश्रय के संबंध में अंग्रेजी की नौकरी दिलाऊ उपयोगिता, श्रेष्ठता की भावना को बनाये रखने में अपनी संतति को बराबर अंग्रेजी ही नहीं सिखा रहे अंग्रेजियत भी सभ्यता के नाम पर दिलाये चले जा रहे हैं। हिन्दी वालों की कथनी और करनी राजकीय और सामाजिक स्तरों पर रहनेवालों को बराबर दंशित करती थी। ऊपर से आपसी कलह, अपनी-अपनी दूकान बढ़ाने के हिसाब से लेन-देन, बँटवारा, कटाव किये जाते थे। स्व० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस बात को पूरी तरह से समझा था और कहा था कि "टण्डन जी कभी-कभी व्याकुल हो जाते थे। हिन्दी के हिमायतियों से वह बहुत आशा करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश, ये आपस में ही लड़ कर एक-दूसरे की शक्ति क्षीण करते रहते हैं, जो शक्ति निर्माण-कार्य में लगानी चाहिए, वह आपसी कलह और उखाड़-पछाड़-में बरबाद हो रही है।" हिन्दी की अपनी शक्ति व्यक्तियों के बाँट हिस्से के बीच आज भी अनिश्चित बनी हुई है। जबकि हिन्दी की अपनी शक्ति का जागरण जन-मन का जागरण होगा और वह अपने ही लोक-व्यवहारों से प्रतिष्ठित हो जायेगी। टण्डन जी राजभाषा के संदर्भ में यह चाहते थे कि हिन्दी का राजभाषा के रूप में प्रयोग हो, जिससे उसकी मान्यता और स्थापना में अधिक सुविधा आ सके। उर्दू को राजकीय प्रश्रय ने उन्नति दी थी। उन्होंने कहा भी "जिस भाषा को राजा का सहारा नहीं है, वह शीघ्र उन्नति नहीं कर सकती, लोग उसका उतना आदर नहीं करते, जितना कि राजभाषा का। उर्दू भाषा की उन्नति इसका प्रमाण है। हम सबको उद्योग करना चाहिए कि जिससे हिन्दी को भी "राजद्वार" में स्थान मिले।"

टण्डन जी के लिए सन् ५० जैसे अग्नि-परीक्षा का काल बनकर आया था। वे अपनी कर्मण्यता और सिद्धान्तवादिता से जन-मन के बीच अपनी स्थिति बना चुके थे, तभी वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। लेकिन उनके चुनाव के बाद भीतर-ही-भीतर एक कलह, तनाव, विक्षोभ फैलता जा रहा था, जिसे वे पसंद नहीं करते थे। इससे सिवा वैर के, फूट के कुछ भी लाभ नहीं था, उनके सामने फिर त्याग की चुनौती सामने आ खड़ी हुई थी। कांग्रेस की पारिवारिक कलह से वे दुःखी तो थे ही, लेकिन वे उसका विस्तार नहीं चाहते थे। 'धम्मपद' की वाणी जैसे उनके भीतर अनुगुंजित हो रही थी। "वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अवैर से वैर शान्त होता है, यह सनातन धर्म है।" उन्होंने देश के पतन के लिए अध्यक्ष पद से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

यह कहते हुए त्यागपत्र दे दिया "जवाहरलाल जी इस समय देश की आवाज हैं और जब उनको संतोष नहीं है तब यहाँ एक क्षण को भी नहीं रहना चाहता।" इसी के साथ राजनैतिक गरिमा को बनाये रखते हुए जवाहरलाल जी की कार्यसमिति में सदस्य बने रहना स्वीकार कर लिया। आक्षेपों का दुःख किसे नहीं विदीर्ण कर जाता, टण्डन जी उन सबको बड़े शान्त भाव से सहते और कठिन क्षणों में ही कुंदन की तरह निखर कर सामने आ जाते थे। वे कहीं साधारण नहीं थे, उनमें सद्कार्यों की सदैव सोद्देश्यता होती थी दुखों के निवारण में ही उनका विवेक संबल था। उनके भीतर जो एक महाप्राण बैठा हुआ था वह सद्कार्यों के माध्यम से ही जयति का आह्वान करता था—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

सीताबर्डी ४४००१२
नागपुर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

वह तेजस्वी सांस्कृतिक व्यक्तित्व

डॉ० श्यामबहादुर वर्मा

⊙⊙

'पुरुषोत्तम मास' में जन्मे होने से उनका नाम रखा गया था 'पुरुषोत्तम' परन्तु 'यथा नाम तथा गुण' को चरितार्थ किया उनके समस्त जीवन की महानता ने। १ अगस्त, १८८२ को उनका जन्म हुआ था और ८० वर्ष की दीर्घायु के पश्चात् जब १ जुलाई, १९६२ को वे दिवंगत हुए थे, तब उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आकलन करते हुए यह लोक-भावना अभिव्यक्त हुई कि वे सचमुच 'राजर्षि' थे और १५ अप्रैल, १९४८ को एक सार्वजनिक समारोह में सरयू-तट पर उन्हें देवरहवा बाबा द्वारा दी गयी 'राजर्षि' उपाधि वस्तुतः उनके राजर्षित्व की सर्वमान्यता की अभिव्यक्ति मात्र थी।

वे राजनीतिज्ञ थे परन्तु सांस्कृतिक गरिमा को कभी न छोड़नेवाले राजनीतिज्ञ थे। राजनीति की कीचड़ में उनका व्यक्तित्व निरन्तर कमल के समान ही शुभ्र बना रहा। राष्ट्रभक्ति की कसौटी पर वे शत-प्रतिशत खरे उतरे महामानव थे—अखण्ड भारतभूमि के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा के कारण, अपनी संस्कृति, परम्परा तथा धर्मप्रदत्त नैतिकता के प्रति अटूट आस्था के कारण, अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी व राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रति अविचल तथा सक्रिय श्रद्धा के कारण तथा हिन्दुत्व की उदार धारणा के मूर्त रूप होने के कारण। महादेवी वर्मा के अनुपम शब्दों में कहें तो—"कृश, दुर्बल, लम्बी देहयष्टि, कुछ लम्बी मुखाकृति, नुकीली नासिका, नुकीली श्मश्रु, कुछ बढ़े केश, पीठ पर पैवन्द लगा खादी का कुर्ता, घिसी सूत वाली पुरानी धोती, चर्मरहित रबर के अस्त-व्यस्त सिले चप्पल" वाले टण्डन जी ने बड़ी निष्ठा के साथ राष्ट्रभक्ति का पथ अपनाया था और सुखमय, वैभवमय जीवन को ठोकर मार दी थी। "राजनीति, टण्डन जी का आपद् धर्म, साधना, स्वधर्म और संस्कृति उनका व्यापक जीवन-धर्म रही है"—महादेवी जी के इन शब्दों में सत्य को सुन्दरता से प्रकट किया गया है।

बहुमुखी प्रतिभा

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन की प्रतिभा किसी एक क्षेत्र में ही अभिव्यक्त नहीं हुई अपितु बहुत अधिक क्षेत्रों में उनकी असाधारणता प्रकट हुई थी। विद्यार्थी-जीवन में भी वे उत्तम विद्यार्थी थे—मेधावी, तेजस्वी तथा देशभक्त। १८९७ में उन्होंने गवर्नमेण्ट स्कूल, इलाहाबाद से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

इण्ट्रेन्स की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। वे व्यायामशील, खिलाड़ी, वाद-विवाद व भाषण कार्यक्रमों में बढ़कर भाग लेने वाले तथा विविध प्रतियोगिताओं में जीतने वाले रोब-दाब वाले विद्यार्थी थे। इण्टर करते समय म्योर सेण्ट्रल कालेज में उनके चारित्रिक गुणों के कारण उन्हें साथियों द्वारा 'जीससक्राइस्ट' कहा जाता था। वे क्रिकेट शतरंज इत्यादि के प्रथम श्रेणी के खिलाड़ी रहे थे। १९०४ में बी० ए० तथा १९०६ में वकालत उत्तीर्ण करने के बाद प्रयाग की छोटी अदालत में वकील बनकर भी वे १९०७ में इतिहास में एम० ए० हो गये। वकालत में उन्होंने झूठा मुकदमा न लेने का अटल नियम अपनाया। १९११ तक वे प्रयाग के अग्रगण्य वकीलों में हो गये, जबकि १९०८ से ही उन्होंने हाईकोर्ट में वकालत प्रारंभ की थी। उनका गृहस्थ जीवन, जो १८९७ में ही प्रारंभ हो गया था, उत्कृष्ट कहा जायगा। उनके सात पुत्र, दो पुत्रियाँ थीं अर्थात् वे एक बड़े परिवार के प्रमुख थे। फिर भी गृहस्थ धर्म में सुप्रतिष्ठित टण्डन जी एक त्यागी-विरागी महात्मा ही थे। नाभा राज्य के-विधिमंत्री तथा विदेशमंत्री (१९१४-१८) के पद को उन्होंने महामना मदनमोहन मालवीय के अनुरोध पर स्वीकार किया था। वे वहाँ बहुत सफल रहे, बहुत प्रभावी तथा लोक-कल्याणकारक भी।

कांग्रेस के साधारण स्वयंसेवक के रूप में वे १८९९ से सक्रिय हुए और १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में वे इलाहाबाद से कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने गये थे। उनके साथ के अन्य प्रतिनिधि थे—महामना मालवीय, श्री मोतीलाल नेहरू इत्यादि इलाहाबाद के शीर्षस्थ वकील। कांग्रेस के सभी आन्दोलनों में आगे बढ़ कर भाग लेते हुए तथा उसके विविध पदों को योग्यता-पूर्वक सँभालते हुए, जेल-यात्राएँ करते हुए अंत में हम उन्हें उत्तर प्रदेश विधान सभा का स्पीकर बनते हुए, उत्तर प्रदेश कांग्रेस का अध्यक्ष बनते हुए तथा १९५० में कांग्रेस का अखिल भारतीय अध्यक्ष बनते हुए देखते हैं। १९५८ में लोकसभा के सदस्य और १९५६ में राज्यसभा के सदस्य चुने जाने पर तथा उसके पूर्व भारतीय संविधान निर्मात्री परिषद के सदस्य के रूप में हम उन्हें निर्भीक, तेजस्वी, बुद्धिमान, अध्ययनशील तथा तेजस्वी व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ने वाले महापुरुष के रूप में पाते हैं।

अपने विविध कार्य करते हुए भी हम उन्हें १९१० से अंत तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राणस्वरूप तथा लोकसेवक मण्डल के अध्यक्ष के रूप में सक्रिय ही नहीं, आदर्श स्वरूप सक्रिय पाते हैं। पंजाब नेशनल बैंक के सेक्रेटरी के रूप में कार्य करते हुए भी वे अत्यन्त सफल थे। एक उत्कृष्ट वक्ता, गंभीर अध्येता, अच्छे परामर्शदाता, स्वातंत्र्य संग्राम के एक योग्य सेनापति तथा अनुपम हिन्दी-प्रचारक थे।

गुणों की खान

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के सांस्कृतिक व्यक्तित्व में हमें गुणों की खान दिखायी देती है। वे राष्ट्रभक्त, स्वदेशी-व्रत-धारी, सिद्धान्त पर अटल, संत-योद्धा, सादगी में अनुपम तथा उत्कृष्ट हृदय व बुद्धि के धनी थे। नैतिकता के वे महान आदर्श थे। संक्षेप में कहें तो वे अपने युग के श्रेष्ठतम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' थे, उत्कृष्ट कर्मयोगी थे, दिव्य विभूति थे।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्र के लिए निर्धनता स्वीकार

१७ नवम्बर, १९२८ को लाला लाजपतराय का स्वर्गवास हो जाने पर उनकी प्रिय संस्था 'लोक सेवक मण्डल' के अध्यक्ष का पद रिक्त हो गया, तो उसके लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो मण्डल के नियमानुसार निर्धनता का जीवन स्वीकार कर सके। महात्मा गांधी की इच्छा का आदर करते हुए तथा लाला लाजपतराय के प्रति श्रद्धा होने के कारण टण्डन जी ने सुख-वैभव से परिपूर्ण पंजाब नेशनल बैंक के सेक्रटरी के पद से त्यागपत्र देकर सप्तवर्षीय लोक सेवक मण्डल की अध्यक्षता स्वीकार कर ली और जनवरी १९२९ से जीवन भर उसकी सेवा करते रहे।

स्वदेशी का व्रत और सादगी

१९०५ के बंगभंग-आन्दोलन में और बाद में गांधी जी के प्रभाव से स्वदेशीव्रत की जो धारा बही, उसे श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने बहुत निष्ठापूर्वक स्वीकार किया था। वे विदेशी चीनी छोड़कर गुड़ और लाल शक्कर का प्रयोग करते थे, चमड़े का जूता नहीं पहनते थे और घी खाना भी त्याग दिया था। अंग्रेजी दवाओं के इंजेक्शनों का उन्होंने तब भी प्रयोग नहीं किया था जब वे १९३० में हृदय-रोग से ग्रस्त घोषित किये गये थे। शेरवानी, पाजामा, साफा, दुपट्टा, आदि को त्यागकर वे धोती और कुर्ता ही पहनते थे। पकाया हुआ अन्न खाना भी उन्होंने त्याग दिया था—कच्ची सब्जी खाते थे और चावल व दालों को पानी में भिगो कर खाते थे। दूध, शाक, चीनी, शहद, चाय—इन सबसे वे विरक्त थे। प्राकृतिक चिकित्सा में उनका दृढ़ विश्वास था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उस समय चकित रह गये थे जब उनके घर पर भोजन के बाद हाथ धोने के लिए साबुन माँगने पर उन्हें मुल्तानी मिट्टी का एक टुकड़ा दिया गया था। वे खादी वस्त्र ही पहनते थे तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना से उन्होंने कहा था—"खादी महँगी नहीं पड़ती। साबुन से धोने का अभ्यास कर लेने से थोड़ी-सी धोतियाँ रखने से काम चल जाता है। कुर्ते पीठ के ऊपरी हिस्से पर अधिक जोर पड़ने से फटते हैं इसलिए उस भाग को दोहरे कपड़े से सिलना चाहिए और धोती बीच से फटती है तब उसकी दो लुंगियाँ कर लेता हूँ। लुंगियाँ फटने लगें तो उनके अँगोछे हो जाते हैं और अंत में अँगोछे के रूमाल। मैं तो भाई, इसी क्रम से कपड़ा इस्तेमाल करता हूँ।"

सिद्धान्त और साहस

१९१९ में इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के प्रथम निर्वाचन में टण्डन जी विजयी हुए थे। उस समय के उनके अनेक लोकोपकारी कार्यों तथा साहसपूर्ण कदमों की समाज पर अच्छी छाप पड़ी थी। उस समय गवर्नर हरकोर्ट बटलर इलाहाबाद आया तो जैसी प्रथा थी कि आता था तो उसकी कोठी में जो तालाब था, वह नगरपालिका द्वारा पानी से भर दिया जाता था ताकि लाट साहब स्नान का आनंद ले सकें, उसका पालन टण्डन जी ने नगरपालिका को न करने का आदेश दिया। गवर्नर का अंग्रेज अंगरक्षक क्रुद्ध मुद्रा में टण्डन जी के घर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पर पहुँचा। वे अपने छोटे-से मकान में भूमि पर बैठकर काम कर रहे थे, वहीं उस अधिकारी को भी बैठकर बात करनी पड़ी। उसने टण्डन जी को आग्रहपूर्वक पानी भरने की सलाह दी, बुरा-भला कहा, धमकियाँ दीं परन्तु टण्डन जी अडिग रहे—जब जनता को पीने का पानी नहीं है तो केवल नहाने के लिए तालाब नहीं भरा जा सकता।

हिन्दी की अखण्ड साधना

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना १ मई, १९१० को काशी में हुई थी। उसके निर्माण से लेकर जीवन के अंत काल में उसे राष्ट्रीय संस्था घोषित कराने तक वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण के रूप में कार्य करते रहे। उसके माध्यम से उन्होंने हिन्दी की महान सेवा की। उसके अतिरिक्त भी संविधान सभा में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कराने में उन्होंने महान कार्य किया। महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू से उनके मतभेदों का एक प्रमुख कारण हिन्दी ही थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने टण्डन जी को सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन का अध्यक्ष बनाये जाने पर भावपूर्ण स्वागत-भाषण दिया था, जबकि वैसे वे सम्मेलन के प्रति उदासीन ही रहते थे। १९१४ के लखनऊ अधिवेशन के समय उर्दू-प्रेमियों द्वारा अपनी एक अलग सभा में व्यक्त विचारों का जैसा सटीक उत्तर टण्डन जी ने दूसरे दिन सार्वजनिक भाषण में दिया था, उसने उर्दू के अनेक भक्तों को उनके प्रति श्रद्धानत कर दिया था। इसी प्रकार कलकत्ता अधिवेशन (११वाँ) में वंग-विद्वान देवीप्रसाद सर्वाधिकारी के भाषण का जो मर्मस्पर्शी उत्तर उन्होंने दिया था, उसने अनेक वंग-विद्वानों को उनके स्वाध्याय की गम्भीरता की प्रशंसा करने को बाध्य कर दिया था।

निर्भीक महापुरुष

भारतीय संस्कृति में निर्भीकता, अभय आदि का बहुत महत्त्व है। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन की निर्भीकता उनके स्वाभिमानी व तेजस्वी व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता थी। पं० नेहरू द्वारा असहयोग करने पर उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र देते समय कहा था कि जो कुछ पं० नेहरू चाहते हैं, उसे वे असंगत मानते हैं अतः स्वीकार नहीं कर सकते और प्रधानमंत्री पं० नेहरू के त्यागपत्र को स्वीकार करना राष्ट्र के लिए हानिकारक है अतः वे स्वयं त्यागपत्र दे रहे हैं। संविधान परिषद् में हिन्दी भाषा और देवनागरी के प्रश्न पर उन्होंने जितना जोरदार संघर्ष किया था, वह अनुपम है। उसके पूर्व भारत-विभाजन के प्रश्न पर भी उनका विरोध ऐतिहासिक महत्त्व का था।

१९४७ में दंगों के भय से जब इलाहाबाद की वार्षिक नुमाइश बन्द करने की चर्चा थी तब टण्डन जी ने साहसपूर्वक नेतृत्व करके नुमाइश लगवायी थी। उनका कहना था—"गुण्डों से डरा जायगा तो कैसे काम चलेगा?" उसके अनेक वर्ष पूर्व जब इलाहाबाद में रामलीला होने की संभावना नहीं थी क्योंकि राम-लक्ष्मण बनने वाले बालकों की हत्या की आशंका थी, तब टण्डन जी ने इस प्रकार कहा था—इस समय मेरे चार बेटे हैं। दो को ले जाओ,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राम-लक्ष्मण बनाओ। अगर ये दोनों मारे जायँ तो शेष दो को ले जाना। इस निर्भीकता का ही यह परिणाम हुआ था कि रामलीला भी हुई थी और दशहरा भी मनाया गया था।

जब वे उत्तर प्रदेश में स्पीकर थे, मुस्लिम लीग के सदस्यों ने उन पर पक्षधर होने का दोषारोपण कर उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाना चाहा था। टण्डन जी इस समाचार से खिन्न हुए और उन्होंने उन लीगी सदस्यों को अपने कक्ष में बुला कर कहा था—यदि एक भी मुस्लिम सदस्य विधानसभा में यह कह दे कि मेरा टण्डन पर विश्वास नहीं है तो मैं उसी क्षण त्यागपत्र दे दूंगा। उन पर पक्षपात का दोषारोपण कोई कर ही नहीं सकता था, इतना निष्पक्ष रहते थे वे, अतः मुस्लिम सदस्य भी उनसे संतुष्ट हो गये थे।

अमर सन्देश

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन गंभीर अध्येता, गहरे विद्वान और कर्मयोगी थे। उनका जीवन संत-योद्धा का जीवन था। उन्होंने अपने जीवन द्वारा राष्ट्र के सम्मुख एक महान् उदाहरण प्रस्तुत किया। उनमें सादा जीवन और उच्च विचार, उत्कृष्ट नैतिकता, धर्मनिष्ठ आदर्शानुकूल जीवन-यापन आदि के महान गुण अभिव्यक्त हुए। मातृभाषा हिन्दी के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा तथा हिन्दी-भक्ति आज प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। वस्तुतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में गौरवमयी बनाना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। उनकी वाणी आज भी उनका सन्देश दे रही है—

"हिन्दी को अपनाओ, पनपाओ। हिन्दी राष्ट्रीयता के उत्थान में सहायक बने। हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए प्रत्येक भाषाभाषी को कुछ काम करना चाहिए।...हिन्दी दूर-सुदूर फैले, प्रेम की मधुर बयार से, अधिकार की अन्धी आँधी से नहीं।...दृढ़ता से किन्तु विनम्रतापूर्वक हिन्दी की सेवा करो...हिन्दी के लिए अभी बहुत कुछ काम करना है।"

—सम्पादक, 'केन्द्र भारती'
२३४४।१४ दशमेशपुरा, करोलबाग, नयी दिल्ली-५

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रतिष्ठापक : राजर्षि टण्डन

श्री बिशनकुमार शर्मा

⊙⊙

परतन्त्रता की अपार कष्टदायिनी यातनाओं की ऊब के कारण भारतीय चेतना ने चतुर्मुखी जागरण को अतीव तत्परता से सचेत किया था। इस पुनर्जागरण में अनेकानेक आन्दोलन उठे—इनमें प्रमुखतया पहला आन्दोलन था राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की आकांक्षा और दूसरा आन्दोलन था अंग्रेजों द्वारा कुचले गये, शोषित किये गये, सताये गये भारतीय समाज की उन्नति से सम्बद्ध। इसी प्रकार, एक तीसरा आन्दोलन और था—राष्ट्र को राष्ट्रभाषा के नाते, एक सूत्र में बाँधे रखनेवाली आंतरिक सद्भावना को दृष्टिपथ में रखकर। उस समय इन तीन समस्याओं से देश का उद्धार करने के लिए भारत माँ की कोख से अन्य अनेक शक्तिशाली आत्माओं के साथ तीन महापुरुषों का अवतार हुआ। उनमें राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की इच्छा को पूरा कराने हेतु उद्भूत हुए महात्मा गांधी; समाज की विषमताओं को लेकर अवतरित हुए पण्डित मदनमोहन मालवीय, और राष्ट्रभाषा के नाते भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने की पवित्र अवधारणा को लेकर प्रकट हुए—महामहिम राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन।

जिन दिनों राष्ट्रभाषा की समस्या को लेकर राजर्षि टण्डन ने भारत के नेतृत्व का बीड़ा उठाया था, उस समय भारतीय जनता के समक्ष भाषा के प्रश्न को लेकर तत्कालीन प्रशासकों और नेताओं ने तीन भाषाओं में से किसी एक को अपनाने का अत्यधिक झंझट-भरा बखेड़ा खड़ा कर दिया था। स्पष्टतः तीन भाषाओं की मान्यताओं को लेकर तीन वर्ग बन गये थे। वे शक्तिशाली वर्ग आपस में राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर संघर्ष करने में निरन्तर संलग्न रहे। परिणामतः राष्ट्रभाषा की समस्या दिन-पर-दिन उलझती गयी।

इन तीन भाषाओं में पहली भाषा थी रोमन लिपि में लिखी जानेवाली अंग्रेजी, जिसको सर्वाधिक सक्षम और सरल तथा विश्वव्यापी भाषा कहकर भारत की निरीह जनता पर लादा जा रहा था। दूसरी भाषा थी फारसी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू, जिसमें अधिकांशतः अरबी-फारसी के शब्द थे और जो अंग्रेजों से पूर्ववर्ती मुगल-प्रशासकों द्वारा घोर अन्याय और दबाव के साथ इस देश की जनता पर लाद दी गयी थी। और तीसरी भाषा थी संस्कृत जैसी सक्षम और महनीय भाषा की शब्द-थाती को लेकर चलनेवाली, उसी की विकास-परंपरा में उद्भूत, महामानवसमुद्र भारत की अनेक बोलियों की ज्ञान-राशि को समेटकर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चलनेवाली और देश की अधिकांश जनता में सहज बोली जानेवाली नागरी लिपि में लिखित हिन्दी।

उस समय (सन् १९०० ई० के आस-पास) उक्त तीन भाषाओं में पहली भाषा (अंग्रेज़ी) को राष्ट्रभाषा की मान्यता देनेवालों की संख्या भी कुछ अधिक थी। एक प्रकार से तत्कालीन नवशिक्षित लोग ही अंग्रेज़ी की वकालत करते थे। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि उस समय का शिक्षित भारतीय अपनी भाषा जानता ही नहीं था। सबको विदित है कि विदेशी शासकों ने इस देश में अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए विदेशी भाषा के माध्यम से ही शिक्षा की व्यवस्था की थी। वे लोग देशी भाषा की बराबर उपेक्षा करते रहे। देशी भाषा को, देशी साहित्य को पदमर्दित करने के लिए वे कृतसंकल्प थे। परिणामतः नवशिक्षित भारतीय अपनी परंपरा से विच्छिन्न होते गये। मूलतः भारत के नवशिक्षित नागरिक हिन्दी से, हिन्दी के ज्ञान से, उसकी साहित्य-परंपरा से एकदम वंचित होते गये। वे हिन्दी के विषय में अज्ञानी ही रहे और ऐसे ही चंद लोग अज्ञानवश हिन्दी का समर्थन करनेवाले राजर्षि टण्डन जी जैसे महाप्राण नेता का विरोध करते थे और अंग्रेजी की सार्थकता पर निरंतर बल देते थे।

दूसरी भाषा अर्थात् फारसी लिपि में लिखी जानेवाली और विशेषकर अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त उर्दू भाषा को माननेवालों में नवस्वतन्त्र भारत के कतिपय गण-मान्य कर्णधार प्रमुख थे। ऐसे नेताओं के मन में कुछ-कुछ अर्द्धभ्रामक अवधारणा यह बन गयी थी कि उर्दू के प्रचार-प्रसार व प्रचलन से और उसके राष्ट्रभाषा पद पर आसीन हो जाने से भारतीय जनता का अल्पसंख्यक एक खास तबका खुश रहेगा और ऐसी राष्ट्रभाषा से देश का भी संभवतः उद्धार हो ही जायगा। स्वयं गाँधी जी और पं० नेहरू आदि ने राष्ट्रभाषा-नीति के प्रति इसी प्रकार का रुख अपनाया था। इस अवधारणा से प्रेरित और निर्मित भाषा का नाम महात्मा गाँधी ने ही 'हिन्दुस्तानी' रखा था।

सन् १९२५ के आस-पास का समय हिन्दी के लिए संघर्ष का काल था। उस समय गाँधी जी आदि नेताओं के द्वारा सुझाया गया, जनता के सामने जब एक विकल्प आया 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' का, उस समय भी टण्डन जी की दृष्टि 'हिन्दी' के ऊपर थी; और वह टण्डन जी की दृष्टि नहीं भारतीय जनता की दृष्टि थी।

तभी शुद्ध फारसी लिपि से लिखी जानेवाली भाषा का भारतीय जनता द्वारा सामूहिक विरोध देखकर गाँधी जी ने 'हिन्दुस्तानी' के दो रूप निश्चित किये थे—

(१) फारसी लिपि में लिखी जानेवाली और अरबी-फारसी के शब्दों के आधिक्य से युक्त भाषा।

(२) नागरी लिपि में लिखी जानेवाली और अरबी-फारसी के शब्दों के आधिक्य से युक्त भाषा।

महात्मा गाँधी की राष्ट्रभाषा विषयक उक्त विचारधारा में एक प्रकार से 'भाषा' तो एक ही थी; लेकिन दो लिपियों (फारसी और नागरी) में विकल्प था। अतएव एक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भाषा (राष्ट्रभाषा) को सीखने-पढ़ने के लिए भारतीय जनता को स्वेच्छा से दो लिपियों को सीखने की बात थी। तत्कालीन भारतीय जनता के मन में राष्ट्रभाषा के प्रति यह बात कुछ हास्यास्पद और अशोभन अवश्य लग रही थी कि एक प्राण दो शरीर की तरह एक राष्ट्र, एक भाषा और दो लिपियाँ! एक प्रकार से राष्ट्रभाषा का ऐसा बहुरूपियापन विश्व के किसी भी राष्ट्र की भाषा में नहीं है, जो भारत में होने जा रहा था। निष्कर्षतः राष्ट्रभाषा का यह अपमान देश के मूल निवासी, कम-से-कम अस्सी प्रतिशत मनुष्यों को असह्य था और यह बात राष्ट्रभाषा के पक्ष को लेकर चलनेवाले आदर्श मानव राजर्षि टण्डन जी को भी असह्य थी। मूलतः राष्ट्रभाषा के इसी प्रश्न को लेकर गाँधी जी और टण्डन जी में मतैक्य नहीं रहा।

इसी बहस-मुबाहिसे में जब सन् १९४२ ई० में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने "हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा" की स्थापना की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अपना सम्बन्ध खत्म किया तो राजर्षि टण्डन को बहुत धक्का लगा। राजर्षि टण्डन की जो शक्ति जिस तीव्र गति से राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के आन्दोलन में लग रही थी, वह निश्चित ही कुछ ठण्डी पड़ने लगी। अपनों के द्वारा किये गये इस बार के अपार कष्ट ने उनको अवश्य ही झकझोर दिया।

इतना ही नहीं, सन् १९५० के आस-पास जब संविधान-सभा में भाषा का प्रश्न उठाया गया, तब ऐसा मालूम होता था कि संविधान-सभा के सदस्यों में ही महाभारत हुआ जाता है। उस संघर्ष में पण्डित नेहरू भी शत-प्रतिशत 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थे।

राष्ट्रभाषा के संक्रान्ति काल में राजर्षि टण्डन महामानव समुद्र भारत की ऐक्य साधना को साधते हुए वरन् अतीव दूरदर्शिता और भाषा की विराट् शक्ति को लेकर संस्कृत और देश की विभिन्न बोलियों की शब्द-सम्पदा को-लेकर चलनेवाली नागरी लिपि में लिखित हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात करते रहे। वे रुके नहीं, झुके नहीं। एक प्रकार से राजर्षि टण्डन जी के राष्ट्रभाषा विषयक उक्त मत से भारत की अस्सी प्रतिशत जनता भी सहमत थी। जो बीस प्रतिशत जनता टण्डन जी के मत से सहमत नहीं थी, उसमें कुछ तो अंग्रेजों के पालतू और सदैव गुलाम बने रहने की मनोवृत्ति-वाले लोग थे और कुछ थे चंद मुसलमानों को खुश करके अपनी सत्ता को कायम-रखनेवाली मिथ्या अवधारणा के पोषक महानुभाव।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ राजर्षि टण्डन ने इन कतिपय स्वार्थी मनुष्यों की दुर्नीति की परवाह नहीं की। वे इस मुद्दे को लेकर निरंतर ऐसे लोगों से संघर्ष करते रहे; देश की अखण्ड भारतीयता को अमृतदान करने के पवित्र उद्देश्य से जीवन भर गरल पीते रहे। भारतीय जनता राजर्षि के साथ तो थी ही; वे दूरदर्शी नेता तो थे ही। उन्होंने सत्यनिष्ठा के साथ 'हिन्दी' जैसी महाप्राण भाषा के नाते भारत को एक सूत्र में बाँधने का बीड़ा तो उठाया ही था। परिणामतः उनकी विजय हुई। सत्यमेव जयते, संगठनमेव जयते। यह समय भारती और वाग्देवी के लिए निश्चित ही मंगलमय था। निश्चय ही इस अवसर पर भारती के वे वरदत्त पुत्र वंदनीय थे, अभिनन्दनीय थे जिन्होंने वाग्देवी के इस मांगलिक हवन में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

अपने परिश्रम की आहुतियाँ दी थीं। निश्चित् ही राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस संक्रांति-काल में सत्यनिष्ठा की विजय हुई थी। अर्थात् सन् १९४९-५० ई० में हिन्दी ही देश-की राष्ट्रभाषा घोषित हुई। सच्चे अर्थों में राजर्षि महर्षि बने। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्राण-प्रतिष्ठापक पुरुषोत्तम घोषित हुए। सन् १९४९ ई० में राष्ट्रभाषा और उसमें लिखे राष्ट्रगीत के पावन अभियान के समय वह विधान-निर्मात्री सभा की बैठक में दिल्ली गये थे। उस समय उनके साथी श्री वसंतराव ओक आदि ने देश भर के करोड़ों व्यक्तियों के हस्ताक्षर राष्ट्रभाषा हिन्दी और 'वन्देमातरम्' राष्ट्रगीत के समर्थन में कराकर दिये थे। उन ढेरों समर्थन-पत्रों के समर्थन से ही महाप्राण टण्डन जी का लक्ष्य पूरा हुआ था। तभी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' (जिसे वे 'माँ' कहते थे) के सम्मान की रक्षा हो सकी थी।

सन् १९४९-५० ई० में भारत के संविधान के अनुच्छेद सं० ३४३ के परिशिष्ट फ/३१५ में हिन्दी का स्वरूप इस प्रकार घोषित हुआ—"देवनागरी लिपि में लिखी हुई वह भाषा जिसमें भारत की मिली-जुली संस्कृति-के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो सकती है और जो शब्दावली की दृष्टि से प्रमुख रूप से संस्कृत पर और गौण रूप से अन्य प्रादेशिक भाषाओं पर आधारित है।"

संविधान में राष्ट्रभाषा का स्वरूप निर्धारित हो गया—टण्डन जी ने हिन्दी के लिए इतना ही नहीं किया—बाद में भी वे अपने राष्ट्रभाषा विषयक अभियान को निरंतर चलाते रहे। जो हिन्दी से भिन्न भाषाएँ सरकारी काम-काज में पहले से प्रचलित थीं; उनको वे सरकारी कार्यालयों से हटाने में और उन भाषाओं (उर्दू, अंग्रेजी आदि) की जगह हिन्दी को पहुँचाने में भी निरन्तर तत्पर रहे। आप अपने विपुल व्यक्तित्व और महान् नेतृत्व-शक्ति के प्रभाव से हिन्दी के विकास के लिए तरह-तरह की राजाज्ञाएँ पास कराते रहे और उन राजाज्ञाओं के अनुसार हिन्दी को प्रचारित अथवा निरंतर प्रसारित करते रहे।

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सम्पन्न हुए हिन्दी के प्रथम अधिवेशन में राजर्षि टण्डन के मुखारविन्द से हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए दो प्रस्ताव पढ़े गये थे। उनमें अदालतों आदि सरकारी महकमों से उर्दू को हटाकर हिन्दी में काम-काज करने की-अपील थी।

हिन्दी की उन्नति हेतु पहला प्रस्ताव

"यह सम्मेलन इस बात पर शोक प्रकट करता है कि जिस आज्ञा को इन प्रांतों की गवर्नमेण्ट ने हिन्दी जाननेवाली प्रजा के हित के लिए अदालतों में नागरी अक्षरों के व्यवहार के विषय में १८ अप्रैल, १९०० ई० की आज्ञानुसार जारी किया था, उससे हिन्दी जाननेवाली प्रजा को कहीं-कहीं अमलों और हाकिमों के नागरी से पूरा निश्चय न होने के कारण और कहीं वकीलों और मुख्तारों के स्वार्थ अथवा उदासीनता के कारण उचित लाभ नहीं पहुँच रहा है। यह सम्मेलन इन प्रांतों की गवर्नमेंण्टों से प्रार्थना करता है कि वे समय-समय पर इस बात की जाँच करा लिया करें कि गवर्नमेण्ट की ऊपर कही हुई आज्ञा का पालन ठीक-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ठीक होता है या नहीं। जो अमले अदालतों में नियत किये जाते हैं, उनको काम करने योग्य दोनों लिपियों का परिचय है या नहीं। यह सम्मेलन गवर्नमेण्ट से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है कि वह यह आज्ञा कर दें कि जो लोग तजवीज और इज़हार आदि की नकलें नागरी में लेने की प्रार्थना करें उनको वे सब नागरी में मिल जाया करें।"

हिन्दी की उन्नति के लिए दूसरा प्रस्ताव

"यह सम्मेलन गवर्नमेण्ट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि जिस प्रकार युक्तप्रांत का गवर्नमेण्ट-गजट अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू में भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार उसके नागरी अक्षरों में भी प्रकाशित होने की वह आज्ञा कर दे।"

संक्षेप में, इसी तरह के अनेक प्रस्तावों से राजर्षि टण्डन ने हिन्दी को अदालतों में पहुँचाया। उन्हीं के अथक परिश्रम से हिन्दी को आज यह स्थान प्राप्त हुआ।

राजर्षि टण्डन ने राष्ट्रभाषा के जिस बीज-रूप को जिस सत्यनिष्ठा के साथ भारती की गोद में स्थापित किया था; उसी निष्ठा के साथ उसके अंकुर को अपने श्रम-सीकरों से सींच कर एक महान् रूपाकार प्रदान किया। उनकी वह सत्यनिष्ठा हिन्दी का सदैव प्रचार-प्रसार करती रही। उन्होंने राष्ट्रभाषा के अभियान को जिस आत्मनिष्ठा से उठाया, उसी को अंत तक वे सफल बनाते रहे। सच्चे अर्थों में वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रतिष्ठापक महर्षि थे।

१३/१४, सराय बारह सैनी,
अलीगढ़ (उ० प्र०)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन की भाषिक मान्यताएँ

डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल

⊙⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक थे। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व में प्राचीन ऋषियों की सरलता, मुनियों की साधना, राजाओं की मनस्विता एवं वीरों की दृढ़ता तथा निर्भीकता का सुन्दर सामंजस्य था। त्याग और बलिदान की वे साकार मूर्ति थे। अपने राजनीतिक जीवन में व्यक्तिगत आचरणों की पवित्रता एवं उच्चादर्शों के प्रति सदैव समर्पित रहे। स्वार्थवश अथवा प्रलोभनवश उन्होंने कभी भी अपनी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का हनन नहीं किया। परदुःखकातर उनकी निजी विशेषता थी। दीन-दुखियों को देखकर द्रवीभूत हुए बिना वे नहीं रह सकते थे। "सन् १९४७ की बात है, देश का विभाजन हो चुका था। लाखों शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गये थे। उनके निवास और भोजन की भयंकर समस्या थी। टण्डन जी कहीं जा रहे थे। सड़क पर दो-तीन पंजाबी बच्चे लोगों से भीख माँग रहे थे। झट मोटर रोक कर टण्डन जी ने बच्चों से बातचीत की और उन्हें घर पर ले गये। वहाँ से चलते समय उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। उन्होंने कहा, पंजाबी कभी भीख नहीं माँगता, किन्तु इस मुसीबत में बेचारों को पेट भरने के लिए यह भी करना पड़ रहा है।"—(राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ संख्या ८५)।

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।'

'जो अभिषेक की बात सुनी
तो प्रसन्नता नेक परी न दिखायी,
औ वनवास के आयसु पै
नहिं रेख कछू दुःख की मुख आयी।'

मर्यादा पुरुषोत्तम राम के इस समत्वभाव की परिकल्पना कहीं पर राजर्षि पुरुषोत्तम-दास में भी सन्निहित थी। उनका जीवन एक ऐसे ऋषि का जीवन था, जिसकी उपलब्धियाँ एक ही क्षेत्र में नहीं अपितु विभिन्न क्षेत्रों में समान रूप से थीं। कांग्रेस-अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देने के पश्चात् न तो उनके मन में किसी प्रकार की ग्लानि हुई और न आक्रोश या पश्चात्ताप ही। उन्होंने नासिक अधिवेशन के अवसर पर अपने अभिभाषण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में एक कथानक की चर्चा की जो अक्षरशः उन्हीं पर चरितार्थ होती है। कथानक इस प्रकार है—

"एक गड़रिया था। वह भेड़ें चराया करता था। उसके पास एक बाँसुरी और एक कम्बल था। एक दिन एक राजा उस जंगल से निकला, जहाँ वह भेड़ें चरा रहा था और मस्ती में बाँसुरी बजा रहा था। गड़रिये ने राजा की ओर कोई ध्यान न दिया। उस गड़रिये की एकनिष्ठता से राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे लेकर अपनी राजधानी वापस आ गया। राजा ने उसे मंत्री बना दिया। राजकर्मचारियों में इस नये मंत्री के विरुद्ध षड्यंत्र होने लगे। राजा के पास भी शिकायत पहुँची कि नये मंत्री ने एक कमरे में ताला लगा रखा है जिसकी चाभी उन्हीं के पास है और वह प्रत्येक रात्रि को उस कमरे को खोलकर उसमें संचित धन को संतोष के लिए देख लेता है। राजा ने नये मंत्री से कहा कि तुम्हारे प्रति लोगों को शिकायत है। जिस कमरे में तुम्हारा ताला पड़ा है, उसे मैं देखना चाहता हूँ कि उसमें क्या है? उसने जवाब दिया कि मैं आपको वह कमरा दिखा दूँगा, किन्तु एक शर्त है, वह यह कि फिर मैं इस पद पर और इस राज्य में नहीं रहूँगा। उसने सबके सामने उस कमरे का ताला खोलकर राजा को दिखाया। उसमें वही उसका पुराना निजी कम्बल और बाँसुरी सुरक्षित रखी थी। उसने दोनों वस्तुओं को उठाया और मस्ती में बाँसुरी बजाता हुआ मंत्रिपद छोड़कर चला गया। राजा ने बहुत अनुनय-विनय और क्षमा-याचना की, किन्तु उसके ऊपर इन सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी पूर्व स्थिति में ही मस्त और प्रसन्न था।"

टण्डन जी अपने सिद्धान्तों की बलि चढ़ाकर किसी के सामने झुकने को तैयार नहीं थे। सत्य तो यह है कि गलत समझौता करना वे जानते ही न थे, चाहे उससे उनकी कितनी ही बड़ी हानि क्यों न हो। गलत समझौते पर उनका हृदय विद्रोह करने लगता था, उन्हें सहज आत्म-ग्लानि होने लगती थी और वह ऐसा अनुभव करते थे कि अन्तरात्मा के प्रति विश्वास-घात का अपराध करने जा रहे हैं। यही कारण था कि विषम परिस्थितियों के बीच भी अपने सिद्धान्तों पर नगराज हिमालय की भाँति अडिग रहते थे। अन्धनिष्ठा और अन्धविश्वास से उन्हें निहायत नफरत थी। वे प्रायः कहा करते थे—

"लीक लीक गाड़ी चलै, लीकै चलै कपूत।
बिना लीक तीनों चलें, सायर सिंह सपूत॥"

शील और संकोच के तो वह साक्षात् अवतार थे। 'सादा जीवन उच्च विचार' उनके जीवन का प्रेरक सिद्धान्त रहा। सत्य और सन्मार्ग के सम्मुख वे सदैव नत-मस्तक हो जाते थे। सत्य तथा नैतिकता का परित्याग करने वाले, घर में ही राजनीतिक चालबाजी बरतने की स्वार्थपरक नीति आज अनेक राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक नेताओं के कृत्यों में देखने को मिलती है, किन्तु टण्डन जी की नीति कभी भी इस प्रकार की नहीं रही।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥"

भारतेन्दु जी के उक्त स्वर-में-स्वर मिलाकर टण्डन जी ने भी भाषा की उन्नति को ही देशोन्नति का मूलमन्त्र माना और राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा को उन्होंने सदैव प्राथमिकता दी। टण्डन जी हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अरबी तथा कतिपय अन्य विदेशी भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे; किन्तु वे, समन्वय-शक्ति-सम्पन्न हिन्दी भाषा को ही राष्ट्रीयता का मूल स्रोत समझ, आजीवन तन-मन-धन से इसके प्रचार और प्रसार में लगे रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि विदेशी भाषा द्वारा अपनी जातीय तथा मानसिक शक्तियों का विकास सर्वथा असम्भव है। इसीलिए जोर देकर स्वराज्य के साथ भाषा के प्रश्न को भी जोड़ दिया था। सन् १९१९ ई० में उनका 'भाषा का सवाल' शीर्षक लेख 'प्रकाश' के 'ऋषि अंक' विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। उसका अल्पांश यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें टण्डन जी के भाषा संबंधी प्रभविष्णु विचार द्रष्टव्य हैं—

"मुल्क की भाषा और साहित्य ही हर एक मुल्क की तरक्की के गवाह हैं। भाषा ही वह खोराक है और वह हवा है, जिस पर देश के हर एक बच्चे की विचार-शक्ति परिवरिश पाती है। अगर उसके मुल्की काम किसी ऐसी जबान के जरिये किये जावें, जिसको वह खुद नहीं समझता, तो जाहिर है कि दिन-ब-दिन मुल्की मुआमलात की निस्बत उसकी कूवत-फहम कम हो जावेगी। अगर साथ ही मुल्क के काबिल लोग अपने ऊँचे खयालात का इजहार किसी ऐसी जबान में करने लगें जो मुल्क की आम जबान न हो, तो इसका यही नतीजा होगा कि उस मुल्क के लोग अपने चीदा आलिमों के खयालात से फायदा न उठा सकेंगे और दिन-ब-दिन जहालत के तरफ रुजू होंगे।"

× × ×

"महज थोड़े अंग्रेजीदाँ की सहूलियत के लिए एक बिलकुल गैरजबान सीखने पर आम लोगों को मजबूर करना इन्साफ के खिलाफ है। आजकल के रहनुमाओं में महात्मा गाँधी ने इस मसले पर अच्छी तरह से गौर किया है और उन्होंने साफ-साफ कहा है कि भाषा का मसला स्वराज्य का मसला है। लेकिन मुल्क के दूसरे लीडरान से मेरी मुअद्दिबाना शिकायत है कि वह इस मसले पर काफी ध्यान नहीं दे रहे हैं और न इसको हल करने की कोशिश कर रहे हैं। अगर वाकई कोशिश हो, अगर हम कांग्रेस और मुल्की कामों में हिन्दी और अपने-अपने सूबे की कांग्रेसों और सभाओं में अपने सूबे की जबानों से काम लें और क्या सरकारी कामों और क्या जातीय कामों में अपनी जबान पर जोर दें, तो यह मसला हल हो सकता है।"

राष्ट्रीय उत्थान में हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने और प्रचार करने में राजर्षि टण्डन ने बड़ी सशक्त क्रान्ति की। राष्ट्रभाषा प्रचार का कार्य, देशभक्ति एवं महत्त्वपूर्ण देशव्यापी जागृति आदर्शवाद से प्रेरित राष्ट्रीयता का अंग बन गया। उन्होंने हिन्दी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के व्यापक स्वरूप को भलीभाँति समझा और समस्त भारतीय भाषाओं को समन्वित कर उन्हें एक सूत्र में बाँधने का गुरुतर कार्य किया। हिन्दी भाषा के संबंध में उनके विचार उदार एवं विवेकसम्मत थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"हममें हीनता का वायुमण्डल बनना नहीं चाहिए। बुद्धि और विवेक से काम लेना है। हमारी भाषा में मराठी, तमिल, तेलुगु, गुजराती सबके शब्द प्रयुक्त होंगे और हमारी भाषा इन नये शब्दों से प्रौढ़ होती जायगी और उसकी भाषा-शक्ति बढ़ती जायगी। मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारे हिन्दी मंच पर कोई साम्प्रदायिक भावना न हो, कोई भी ऐसी भावना पैदा न हो जिससे हमारी राष्ट्रभाषा के उत्थान में हानि पहुँचे।"—(टण्डन निबन्धावलि; हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों? पृष्ठ ८६)।

इस प्रकार, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति राजर्षि टण्डन के अपने निजी विचार एवं सिद्धान्त थे। हिन्दी के लिए ही उनके जीवन का अधिकांश समय बीता था। उनकी यदि कोई जीवन-साधना थी तो वह राष्ट्र और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए ही थी। सत्य तो यह है कि राजर्षि टण्डन हिन्दी के उन्नायक एवं प्रतीक थे। उनकी हिन्दी-सेवाएँ कथमपि विस्मृत नहीं की जा सकतीं।

—३५०, ए-बस्कीखुर्द, दारागंज, प्रयाग

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजभाषा नीति और राजर्षि टण्डन

डॉ० प्रमिला अवस्थी

⊙ ⊙

राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम न केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता अपितु सांस्कृतिक और भाषिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रयत्न था। राष्ट्रीय मंच-पर विदेशी भाषा के स्थान पर स्वदेशी भाषा के रूप में हिन्दी को पूरे भारत में प्रतिष्ठा मिल गयी थी। लेकिन हिन्दी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने का जो संकल्प संवैधानिक पृष्ठों पर लिया गया था, वह वहीं का वहीं दबा रह गया। उन्नीसवीं शती में खड़ी बोली हिन्दी के जिस राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, वह राष्ट्रभाषा आन्दोलन न होकर राजभाषा के सन्दर्भ में हिन्दी आन्दोलन था। १५ अगस्त १९४७ में भारतीयों ने संघर्ष की अन्तिम मंजिल तय की। उसी समय हिन्दी आन्दोलन का विरमित होना यथेष्ट था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के-पश्चात् अहिन्दीभाषी नेताओं की राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता में बदलने लगी और जो आन्दोलन भाषा का लक्ष्य लेकर चल रहा था, वह द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ता गया। अंग्रेजों की फूटनीति के कारण हमारा मुख्य विरोध अंग्रेजी से होते हुए भी उर्दू से हुआ और यह विरोध आज भी राजनीतिक खिलाड़ियों के कारण कन्दुक क्रीड़ा बना हुआ है। जो आग हमने अपने अन्दर विदेशी सत्ता को भस्म करने हेतु लगायी गई थी, उसकी ज्वाला से हमने अपने ही दामन में आग लगा ली। भारत को आजादी मिली—दो टुकड़ों में बाँटकर, जो कि विश्व-इतिहास में बेमिसाल है। गाँधी द्वारा प्रतिपादित 'हिन्दुस्तानी' शब्द को साम्प्रदायिक भावना से-जोड़कर खड़ा किया गया बखेड़ा किसी तरह दबा तो दूसरी ओर श्री राजगोपालाचारी, सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे व्यक्ति, जो किसी समय हिन्दी के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने हेतु तत्पर थे—हिन्दी के कट्टर विरोधी बन बैठे। हिन्दी को राजभाषा के अयोग्य ठहराते हुए संविधान में स्वीकृत हिन्दी सन् १९६५ तक के लिए (जिसकी राजनीति थी सदैव काल के लिए) अंग्रेजी द्वारा अपदस्थ कर दी गयी। यही वह बिन्दु था जहाँ राजभाषा की समस्या सुलझते-सुलझते उलझ गयी।

अंग्रेजी शासन ने साम्प्रदायिक आड़ में कूटनीतिक चालों द्वारा संस्कृतनिष्ठ और फारसीनिष्ठ भाषा के भेद के जिस बीज का वपन किया, उससे हिन्दी और उर्दू में एक निश्चित भेद-दृष्टि फैल गयी। नागरी लिपि और हिन्दी के विरुद्ध शिक्षा-संस्थाओं से भी-साजिशें हुईं। 'ग्राउस' जैसे विद्वानों ने मैकाले, ट्रेवीलियन डॉ० डफ, बीम्स, सर सैयद अहमद खाँ की नीतियों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

का खण्डन करते हुए हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं महत्त्व का प्रतिपादन किया किन्तु सरकार की पक्षपातपूर्ण-नीति ने उर्दू को 'शह' दी, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समग्र हिन्दी-प्रदेश में 'नागरी आन्दोलन' चल पड़ा। इधर, सरकार द्वारा 'रोमन लिपि' को लेकर उठायी गयी नयी राजनीतिक चाल का मामला भी खटाई में पड़ गया। इसी समय, हिन्दी आन्दोलन की बागडोर पं० मदन मोहन मालवीय जी के हाथ में आयी और 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से एक प्रतिनिधि मण्डल अदालतों में नागरी लिपि के प्रयोग के प्रश्न को लेकर तत्कालीन लेफ्टीनेन्ट गवर्नर मेक्डानल से मिला, जिनके आश्वासनात्मक उत्तर से उर्दू की ओर झुकती हुई सरकार ने उर्दू के साथ नागरी को भी समानाधिकार प्रदान किया। यहाँ भी मुस्लिम विरोध होने पर हिन्दी-प्रेमियों को इतने में ही सन्तोष करना पड़ा।

इसी समय, राजर्षि टण्डन, सेठ गोविन्ददास और स्वयं महात्मा गाँधी जैसे नेताओं ने हिन्दी के प्रश्न को कांग्रेस मंच से उठाया और भाषा का प्रश्न स्वराज्य के प्रमुख मुद्दों में जुड़ गया। टण्डन जी ने सम्मेलन के मंच से तथा राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस की ओर से संविधान में राजभाषा के अस्तित्व के लिए अनवरत संघर्ष किया और इस संघर्ष को वे किसी वस्तु की आहुति दे शान्त नहीं करना चाहते थे अपितु समुचित निदान ही चाहते थे, जबकि गाँधी जी किसी भी कीमत पर शान्त करना चाहते थे।

सन् '४७ में भारत की आजादी और '४८ में 'हिन्दुस्तानी' के प्रबल समर्थक महात्मा गाँधी की मृत्यु...अब प्रश्न था कि जब स्वतन्त्र मुल्क पाकिस्तान में 'उर्दू' राजभाषा घोषित हो चुकी है ऐसे समय में हिन्दुस्तानी का कोई अस्तित्व नहीं। स्वतन्त्र भारत की राजभाषा हिन्दी होनी चाहिए, यह प्रश्न स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा के समक्ष आया। सन् '४८ में इसका प्रारूप तैयार किया गया तथा सन् १९४९ में कुछ काट-छाँट कर २६ जनवरी १९५० से लागू हुआ और इसी संविधान में अपनी पूर्व पृष्ठभूमि के साथ राजभाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। समस्या थी 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' में से कौन-सा नाम देकर राजभाषा को सुशोभित किया जाय। इन दोनों शब्दों को अपनाकर संविधान सभा में स्पष्ट दो दल हुए। एक का नेतृत्व पुरुषोत्तमदास टण्डन और सेठ गोविन्ददास कर रहे थे; दूसरे का गाँधी के अनुयायी पं० नेहरू, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद आदि। इधर अहिन्दीभाषी प्रदेशों के प्रतिनिधि भी देवनागरी में लिखित हिन्दी की माँग करते थे। अंकों की लिपि पर भी संविधान में प्रश्न उठा। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन नागरी अंकों के प्रबल समर्थक थे। दूसरी ओर श्री नेहरू के नेतृत्व का दल रोमन अंकों का हिमायती था। उनका तर्क था कि रोमन अंक अन्तर्राष्ट्रीय अंक हैं, अतः इन्हें ही देश की राजभाषा के साथ राजलिपि में स्थान मिलना चाहिए। किन्तु टण्डन जी और उनके समर्थकों का विचार था—"अंग्रेजी हमारे देश की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती...हिन्दुस्तानी कोई भाषा ही नहीं! उसका न व्याकरण है और न साहित्य... झगड़ा हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नहीं है अपितु झगड़ा है हिन्दुस्तानी नाम में जो अर्थ निहित हो गया है। उसका...हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले उसका समर्थन साम्प्रदायिक भावना से

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करते हैं। जो देश में एक संस्कृति चाहते हैं, वे भला दो लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा का समर्थन कैसे करेंगे?''

संविधान सभा में ११, १२, १३, १४ दिसम्बर, १९४९ को काफी बहस के पश्चात् राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ गोविन्ददास के प्रयत्न से हिन्दी की देवनागरी लिपि—अन्तर्राष्ट्रीय रोमन अंकों के साथ-राजभाषा स्वीकृत हो गयी, किन्तु १५ वर्षों के लिए अंग्रेजी को ही काम-चलाऊ भाषा बना दिया। इस कलुषित भाषा-नीति का परिणाम जो होना था वही हुआ कि आज भी संवैधानिक स्तर पर हिन्दी वहीं है जहाँ से वह आगे बढ़ने का प्रयास कर रही थी। दूरदर्शी राजर्षि टण्डन जी ने इस आगामी संकट को पहचान लिया था। यही कारण था कि संविधान पारित होने के समय टण्डन जी हिन्दी के लिए दृढ़ संकल्पित थे। भाषायी मुद्दे को लेकर गाँधी जी से मतभेद तो हो ही चुका था आगे चलकर अंक तथा अन्य मुद्दों को लेकर नेहरू जी से भी मतभेद हुआ लेकिन भाषा-लिपि का मूल्य देकर उन्होंने समझौता किसी भी कीमत पर नहीं किया।

जहाँ तक हिन्दी की संवैधानिक स्थिति एवं भाषा नीति के क्रियान्वयन का प्रश्न है वहाँ संविधान का स्वर स्पष्ट है। भारतीय संविधान के ३४३ अनुच्छेद में कहा गया है—

३४३—(१) संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी, संघ के राजकीय प्रयोगों के अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(२) खण्ड (१) में किसी बात के होते हुए भी इस संविधान के प्रारम्भ से १५ वर्ष की कालावधि के लिए संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिनके लिए इसके ठीक पूर्व प्रयोग की जाती थी।

परन्तु राष्ट्रपति उक्त कालावधि में, आदेश द्वारा संघ के राजकीय प्रयोजनों में से किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषा का तथा भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे।

(३) इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी संसद के उक्त १५ साल की कालावधि के पश्चात् विधि द्वारा—

(क) अंग्रेजी भाषा का, अथवा

(ख) अंकों के देवनागरी रूप का

ऐसे प्रयोजनों के लिए प्रयोग उपबन्धित कर सकेगी जैसा कि विधि में उल्लिखित हो।

प्रश्न यह है कि राजभाषा सम्बन्धी संविधान के इस अनुच्छेद की धारा (१) के पश्चात् धारा नं० (२) लगाने की क्या आवश्यकता थी? जो हिन्दी वर्षों से समग्र भारत का सम्पर्क सूत्र रही हैं, जो अनेक कवि, राजसेवियों को प्रिय रही है, उस भाषा को अयोग्य ठहराकर जबरदस्ती हिन्दी का अधिकार अंग्रेजी को दे दिया गया। यह अंग्रेजी पिट्ठुओं की राजनीतिक चाल थी, लार्ड मैकाले के 'सच्चे उत्तराधिकारियों' का षड्यन्त्र था। साथ ही, धारा नं० (२) एक ऐसी मायिक रचना हैं जो हिन्दी आन्दोलन को न विराम

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लेने देती है और न विराम लेती है, जिसने राष्ट्रभाषा की समस्या को अधर में लटका दिया है।

राजकीय भाषा के सन्दर्भ में ३४४ धारा के निर्माण पर भी राजर्षि टण्डन जी ने आक्षेप किया क्योंकि इस धारा में कहा गया है—३४४—(१) राष्ट्रपति इस संविधान के प्रारम्भ में पाँच वर्ष की समाप्ति पर तथा तत्पश्चात ऐसे प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेंगे, जो एक सभापति और अष्टम् अनुसूची में उल्लिखित विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा, जैसा कि राष्ट्रपति नियुक्त करें, तथा-आयोग द्वारा अनुसरण की जानेवाली प्रक्रिया का आदेश परिभाषित करेंगे। इसी अनुच्छेद की धारा नं० (२) एवं (६) को गौर से देखने के बाद स्पष्ट होता है कि राष्ट्रपति को ही प्रकारान्तर से यह अधिकार की पूर्णता प्रदान की गयी है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि अनुच्छेद ३४४ की धारा नं० २ का विरोध भी श्री टण्डन जी ने किया क्योंकि इस राजनीतिक शब्दावली के पीछे निहित वास्तविक मन्तव्य को श्री टण्डन जी समझते थे और जानते थे उसके दूरगामी परिणाम। सेठ गोविन्ददास जैसे निर्भीक स्पष्टवादी नेता तथा टण्डन जी ने अनेक स्तम्भवत् नेताओं का विरोध झेलकर हिन्दी के लिए मार्ग कुछ प्रशस्त कराया।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३४४ खण्ड (१) के अनुसार संविधान लागू होने के पाँच वर्ष बाद राष्ट्रपति को एक राजभाषा आयोग गठित करने का जो अधिकार मिला था उसके तहत श्री बालगंगाधर खेर की अध्यक्षता में ७ जून १९५५ को एक आयोग गठित किया गया जिसमें अनुच्छेद ३४४ की धारा १, २, ३ को ध्यान में रखते हुए आयोग ने एक विस्तृत प्रतिवेदन रखा जो तत्कालीन वातावरण में राजभाषा-सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक ठोस कदम था। किन्तु इस पर अमल कब किया गया। काश! इस भाषा-नीति के मध्य नेताओं की राजनीति सामने न आयी होती तो आज यह भाषायी समस्या सामने न आयी होती। ८ फरवरी १९५९ को संसदीय राजभाषा समिति ने श्री गोविन्दबल्लभ पंत की अध्यक्षता में राष्ट्रपति को जो अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की उसमें राजभाषा आयोग की सिफारिशों को नजरन्दाज कर, बहुसंख्यक जनता की हार्दिकता का अनादर कर, अंग्रेजी का समर्थन किया।

भारतीय संविधान के लागू होने (१९५०) के समय से १९५५ तक भारत सरकार ने राजभाषा क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। भारतीय वातावरण के हिन्दी प्रेमी, हिन्दी भाषा क्षेत्र की जागरूक चेतना सम्पन्न जनता तथा दूरदर्शी हिन्दी राजनेता अवश्य उदास थे। इधर राजभाषा आयोग (१९५५) के प्रति दक्षिण भारतीय राजनेता तो पूर्व से ही ग्रस्त थे अतः बीजवपन का श्रेष्ठ मौका पाकर इन नेताओं ने अहिन्दीभाषी प्रदेशों में अंग्रेजी का बीज फेंक दिया। इस आयोग ने जब १९५६ में राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी सिफारिश पेश की तो कथनी और करनी में अन्तर रखने वाले स्वार्थी नेता बौखला उठे। इन्होंने हिन्दी की कसकर खिलाफत करनी प्रारम्भ की। इस प्रकार के दूषित होते

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हुए राजनैतिक वातावरण ने जनता को तो क्षुब्ध किया ही, हिमालय के सदृश अडिग व्यक्तित्व वाले टण्डन जी को हिला नहीं सका तो तोड़ तो अवश्य दिया। उनके मन में अब नैराश्य भावना ने जन्म ले लिया। अब स्वतन्त्रता पूर्व की भाँति पुनः हिन्दी आन्दोलन चल पड़ा, जो यथा समय अपने घात-प्रतिघातों द्वारा सन् ६३ से ६७ तक देखा गया।

बीसवीं शती के छठे दशक तक आते-आते श्री राममनोहर लोहिया ने इस आन्दोलन की गरिमा को समझ लिया और 'अंग्रेजी हटाओ हिन्दी लाओ' नीति न अपना कर सिर्फ 'अंग्रेजी हटाओ' एक सूत्रित आन्दोलन किया क्योंकि उनका विचार था कि—धीमे-धीमे अंग्रेजी हटाने की नीति अंग्रेजी को सदैव कायम रखनेवाली नीति से भी ज्यादा भयंकर है। अतः इस समय हमारा उद्देश्य अंग्रेजी हटाओ ही होना चाहिए। एक समय आयेगा जब हिन्दी की प्रतिष्ठा स्वयं होकर रहेगी। इधर अनुच्छेद ३४४ के खण्ड (६) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपयोग करते हुए २७ अप्रैल, १९६० में राष्ट्रपति ने राजभाषा के संदर्भ में जो आदेश जारी किये वे सब हिन्दी विरोधी नेताओं के 'देश-प्रेम' के कारण कागज-पंक्ति बनकर रह गये हैं। राष्ट्र के पुनः विखण्डित होने की चेतावनी, आशंका से यह कार्य फिर सम्पादित होते-होते रह गया। अनुच्छेद ३४४ के खण्ड (१) के अन्तर्गत जिस द्वितीय आयोग का गठन होना था, वह भी रह गया। उसका भी पालन न हुआ।

अँग्रेजी प्रयोग की १५ वर्ष की अवधि अनुच्छेद ३४३ खण्ड (२) द्वारा दी गयी थी। उसके तहत पुनः १९६३ में "राजभाषा-अधिनियम' बनाया गया जिसमें अंग्रेजी को सन् '६५ से शासकीय कार्य हेतु समाप्त हो जाना था—किन्तु उसमें यह रूप पारित न होकर — 'हिन्दी के साथ अंग्रेजी भी सभी राज्यों में सभी प्रयोजनों के लिए जारी रहेगी' इस प्रकार पारित हुआ। स्पष्ट रूप से यह अधिनियम अँग्रेजी के सिरमौर बने रहने का कारण है। आगे चलकर 'राजभाषा-संशोधन अधिनियम' १९६७ बनाया गया जो कि प्रकारान्तर से अधिनियम ६३ का ही नवीनीकरण था जिसे '६८ में सेठ गोविन्ददास के विरोध करने पर भी राष्ट्रपति-अनुमोदन द्वारा पारित कर दिया गया।

कुछ संसद सदस्य जब प्रधानमंत्री से मात्र हिन्दी को राजभाषा बनाने के आश्वासन की माँग कर रहे थे, उसी समय दक्षिण की द्रमुक एवं स्वतन्त्र पार्टी ने उनको चेतावनी दी कि—वर्तमान विधेयक में यदि कोई संशोधन हुआ तो भारत की एकता खतरे में पड़ जायगी।

वस्तुतः हिन्दी विरोधी यह विधेयक २७ नवम्बर १९६७ को पेश किया गया और इसी समय विधेयक-विरोधी आन्दोलन चला, जो विश्वविद्यालय परिसरों से लेकर समग्र भारत में फैल गया। इस सम्बन्ध में बहुत से विध्वंसात्मक कार्य भी हुए। भाषा के इस काले विधेयक को नानाविवादों के मध्य नेहरू जी की असत्य दुहाई देकर संसद में राजभाषा के अधिकारों पर प्रहार किया गया।

खैर, यह विधेयक अपनी विरासत में जिस भाषायी विद्वेष को छोड़ गया है, उसे हम बड़ी सफलता से ढो रहे हैं। हिन्दी विद्यापीठ, देवघर के कुलपति डॉ० लक्ष्मीनारायण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

'सुधांशु' ने सरकार की दुर्बलता, उपेक्षा और मद्रास-नीति के कारण होने वाली हिन्दी की दुर्दशा पर सरकार के मौन रहने पर कड़ा वक्तव्य दिया।

इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट हुआ कि भाषायी मुद्दे पर सरकार का रुख सदैव से लोक-विरोधी रहा है तथा संविधान की गुत्थी को बढ़ाने वाला ही सिद्ध हुआ है। इस सन्दर्भ में अब श्रद्धेय टण्डन जी का मूल्यांकन भी अभीष्ट है। जैसा कि सर्वविदित ही है कि १९२६ में 'लोक सेवा मण्डल' के सदस्य बनने पर टण्डन जी हिन्दी के प्रति समर्पित व्यक्तित्व बनते गये और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का निखरा हुआ रूप उन्हीं की देन है। सम्मेलन और हिन्दी के प्रश्न को लेकर टण्डन जी को देश के महान शक्ति-पुञ्जों से भी टक्कर लेनी पड़ी। ऐसे संकट के समय सम्मेलन को मिला टण्डन जी का सहारा और हिन्दी को टण्डन जी जैसा दृढ़ संकल्पी व्यक्तित्व, जिसने हिन्दी को ही राजभाषा घोषित कराने हेतु अपना जीवन अर्पित किया।

भाषा और लिपि के प्रश्न पर कोई अन्य समझौता न तो उन्हें मान्य था और न ही किया; भले ही गाँधी जी जैसे युग-पुरुष से क्यों न उनकी टकराहट हो गयी हो, क्यों न संस्था को त्याग देना पड़ा हो, क्यों न पद को त्यागना पड़ा हो। अपनी भाषा-नीति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने गाँधी जी को पत्र लिखा था—"सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है, उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली...जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है" इस प्रश्न पर उत्पन्न हुए मतभेद के कारण गाँधी जी द्वारा सम्मेलन से त्यागपत्र देने पर जो गम्भीर परिस्थिति आगयी उससे मुक्ति मात्र टण्डन जी के नेतृत्व द्वारा ही सम्भव हो सकी। चूँकि सिद्धान्त की लड़ाई थी अतः समझौता नहीं किया। उनका कहना था कि देवनागरी अक्षर ही हिन्दी के लिए उपयुक्त हैं तथा हिन्दी भाषा के लिए दो लिपियाँ निर्धारित करना भाषा के व्यापक प्रचार पर आघात होगा। टण्डन जी के अडिग व्यक्तित्व के कारण संविधान-परिषद ने हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि को ही मान्यता प्रदान की। सन् ४९ में राष्ट्रभाषा-प्रश्न पर संविधान सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा था—'हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यता की ओर बढ़ते जायँ वैसे-वैसे अतीत से हमको बाँधनेवाली यह लम्बी और दृढ़ शृंखला दुर्बल न होने पाये।' टण्डन जी ने हिन्दीसेवी संस्थाओं में प्राण फूँक हिन्दी भाषा और साहित्य की असीम सेवा की। सन् १९४९ में भारतीय संविधान के स्वीकृत होने के अवसर पर जिन संघर्षों को उन्होंने अनवरत झेला है, वह मात्र गिनाया ही जा सकता है—भाषा-लिपि के प्रश्न ने उनको पूर्ण उद्विग्न कर दिया था। उन्होंने स्वयं कहा—'जीवन भर में मैं दो बार उद्विग्न हुआ हूँ—एक तो देश विभाजन की उन संकटपूर्ण घड़ी में—दूसरी बार आज भाषा सम्बन्धी इस खींचतान के दुर्भाग्यपूर्ण विवाद में।' उन्होंने कहा, 'रोमन अंकों को हिन्दी के साथ हमेशा के लिए बैठा देना मैं कभी भी सहन न कर सकूँगा।' संसद में संविधान पारित होने के अवसर पर मुंशी-आयंगर फार्मूले के प्रस्ताव अंग्रेजी के प्रयोगवाली उपधारा के शब्द-परिवर्तन प्रस्ताव, अदालती भाषा के प्रश्न पर टण्डन जी सदैव संसद में भिड़े हैं। अंग्रेजी की १५ वर्ष की अवधि बढ़ा देने की नीति पर संविधान में वक्तव्य देते

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हुए टण्डन जी ने कहा, 'शब्दों की कठिनाइयों को बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है। युक्त प्रान्त में बिलों और कानूनों की भाषा हिन्दी कर दी गयी है तथा ग्वालियर और इन्दौर रियासतों के हाईकोर्टों में हिन्दी में काम होता है...क्या संविधान-सभा वहाँ सर्वत्र हिन्दी का प्रयोग रोकना चाहेगी...जो हाईकोर्ट अंग्रेजी में काम करते हैं वे भी पन्द्रह वर्ष की अवधि से बहुत पहले हिन्दी अपना सकते हैं।'

संविधान सभा में अंग्रेजी के अंकों के विरोध हेतु टण्डन जी श्री शंकरराव देव, श्री खांडेकर से भी हिम्मत न हारे। आयंगर फार्मूले के गिर जाने पर टण्डन जी ने कांग्रेस दल से भी त्यागपत्र दे दिया क्योंकि उनके सम्मुख राष्ट्रहित था और सिद्धान्त था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कराने में बहुत कुछ श्रेय टण्डन जी को है।

सच पूछा जाय तो उनकी कल्पना में हिन्दी का जो उज्ज्वल, प्राञ्जल भविष्य रूप था, उसके लिए देखे गये जो रंगीले सपने थे, वे अधूरे रह गये। हिन्दी की संवैधानिक उपेक्षा की चोट मरते दम तक उनके कलेजे पर ठुकी कील की भाँति सालती रही। वह जीवनमुक्त महापुरुष हिन्दी की चिन्ता में सतत लीन रह संसार से, धरा से मुक्त हो गया। उनके अन्तिम समय की व्यग्र वेदना को किन शब्दों में छला जा सकता है? उन्हें विश्वास न था कि जिस राष्ट्र की सेवा में उन्होंने सर्वस्व अर्पित कर दिया, वही राष्ट्र उनको भावनात्मक ठेस देगा—जहाँ एक ओर वे कर्मठ और कर्मयोगी थे वहीं भावना से बड़े सुकुमार—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' में अद्भुत समन्वित व्यक्तित्व।

ऐसे व्यक्तित्व की जन्मशताब्दी समारोह की सफलता उनके अधूरे छोड़े गए किन्तु हृदय से पूर्व-स्वीकृत कल्पनाओं को मूर्त रूप देने से ही आँकी जा सकेगी। इस प्रदेय के रूप में ही इस महान व्यक्तित्व की जीवन्तता आज भी शाश्वत बनी हुई है।

—२२।३, पीलखाना,
कानपुर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

शत-शत प्रणाम

डॉ० रामअवध शास्त्री

⊙ ⊙

आज जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जन्म-शताब्दी वर्ष में उनके विचारों एवं कार्यों का मूल्यांकन करने बैठा हूँ तो मेरे मानस-पटल पर पुराकालिक 'राजर्षि' राजा जनक का वह उत्तर अंकित हो जाता है जिसमें उन्होंने ऋषियों के एक प्रतिनिधि मंडल को बताया था कि जिस प्रकार सिर पर लटक रही नंगी तलवारों से भयभीत होने के कारण आपको भोजन का स्वाद नहीं मिल पाया, उसी तरह ईश्वरानुक्ति के कारण मुझे राजसुख का स्वाद नहीं मिल पाता। कहते हैं, इस उत्तर से ऋषियों को अपने कृत्य उन्होंने राजा जनक को 'राजर्षि' कहे जाने से उत्पन्न द्वेष पर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने विनतभाव से उनके चरण-स्पर्श कर लिए। तब मुझे पुरुषोत्तमदास टण्डन जिन्हें हम श्रद्धावश 'राजर्षि' संबोधन से संबोधित करते हैं, राजा जनक के प्रतिरूप लगते हैं; फिर उनकी महानता, कर्त्तव्यनिष्ठा, त्याग और तपस्या के सामने मेरा सिर नत हो जाता है।

टण्डन जी का प्रातिभ व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने जीवन के जिस क्षेत्र में प्रवेश किया और जिस कार्य को हाथ में लिया, उसमें उन्हें भरपूर सफलता मिली। लेकिन इस सफलता के कारण न तो उनके मन में कोई विकार आया और न उसके बल पर उन्होंने आजकल के तथाकथित राजनेताओं की तरह कोई लाभ कमाने का उपक्रम किया। अपनी उपलब्धियों के बीच वे आजीवन कमलपत्र बने रहे। उनके व्यक्तित्व में इस विलक्षणता का आगमन उनकी अगाध आस्था और विश्वास के कारण हुआ जिसमें वे भारतीय नैतिक मूल्यों से अनुप्राणित थे। भारतीयता की भावना और घोर नैतिकता के कारण ही वे आजीवन अपने पद और उपलब्धियों का स्वाद उसी प्रकार नहीं ले पाये, जिस प्रकार पुराकालिक 'राजर्षि' राजसुख का स्वाद नहीं ले पाये थे। अपने नैतिक मूल्यों के प्रति वे इतने समर्पित थे कि उसकी रक्षा के लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े पद और बड़े-से-बड़े व्यक्ति को ठुकराने में कभी संकोच नहीं किया।

उनके व्यक्तित्व में नैतिकता का यह आग्रह महात्मा गाँधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय, बालकृष्ण भट्ट जैसे मनीषियों के सान्निध्य से आया। इनमें भी सबसे अधिक प्रभाव महात्मा गाँधी का पड़ा; फिर भी वे कभी महात्मा गाँधी के अन्धभक्त नहीं रहे। उनकी उन बातों और कार्यों का , जिसे उन्होंने अनुचित समझा, उन्होंने विरोध किया। वे मानते थे कि अपनी भावनाओं को न व्यक्त करना भी एक प्रकार की हिंसा है। जो व्यक्ति अपनी भावनाओं और

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विचारों के प्रति न्याय नहीं कर सकता, वह दूसरों की भावनाओं और आकांक्षाओं का सम्मान कैसे कर सकता है? इस अवधारणा के कारण उन्होंने कभी अपने उभरते विचारों को नहीं दबाया। जब कभी अवसर आया उसे निःसंकोच व्यक्त किया, परन्तु नम्रता के साथ। १९३४ के पटना अधिवेशन में महात्मा गाँधी के केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में भाग लेने का प्रस्ताव उन्हें अच्छा नहीं लगा तो उन्होंने उसका विरोध किया। मालवीय जी उसकी संसदीय समिति में थे। वह चाहते थे कि टण्डन जी भी उसके सदस्य रहें, पर टण्डन जी ने सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार, हिन्दी के स्वरूप को लेकर उनका महात्मा गाँधी से कई बार मतभेद हुआ, लेकिन उसके कारण उनके आपसी संबंधों में किसी प्रकार का कोई दुराव नहीं आया, आत्मीयता पूर्ववत् बनी रही।

टण्डन जी ने सदैव अपने विचारों और नैतिकता को सर्वोपरि रखा। उसके लिए कभी कोई समझौता नहीं किया। एक योद्धा की तरह उसके लिए लड़ते रहे। जब उन्होंने देखा कि उनकी हिन्दी नीति के कारण जवाहरलाल नेहरू से, जो उन दिनों भारत के प्रधानमंत्री थे, उनका मतभेद इतना अधिक हो गया है कि उसके कारण जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस कार्य-कारिणी में शामिल होने से कतराने लगे हैं तो उन्होंने स्वयं अपने कांग्रेसाध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। उनकी दृष्टि में विचारों से पद कभी बड़ा नहीं था विचार और पद में से जब कभी चुनाव का प्रश्न आया तो उन्होंने सदा विचार को प्रथम स्थान दिया। उनकी विचार-निष्ठा ही उन्हें उनके समकालीन राजनेताओं से पृथक् करती थी।

वैसे तो टण्डन जी ने विविध क्षेत्रों में काम किया लेकिन जिन कार्यों और विचारों के कारण हम उन्हें 'राजर्षि' संबोधन से संबोधित करते हैं अथवा जिसके कारण मैंने उन्हें जनक का प्रतिरूप कहा है, उसका आधार उनके सामाजिक कार्य और उनका सार्वजनिक जीवन है। उनका सार्वजनिक जीवन निष्कलुष और निःस्वार्थ रहा। अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने कठोरतापूर्वक नैतिक मूल्यों का पालन किया और उनके द्वारा सार्वजनिक जीवन का मापदण्ड स्थापित किया। उनके जीवन की सादगी और विशेषताओं से विश्वास नहीं होता था कि ऐसा विलक्षण व्यक्ति कभी हमारे बीच रहा होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष होने के बाद भी न तो उनके मन में कभी अधिकार का दर्प आया और न उनकी जीवनचर्या ही प्रभावित हुई। वही कपड़े का जूता, वही हाथ से धुले कुर्ता-धोती और वही वस्त्रों के उपयोग की पुरानी धारणा—फटी धोती से अंगोछा, फिर रूमाल और फिर उसे तकिया में भरकर उससे रुई-सा काम लेने की भावना। उनकी सच्चरित्रता और सद्नागरिकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जब स्वतंत्र भारत के प्रथम दशक में खाद्यान्न की जटिल समस्या मुँह बाये खड़ी थी तो उन दिनों टण्डन जी का परिवार पूरे महीने तक उतने ही अन्न से गुजारा करता था जितना उन्हें आम आदमियों की तरह राशन कार्ड द्वारा प्राप्त होता था। इस अन्न के समाप्त होने के बाद उनके परिवार में बाजार से अन्न का एक दाना भी नहीं खरीदा जाता था। पूरे परिवार का निर्वाह आलू और फल से होता। इस बीच यदि परिवार में कोई अतिथि भी आ जाता तो उसका स्वागत-सत्कार भी आलू और फल से होता था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी का पूरा जीवन हिन्दी के लिए समर्पित रहा, फिर भी उन्होंने कभी ऐसा दावा नहीं किया कि हिन्दी हमारी है। उन्होंने सदा अपने आप को हिन्दी का माना और उसी भाव से उसकी सेवा में तल्लीन रहे। जब कभी, जहाँ कहीं भी हिन्दी का प्रश्न आया वे सदा आगे रहे। भारतीय साहित्य के ग्यारहवें अधिवेशन, कलकत्ता में जब बंगला के प्रसिद्ध विद्वान् श्री देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने बंगला-साहित्य के गुणगान के सन्दर्भ में हिन्दी पर कटाक्ष किया तो उस समय टण्डन जी तिलमिला उठे थे। उसके उत्तर में उन्होंने जो व्याख्यान दिये, उससे बंगला साहित्य के विद्वान् प्रभावित हुए बिना न रह सके। स्वयं सर्वाधिकारी को भी अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। टण्डन जी ने अपने लम्बे व्याख्यान में प्रतिपादित किया था कि जिस प्रकार असंख्य काँच के चमचमाते टुकड़े हीरे के एक छोटे से टुकड़े का सामना नहीं कर सकते, उसी प्रकार ग्रंथों की अधिकता से कोई भी साहित्य वैभवशाली नहीं हो सकता। हिन्दी का प्राचीन साहित्य इतना संवृद्ध है कि उसकी समता में किसी भाषा के साहित्य को खड़ा नहीं किया जा सकता। अपने व्याख्यान में उन्होंने इस सच्चाई को भी स्वीकार किया कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य बंगला-साहित्य से प्रभावित है, पर केवल प्रभाव के कारण बंगला साहित्य को हिन्दी साहित्य से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। और इसे मान भी लिया जाय तो प्रभाव के कारण जो बात हिन्दी साहित्य के लिए कही जा रही है, वही बात बंगला-साहित्य के लिए भी कही जा सकती है क्योंकि उसके प्राचीन साहित्य पर हिन्दी के विद्यापति, कबीर, मीरा और अनेक संत कवियों का प्रभाव है।

हिन्दी के प्रबल समर्थक होने के बाद भी टण्डन जी अन्य भारतीय भाषाओं के न तो विरोधी थे और न वे उनका किसी स्तर पर अहित चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि सभी भारतीय भाषाएँ विकसित हों, उनमें आदान-प्रदान हो और वे परस्पर सहेली की भावना से रहें। यह तभी सम्भव है जब हिन्दी को उसका निश्चित स्थान मिल जाय। आज भारतीय भाषाओं में जो टकराहट की स्थिति है, उसके लिए टण्डन जी अंग्रेजी को जिम्मेदार मानते रहे। अंग्रेजी के कारण जहाँ हिन्दी के विकास की संभावनाएँ अवरुद्ध हुई हैं, वहाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास में ठहराव आ गया है। यह ठहराव तब तक कायम रहेगा जब तक भारत में अंग्रेजी की प्रतिष्ठा बनी रहेगी। ठहराव तोड़ने के लिए आवश्यक है कि अंग्रेजी को पद और प्रतिष्ठा की भाषा से हटा दिया जाय और हिन्दी को उससे जोड़ दिया जाय। जब हिन्दी भारतमाता की वाणी बन जायेगी तो उसके साथ सभी भारतीय भाषाओं के विकास का नया युग प्रारम्भ हो जायेगा और उनके संबंधों में प्रगाढ़ता आ जायगी। भारतीय राजनीति का दुर्भाग्य रहा कि उसके सपूतों ने (डॉक्टर राममनोहर लोहिया को छोड़कर) टण्डन जी की भाषानीति को आगे बढ़ाने में पुरुषार्थ नहीं दिखाया। परिणामतः हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने के बाद भी अभी तक राष्ट्रवाणी नहीं बन पायी। टण्डन जी को हिन्दी की इस दशा का अनुमान बहुत पहले हो गया था। जब वे रोग-शय्या पर जीवन-मृत्यु से संघर्ष कर रहे थे उस समय भी उनका मन हिन्दी को लेकर चिंतित रहा। वे हर मिलनेवालों से लिखकर हिन्दी की सेवा के लिए आग्रह करते रहे। डॉक्टरों ने उन्हें बोलने से मना कर दिया था। उन्होंने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

डॉ० रामकुमार वर्मा से लिखकर कहा, "संसद् में तो हिन्दी स्वीकृत हो गयी लेकिन एक वोट से रोमन अंक जीत गया। देवनागरी लिपि पर यह एक विदेशी छाया है, इसे कौन दूर करेगा ?" यह प्रश्न आज भी हिन्दी-प्रेमियों के सामने चुनौती के रूप में खड़ा है।

सार्वजनिक जीवन की तरह टण्डन जी ने अपने व्यावसायिक जीवन में भी जीवन का मापदण्ड स्थापित किया। जीविका के लिए अपनाये गये व्यवसाय को उन्होंने कभी व्यवसाय नहीं समझा; सेवाभाव से उसका संपादन किया। जीविका के लिए चुना गया कार्य चाहे वकालत का रहा हो या पत्रकारिता का अथवा पंजाब नेशनल बैंक का सचिव पद, उन्होंने सर्वत्र कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय दिया। वकील के रूप में उन्होंने उन्हीं मुकदमों को स्वीकार किया जिसका संबंध सच्चाई से रहा। झूठे मुकदमों को उन्होंने न केवल अस्वीकार किया अपितु उनसे संबंधित व्यक्तियों को ऐसे मुकदमों से विरत रहने के लिए प्रोत्साहित किया। इस दृष्टिकोण के कारण उन्हें आजीवन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने कभी अपने दृष्टिकोण से भिन्न परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं किया। ध्रुव की तरह अपने विश्वासों पर अटल रहे।

टण्डन जी को अपने सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ मिला, वह उनके निजी परिश्रम का फल रहा, उसमें किसी का, कहीं से कोई दाय नहीं है। साधन के रूप में उनके पास मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं को झेलने के कारण उत्पन्न जुझारू-प्रवृत्ति और पिता सालिकराम टण्डन से प्राप्त आध्यात्मिक भावना रही। इन्हीं दोनों के बल पर उन्होंने राम की तरह जीवन-समुद्र का तरण किया और अपनी उपलब्धियों द्वारा सिद्ध कर दिया कि साधनों के अभाव में भी आत्मबल द्वारा निश्चित लक्ष्य तक पहुचाँ जा सकता है।

टण्डन जी सही माने में आधुनिक युग के ऋषि थे। उनमें एक ही साथ राजनेता की तेजस्विता, ऋषि की कोमलता और बुद्धिजीवी की चेतना का सुन्दर समन्वय था। इनके कारण निर्मित उनके विचार और उसके द्वारा संपादित कार्य न केवल उनकी राजनीतिक निर्भीकता और कर्मठता का परिचय देते हैं बल्कि उनकी उन आस्थाओं को वाणी देते हैं जिसमें वे बौद्धिकता को भारतीय संस्कृति का प्राण मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों की रक्षा हम बौद्धिकता द्वारा ही कर सकते हैं क्योंकि उसमें अन्य संस्कृतियों के विचारों और विश्वासों को पचाने की अद्भुत क्षमता है। अपनी इस विशेषता के कारण वह अनेक आघातों के बाद भी जीवित रह सकी है । आज जब हमारे सांस्कृतिक मूल्यों पर विभिन्न दिशाओं से आघात हो रहे हैं, हमारे नैतिक मूल्य ह्रासमान हैं, पद-लिप्सा के लिए चरित्र को गिरवी रख दिया गया है और हमारी राजनीति स्वार्थपरता की भावना में आकण्ठ निमग्न है; ऐसे समय में टण्डन जी के विचार, उनकी जीवनचर्या, उनकी सादगी और उनके कार्य हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकता उन्हें ग्रहण करने की है, उनके पदचिह्नों पर चलने की है। अपने विश्वासों को लेकर वे जिस जीवन को जिये, वह बड़ा ही कष्टसाध्य रहा, पर वह आज की पीढ़ी के लिए निश्चय ही प्रेरणाप्रद हो सकता है। ●

—स्नातकोत्तर प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जगदीश शरण हिंदू कालेज, अमरोहा

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सारस्वत अध्येता को शत-शत नमन

डॉ० विद्याविन्दु सिंह

⊙ ⊙

सरस्वती के स्पृहणीय उपासकों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का नाम अग्रगण्य है, यह सर्वविदित है। वे एक ईमानदार साहित्यसेवी थे जिनका जीवन सारस्वत कर्मठता, बहुदिशीय अध्येता का जीवन था। उनमें मानवता और विद्वत्ता का मणिकाञ्चन योग था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'श्रद्धा-भक्ति' नामक लेख में एक स्थल पर लिखा है कि "सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते।"

इसी प्रकार हिन्दीमाला एवं साहित्य का अध्येता यदि हिन्दी के प्रति समर्पित व्यक्तित्व वाले सच्चे अनुसंधाता, आदर्श विभूतियों के प्रति अपने हृदय में श्रद्धाभक्ति न रखे तो वह उन तपःपूत मनीषियों को जाने-समझे बिना अन्धकार में हाथ-पाँव मारता है। इन साधकों की वाणी, इनकी जीवन शैली एवं साधना हर अध्येता का मार्ग प्रशस्त करती है।

राजर्षि टण्डन हिन्दी को प्रसिद्धि की ऊँचाइयाँ देने के लिए कृतसंकल्प थे। साहित्यकार देश की पूँजी हैं; उनका उचित सम्मान अपेक्षित है। पर उच्चकोटि के विद्वानों से लेकर आम आदमी के मन में जो व्यक्तित्व श्रद्धाभाव जगा सके, वही महान् व्यक्तित्व, महामानव कहलाता है। भाषा और साहित्य सांस्कृतिक परिष्कार का सर्वोत्तम साधन है।

सामान्य एवं गम्भीरतम विषयों को सामान्य ढंग से लोगों को समझा देना, उनका विशिष्ट गुण था। एक ओर उनमें निर्भीकता और असत्य के प्रति उग्रता थी, दूसरी ओर अपार सहिष्णुता और सहज सहानुभूति थी। प्रतिभावों की तथा सम्पर्क में आये हुए लोगों की कद्र करना उनका स्वभाव था। परपीड़ा से शीघ्र दुखी ही नहीं हो जाते थे वरन् उसके निवारण का भी प्रयत्न करते थे। कितने ही साहित्यकारों को उनकी प्रेरणा और स्नेह ने जीवन दान दिया। छोटों को स्नेह और बड़ों को आदर देना, उनका प्रधान गुण था। 'राजर्षि' की उपाधि उन्हीं के अनुकूल थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा से लोगों के हृदय में जो स्थान अर्जित-किया वह स्तुत्य है। वे प्रारम्भ से अन्त तक हिन्दी मंच के लिए समर्पित रहे। उनकी साधना सामाजिक, व्यक्तिगत तथा पारिवारिक अवरोधों को पार कर निरन्तर अडिग रही। अपने आस-पास फैले हुए विरोधाभासों को उन्होंने गहराई से पहचाना था और हिन्दी को जीवन की वास्तविकता से जोड़ने का प्रयास किया था। उनके प्रयासों ने हिन्दी को गहराई

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

दी; उसमें अवगाहन करने के लिए घाट दिया। राजर्षि टण्डन ने हिन्दी की जो अलख जगायी, वह साधारण मनुष्य के बस की बात नहीं थी। भारत की पवित्र भूमि पर अनवरत साहित्य-साधना से हिन्दी को उर्वर बनाने का जो संकल्प इन्होंने लिया, उसकी सुगन्धि देश के कोने-कोने में फैल गयी। उन्होंने हिन्दी को लेकर बहुत ऊँचे सपने देखे थे।

प्रशंसा स्वयं उनका अनुसरण करती थी। सरस्वती स्वयं अपने इस हिन्दीसेवी पुत्र को पाकर आह्लादित हुई थी। हिन्दीप्रेमियों की जिह्वा पर उनका नाम सदैव अमर रहेगा।

अभिनन्दन तो मात्र औपचारिकता है राजर्षि की कर्मठता वास्तव में ऐसी थी कि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और पंजाब से लेकर असम तक के निवासियों के हृदय हिन्दी के प्रति समर्पित इस साधक का अभिनन्दन करते हैं। यह अधिकार उन्हें मातृभाषा की निःस्वार्थ सेवा से प्राप्त हुआ। कुछ प्रख्यात हिन्दी सेवियों को उनके मरणोपरान्त ख्याति मिली पर राजर्षि टण्डन अपने जीवन-काल में ही सबके आदर के पात्र बन गये थे।

वे हिन्दी को पल्लवित, पुष्पित देखना चाहते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो वे प्राण थे। हिन्दी आज की अपनी जिस विकास-स्थिति को पहुँची है उसका बहुत कुछ राजर्षि टण्डन जैसे हिन्दी को समर्पित मनीषियों के सतत प्रयत्नों का ही प्रतिफलन है। आज जब हम छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए, छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए हिन्दी के हितों का ध्यान नहीं रख पा रहे हैं तब बार-बार याद आती है उन तपःपूत मनस्वियों की, जिनकी निर्भीकता ने कभी व्यक्तिगत स्वार्थ और पद की परवाह नहीं की। वे भीतर-बाहर से एक थे। उन्होंने दोहरी जिन्दगी नहीं जी थी। उनमें जिजीविषा-शक्ति थी और उन्होंने हिन्दी में जिजीविषा भरने की सतत चेष्टा की थी। उनके छात्र, अध्यापक, साहित्यकार, समाजसेवी, प्रशासक एवं गृहस्थ रूप में सर्वत्र एकसमरूपता थी जो मानवता की परिधि को निरन्तर स्पर्श करती रहती थी। वे कुशल और कर्मठ प्रबन्धक भी थे। आज हिन्दी के प्रति वह निष्ठा, वह लगन और वह समर्पण भाव निरन्तर चुकता जा रहा है पर उनकी स्मृति आज भी प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी हुई है।

असत्य को वे सहन नहीं कर सकते थे, उनकी उग्रता असत्य के विरोध में होती थी। शान्त तभी होते थे जब उस असत्य का परिमार्जन हो जाता था। उनके नेतृत्व में कितने सुधार के कार्य हुए, कह पाना कठिन है, आज जब दिन प्रतिदिन असत्य का ही बोलबाला होता जा रहा है, उस सत्यनिष्ठ महामानव का स्मरण ही हमें सत्य-पथ पर संघर्षरत रहने की प्रेरणा देगा। वे यदि किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त थे तो सत्य का, कोई हठ था तो शुद्ध ज्ञान की साधना करने का हठ था, कोई लोभ था तो हिन्दी भाषा के विकास का लोभ था। काश! वह पूर्वाग्रह, वह हठ, वह लोभ आज की पीढ़ी के हर व्यक्ति को विरासत में मिला होता।

यह सौभाग्य मुझे नहीं मिला था कि उनके दर्शन कर पाती, उनकी छत्रछाया में बैठक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

कुछ सीख पाती, पर उस महान् विभूति के सम्बन्ध में जितना कुछ पढ़ा, जितना कुछ सुना, उससे निरन्तर हृदय में श्रद्धाभाव पुष्ट होता गया और उनकी जन्मशती के अवसर पर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करने का लोभ संवरण न कर सकी। मैं जिस संस्था में कार्यरत हूँ उसका भवन 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन' नाम से अभिहित किया गया है। नित्य कार्यालय की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए इस महामानव के चित्र का दर्शन-नमन करके कार्य प्रारम्भ करती हूँ, इस आशीष की कामना से कि अपने दायित्व का निर्वाह सत्य और ईमानदारी के साथ कर सकूँ और हिन्दी की जो ज्योति वे जला गए हैं, उसमें एक बूंद तेल बनकर ही उस ज्योति को थोड़ी देर और ज्योतित कर सकूँ। मैं भी उनके वाणी-यज्ञ में एक आहुति भर बन सकूँ, इन्हीं शब्दों के साथ उस युग-पुरुष को मेरा शत-शत नमन है।

—प्रधान सम्पादिका
उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : व्यक्तित्व का पुनर्मूल्यांकन

डॉ० जयकुमार जलज

⊙ ⊙

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की संस्था 'हिन्दी परिषद्' के किसी उद्घाटन-समारोह में गुरुवर डॉ० रामकुमार वर्मा और आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र के साथ मैंने पहली बार टण्डन जी को देखा और सुना था। वे मेज पर बैठकर बोल रहे थे। उनका बायाँ पैर पीछे की ओर मुड़ा हुआ था, दाहिने पैर का निचला भाग मुड़े हुए बायें पैर के ऊपर रखा था और उसके निचले हिस्से को उन्होंने अपने बायें हाथ से पकड़ रखा था। भाषण के समय उनका दाहिना हाथ दूर तक उठकर फैल जाता था और आवेश की अधिकता में बायाँ हाथ भी मुक्त हो जाता था। चेहरे का तेज और वाणी का ओज जैसा उस समय टण्डन जी में दिखायी दिया वैसा अभी तक किसी में देखने को नहीं मिला। यह तेज और ओज चेहरे और भाषा का नहीं था बल्कि अन्तर्गत सच्चाई का था जिसका प्रकाश अन्तर में समा नहीं पाया था और चेहरे तथा वाणी में फूट पड़ा था।

प्रयाग विश्वविद्यालय की क्रिकेट टीम की कप्तानी, सन् १९०१ में म्योर सेण्ट्रल कालेज, प्रयाग के प्रांगण में प्रान्तीय व्यायाम प्रतियोगिता के अवसर पर एक सिपाही द्वारा भारतीय छात्र के अपमान को लेकर प्रतियोगिता के मुख्य प्रबन्धक अंग्रेज प्रोफेसर मिस्टर हंल के विरुद्ध हड़ताल का नेतृत्व और विजय, सन् १९१० से लेकर १९२० तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रधानमंत्रित्व, १९१४ में नाभा स्टेट के कानूनी सचिव तथा विदेश मंत्री के रूप में कार्य, फिर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए राजा की ओर से अवकाश न दिये जाने पर त्यागपत्र और बार-बार के आग्रहों के बावजूद उस पद पर फिर न पहुँचना, पंजाब नेशनल बैंक की जनरल मैनेजरी छोड़कर सन् १९२९ में लोकसेवक-मण्डल का अध्यक्ष पद स्वीकार कर लेना, सन् १९३७ और १९४६ में युक्तप्रान्तीय विधानसभा की अध्यक्षता सँभालना और यह घोषणा कर देना कि यदि एक भी सदस्य को उनमें अविश्वास हुआ तो वे त्यागपत्र दे देंगे, सन् १९५० में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद पर चुना जाना, सन् ५१ में उसी से त्यागपत्र दे देना और नये अध्यक्ष की कार्य-कारिणी में सम्मिलित होने का आमंत्रण स्वीकार कर लेना—ये सारी बातें टण्डन जी के जीवन की सच्चाई की ओर संकेत करती हैं। जेलों की यात्रा, प्रयाग नगरपालिका की

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चेयरमैनी के समय अंग्रेज फौजी प्रशासक से जलकल का बकाया रुपया वसूल करना, कम-से-कम साधनों में जीवन का निर्वाह, धोती के फटने पर तौलिया और तौलिया के फटने पर उसका रूमाल बना लेने की कठोर मितव्ययिता का पालन, कांग्रेस अध्यक्ष चुने जाने पर हिन्दी में भाषण, प्रान्तीय विधानसभा का कार्य भी हिन्दी में चलाना, ये सारी बातें इस बात के लिए प्रमाण उपस्थित करती हैं कि उनके आचरण के पीछे कुछ-न-कुछ सिद्धान्त थे।

टण्डन जी का व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण महानता में भारतीय राजनीति, समाजनीति और हिन्दीनीति के क्षेत्र में सदैव संघर्षरत रहा। इसका कारण क्या है? अनेक व्यक्तियों ने इसका कारण उनके समझौता न करने वाले व्यक्तित्व को बताया है। इन व्यक्तियों में स्व० लालबहादुर शास्त्री भी हैं जिन्होंने बहुत दबी जबान से इसको कहा है—'वह दूसरों के साथ मिलकर काम करने में बहुत सफल नहीं थे। वैसे तो सभी क्षेत्रों में, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में विशेषकर कुछ न कुछ सामंजस्य आवश्यक होता है। क्योंकि सबके विचार एक से नहीं होते और काम का ढंग भी प्रायः भिन्न होता है। हो सकता है कि इसके कारण टण्डन जी के मार्ग में कठिनाइयाँ और बाधाएँ पड़ीं, (राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १०६) इसका अर्थ यह हुआ कि राजनीतिक व्यक्ति स्वभावतः समझौतावादी होता है और निष्कर्षतः इससे बड़ा राजनीतिज्ञ वह होगा जो सबसे बड़ा समझौतावादी होगा। यदि सफल राजनीतिज्ञ की यही कसौटी है तो हम गाँधी जी की राजनीतिक सफलता को किस कसौटी पर कसेंगे? उन्हें अपने सिद्धान्त अपनी सफलता से अधिक प्रिय थे। इसी बात को साधन की पवित्रता के नाम से विख्यात किया गया है। वास्तव में श्री लालबहादुर शास्त्री के द्वारा किया गया कथन व्यक्ति को तात्कालिक सफलता की दिशा में भले ही ले जाय स्थायी सफलता की दिशा में नहीं ले जा सकता। टण्डन जी अपने सिद्धान्तों के लिए महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू से भी संघर्ष करने में नहीं चूके। इस सम्बन्ध में भारतीय राजनीति में जो व्यक्तित्व गाँधी जी का था ठीक वही व्यक्तित्व पुरुषोत्तमदास टण्डन का दिखायी देता है।

गाँधी जी और टण्डन जी में बहुत विषयों पर विचार-साम्य था। रामराज्य की कल्पना जिसकी चर्चा टण्डन जी ने बार-बार अपने लोकसभायी भाषणों में समाजवादी राज्य के स्थान पर की है, गाँधी जी के ही दिमाग की उपज है। गोवध का विरोध टण्डन जी को जितना प्रिय था गाँधी जी को उससे कुछ कम प्रिय नहीं था। खादी के वस्त्रों का प्रयोग, आवश्यकताओं की अल्पता, ईश्वर पर विश्वास, मद्यनिषेध, शाकाहारी आदि सभी बातें उनमें और गाँधी जी में समान दिखायी देती हैं। विरोध केवल एक स्थान पर है—अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में गाँधी जी 'हिन्दुस्तानी' के पक्षपाती हो गये थे, जबकि टण्डन जी सदैव हिन्दी के पक्षपाती बने रहे। लेकिन क्या यह मूलभूत विरोध दोनों में था? सच पूछा जाय तो यह केवल नामों का विरोध था। गाँधी जी जिसे 'हिन्दु-स्तानी' कहते थे, टण्डन जी की शब्दावली में वही 'हिन्दी' थी। विभिन्न अवसरों पर दिये गये टण्डन जी के भाषणों का कोई भी अंश उठाकर देखें उसमें हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लगभग उतनी ही मात्रा में मिल जायेंगे जितने जवाहरलाल नेहरू या गाँधी जी के भाषणों में मिलते हैं—

"आप अन्दाज लगा सकते हैं कि यह भाई अपना सब कुछ लुटा कर यहाँ पर आये हैं और उनको बड़ी मुश्किल से यहाँ रहने को घर मिले हैं और हमारा पुनर्वास मंत्रालय उन दुखी और मुसीबतजदा भाइयों से यह माँग करता है कि या तो उन घरों का मूल्य हमें दे दो और या उनका किराया दो।"—१६ मार्च १९५६ को लोकसभा में दिया गया भाषण।

"उन्होंने यह वायदा तो नहीं किया था कि वह गवर्नमेंट से रुपया देंगे या दिला सकेंगे, परन्तु उनके कुछ शब्द बहुत साहस के थे। उन्होंने कहा था कि मुझको अपने में भरोसा है। यह शब्द उनके थे। साथ ही उन्होंने हमदर्दी भी दिखायी थी।"—१३ सितम्बर, १९५५ को लोकसभा में दिया गया भाषण।

एक बार आचार्य कृपलानी ने टण्डन जी से पूछा—"आप मेरी भाषा को क्या कहेंगे?" टण्डन जी ने उत्तर दिया—"वह तो हिन्दी है।" जिसने भी आचार्य कृपलानी को सुना है वह टण्डन जी के दृष्टिकोण की उदारता को समझ सकता है। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऐसी एक भी बात नहीं है जिसमें गाँधी जी और टण्डन जी के सिद्धान्त भिन्न दिखायी देते हों। अहिंसा और सत्य के मूल सिद्धान्त भी जितनी कठोरता से गाँधी जी पालन करते थे उससे कोई कम या ज्यादा कठोरता इस मामले में टण्डन जी में नहीं थी।

उनका व्यक्तिगत त्याग, तपस्या, प्रतिभा, योग्यता, ईमानदारी, निश्छलता, देश के प्रति समर्पित जीवन और हिन्दी-सेवा आदि ऐसे गुण हैं जो दो-चार राजनीतिज्ञों में ही हमें देखने को मिल सकते हैं। यहीं पर समस्त राजनीतिज्ञ उनसे पराजित होते हैं।

—सहयोग भवन, पावर हाउस रोड,
रतलाम (म० प्र०)—४५७००१

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन जी के सम्पर्क के कुछ संस्मरणात्मक क्षण

श्री कैलाश कल्पित

⊙

टण्डन जी के सम्पर्क में आने का सुयोग मुझे १९५० ई० में मिला, जब मैं 'कल्पना' पत्रिका का सम्पादन कर रहा था। स्वतन्त्रता दिवस से सम्बद्ध अगस्त, १९५० का अंक लेकर उनकी सेवा में पहुँचा था। उस अंक में उनका तथा जवाहरलाल नेहरू जी का फोटो प्रकाशित हुआ था, अतः उनके हाथ में अंक को सम्प्रेषित करते हुए मैंने वह पृष्ठ खोल कर रख दिया जिसमें उनका चित्र छपा था। वे मेरे मुख की ओर देखने लगे थे और उन्होंने धीरे से पूछा था—आप मुझे पहचानते हैं? मेरा उत्तर था—क्यों नहीं, आपको कौन नहीं जानता? वे बोले—लोग जानते होंगे किन्तु आप नहीं जानते। मैं उनका मुँह ताकने लगा था और उन्होंने कहा था—आप पत्रिका लाये हैं, मैं स्वयं उसे देखूँगा, आप मुझे शीशा क्यों दिखा रहे हैं? मैं समझ गया कि उन्हें उनका फोटो दिखाना पसंद नहीं आया। मैंने तुरन्त क्षमा माँगी। वे मुस्करा दिये और पूछा—इसका सम्पादन क्या आप ही कर रहे हैं? मेरा उत्तर था—जी! उन्होंने कहा—आप अभी नवजवान हैं, अच्छा है काम सीखिए, किन्तु ध्यान में रखिए सम्पादक का काम चाटुकारिता करना नहीं है।

टण्डन जी से यह मेरी पहली मुलाकात थी। उसके बाद उनके प्रयाग आगमन पर कई बार उन्हें प्रणाम देने गया, किन्तु उनकी व्यस्तता के कारण कम ही बात-चीत हो पायी थी। एक दिन निराला जी के स्वास्थ्य के बारे में उन्होंने मुझसे अचानक प्रश्न उस समय किया जब मैं नगर के अन्य कांग्रेसी नेताओं के साथ उन्हें लखनऊ पैसेंजर पर रिसीव करने गया। उन दिनों मैं नियमित रूप से निराला जी के निवास-स्थान दारागंज जाया करता था, किन्तु टण्डन जी को यह कैसे पता चला मैं नहीं जान पाया था। मैंने निराला जी की बाहु पीड़ा के बारे में बताया तो बोले—पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल से बात हुई थी। उन्होंने ही बताया कि आप और जयगोपाल आजकल प्रायः निराला जी के पास जाते हैं। परसों अखबार में पढ़ा था कि उनकी तबियत कुछ अधिक गड़बड़ हो गयी है। मैंने स्वास्थ्यमंत्री को विशेष उपचार की व्यवस्था के लिए कह दिया है। हम लोग अभी प्लेटफार्म के बाहर भी नहीं आ पाये थे कि आयुर्वेद पञ्चानन पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल भी वहाँ पहुँच गये। अब टण्डन जी ने तुरन्त शुक्ल जी की ओर बढ़कर उनसे बातें शुरू कर दीं। बात निराला जी की चल रही थी, अतः

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

किसी नेता में यह साहस नहीं था कि वे कोई और बात करें। टण्डन जी प्लेट फार्म के बाहर आये तो शुक्ल जी को साथ में लेते हुए एक कार में बैठ गये।

हिन्दी के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से टण्डन जी प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के सक्रिय रहने पर प्रायः बल देते थे। उन्हीं की प्रेरणा से दो जनवरी, १९५४ को अतर्रा (जिला बाँदा) में उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन को बुलाने की योजना बनी। निमन्त्रण-पत्र अपने पास भी आया और हमने अतर्रा जाने का कार्यक्रम बना लिया।

इलाहाबाद से पहली जनवरी की रात को टण्डन जी के साथ अनेक हिन्दी प्रेमी एवं साहित्यकार चले। ठाकुर श्रीनाथ सिंह, सरयूप्रसाद पाण्डेय, श्रीकृष्णदास तथा भवानीप्रसाद तिवारी के अतिरिक्त मैं, जयगोपाल मिश्र तथा शिवगोपाल मिश्र भी साथ हुए। सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी किन्तु टण्डन जी अपने साथ एक डोलची में अमरूद लिये हुए थे। गाड़ी पर बैठते ही उन्होंने हम नौजवानों को एक-एक अमरूद दिया। मौसम को देखते हुए चाय की चसक अधिक थी किन्तु टण्डन जी के हाथ से पाये गये उन अमरूदों में कुछ दूसरी ही गर्मी थी।

गाड़ी रात को २॥ बजे अतर्रा स्टेशन पर पहुँची। हम लोग सर्दी से ठिठुर रहे थे। स्वागतार्थ आये हुए हिन्दी प्रेमी स्टेशन पर ही चाय पिलाने की व्यवस्था करने लगे। हम सभी ने चाय पी किन्तु टण्डन जी को जब चाय दी गयी तो उन्होंने मना कर दिया। उनके मना करने पर श्री श्रीकृष्णदास ने कहा—बाबूजी ऐसे मौसम में तो आपको चाय पी लेना चाहिए। टण्डन जी बोले "सिद्धान्त मौसम के हिसाब से नहीं बदलते।"

रात को हम लोग ठा० मतोला सिंह के हिन्दू इण्टर कालेज में टिकाये गये। टण्डन जी के लिए रायबहादुर मुन्नूलाल की हवेली में प्रबन्ध हुआ। हम लोग रात में बहुत देर तक जागे थे अतः सुबह के समय गहरी नींद में सो रहे थे। प्रातः होते ही कालेज के छात्र चाय पिलाने उपस्थित हुए किन्तु नींद के आगे चाय की किसे सुध थी। इस समय एक कालेज के ही एक सहायक प्राध्यापक पधारे और जोर-जोर से बोलकर कहने लगे—अरे आप लोग जरा टण्डन जी का अनुसरण कर लें, वे तो साढ़े चार बजे के ही जागे हैं। हम लोग यह सुनते ही अपनी आँखें मलते हुए उठ बैठे और व्यवस्थापकों की कृपा से गरम पानी से मुँह धोकर चाय की मेज़ पर पहुँच गये।

लगभग साढ़े दस बजे टण्डन जी की अध्यक्षता में विषय-समिति की बैठक हुई जिसमें अनेक प्रस्ताव तैयार किये गये। दोपहर में उ० प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन का खुला अधिवेशन शुरू हुआ। अचानक डॉ० बाबूराम सक्सेना दिखायी दिये और उन्होंने अध्यक्षता पद के लिए श्री वृन्दावनलाल वर्मा का नाम,प्रस्तावित किया और ठा० श्रीनाथ सिंह ने समर्थन किया। श्रीवृन्दावन लाल वर्मा ने टण्डन जी को अध्यक्ष बनाने की बात की किन्तु टण्डन जी ने मुस्करा कर कहा—"यह साहित्य सम्मेलन है अतः ऐसे खुले अधिवेशनों पर साहित्यकार ही अध्यक्षता कर सकता है। मैं तो साहित्यकार-सेवक हूँ। डा० उदयनारायण तिवारी ने टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी की उदारता की सराहना करते हुए वृन्दावनलाल वर्मा से कहा कि पूर्व योजनानुसार उन्हें ही यहाँ अध्यक्ष बनाना था, अतः वे इस पद पर आसीन हों हम सब को अनुगृहीत करें। तालियाँ बजीं और वृन्दावनलाल वर्मा अध्यक्ष पद पर बैठ गये।

इस अधिवेशन में यूँ तो अनेक नोंक-झोंक हुई किन्तु उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पत्र-पत्रिकाओं की खरीद को लेकर एक लम्बी बहस छिड़ गयी। ठा० श्रीनाथ सिंह उन दिनों 'दीदी' पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे और उन्होंने श्रीमती महादेवी वर्मा पर कुछ आक्रामक लेख 'दीदी' में प्रकाशित किए थे, फलतः जब श्री श्रीनाथ सिंह जी ने प्रदेश की सरकार की आलोचना करना शुरू की तो अधिवेशन में उपस्थित ठाकुर हरगोविन्द सिंह (शिक्षामंत्री) ने बिना किसी औपचारिकता के उनकी आलोचना करना शुरू कर दिया। दोनों ही ठाकुर इतने जोश में आ गये थे कि अध्यक्ष की अनुमति की परवाह किये बगैर एक-दूसरे पर व्यक्तिगत आक्षेप करने लगे।

ठाकुर हरगोविंद सिंह को क्रोध इसलिए अधिक आ रहा था कि वे मंत्रिपद की प्रतिष्ठा के अनुसार यह आशा करते थे कि उनके बोलते ही ठा० श्रीनाथसिंह चुप हो जायेंगे किन्तु श्री श्रीनाथसिंह इस सिद्धांत पर बोलते जा रहे थे कि उन्होंने विधिवत् अध्यक्ष की अनुमति लेने के बाद बोलना शुरू किया था और उन्हें अधिकार था कि वे अपनी पूरी बात लोगों के समक्ष रखें। इस विवाद में ठा० हरगोविंद सिंह ने क्रोध में आकर एक बात कही—मैं कलम की एक चोट से आपकी पत्रिका बन्द करवा सकता हूँ, और ठा० श्रीनाथ सिंह ने वहीं उन्हें ललकार दिया—हिम्मत हो तो आदेश देकर देखिए, कुर्सी पर नहीं रह पाइयेगा।

यह वातावरण इतना गर्मा-गर्मी का था कि समझ में नही आ रहा था कि अब होगा क्या? इसी समय माननीय टण्डन जी ने मंच पर खड़े होकर पहले वर्मा जी से बोलने की अनुमति माँगी और फिर जोर से बोले—मैं अपने मित्र हरगोविंद सिंह से निवेदन करूँगा कि श्रीनाथ सिंह को पहले अपनी बात कह लेने दें, बाद में वे जो चाहे कहें। टण्डन जी के बोलते ही हरगोविंदसिंह तुरन्त अपनी कुर्सी पर बैठ गये और तभी श्रीनाथसिंह भी यह कहते हुए बैठ गये कि मेरे अधिकार का संरक्षण हो चुका और मुझे जो कहना था कह चुका, अतः मैं भी बैठ जाता हूँ।

यह माननीय टण्डन जी का ही व्यक्तित्व था जो उस बिगड़े वातावरण को एक मिनट में सुधार सका और वहाँ का आगे का काम सम्पन्न हुआ, अन्यथा स्थिति कुछ ऐसी बिगड़ रही थी कि सभा की शालीनता ही समाप्त हो जाती।

मैंने सन् छप्पन में साहित्यकारों से साहित्यिक इण्टरव्यूज़ की एक पुस्तक तैयार करने की एक योजना बनायी। मोहवश टण्डन जी से मिला कि उन्हें भी उसमें जोड़ लूँ किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनके पूछने पर, मैंने बताया था कि उसमें निराला, पंत, रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के साथ ही राहुल सांकृत्यायन को भी जोड़ रहा हूँ। उन्होंने इन लोगों का नाम सुनकर कहा—सृजनशील मनीषियों के साथ इस फकीर को क्यों जोड़ रहे हैं, हमने सृजन नहीं किया कुछ निर्माण का

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

काम किया है, वह भी अभी बहुत अधूरा है। मेरे सामने हिन्दी के प्रतिष्ठापन का अभी बहुत बड़ा काम बाकी है, काम पूरा हो जाय तो फिर बात-चीत की जा सकती है।

मेरे पास उनकी इस बात का कोई उत्तर न था। मैं उनकी सरलता की सराहना अन्दर ही अन्दर करता रह गया। बाद में सन् १९५७ में जब मेरी यह पुस्तक 'साहित्य के साथी' नाम से नेशनल प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई तो मैं उन्हें एक प्रति भेंट करने पहुँचा। उन्होंने पुस्तक हाथ में ली और बोले आप तो काफी लगन से काम कर रहे हैं। मैं प्रसन्नता से मुस्करा उठा और उन्हें अपना प्रणाम देकर जीते हुए खिलाड़ी की तरह घर लौट आया।

—३४१, बहादुरगंज,
इलाहाबाद-३

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हमारे राजर्षि

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

⊙⊙

हम उन्हीं को अपना मानते हैं जो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर, स्वार्थ से परमार्थ की ओर, लाभ से कल्याण की ओर, संहार से सर्जन की ओर ले जाये। राजर्षि सचमुच पुरुषोत्तम थे। वे जितने ही कठोर थे सत्यव्रत के पालन में, अनुशासन में, चरित्र की दृढ़ता में, अपरिग्रह में उतने ही सहज और मृदुल थे किसी राष्ट्रभक्त, राष्ट्रभाषा के प्रेमी और साहित्यकार के प्रति। मैं अपने गुरु डॉ० बाबूराम सक्सेना के साथ उनसे मिला, वे चाहते थे कि मैं गुरु का अनुसरण कर बोली में छिपी शब्द-सम्पत्ति को उजागर करूँ राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति समर्पित होकर कार्य करूँ। मेरे बड़े भाई डॉ० माताप्रसाद गुप्त उनके बड़े कृपा-स्नेह-पात्र थे। क्योंकि वे शोध के प्रति समर्पित थे। उनके डी० लिट् के शोध-प्रबन्ध 'गोस्वामी तुलसीदास' से वे अत्यन्त प्रभावित थे। भाई साहब हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी संबद्ध रहे।

मेरे जीवन में दो व्यक्ति प्रेरणा देने वाले मिले। मैं गाँधी जी के पास, आचार्य काका कालेलकर के माध्यम से रहा। उनकी सच्चाई, ईमानदारी, अपरिग्रह के प्रति निष्ठा और सबके प्रति कल्याण भावना ने ही मुझे आकृष्ट किया था। टण्डन जी तो एक प्रकार से मेरे घर में ही थे। नैकट्य के कारण लोगों ने उनके मूल्य को उनके जीवन-काल में नहीं समझा क्योंकि वे स्वभावतः कठोर लगते थे। किन्तु उनकी कठोरता गांधी की कठोरता थी। कठोर व्यक्ति ही आत्मसंयमी, दृढ़व्रती, सत्यनिष्ठ, ब्रह्मचारी हो सकता है। बिना दृढ़ता-कठोरता के कर्त्तव्य-परायणता संभव नहीं। सिद्धान्तों के प्रति कितने समर्पित थे हमारे टण्डन जी यह वे ही जानते हैं जिनमें राष्ट्रभाषा और चरित्र के प्रति समर्पण का भाव है। किसी के मूल्य को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसके समर्पित स्वभाव के प्रति सहृदय हों। साहित्यकार का सम्यक् मूल्यांकन वही कर सकता है जो स्वयं मानवमूल्यों, मानव भावनाओं और मानव के उत्थान में रुचि रखता हो। कवि-मनीषी कितना भी विद्वान् हो, कितना ही अपनी कला के प्रति समर्पित हो पर सब उसकी देन को नहीं स्वीकार सकते। कलाकार से अधिक कलाप्रेमी को, साहित्यकार से अधिक सहृदय को, ईश्वर से अधिक भक्त को, स्वामी से अधिक सेवक को, मानवता के प्रति, उदात्त भावनाओं के प्रति, ज्ञान के प्रति समर्पित होना चाहिए। चुम्बक लोहे को ही आकर्षित कर सकता है पीतल को नहीं। स्वाती का पानी सीप में ही मोती उत्पन्न कर सकता है अन्यत्र नहीं। यह चातक की रटन ही तो है जो स्वाती को जल-दान

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के लिए विवश कर देता है। भक्त वह है जो ईश्वर को अवतार के लिए प्रेरित करता है—सहृदय वह है जो कवि को वाणी देता है। श्रोता-पाठक-भक्त-सेवक का महत्त्व वक्ता-लेखक-ईश्वर-स्वामी से कम नहीं—दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। इसीलिए समष्टि, व्यक्ति के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है—सामाजिक जीवन ही व्यक्ति को ऊपर उठने का अवसर देता है। समाज की समग्रता ही व्यक्ति को प्रभावित कर उसे विकास की ओर ले जाती है। फिर व्यक्ति समाज से खोयी हुई वस्तु को और दीप्त कर प्रकाशित कर, उदात्त कर समाज को देता है। यही क्रिया-प्रतिक्रिया सारी सभ्यता-संस्कृति के विकास के मूल में है।

टण्डन जी ने समाज से जो पाया उसे समाज को सम्पन्न बनाने के लिए समाज को दे दिया। यही दार्शनिक शब्दावली में अहिंसा और अपरिग्रह है। अपरिग्रही संग्रह नहीं करता, वह समुद्र की भाँति सब कुछ बादल के रूप में समर्पित करता है पृथ्वी माँ को। और माँ अन्न-जल से सबका भरण-पोषण करती है। भारतीय संस्कृति में अपरिग्रह गृहस्थ और संन्यासी दोनों के लिए समान रूप से धर्म माना गया है। राजर्षि ऐसे ही अपरिग्रही थे।

आज के प्रसंग में टण्डन जी अधिक प्रासंगिक हैं क्योंकि हम धीरे-धीरे अहिंसा-सच्चाई-अपरिग्रह-संयम से हटकर मानव-मूल्यों की उपेक्षा कर धन-संग्रह एवं शक्ति, ऐश्वर्य की ओर मुड़ रहे हैं। श्रेय की कल्पना ही समाप्त हो रही है? परमार्थ की खिल्ली उड़ायी जा रही है। ब्रह्मचर्य को अनावश्यक बताकर उसकी उपेक्षा की जा रही है। फलतः हम शरीर मन-आत्मा से दीन-हीन हैं, भले ही भौतिक सम्पन्नता से हम घिरे हों। हम विषमताओं में पल रहे हैं—और चारों ओर विष व्याप्त है। विष के विरोध में अमृत की तलाश करनी होगी तभी दैत्य भावों से हमें मुक्ति मिल सकेगी। अंधकार के उन्मूलन के लिए प्रकाश अनिवार्य है और प्रकाश वही दे सकता है जो सूर्य की भाँति तपने को तैयार हो। राजर्षि तपस्वी थे, स्वयं तपकर दूसरों को शीतलता देते थे। वे राष्ट्र के लिए, मातृभाषा हिन्दी के लिए अपरिग्रही बने रहे। आज गांधी-टण्डन जैसे तपःपूत सत्यसाधक परमार्थी की अपेक्षा है जो भारत में फैले भ्रष्टाचार के विरोध में शिलाखण्ड सदृश दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर मानव-विनाशिनी शक्तियों को रोक सके। यदि हम समय पर नहीं चेतते तो यह प्रलय हमें ले डूबेगा। हम भारतीय सांस्कृतिक परम्परा पर भले ही लम्बे-लम्बे वक्तव्य दें, भले ही आर्यावर्त्त की उदात्तता का गौरव-गान करें, भले ही अपने को जगद्गुरु मानें, भले ज्ञानोदय को पूर्व की देन मानें पर अतीत की कहानी मात्र हमें आगे नहीं बढ़ा सकती। अतीत गौरवमय है पर वर्तमान अतीत की परम्परा को छोड़ रहा है—उस ज्ञानराशि से उस प्रकाश से, उस संयम से विमुख होकर भारत न कुछ पा सकता है और न वह किसी को कुछ दे सकता है। भारत की देन तभी होगी जब वह तप-संयम-सेवा-सहिष्णुता के मूल्यों की रक्षा करता हुआ प्रेम की ओर बढ़े। गांधी जी, मालवीय जी, टण्डन जी हमारे प्रकाशस्तम्भ हैं—हमारे प्रेरणा स्रोत हैं।

१४७, त्रिवेणीरोड, प्रयाग-३

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन की 'सोरों' सूकर-क्षेत्र यात्रा

डॉ० रामकृष्ण शर्मा

⊙ ⊙

राजर्षि टण्डन जी देश के उन मूर्द्धन्य तपस्वियों में शीर्षस्थ थे; जिनका पौरुष भारत-भारती की सेवा-रूपी कसौटी पर देश की जनता ने कसा और परखा था। प्रयाग की इस पुण्यात्मा का तर्पण साहित्य सम्मेलन के द्वारा किया जा रहा है, यह परम तृप्तिदायक विषय है। हिन्दी और हिन्द को सदैव पर्याय मानने वाले टण्डन जी की धारणा थी कि राष्ट्र का जीवन उसकी भाषा एवं भूषा के बिना मृतप्राय है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलकों के नेतृत्व को सम्हालने वाले, स्वतंत्रता संग्राम के अद्भुत सेनानी और शिक्षाविद् टण्डन जी उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ भी थे। देश में स्वातंत्र्यपूर्ण विचारों का आन्दोलन फैलाने वाले महापुरुष टण्डन जी ने सन् १९५० ई० में सोरों (सूकर-क्षेत्र) की यात्रा की थी। यह यात्रा एटा जनपद के लिए उनकी ऐतिहासिक स्मृति है।

सन् १९४८ ई० में टण्डन जी को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष चुना गया था। इस पद पर आने के बाद आपने देशव्यापी यात्राएँ कीं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश को पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिए जो सेनानी अग्रिम पंक्ति में खड़े थे, उनका मार्ग-दर्शन टण्डन जी ही कर रहे थे। प्रत्येक जिला में कांग्रेस कमेटियाँ स्थापित की गयीं। कांग्रेस कमेटी कासगंज भी उस समय अधिक सक्रिय थी। सन् १९५० ई० में टण्डन जी नासिक में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। इसी वर्ष कासगंज कांग्रेस कमेटी ने आपको महात्मा गांधी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने हेतु आमन्त्रित किया था। उपाध्यक्ष, कासगंज कांग्रेस कमेटी, आचार्य वेदव्रत शास्त्री ने उनका भव्य सम्मान किया था और दिनांक १३-५-१९५० ई० को उनके कर-कमलों द्वारा कासगंज नगर में राष्ट्रपिता बापू की प्रतिमा स्थापित हुई थी। यह प्रतिमा नगर के दक्षिण में नदरई द्वार पर स्थित है।

दिनांक १३-५-१९५० ई० को सायंकाल टण्डन जी ने प्रभुपार्क मैदान कासगंज में एक विशाल जनसभा को सम्बोधित किया। प्रातः दिनांक १४-५-१९५० को वे सोरों गये। आचार्य वेदव्रत जी शास्त्री ने सोरों के प्राचीन स्थलों का टण्डन जी को दर्शन कराया, जिनमें बराह मन्दिर, गृद्धबट, श्रीचक्र, हरिपदी सरोवर, तुलसीपार्क, प्राचीन पुरातत्त्व की निधि श्री सीताराम जी का मंदिर आदि उल्लेख्य हैं। श्री सीताराम जी के मंदिर में आचार्य वेदव्रत शास्त्री ने नगर की जनता के साथ राजर्षि टण्डन जी का भव्य स्वागत किया था। नगर के वयोवृद्ध आचार्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पं० दशरथ जी शास्त्री के वैदुष्य से टण्डन जी प्रभावित हुए थे। तुलसीपार्क में टण्डन जी ने एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि, "देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राजनेता परस्पर द्वेष और ईर्ष्या के गर्त में न गिरें। देश की संस्कृति के अनुरूप उन्हें सेवा का संकल्प लेना चाहिए। यह देश विश्व समाज का प्रतिनिधि रहा है और रहेगा।" टण्डन जी का यह कथन कासगंज से निकलने वाले पत्र 'स्वतंत्र भारत' में प्रकाशित हुआ था।

श्री टण्डन जी की सोरों-यात्रा देश को सुगठित और कांग्रेस पार्टी को संगठित एवं मजबूत बनाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। यहाँ उनके आगमन से जन-जागरण हुआ। एक महान् राजनेता के नीति, धर्म और ज्ञानमय सम्बोधन जन-मन का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। टण्डन जी की वाणी ने यही कर दिखाया। जनता ने उन्हें पाकर अपने बोध को ही विकसित नहीं किया, अपितु उसने धूप में तपे बटोही की भाँति वटवृक्ष की शीतलता का भी अनुभव किया।

हिन्दी विभाग,
के० ए० महाविद्यालय, कासगंज (एटा)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी जिनके जीवन की साँस थी

डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

⊙ ⊙

भाषा भावों को प्रकट करने का जड़ माध्यम नहीं, यह हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, हमारी अस्मिता की पहचान। यह बात व्यक्ति के लिए जितनी सत्य है, उतनी ही सम्पूर्ण देश के लिए भी। राष्ट्र की भौतिक प्रगति हरे-भरे खेतों, विशाल कल-कारखानों से होती है, उसकी मानसिक उन्नति स्वभाषा के समुचित विकास और समृद्धि से। इसीलिए आज से एक शताब्दी से अधिक पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उद्‌बाहु उद्‌घोषणा की थी:

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

यह भी ध्यातव्य है कि जब देश की आजादी की लड़ाई को जनान्दोलन बनाने का प्रयास प्रारंभ हुआ तो स्वभावतः हमारे राष्ट्रनायकों का ध्यान राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार और उसे अंग्रेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित करने की ओर गया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन राजभाषा के अनन्य पक्षधर और प्रवक्ता थे। विशेष रूप से हिन्दी की हिमायत कर उसे आगे लाने, उसकी बहुमुखी प्रगति के लिए प्रयत्नशील रहने और संविधान सभा द्वारा उसे भारत की राजभाषा का दरजा दिलाने की दृष्टि से टण्डन जी की भूमिका अनुपम है।

जिस प्रकार इस देश के राजनीतिक रंगमंच पर प्रवेश करते ही गांधी जी ने यह जान लिया था कि बहुसंख्यक देशवासियों से सम्पर्क करने, उनमें स्वतंत्रता का महामंत्र फूंकने का माध्यम हिन्दी ही हो सकती है और इसीलिए १९०८ ई० में लिखी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में उन्होंने हिन्दी भाषा की असाधारण वकालत की, उसी प्रकार टण्डन जी ने भी अपने सार्वजनिक जीवन के ऊषाकाल में ही हिन्दी के महत्त्व को परख लिया और आजीवन इसके लिए एक समर्थ ध्वजवाह बने रहे। जिस समय टण्डन जी ने राजनीतिक और सामाजिक कामों में दिलचस्पी लेनी शुरू की, उस समय राष्ट्रभाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार करनेवाली कोई अखिल भारतीय महत्त्व की संस्था न थी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्य हिन्दी की प्राचीन पोथियों का उद्धार और उनके प्रकाशन तक सीमित था। उसके माध्यम से हिन्दी प्रचार का आयोजन उस सीमा तक संभव न था। इसलिए टण्डन जी ने १९१० ई० में हिन्दी

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

साहित्य सम्मेलन की स्थापना की और उसके प्रथम अधिवेशन का अध्यक्ष महामना मदन मोहन मालवीय जी को बनाया, जिनकी वक्तृत्व-शक्ति एक वरदान थी तथा प्रधानमंत्री का पद स्वयं ग्रहण किया। सम्मेलन ने अपने जन्म के कुछ ही वर्षों के भीतर अखिल भारतीय स्तर पर प्रथमा, विशारद, साहित्यरत्न जैसी परीक्षाओं की व्यवस्था की और विभिन्न विषयों की सुबोध पुस्तकों के प्रकाशन का भार उठाया। इतना ही नहीं, इसकी स्थापना के दस वर्षों के अन्तर्गत इसकी ओर से दक्षिण भारत में भी हिन्दी प्रचारक भेजे गये और हिन्दी की शालाएँ चलवाई जाने लगीं, हालाँकि इस कार्य के पीछे पूज्य बापू की भी जीवंत प्रेरणा वर्त्तमान थी।

टण्डन जी हिन्दी के अनन्य हिमायती थे। हिन्दी भाषा का सवाल उनके लिए देश की आजादी का सवाल था। इस पर किसी प्रकार का कुठाराघात, चाहे वह किसी कोने से हुआ हो, उन्हें सहन न था और उसके लिए वे बड़ी-से-बड़ी शक्ति से लोहा लेने को सन्नद्ध रहते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दशम अधिवेशन सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० भगवानदास की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ था। उस समय बँगला के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने बंगीय साहित्य की श्रेष्ठता घोषित करते हुए कुछ ऐसी बातें कह दीं, जो हिन्दी वालों के आत्मसम्मान को छूती थीं। टण्डन जी ने इस भाषण का संयत भाषा में लेकिन बड़ा ज़ोरदार जवाब दिया। उन्होंने कहा था—'काँच के टुकड़ों की असंख्य राशियाँ भी एक बहुमूल्य रत्न की बराबरी नहीं कर सकतीं—ग्रंथों की संख्यावृद्धि से ही कोई साहित्य वैभवशाली नहीं होता...हिन्दी का रामचरितमानस अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रंथ-समुदाय से लोहा ले सकता है—अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी विश्व-साहित्य के प्रांगण में भी अपना सिर ऊँचा कर सकती है।' साथ ही, उन्होंने हिन्दी और बँगला के पारस्परिक घनिष्ठ संबंध पर भी प्रकाश डाला। टण्डन जी के इस भाषण की सराहना बाबू कार्तिकेय चरण मुखोपाध्याय जैसे बँगला भाषी विद्वानों तक ने की थी।

टण्डन जी मानते थे कि हिन्दी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। उनका बुनियादी शब्द-भण्डार और व्याकरण एक है। उनके बीच विभेद की खाई जानबूझ कर निजी स्वार्थ सिद्धि के लिए खोदी गयी है। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के त्रयोदश कानपुर अधिवेशन (१९२३ ई०) में अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा था—"आज हिन्दी और उर्दू दो सभ्यताओं की सूचक भाषाएँ हैं। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं और रूपकों एवं भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तव में इन भाषाओं का आधार एक ही है और अभी तक ये दोनों स्रोत एक दूसरे से इतनी दूर नहीं हुए हैं कि फिर मिलकर एक प्रबल धारा में परिणत न हों, भारतवर्ष भर को अपनी शक्ति से सिंचित न कर दें।... मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देशभक्तों का यही कर्त्तव्य जान पड़ता है।"

लेकिन हिन्दी के मूल्य पर वे उर्दू को आगे बढ़ाने के समर्थक न थे और न दो लिपियों का सिद्धांत स्वीकार कर जन-समाज की कठिनाइयाँ बढ़ाना चाहते थे। टण्डन जी ने ही आग्रह कर गांधी जी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर आकृष्ट किया था और उनसे दो बार

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सम्मेलन की अध्यक्षता करवायी। पर जब गांधी जी ने नागरीलिपि में लिखी हिन्दी के साथ फारसी लिपि में लिखी उर्दू को भी चलाना चाहा तो टण्डन जी ने बड़ी विनम्रता, किन्तु स्पष्टता से इस नीति का विरोध किया। उन्होंने अपने ८ जून १९४५ ई० के पत्र में गांधी जी को लिखा था—"सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है। स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली का नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। प्रत्युत राष्ट्रीय कामों में वह अँग्रेजी को हटाने में उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरंभ से केवल हिन्दी चलाता आया है।...किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।"

एक अन्य पत्र में उन्होंने पूज्य बापू से निवेदन किया था—"हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो, इस सिद्धांत में मैं पूरी तरह आपके साथ हूँ। किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई में निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य में भी लिखा है, तभी संभव है, जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न में श्रद्धा दिखाएँ।"

कहना अनावश्यक है कि इन अंशों से टण्डन जी की सिद्धांतप्रियता और हिन्दी-निष्ठा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है और समय ने सिद्ध कर दिया कि भाषा के मामले में टण्डन जी का दृष्टिकोण गांधी जी की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक था।

संविधान-सभा ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया, इसके पीछे बहुत अंशों में टण्डन जी का वर्चस्व वर्त्तमान है। उन्होंने अंग्रेजी के हिमायतियों को मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा था—"जब आयरलैण्ड ने अपना संविधान बनाया तो उसने आयरिश भाषा को अपनाया था, जिसमें न तो अधिक साहित्य था, न पर्याप्त शब्दावली ही थी। किन्तु फिर भी आयरलैण्ड ने उसे ही अपनाया। हमारी भाषा हिन्दी तो अत्यन्त शक्तिशाली भाषा है।"

टण्डन जी के संबंध में दो घटनाओं का उल्लेख कविवर बच्चन ने किया है, जिनसे उनकी सिद्धांतनिष्ठा और व्यावहारिक बुद्धि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जिस समय उन्होंने हिन्दी का काम अपने हाथ में लिया, प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों की कोई अच्छी दूकान न थी। इस कारण उन्होंने अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर 'साहित्य भवन' की स्थापना करायी, जिससे राष्ट्रभाषा की श्रेष्ठ पुस्तकें आसानी से उपलब्ध हो सकें। यह दूकान हिन्दी-प्रेमियों का निःशुल्क वाचनालय भी थी। आगे चलकर इसने कुछ उत्कृष्ट पुस्तकों का प्रकाशन भी किया। इसी प्रकार उन्होंने अपनी कन्या दुलारी के शुभ विवाह के अवसर पर संस्कृत मंत्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया और इस अनुवाद के माध्यम से ही सारा अनुष्ठान सम्पन्न हुआ।

टण्डन जी को स्वयं अधिक लिखने का अवसर न मिला। फिर भी उन्होंने कुछ निबंधों और 'बन्दरसभा' नामक व्यंग्यकाव्य की रचना की। उनके 'कविता' शीर्षक निबंधों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

से कवियों के प्रति उनकी श्रद्धा के साथ हिन्दी साहित्य से उनके गहरे परिचय का अनुमान होता है। उनकी 'बन्दरसभा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी व्यंग्य-सामर्थ्य का प्रमाण हैं—

आज बरस दिन फेर मिले हम तुम्हें सुनावें निज करतूत,
कठपुतली सम प्रजा नचावें फैलावें स्वारथ के दूत।
यह तुम सब तो जानत हइहौ आपन एकै इहै उसूल,
जौन भाँति से रुपया आवै वो ही धरम न्याय को मूल॥

कवीरदास टण्डन जी के प्रिय कवि थे, जिनका स्मरण वे बराबर किया करते थे। वे कबीर के समान ही अनासक्त कर्मयोगी थे। वे उनकी ही तरह सहज का दुलीचा डालकर ज्ञान के हाथी पर चढ़े थे और उनकी ही भाँति उन्होंने जीवन की चादर सदैव निर्मल-निष्कलुष रखी। संक्षेप में मैं कहूँगा—

राष्ट्रभाषा के लिए तप, त्याग औ' संघर्ष,
था सदा राजर्षि का हिमवान-सा आदर्श;
देशहित निज अस्थि का भी किया जिसने दान,
उस नये दधीचि के प्रति प्रणत भारतवर्ष!

—वाणिक शॉ चौक, बेगूसराय (बिहार)।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन और राष्ट्रभाषा हिन्दी

डॉ० स्वर्णकिरण

⊙⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन देश के उन महान् व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को मान्यता प्राप्त कराने में, इसको हर तरह से आगे बढ़ाने में एवं इसको समृद्ध करने में सर्वाधिक योगदान दिया। इनका जन्म अहियापुर, प्रयाग के एक खत्री परिवार में, सालिगराम टण्डन के पुत्र के रूप में १ अगस्त, सन् १८८२ को हुआ और सन् १९०६ में, कानून की परीक्षा पास करने के बाद, प्रयाग की अदालत में प्रेक्टिस करना शुरू किया। सन् १९०७ में एम० ए० की परीक्षा पास की पर सन् १९१४ में माननीय मदनमोहन मालवीय के कहने पर, नाभाराज्य में कानून-मंत्री पद पर कार्य करने के लिए हाईकोर्ट की वकालत छोड़ दी। सन् १९१८ में इलाहाबाद में एक हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की और उसके प्रथम आचार्य बने। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने उन्हीं दिनों राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए जोरदार आंदोलन चलाया था। गांधी जी का विश्वास था कि 'हिन्दी को सर्वसाधारण की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने पर ही भारत का सम्यक् विकास होगा'। सन् १९१६ में नागरी प्रचारिणी सभा में हिन्दी के प्रचलन और प्रयोग पर बल देकर उन्होंने कहा था, "हमारा मुख्य काम हिन्दी सीखना है।" पुरुषोत्तमदास टण्डन ने भी हिन्दी की क्षमता, हिन्दी की सरलता, हिन्दी की वैज्ञानिकता आदि को महसूस किया और राष्ट्रभाषा आंदोलन को आगे बढ़ाया। वह देश की परिस्थिति को पहचानते थे और दृढ़ता के साथ यह विश्वास करते थे कि यदि जनता के भीतर अपनी भाषा के लिए स्वाभिमान नहीं पैदा हुआ तो समस्त राष्ट्रीय जीवन स्वाभिमानरहित हो जायगा। गांधी जी शिक्षा का माध्यम देशी भाषा को बनाना चाहते थे। वे आमफ़हम हिन्दुस्तानी भाषा के कायल थे और राजनीतिक संगठन के काम में जन भाषा का प्रयोग करना चाहते थे और सोचते थे कि बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष विद्या जैसे विषय को अपनी मातृभाषा में सीखना अधिक सरल है। पर पुरुषोत्तमदास टण्डन ने गांधी जी की इस नीति के प्रति अंध सहमति नहीं व्यक्त की। मातृभाषा, अपनी भाषा के संबंध में टण्डन जी की नीति हिन्दी के नवयुग के सूत्रधार कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिलती-जुलती है।

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी को राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा के लिए एक अनिवार्यता समझते थे। कहते हैं, एक धर्मनिष्ठ मित्र को प्रेरित कर शाहगंज, इलाहाबाद में साहित्य-भवन की स्थापना करायी जो वर्षों तक हिन्दी पुस्तकों की एकमात्र दूकान रही और यहाँ आकर लोग हिन्दी की पुस्तकें आसानी से पढ़ लेते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन' ने अपने एक संस्मरण-लेख में टण्डन जी की इस प्रवृत्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और साहित्य-भवन के द्वारा हिन्दी-सेवा के ऋण को स्वीकार किया है। टण्डन जी ने हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य के पठन-पाठन को नियमित रूप से आगे बढ़ाने के लिए प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के लिए हिन्दी में नवीन ग्रन्थों को लिखवाया, लेखकों के सम्मान एवं पुरस्कार की योजना चलायी और हिन्दी के प्रचार-प्रसार को अपने जीवन का अंग मान लिया। कहते हैं, लखनऊ विश्वविद्यालय में टण्डन जी के ही प्रयास से एम० ए० में हिन्दी की कक्षाएँ खुलीं।

गांधी जी की दृष्टि में राष्ट्रभाषा के लक्षण हैं—(१) अमलदारों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए, (२) उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष का आपसी, धार्मिक और राजनीतिक व्यवहार होना चाहिए, (३) यह जरूरी है कि भारतवर्ष के बहुत-से लोग उसे बोलते हों तथा (४) उस भाषा का विचार करते समय किसी क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति पर विचार नहीं होना चाहिए। सन् १९१७ में तत्कालीन वायसराय के द्वारा अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने का गांधी जी ने विरोध किया और कहा कि "अंग्रेजी भाषा में राष्ट्रभाषा के कोई लक्षण नहीं हैं जबकि हिन्दी में सब लक्षण विद्यमान हैं अतः अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा कदापि नहीं बन सकती।" पुरुषोत्तमदास टण्डन ने अंग्रेजी के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया पर हिन्दी के शुद्ध रूप के वे कायल थे। इनके मन में एक अन्तर्द्वन्द्व बराबर चला कि अंग्रेजी का प्रयोग राष्ट्रभाषा हिन्दी में घड़ल्ले के साथ नहीं हो, अंग्रेजी के बदले जो हिन्दी पर्याय दिये जायँ वे सुबोध हों, सरल हों, हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हों। 'कटमोशन' को 'कटौती प्रस्ताव', 'रिबेट' को 'कटौती' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है पर 'नॉमिनेटेड' को 'नामित' के रूप में चलाने को टण्डन जी ठीक नहीं समझते थे और इसका हिन्दी पर्याय 'नाम निर्देशित' उन्हें लम्बा मालूम पड़ता था। कहते हैं कि तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के इस कथन को कि "हम अंग्रेजी के माध्यम द्वारा ही वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षण दे सकते हैं", उन्होंने विरोध किया और कहा कि वह नेहरू जी की इस बात से सहमत नहीं अपितु इसे वह बिल्कुल गलत समझते हैं। हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी में भाषण देना टण्डन जी की दृष्टि में लज्जाजनक था। भारतीय संविधान सभा में सितम्बर सन् १९४९ में जब श्री गोपालस्वामी आयंगर ने कहा कि अंग्रेजी भाषा के बल पर हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई, अतः १५ वर्ष तक भारतीय संघ की भाषा अंग्रेजी रहे, यों अधिक समय भी यह रह सकती है। कोई प्रांतीय भाषा जिसमें हिन्दी भी सम्मिलित है, इतनी विकसित नहीं कि शासन के विविध अंगों का, विशेषकर विधि संबंधी आस्थाओं एवं गहन विचारों का, भार वहन कर सके और अंग्रेजी भाषा के गणित के अंक भारतीय अंकों के राष्ट्रीय रूप के नाम से अभिहित हों तो टण्डन जी ने खुलकर विरोध किया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन राष्ट्रभाषा हिन्दी के संबंध में यह अंधी धारणा नहीं रखते थे कि हिन्दी में विदेशी शब्दों का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया जाय और उनकी जगह क्लिष्ट, अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को भरा जाय या उर्दू-फारसी के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग किया जाय। टण्डन जी उर्दू के अच्छे जानकार थे और उर्दू-फारसी के अनेक शेर उन्हें कण्ठस्थ थे पर उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानते थे और उर्दू की पुस्तकों को नागरीलिपि में छापने के लिए उन्होंने समर्थन किया। गांधी जी उर्दू के शब्दों के, एक प्रकार से, अन्ध प्रयोग के पक्ष में थे पर टण्डन जी ने ८-६-१९४५ को गांधी जी के नाम लिखित अपने एक पत्र में स्पष्टतः कहा, "सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है। स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली का नहीं।" यों टण्डन जी ने यह भी स्वीकार किया कि हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो। इस सिद्धांत में वह गांधी जी के साथ पूरी तरह से सहमत थे। गांधी जी के अतिरिक्त किशोरलाल घनश्याम मशरूवाला के साथ पत्र-व्यवहार के क्रम में, २५ जुलाई सन् १९४५ को हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। मशरूवाला हिन्दी शैली के उत्तम साहित्य का उर्दू लिपि में और उर्दू का नागरीलिपि में प्रचार चाहते थे, दोनों लिपियों में समन्वय चाहते थे और दोनों शैलियों एवं लिपियों को सीखने पर जोर देना चाहते थे पर टण्डन जी ने मशरूवाला के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा, "मैंने स्वयं सन् १९३१ में हिन्दी-उर्दू दोनों को सिखलाने की बात उस रिपोर्ट में कही थी जो कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे पर लिखी गयी थी—

(क) हिन्दुस्तानी बोलने वाले क्षेत्रों में समस्त छात्रों को नागरी और पारसीक (परशियन) लिपि में लिखी हुई हिन्दी और उर्दू दोनों ही अनिवार्य रूप से सिखायी जानी चाहिए।

(ख) हिन्दुस्तानी बोले जाने वाले प्रांतों के समस्त कांग्रेस जनों को हिन्दी तथा उर्दू दोनों जानने के लिए गंभीरतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्य प्रांतों के समस्त कांग्रेस-जनो को, जिनकी मातृभाषा हिन्दुस्तानी नहीं है, हिन्दुस्तानी या तो नागरी के माध्यम से या पारसीक (परशियन) लिपि के माध्यम द्वारा सीखना चाहिए।

(ग) हिन्दी तथा उर्दू के लेखकों, वक्ताओं तथा समाचारपत्रों के सम्पादकों को चाहिए कि साधारण वाक्यों के अधिकतर प्रयोग द्वारा और यथासंभव कठिन अरबी, पारसीक तथा संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके सामान्य हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में सहायता करें।

(घ) हमारी सम्मति में पारसीक लिपि किञ्चित् सरल और अपेक्षाकृत अधिक उच्चारण-सुलभ कर दी जानी चाहिए। हमें हर्ष है कि उर्दू के विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर पहले ही आकर्षित किया जा चुका है।" [द्रष्टव्य : राजर्षि टण्डन अभिनन्दन ग्रंथ : संयोजक-सम्पादक : विजयेन्द्र स्नातक तथा गोपालप्रसाद व्यास, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ४०, कम्युनिकेशन बिल्डिंग, नयी दिल्ली, १५ अक्टू० १९६०, पृ० ९६)।

अनेक लोकभाषा के शब्द अपना संसार आप रखते हैं। कुछ उदाहरण—अररानाना, कटकटाना, कसमसाना, कांय-कांय, किचकिचाना, खनखनाना, खिलखिलाना, झपकना, गिड़-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

गिड़ाना, घिसपिस, घुन्ना, चुहड़ा, छलछलाना, झनझनाना, झमेला, टनटन, टीमटाम, तुतलाना, दनदनाना, धकधकाना, पपोरना, बण्टाधार, बड़बड़ाना, मचमचाना, लपलपाना, सकपकाना, सिटपिटाना, हड़बड़ाना, हिनहिनाना, हुल्लड़, आदि। इन शब्दों के द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी समृद्ध हो सकती है, ऐसा सहज विश्वसनीय है।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रबल उन्नायक हैं। सन् १९१० ई० में काशी (अब वाराणसी) में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जन्म इनके प्रयास के कारण हुआ, जो आज देश की मानक संस्थाओं में है और जिसके द्वारा हिन्दी के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखवाये गये, प्रकाशित किये गये, कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवाद हुए, सम्मेलन-पत्रिका का प्रकाशन हुआ और राष्ट्रभाषा हिन्दी की गाड़ी को अच्छी तरह से आगे बढ़ाया गया। काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना से, टण्डन जी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने प्रयाग में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का विशालकाय भवन निर्मित करवा कर, अपने नाम को साहित्येतिहास में अविस्मरणीय बना दिया। हिन्दी के महत्त्वपूर्ण हस्तलेख एवं दुर्लभ सामग्रियों का जो संचय टण्डन जी ने कराया आज हिन्दी संग्रहालय पुकार-पुकार कर कहता है। हिन्दी संग्रहालय का उद्घाटन टण्डन जी ने गांधी जी के द्वारा ५ अप्रैल, सन् १९३६ ई० को करवाया था। आज सत्यनारायण कुटीर, सम्मेलन का अतिथि भवन, संकेतलिपि एवं टंकण-विद्यालय दोनों टण्डन जी की कीर्ति के विस्तारित रूप के परिचायक हैं। साहित्य सम्मेलन की विशारद, साहित्यरत्न आदि परीक्षाओं का अपना महत्त्व है और सम्मेलन हिन्दी के मान्य सेवकों की सेवाओं को पहचानकर आज 'साहित्य वाचस्पति' की सम्मानोपाधि देकर टण्डन जी के हिन्दी प्रचार-प्रसार के स्वप्न को मूर्त रूप देता है।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन और राष्ट्रभाषा हिन्दी दोनों आज पर्याय जैसे प्रतीत होते हैं। टण्डन जी के अंतःप्रदेश में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति कितना अनुराग रहा, इसका अनुमान करना कठिन कार्य है। टण्डन जी राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा, वस्तुतः, लोगों में स्वाभिमान जाग्रत कराना चाहते थे और हर तरह से लोगों को ऊँचा उठाना चाहते थे। राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्थान पर जो लोग अंग्रेजी को प्रतिष्ठित करना चाहते थे—चाहे वह राष्ट्रपति हों, प्रधानमंत्री हों, शिक्षामंत्री अथवा अन्य कोई मंत्री हों, उनका टण्डन जी ने विरोध किया। शिक्षा विभाग द्वारा जब हिन्दी की अवहेलना हुई तो एकाधिक बार भारतीय संविधान सभा में उन्होंने क्षोभ प्रकट किया। वह यह मानकर चलते थे कि राष्ट्रभाषा के वृक्ष को यथोचित वातावरण मिलना चाहिए, इसे उचित खाद-पानी की जरूरत है और इसके द्वारा हम अपने को सही ढंग से सरल रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं, अपने को चमका सकते हैं और अपने साथ-साथ दूसरों को ऊँचा उठा सकते हैं। संवेदनशीलता का अभाव टण्डन जी में नहीं था फलतः राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास एवं समृद्धि के मार्ग को उन्होंने किसी ओर से अवरुद्ध नहीं किया। आज राष्ट्रभाषा हिन्दी को टण्डन जी जैसे निःस्पृह सेवक के प्रति गर्व है और गर्व होना स्वाभाविक भी है।

हिन्दी विभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय (नालंदा)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी के हित-चिन्तक : राजर्षि टण्डन

डॉ० रमाकान्त शर्मा

⊙ ⊙

भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्राणवन्त शिलालेख राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी की हित-चिन्ता और सेवा-साधना के लिए जिये और मरे। त्याग और साहस की अटूट भावना के कारण आपने अर्द्धशती तक स्वतन्त्रता के मूल्यों की रक्षा करते हुए हिन्दी की सेवा की। स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भूमिका और राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने के सतत संघर्ष में जुझारू कर्मयोगी रूप के कारण टण्डन जी को सदैव याद किया जायेगा। हिन्दी ने आज तक जितनी भी उन्नति की है तथा मान-सम्मान अर्जित किया है, उसका श्रेय राजर्षि टण्डन को विशेष रूप से प्राप्त है।

बाल्यावस्था से ही टण्डन जी का हिन्दी के प्रति विशेष लगाव था। हृदय, बुद्धि और कर्मशक्ति में सुन्दर सामंजस्य रखने वाले राजर्षि माँ भारती के विनम्र सेवक होने के साथ-साथ उसकी रक्षा के लिए तत्पर तेज-तर्रार सिपाही भी थे। अपने पचास वर्षों के लम्बे हिन्दी के सेवा-काल में इनकी कइयों से ठनी, कइयों से जूझे और उनके कोपभाजन बने। लेकिन हार मानने का स्वभाव उनका नहीं था। वे अपराजेय योद्धा की भाँति रण में डटे रहे। टण्डन जी की इसी आस्था और विश्वास-भावना के कारण विजय-श्री भी इनके चरणों को चूमने को मजबूर हुई।

भारतीय स्वाधीनता के साथ हिन्दी को समुचित स्थान प्रदान करवाने के लिए आपने राजनीति को एक मोड़ दिया था। अपनी राजनीतिक क्षमताओं का भरपूर लाभ उठाते हुए टण्डन जी ने हिन्दी को भारत भाल की बिन्दी बनाने में कोई कसर नहीं रखी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन टण्डन जी का जीवन्त दूसरा रूप है। इस संस्था के प्राणों में टण्डन जी बसे हैं। इसके हृदय में राजर्षि धड़कते हैं, इसकी नसों में पुरुषोत्तमदास बजते हैं। राजर्षि टण्डन के आदर्शों और सपनों को साकार करने वाली यह संस्था बराबर अपनी गौरव-गरिमा को बनाये रखते हुए टण्डन जी के बताये मार्ग का अनुसरण कर रही है। इसी प्रकार, 'हिन्दी विद्यापीठ' को भी टण्डन जी के साँसों की गंध कहा जा सकता है। हिन्दी की सेवा के लिए इन संस्थाओं ने टण्डन जी की भाँति ही सेवा का व्रत धारण कर रखा है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उपर्युक्त निर्माण और गठन के पीछे राजर्षि के सिद्धान्त थे और उन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए टण्डन जी बड़ी-से-बड़ी हस्तियों से टकराने का साहस रखते थे। गांधी जी और नेहरू जी के प्रति पूरा सम्मान रखने के बावजूद कई बार ऐसे मौके आये जब टण्डन जी ने उन्हें दो-टूक जवाब दिये और बेलाग और बेलौस शब्दों में बातें कीं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी रूप के मामले को लेकर जो चर्चा आज प्रसिद्ध है, वे इसके प्रमाण हैं।

टण्डन जी का व्यक्तित्व इन्द्रधनुषी था। वे जीवन के अनेक रंगों को अपने में समोये हुए थे। भावुक कवि, सजग लेखक, जीवन्त-चिन्तक, कुशल सम्पादक और सफल व्यवस्थापक के रूप में टण्डन जी को सदैव याद किया जाता रहेगा। 'बन्दरसभा-महाकाव्य' की प्रत्येक पंक्ति टण्डन जी के राष्ट्रीय व्यक्तित्व के अनेक क्षितिजों को उद्घाटित करने में समर्थ है। इस काव्य की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुनौ, सुसाहब सबै सभागन । अरु राजे फौजी कप्तान।
न्याय धर्म उद्यम कौन्सिल के । शस्त्र विदेश कार मेम्बरान॥
हम राजा इस गढ़ बन्दर के । कैसर किंग जार सुलतान।
हमरै हुकुम हियन पर चालै । जानो हमें ईश रहिमान॥
आज बरस दिन फेर मिले हम । तुम्हैं सुनावें निज करतूत।
कठपुतली सम प्रजा नचावै । फैलावे स्वारथ के दूत॥
यह तुम सबतो जानत हइहौ । आपन एकै यही उसूल।
जौन भाँति से रुपया आवै । वो ही धर्म न्याय को मूल॥

(तीसरा चुटकी : बन्दर-सभा महाकाव्य से)

टण्डन जी ने अपने कुशल सम्पादन से 'अभ्युदय' को पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष स्थान दिलवाया। मनीषी टण्डन जी के प्रभालोक से वह सदैव जगमगाता रहा।

राजर्षि टण्डन का हिन्दी-प्रेम अद्वितीय और बेजोड़ था। सेठ गोविन्ददास की हिन्दी-सेवा भी उनके सामने नम्बर दो पर ही ठहरती है। यह कहकर सेठ गोविन्ददास की हिन्दी सेवा को कम करके देखने का आशय नहीं है, वरन् यह कहना गोविन्ददास जी के हृदय की ही बात कहना है। इन दोनों महान् आत्माओं ने राजनीति और हिन्दी में से सदैव हिन्दी को प्राथमिकता दी। आपने राजनीति के लिए हिन्दी का इस्तेमाल न कर हिन्दी के लिए राजनीति का उपयोग किया। स्वयं टण्डन जी कहा करते थे—"लोग कहते हैं कि मैं साहित्य और राजनीति से समन्वित दोहरा व्यक्तित्व रखता हूँ। पर सच्ची बात यह है कि मैं पहले साहित्य में आया और प्रेम से आया। हिन्दी साहित्य के प्रति उसी प्रेम ने उसके हितों की रक्षा और उसके विकास पक्ष को स्पष्ट करने के लिए मुझे राजनीति में सम्मिलित होने को बाध्य किया।"

महात्मा गांधी को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि "हिन्दी की उन्नति अवश्य होकर रहेगी क्योंकि इसके पीछे पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे धुन के धनी और सिद्धान्तवादी व्यक्ति

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

की शक्ति लगी हुई है।" कालान्तर में टण्डन जी की हिन्दी-सेवा के लिए प्रदान की गयी 'राजर्षि' और 'भारतरत्न' जैसी उपाधियाँ टण्डन जी को प्राप्त कर स्वयं गौरवान्वित एवं धन्य हुई हैं। वे हिन्दी के लिए वरदान बनकर आये और मंगलेच्छा बनकर चले गये। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने टण्डन जी के लिए बहुत ठीक कहा कि—

"अपने व्रत पर अटल रहा जो
धीर तपोव्रत धर्म धरे।
चला गया वह परम तपस्वी
पुरुषोत्तम भी आज हरे।"

पण्डित जवाहरलाल नेहरू टण्डन जी को अपना अग्रज मानते थे। इसी भावना से वे इनकी भावना और कामना का आदर करते थे। पण्डित जी ने टण्डन जी के लिए लिखा है कि— "जो भी व्यक्ति टण्डन जी के सम्पर्क में आये, सबने उनसे कुछ-न-कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। जो उनसे मिले, लेकर गये। हमने भी उनसे लिया, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी। . . .वह हम सबके बड़े भाई थे। हम सब उनसे बड़ी मुहब्बत करते थे। डर था, मालूम नहीं कब डाँट दें। जब वे कोई बात नापसंद करते थे, दिल खोलकर कह देते थे।"

हिन्दी के साथ-साथ 'किसान-आन्दोलन' और लोक सेवक-मण्डल' के लिए दी हुई उनकी सेवाएँ भारतवासी भुला नहीं सकते। आपने हिन्दी के लिए जो कुछ किया, वह सहज और स्वाभाविक था। थोपने की कला उन्होंने कभी नहीं अपनायी। हिन्दी के महत्त्व व हिन्दी साहित्य की उपलब्धियों के बारे में वे अक्सर चर्चा किया करते थे। वे हिन्दी को दूर-दूर देशों तक फैलाना चाहते थे। लेकिन इसके लिए रास्ता 'जबरदस्ती' वाला नहीं चुना। अन्धी आँधी की जगह प्रेम की ठण्डी बयार को महत्ता देते थे। टण्डन जी ने दृढ़ता, किन्तु विनम्रता से हिन्दी की सेवा करने का संकल्प लिया था। आज भी राजर्षि की वाणी हिन्दी के हित-चिन्तकों के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करती है—

"हिन्दी का सवाल मेरे लिए भारत की आजादी का सवाल है। हिन्दी के लिए अभी बहुत काम करना है। हिन्दी मेरे जीवन का मुख्य अंग है। . . .ग्रंथों की संख्या वृद्धि से ही कोई साहित्य वैभवशाली नहीं होता। परमोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रंथ किसी भी साहित्य को मण्डित कर सकते हैं। हिन्दी का 'रामचरितमानस' अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रंथ-समुदाय से लोहा ले सकता है। अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी विश्व साहित्य के सामने भी अपना सिर ऊँचा कर सकती है।"

टण्डन जी की यह वाणी उनकी सहृदयता, आस्था, विश्वास और त्यागमय जीवन को व्यक्त करती है। वे इलाहाबाद या उत्तर प्रदेश के ही न बनकर रह गये वरन् पूरे भारतवर्ष के लिए वे अपरिहार्य थे। कबीर, तुलसी, रैदास, रहीम, दादू आदि टण्डन जी के प्रिय कवि रहे हैं। इन कवियों के जीवन-आदर्शों का प्रभाव टण्डन जी पर जादू की तरह पड़ा लेकिन इससे भी बड़ा जादू टण्डन जी का था जो देश के सिर पर चढ़कर बोल रहा था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी-शिक्षण, हिन्दी-प्रचार, हिन्दी-विकास और हिन्दी-प्रतिष्ठा के लिए महर्षि टण्डन ने अपने व्यक्तिगत सुखों को तिलांजलि दे दी। हिन्दी भाषा और साहित्य के ऐसे प्रबल पक्षधर निश्चय ही विरल हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलनों में दिये गये आपके भाषण हिन्दी के संघर्ष की कथा कहते हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के सभापति पद से बोलते हुए आपने जो कुछ कहा, वह भारतवासियों के लिए चिन्तनीय और मननीय है—"यह समय भारतवर्ष के लिए महान् परिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही एक ऐसा अवसर है, जबकि वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का सारा मानसिक प्रवाह बदल दें। कृत्रिमता छोड़िये, भावुकता संग्रह कीजिए।...वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे जहाँ से वाणी का उद्गार हुआ है। आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें। निस्सार नीचे गिराने वाले रसों और उन्हीं के समान संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़कर दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए। उनके उपयुक्त संचारी भावों से उन्हें संचरित कीजिए और तब उनके परिणाम-स्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइये।"

उपर्युक्त कथन राजर्षि टण्डन का मनोराज्य है, एक आदर्श कल्पना का संसार। हम हिन्दी-प्रेमियों का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि हम टण्डन जी के सपनों को साकार बनायें।

व्याख्याता
स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
राजकीय कॉलेज, सिरोही (राज०)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी-जगत् की एक विभूति : राजर्षि टण्डन

श्री दानबहादुर सिंह

⊙ ⊙

"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥"

अर्थात् हे कृष्ण! मुझे विजय की आकांक्षा नहीं है और न मैं राज्य एवं सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! भला हमें राज्य से क्या प्रयोजन अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है?—यही उच्चादर्श थे हमारे भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के जो भारतीय संस्कृति के पर्याय, हिन्दी-जगत् की एक महान् विभूति एवं स्वाधीनता आन्दोलन के अमर सेनानी थे। वे निष्काम भावना से आपूर्ण, त्याग एवं तपश्चर्या की प्रतिमूर्ति थे। उनका व्यक्तित्व कालजयी है और कीर्ति दिगंतव्यापिनी। आज सम्पूर्ण विश्व में हिन्दी का जो विराट् रूप हमें परिलक्षित हो रहा है, उसके पीछे एकमात्र राजर्षि टण्डन का भगीरथ प्रयत्न एवं उनकी दृढ़ास्था ही कार्य कर रही है। यद्यपि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, तथापि, यह नहीं कहा जा सकता कि टण्डन जी नहीं रहे। फूल की सच्ची पहचान तो उसकी सुगन्ध ही है न कि फूल। फूल दृष्टि से परे भी रहे किन्तु जब तक उसकी सुगन्ध व्याप्त है, तब तक उसके अस्तित्व को भला कौन चुनौती दे सकता है। जानकीवल्लभ की ये पंक्तियाँ कितना चरितार्थ कर रही हैं, उनके व्यक्तित्व को।

"फूल की पहचान सरस सुवास केवल,
आज मुख दिखता नहीं, विश्वास केवल।"

टण्डन जी एक युग-पुरुष थे। उनका तपोमय जीवन युगों पर्यन्त कोटि-कोटि हिन्दी-प्रेमियों का मार्ग आलोकित करता रहेगा। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए कवयित्री महादेवी वर्मा ने लिखा है, "संत पुरुषोत्तमदास जी सत्य के शिल्पी हैं, जिनके जीवन के मूल्यांकन के लिए साधारण मापदण्डों से भिन्न मापदण्ड की आवश्यकता है। उनके शरीर और जीवन दोनों ने अनेक परीक्षणों का भार झेला है। कृश, दुर्बल, लम्बी देहयष्टि, कुछ लम्बी मुखाकृति, नुकीली नासिका, कुछ बड़े केश, पीठ पर पैबंद लगा खादी का कुर्त्ता, घिसे सूत वाली पुरानी-धोती, चर्म-रहित रबर की अस्त-व्यस्त सिली चप्पलें आदि मिलकर एक ओर उन्हें संत विनोबा के समीप बैठा देते हैं और दूसरी ओर अति साधारण और निरा दरिद्र भारतीय जन का प्रतिनिधि बना देते हैं। सहज हँसी का सरलता में एकरस जलने वाले, आँखों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

के दीप, उनके मुख को कोमल कठिन छायालोक में उद्घाटित कर देते हैं। राजनीतिक कोलाहल के बीच उन्हें देख कर ऐसा लगता है मानो साधना-जगत् का कोई साधक ऐसे रणक्षेत्र में भटक गया है, जिसकी नीति और अस्त्र-शस्त्र से परिचय न होने के कारण वह उस क्षेत्र में भी अपने साधन और सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है। जीवन के वसन्त में ही उन्होंने सुख-सुविधामय जीवन की जगह निरन्तर संघर्षमय जीवन, संपूर्ण निष्ठा के साथ स्वीकार किया।"

टण्डन जी का जन्म १८८२ को प्रयाग में हुआ था। उनका पालन-पोषण भी प्रयाग में ही सम्पन्न हुआ था। वे बाल्यावस्था से ही बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे। उन्होंने एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की थी। वे अत्यन्त अध्ययनशील एवं अध्यवसायी थे। धीरे-धीरे टण्डन जी वकालत करने की ओर प्रवृत्त हुए। अपनी कठोर साधना की बदौलत अल्पकाल में ही वे प्रयाग के चोटी के वकीलों में लोकप्रिय हो गये थे। उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में भी वकालत की थी। इसी समय पूरे देश में स्वातन्त्र्य-आन्दोलन की लहर फैल चुकी थी। स्व० लाला लाजपत राय ने ब्रिटिश सरकार से लोहा लेने के लिए एक 'लोक सेवक मण्डल' की स्थापना की थी। उस समय उसमें स्वयंसेवकों की भर्ती बड़ी तेजी से हो रही थी। चूँकि टण्डन जी के भीतर जन्म से ही देशभक्ति के बीजांकुर अवशेष थे, अतः उन्होंने समय आने पर वकालत का पेशा छोड़ दिया और इस संस्था के कर्मठ सदस्य बन गये। उनकी निष्ठा से प्रभावित होकर लाला जी ने उन्हें प्रयाग में नगरपालिका का चुनाव लड़ने को कहा। टण्डन जी चुनाव जीत गये और वे १९१९ में नगरपालिका के अध्यक्ष चुन लिये गये। देश में अनवरत रूप से आन्दोलन की लहर फैलती जा रही थी। गांधी जी इस आन्दोलन के अगुआ थे। सन् १९२१ में जब यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा तक पहुँचा तो गांधी जी ने टण्डन जी से इस आन्दोलन में सक्रिय रूप से हाथ बटाने को कहा, और टण्डन जी ने बड़े धैर्य के साथ गांधी जी का आमंत्रण स्वीकार किया। उनके राजनीतिक रुझान एवं विद्रोही रुख को देखकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें जेल की चहारदीवारी में ठूँस दिया और वे डेढ़ वर्ष तक कठोर कारावास की सजा भुगतते रहे। अन्त में जब वे जेल से मुक्त हुए तो उनके सामने भीषण आर्थिक संकट आ पड़ा और वे पैसे-पैसे के लिए मुहताज हो गये। उनकी इस दुर्दशा को देखकर लाला जी ने उन्हें नौकरी करने की सलाह दी। उन्हीं के आग्रह पर वे शीघ्र ही पंजाब नेशनल बैंक के महा-प्रबन्धक चुन लिये गये और वे इस पद पर अगस्त, १९२९ तक कार्य करते रहे।

यह दुर्भाग्य की ही बात थी कि लाला जी इसी बीच चल बसे और लोक सेवक-मण्डल के अध्यक्ष का पद रिक्त हो गया। गांधी जी पहले से ही टण्डन जी की देशभक्ति एवं उनकी कर्तव्यनिष्ठा से प्रभावित थे। अतः उन्होंने उन्हें इस संस्था का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। वे बैंक की सेवा से त्याग-पत्र देकर इस संस्था में चले आये और आजीवन इसकी सेवा करते रहे।

दुर्भिक्ष के कारण देश में घोर गरीबी के बादल छाये हुए थे। किसानों में हाहाकार मचा हुआ था। टण्डन जी का संवेदनशील हृदय उनकी दुर्दशा देखकर विह्वल हो उठा।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उन्होंने परिस्थितियों का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया और देखा कि देश के बड़े-बड़े जमींदार भारतीय किसानों का शोषण करने पर तुले हुए थे। टण्डन जी के लिए यह असह्य था। उन्होंने इसका घोर विरोध किया और इसके लिए उन्होंने १९३० में "किसान-संघ" के नाम से एक मोर्चा खड़ा किया। सन् १९३१ में किसानों की दुर्दशा देखकर सरकार ने उन्हें लगान वसूली में छूट दी किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि वे लगान चुकता करने में बिल्कुल असमर्थ थे। अतः टण्डन जी ने कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी में इस प्रश्न को उठाया। उनके एक अभिन्न सहयोगी श्री तसद्दक अहमद खाँ शेरवानी ने टण्डन जी का जोरदार समर्थन किया। ये दोनों ही किसानों के कट्टर पक्षधर थे और ये उनके कल्याण के लिए बड़े पैमाने पर जिहाद छेड़ना चाहते थे। किन्तु ब्रिटिश सरकार उनकी इस योजना को विफल करना चाहती थी। इसलिए टण्डन जी को पुनः गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया।

गांधी जी के सत्याग्रह की आग अभी भभक रही थी और वे अस्पृश्यता-निवारण और हरिजनोद्धार के लिए आन्दोलन छेड़ना चाहते थे। टण्डन जी ने भी गांधी जी का साथ दिया और हरिजनों को उनका उचित स्थान दिलाने के लिए जोरदार समर्थन किया। टण्डन जी की बढ़ती हुई लोकप्रियता और उनके हृदय की उदारता देखकर उन्हें १९३६-३७ में उत्तर प्रदेश विधान सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसी बीच सन् १९३९ में कांग्रेस-मंत्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। फलस्वरूप टण्डन जी अध्यक्ष पद से इस्तीफा देकर पृथक् हो गये। इसी दौरान स्वातन्त्र्य-आन्दोलन जोरों पर था और स्थान-स्थान पर दंगे भड़क उठे थे। अतः १९४० में टण्डन जी को पुनः एक वर्ष के लिए कठोर कारावास की सजा दी गयी। १९४१ में जब वे जेल से रिहा हुए तो गांधी जी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का नारा बुलन्द किया। टण्डन जी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था लेकिन उनके भीतर अदम्योत्साह की भावना भरी हुई थी। वे पुनः इस आन्दोलन में कूद पड़े और उन्हें ८ अगस्त, १९४२ को गिरफ्तार कर लिया गया। दो वर्ष की कठोर सजा के बाद टण्डन जी १९४४ में जेल से मुक्त कर दिये गये। १९४६ में उन्हें पुनः उत्तर प्रदेश विधान सभा का अध्यक्ष बनाया गया। आगे चल कर १९४८ में उन्होंने उत्तरप्रदेशीय कांग्रेस-अध्यक्ष का-पद-भार सँभाला। उन्हें उनकी लगन और ईमानदारी की वजह से सन् १९५० में अखिल भारतीय कांग्रेस का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। कालान्तर में पार्टी के नीति-निर्धारण प्रश्न को लेकर नेहरू जी के साथ उनका मतभेद हो गया। अतः वे तुरन्त अध्यक्ष पद से इस्तीफा देकर अलग हो गये। नेहरू जी से यद्यपि उनका मतभेद अवश्य था किन्तु वे टण्डन जी को हृदय से मानते थे तथा उनके चरित्र और ईमानदारी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। एक स्थान पर नेहरू जी ने लिखा है, "हमारा और टण्डन जी का एक अजीब जोड़ा था। हम लोगों का नजरिया बहुत-से मामलों में मुख्तलिफ था और इस कारण हम दोनों को एक-दूसरे से कभी-कभी चिढ़ लगती थी। ऐसा होते हुए भी कभी भी हम दोनों में बड़े-बड़े मामलों पर टूट नहीं हुई। हम दोनों में एक-दूसरे के लिए सदैव प्रेम और सद्भाव रहा। हमने इस बात को महसूस किया कि मैत्री और साहचर्य

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विचारों की समानता पर ही निर्भर नहीं होते। बल्कि दूसरे की सच्चाई और ईमानदारी पर आधारित होते हैं। टण्डन साफ बात कहने के आदी थे। उनका चरित्र ठोस और अटूट था, उनकी ईमानदारी एवं त्याग चुनौती के बाहर थे। किसी तरह का लोभ उन्हें उनके रास्ते से विचलित नहीं कर सकता था, विकट परिस्थितियों में हम सब उनकी तीव्र बुद्धि और उनके बड़े तजुर्बे के कारण उनसे सलाह लेते थे। हमने राजनीति में, खासतौर से उत्तर प्रदेश की राजनीति में, बिना उनकी सलाह के शायद ही कभी कोई कदम उठाया हो। मैंने उनकी राय की हमेशा कद्र की, कई कारणों से, मगर खासतौर से इसलिए कि वे स्पष्टवादी थे और हमेशा निर्भय होकर सोचते और सलाह देते थे।"

विचार-स्वातंत्र्य में टण्डन जी की बराबरी कोई नहीं कर सका। यदि किसी से उनका मतभेद भी था तो वे उसके बारे में कभी गलत धारणा नहीं रखते थे। वे जो कुछ भी निश्चय कर लेते थे, उस पर अडिग रहते थे। एक बार गांधी जी से उनका भाषा के प्रश्न पर मतभेद हो गया, गांधी जी राजेन्द्र बाबू का समर्थन कर रहे थे। टण्डन जी इस बात से रुष्ट हो गये और उन्होंने श्री अमरनाथ झा को अपना समर्थन देकर विजयी बना दिया। इसी बीच १४ जून, १९४७ को देश-विभाजन का प्रश्न छिड़ा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने विभाजन का समर्थन किया। इस निर्णय से टण्डन जी असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने भारत-विभाजन की कटु आलोचना की।

टण्डन जी १९५२ में लोक-सभा के सदस्य चुने गये और १९५७ में राज्यसभा के सदस्य भी निर्वाचित हुए। घोर परिश्रम और निरन्तर कार्य करते रहने की वजह से वे प्रायः अस्वस्थ रहने लगे थे। उनका उपचार काफी देर तक चलता रहा, किन्तु स्वास्थ्य में कोई सुधार न होते देखकर उन्होंने लोकसभा और राज्यसभा की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। थोड़े दिनों के बाद वे प्रयाग वापस चले गये। प्रयाग में जीवन-निर्वाह करते हुए टण्डन जी हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने और भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। वे राष्ट्र की भावनात्मक एकता और राजनीतिक एकता के पक्ष-धर थे। पूरे देश के लिए एक राष्ट्रभाषा और एक राष्ट्रलिपि के कट्टर समर्थक थे। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के हिमायती होते हुए भी उन्होंने कभी भी अन्य भारतीय भाषाओं का अनादर नहीं किया। वे क्षेत्रीय भाषाओं को फलते-फूलते देखना चाहते थे। उर्दू से उनका विशेष लगाव था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "मेरे हिन्दी के काम के कारण लोगों ने मुझे मुसलमान भाइयों का मुखालिफ समझ लिया। इन लोगों को यह नहीं मालूम कि बहुत से मुसलमान मेरे कितने अच्छे दोस्त हैं। मेरे सामने यदि कोई किसी मुसलमान के साथ अन्याय करे तो मैं उसके पक्ष में अपनी जान की बाजी लगा दूंगा।" यह थी टण्डन जी के हृदय की निर्मलता और देश-प्रेम की भावना।

टण्डन जी ने ही गांधी जी के आदर्शों को सच्चे अर्थों में अपने जीवन में उतारा था। उन्होंने घनघोर तपस्या की बदौलत अपने चरित्र को उदात्त बना लिया था। गांधी जी के पदचिह्नों पर चलने वालों में केवल तीन ही महापुरुषों के नामोल्लेखनीय हैं। ये हैं,

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य विनोबा भावे और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन। टण्डन जी का सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से हिन्दी के लिए समर्पित था। उनकी निष्ठा और अध्यवसाय की बदौलत प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गयी थी। यही उनकी चिर-स्थायी निधि कही जा सकती है जो आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में पूर्णरूपेण समर्पित है और यह संस्था न केवल हिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों में अपितु अहिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों में भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योग दे रही है।

टण्डन जी को 'भारतरत्न' की उपाधि से अलंकृत करने के लिए तथा उनका हार्दिक अभिनन्दन करने के लिए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी दिल्ली से प्रयाग पधारे थे। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, टण्डन जी अपने स्वास्थ्य से सन्तुष्ट नहीं थे। १ जुलाई, १९६२ को एक दिन उनका स्वास्थ्य अचानक बहुत खराब हो गया और वे अपने पीछे असंख्य हिन्दी-प्रेमियों को रोते-बिलखते छोड़ कर परलोक सिधार गये। लेकिन उनकी आत्मा आज भी अजर-अमर है और उनका सन्देश भारतवासियों के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ है। टण्डन जी की केवल एक ही अभिलाषा थी—'हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना। लेकिन स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी हिन्दी अपने उचित स्थान को प्राप्त नहीं कर सकी और राजनीति के थपेड़े में फँस कर रात-दिन अनिश्चितता की स्थिति में पड़ी हुई है। यदि टण्डन जी के सपनों को सच्चे अर्थों में साकार करना है तो सरकार को चाहिए कि वह उनके जन्म-शताब्दी के अवसर पर किये गये संकल्प के अनुसार हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दे। यही टण्डन जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

●

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन और राष्ट्रभाषा हिन्दी

डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय

⊙ ⊙

किसी भी स्वाधीनचेता राष्ट्र की समग्र विचारणा को समन्वयात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने और राष्ट्र के स्पन्दन को सम्प्रेष्य बनाने में वहाँ की भाषा का विशेष महत्त्व होता है। मूक राष्ट्र सदैव पराधीन रहता है, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। इसलिए जब भारतीय राष्ट्रीय संग्राम के सेनानी युग की आवश्यकता के आधार पर पूर्ण स्वराज्य की परिकल्पना कर रहे थे तो उस समय उनके मस्तिष्क में भावी भारत के लिए एक सम्पर्क भाषा का विचार भी उद्वेलित हो रहा था। उस नये भारत की भाषा विदेशी नहीं होगी तथा किसी भारतीय भाषा को ही राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया जायगा, यह तो स्पष्ट था; किन्तु सम्पूर्ण भारत की भाषा के पद पर किस क्षेत्र की भाषा को सर्वमान्य प्रतिष्ठा मिलेगी, यह प्रश्न विचारणीय था और अन्त तक विचारणीय रहा। स्वाधीनता के पश्चात् जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा के रूप में संवैधानिक अधिकार मिला तो यह समस्या समाप्तप्राय प्रतीत हो रही थी किन्तु परवर्ती सत्ताधारियों ने अपनी गृद्धता के कारण इसे इतना जटिल बना दिया कि आज भी हम विदेशी दासता की प्रथम पंक्ति 'भाषा' से मुक्त नहीं हो सके हैं और राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय एकता की चर्चा करते समय व्यर्थ आत्मगौरव से अभिभूत हो उठते हैं। प्रश्न अनेक उठ खड़े हुए हैं, उत्तर भी अनेक रूपों में प्रस्तुत हो रहे हैं, किन्तु क्या ये प्रश्न उस सद्यः स्वतंत्र राष्ट्र के पुरोधाओं के मन में नहीं थे, जिन्होंने अनेक अग्निपरीक्षाओं से निकल कर के संविधान में समस्त क्षेत्रीय भाषाओं को समुचित सम्मान देते हुए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन किया था। निश्चय ही समस्याएँ तब अधिक थीं और आंग्लों के कूटनीतिक षड्यंत्रों और अंजुमन-तरक्किए-उर्दू जैसे साम्प्रदायिक संगठनों की दुर्नीतियों के कारण समाधान भी सरल नहीं था, किन्तु उसमें सफलता मिलने का एकमात्र कारण था ऐसी विभूतियों का आविर्भाव, जो सच्चे अर्थों में निस्पृह, तपःपूत और अनासक्त कर्मयोगी थे और जिन्होंने स्वराज्य-साधना में अपनी आत्माहुति का संकल्प लिया था। राष्ट्रभाषा को स्वराज्य का पूरक मानने वाले ऐसे महामनीषियों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अग्रगण्य हैं।

यद्यपि हिन्दी-जगत् में राजर्षि टण्डन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निर्माता और हिन्दी-सेवी के रूप में ख्यात हैं किन्तु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन किया जाय तो टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

जी का हिन्दी की संवैधानिक स्थिति के सन्दर्भ में भी विशिष्ट अवदान है। आज हिन्दी और अंग्रेजी अथवा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का विवाद एक सीमा तक स्वार्थपरक राजनीतिक षड्यंत्र बन गया है परन्तु प्रारम्भ में जब राष्ट्र को एक सम्पर्क सूत्र में बाँधने का विचार राष्ट्रीय नेताओं के मन में आया था तो उस समय ऐसी कुत्सित मनःस्थिति नहीं थी तथा सभी प्रदेशों ने एक स्वर से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति दी थी, किन्तु महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता के राजनीतिक अर्थ को अधिक महत्त्व देते हुए हिन्दी और हिन्दुस्तानी की एक विभाजक-रेखा बना दी जिससे स्वराज्य की परिकल्पना के समय से ही हिन्दी के लिए विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि यह विवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही उठ खड़ा हुआ था, किन्तु उस समय इसका रूप अपेक्षाकृत संकीर्ण था, किन्तु 'हिन्दुस्तानी' के रूप में इस नये आन्दोलन के पीछे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जैसे राष्ट्रीय नेताओं की शक्ति थी, इसलिए इस आन्दोलन को प्रबल समर्थन मिला। किन्तु इसके विरुद्ध सत्यनिष्ठा एवं दृढ़ संकल्प के धनी राजर्षि टण्डन और उनकी परम्परा विद्यमान थी, जिसने सत्य के लिए 'किसी से न डरो' की वैदिक उद्घोषणा को आधार बनाया था और अन्ततः गांधी के त्रिगुट के व्यापक विरोध के बावजूद हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हुई।

ध्यातव्य है कि स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जो महत्त्व राजनीतिक दृष्टि से था वही स्थान भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भी था। १९१० ई० में स्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कर्णधार मदनमोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे प्रमुख राष्ट्रीय नेता थे जो भाषा और स्वराज्य के साथ भारतीय संस्कृति के उस प्रवाह को भी प्रामुख्य प्रदान कर रहे थे, जो सम्राट् हर्षवर्द्धन के पश्चात् सतत विदेशी आक्रान्ताओं की दुर्धर्ष प्रहारात्मकता से शुष्क हो चुका था। १९१७ ई० में जब महात्मा गांधी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए तो उन्होंने सम्मेलन के माध्यम से हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न उठाया क्योंकि मुस्लिम नेता फारसी का पतन देखकर हिन्दी की ही शैली उर्दू पर फारसी का मुलम्मा चढ़ा कर उसे शासन में लाने का प्रयत्न कर रहे थे। १९०३ ई० से ही मुस्लिम सम्प्रदाय ने इसके लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था तथा अंजुमन-तरक्किए-उर्दू का गठन मौलाना शिबली जैसे साम्प्रदायिक व्यक्तियों ने सम्पन्न कर लिया था। खिलाफत आन्दोलन के पश्चात् १९१९ ई० में जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग में नैकट्य बढ़ा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अब भाषा-विवाद समाप्त हो जायेगा परन्तु १९२० में जमायतुल-उलमाए-हिन्द का गठन करके मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने पुनः विष-वमन प्रारम्भ कर दिया जिससे हिन्दी साहित्य सम्मेलन को पुनः भाषा के क्षेत्र में सजग होना पड़ा। इस प्रकार, हिन्दी-उर्दू में बढ़ते संघर्ष को देखकर महात्मा गांधी ने समन्वय का रास्ता अपनाया और भारत-विभाजन की परवर्ती नीति के पूर्व ही भाषा-विभाजन को स्वीकार करना चाहा, किन्तु राजर्षि टण्डन ने इसका सक्रिय विरोध किया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

महात्मा गांधी ने 'हिन्दी' पर प्रहार करने के पूर्व 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के नामकरण के औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगा दिया किन्तु टण्डन जी ने इसे असंगत बताते हुए नामकरण के प्रश्न को समाप्त किया। १९४१ ई० के अबोहर सम्मेलन में जब गांधी जी ने हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न पुनः उठाया और दोनों को एक मानकर देवनागरी और फारसी लिपि में लेखन पर बल दिया तो राजर्षि टण्डन विक्षुब्ध हो उठे क्योंकि फारसी में लिखित हिन्दुस्तानी का स्वरूप विदेशी सत्ताधारियों के द्वारा वे १८८५ से देख रहे थे। अतः अबोहर में टण्डन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "उर्दू-हिन्दी दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं अतः दोनों के पृथक् व्यक्तित्व के लिए दो लिपियों का प्रश्न ही नहीं उठता।" अबोहर में गांधी और नेहरू की व्यापक राजनीतिक प्रभावात्मक स्थिति के बावजूद हिन्दी की विजय हुई और हिन्दुस्तानी की माँग फिर दब गयी। इसके परिणामस्वरूप महात्मा गांधी ने १९४२ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नेतृत्व से स्वयं को पृथक् कर लिया और कांग्रेस के मंच से हिन्दुस्तानी का प्रचार प्रारम्भ किया। किन्तु टण्डन जी हिमालय की भाँति अडिग रह कर राष्ट्र के प्रभुत्वसम्पन्न नेताओं के विरोध को सहन करते हुए भी हिन्दी के लिए सतत संघर्ष करते रहे। दूसरी ओर नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना आजाद के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी के प्रसार में गांधी जी ने पूरी शक्ति केन्द्रित कर दी, किन्तु इससे न तो सम्मेलन की लोकप्रियता का ह्रास हुआ और न टण्डन जी के मनोबल का। इस प्रकार भाषा का नया संघर्ष तीन गुटों में विभाजित हो गया—१. टण्डन जी के नेतृत्व में हिन्दी का संघर्ष, २. अंजुमन के नेतृत्व में उर्दू का संघर्ष और ३. महात्मा गांधी के नेतृत्व में हिन्दुस्तानी का, जो दोनों के एकीकरण का आवरण मात्र था।

१९४५ ई० में महात्मा गांधी ने टण्डन जी और अंजुमन के नेता अब्दुल हक को वार्ता के लिए वर्धा आमंत्रित किया जिससे हिन्दी और उर्दू में समझौता सम्पन्न हो सके, लेकिन विस्तृत पत्र-व्यवहार के पश्चात् टण्डन जी ने हिन्दुस्तानी के रूप में अथवा उर्दू के पृथक् अस्तित्व के नाम पर समझौता अस्वीकार कर दिया और स्पष्ट रूप से कहा कि वे उर्दू को हिन्दी की एक शैली के रूप में पूरा सम्मान देते हैं किन्तु उर्दू के स्वतंत्र स्वरूप की परिकल्पना भी नहीं कर सकते। अतः हिन्दी और उर्दू के लेखक मिलकर इसे एक भाषा मानें। जैसा कि निश्चित था, अंजुमन और अब्दुल हक को यह प्रस्ताव पसंद नहीं आया और हिन्दी-उर्दू समझौते का प्रयास भी विफल हो गया। टण्डन जी का यह विरोध दो कारणों से था। प्रथमतः यह प्रश्न दो भाषाओं के एकीकरण का था और दूसरे हिन्दी और उर्दू के लिए दो पृथक् लिपियों का था। टण्डन जी का स्पष्ट मत था कि दो भाषाओं के सम्यक् निर्वाह हेतु एक लिपि का होना नितांत आवश्यक है। महात्मा गांधी ने टण्डन जी के निर्णय से खिन्न होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्राथमिक सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया, जिसे टण्डन जी ने स्वीकार कर लिया।

१९४५ ई० तक भारतीय स्वाधीनता के स्पष्ट संकेत मिलने लगे थे तथा स्वतंत्र भारत के लिए राष्ट्रभाषा का प्रश्न गम्भीर होता जा रहा था। महात्मा गांधी अब कांग्रेस

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मंच से भी हिन्दी के विरुद्ध हिन्दुस्तानी को प्रश्रय देने लगे थे किन्तु पुरुषोत्तमदास टण्डन सम्मेलन और कांग्रेस दोनों मंचों से हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील थे। यद्यपि इसके लिए उन्हें विशुद्ध संस्कृतगर्भित हिन्दी का समर्थक कह कर कुछ लोग अवहेलित भी कर रहे थे, परन्तु टण्डन जी हिन्दी के जन-प्रचलित किन्तु मानक रूप को विकसित करने के प्रयत्न में अविचल थे। दूसरी ओर मुस्लिम संगठनों ने भी लिपि का परित्याग किये बिना हिन्दुस्तानी को स्वीकार करने का आश्वासन गांधी जी को दे रखा था। निश्चित रूप से लिपि में कोई परिवर्तन न करने का ध्येय फारसी का प्रत्यावर्तन था जिससे टण्डन जी भलीभाँति अवगत थे और उसके दूरगामी परिणाम को भी समझ रहे थे। इसीलिए उन्होंने स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दी को पूर्णरूप से शासन के योग्य बनाने तथा दक्षिण भारत में उसकी लोकप्रियता को बनाये रखने के लिए सम्मेलन के माध्यम से परीक्षाओं की योजना बनायी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के साहित्यिक ग्रन्थों के अनुवाद की प्रवृत्ति पर बल दिया। इन योजनाओं से हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ी और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने राष्ट्र के पृथकीकरण की जो गूढ़ व्यूह-रचना तैयार की थी, वह पाकिस्तान के बनने पर भी अपेक्षाकृत कमजोर पड़ गयी। वस्तुतः हिन्दुस्तानी का छद्म भारत को मुस्लिम बहुल सिद्ध करके भारत के अधिकांश को आत्मसात् करना ही था, जैसा कि ज्योतीन्द्र दासगुप्ता ने लिखा है—"This was a signal opportunity to openly deride Hindustani as a mask for Urdu and by depicting Urdu as a Muslim language to identify it with the demand for Pakistan."

१९४६ ई० तक भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति संदिग्ध हो चुकी थी क्योंकि महात्मा गांधी, पं० नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और मौलाना आजाद जैसे नेता हिन्दुस्तानी के पक्षधर थे और संविधान सभा के द्वारा भारत के भावी संविधान की रचना अंग्रेजी में हो रही थी। सेठ गोविन्ददास ने इसका प्रतिवाद भी किया। १४ जुलाई, १९४७ ई० को अचानक हिन्दी समर्थकों ने संविधान में हिन्दुस्तानी का समर्थन करने का संकेत किया जिससे भारत का विभाजन न हो और राष्ट्रीय एकता अक्षुण्ण रहे किन्तु उर्दूभाषियों की नीयत स्पष्ट थी तथा वे किसी भी कीमत पर पाकिस्तान नहीं छोड़ना चाहते थे। पाकिस्तान का विभाजन तय हो जाने पर टण्डन जी और उनके अनुयायियों ने कहा कि अब हिन्दुस्तानी का प्रश्न ही नहीं रह जाता तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता देना तर्कसंगत है। हिन्दुस्तानी समर्थकों की हठधर्मिता पर कांग्रेस में मतदान हुआ और हिन्दी को बासठ तथा हिन्दुस्तानी के समर्थन में ३२ मत पड़े और इस प्रकार हिन्दी भाषा की विजय हुई। इसी प्रकार, देवनागरी लिपि की स्वीकृति में भी हिन्दी-नेता ४५ मतों से विजयी हुए। इसके परिणामस्वरूप नेहरू जी ने इस प्रश्न को संविधान सभा में लाने का विचार कुछ समय के लिए छोड़ दिया। यद्यपि यह प्रश्न समाप्त हो गया था कि हिन्दुस्तानी को अंग्रेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाय, किन्तु इसी के समान्तर हिन्दी को भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए भी कुछ नेताओं ने देवनागरी अंकों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को प्रचलित रखने

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

पर बल दिया और इस बार देवनागरी अंकों के सम्बन्ध में हुए मतदान में हिन्दी एक मत से विजयी हुई किन्तु इस मतदान के पूर्व हिन्दी और अंग्रेजी के समर्थकों में तीव्र झड़पें हुईं क्योंकि इसी प्रश्न पर पुनः हिन्दी भाषा का अस्तित्व समाप्त किया जा सकता था। संविधान सभा में मौलाना आजाद ने तो यहाँ तक कहा कि मात्र हिन्दुस्तानी ही भारत की राजभाषा बनने के योग्य है लेकिन टण्डन जी ने संविधान सभा की बहस में हस्तक्षेप करते हुए कहा कि जब हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति पा चुकी है तो उसके अंकों को मानना ही समीचीन है क्योंकि अंक और लिपि पृथक् तत्त्व नहीं हैं। अन्ततः १४ सितम्बर, १९४९ ई० को सायं ५ बजे यह तय किया गया कि देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी और देवनागरी में अंकों का लेखन १५ वर्षों के बाद प्रारम्भ होगा। इस प्रकार राजर्षि टण्डन और अन्य हिन्दी नेताओं का स्वप्न पूरा हुआ और कठिन संघर्ष के पश्चात् हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन होने का अवसर सुलभ हुआ।

यहाँ विचारणीय है कि क्या हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के बाद भी वह सम्मान सुलभ हुआ जो मिलना चाहिए था। भारत का प्रत्येक व्यक्ति इसका स्पष्ट उत्तर देगा नहीं। इस वर्ष राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की जन्मशती मनायी जा रही है और मैंने पिछले वर्ष प्रेमचन्द-जन्मशती की आयोजना पर भी यह संकेत किया था कि 'जन्म-शती' के आयोजन से हमारा तात्पर्य क्या है? वस्तुतः जन्मशती के माध्यम से हम अपने महान् पुरुषों के उदात्त जीवन का स्मरण करते हैं और उसका अनुगमन करने का संकल्प लेते हैं, किन्तु आज सौ वर्ष बीत जाने पर भी जिस महापुरुष को हम श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने जा रहे हैं, उसके आदर्शों का कितना प्रतिफलन हमारे जीवन और समाज में हो रहा है? जिस उत्तर भारत की समग्र चेतना को आत्मसात् करते हुए राजर्षि टण्डन ने महात्मा गांधी जैसी हस्ती से हिन्दी के प्रश्न पर टक्कर ली थी—तथा जिन टण्डन जी के सबल नेतृत्व में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन शिक्षामंत्री और कालान्तर में मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने हिन्दी के समर्थन में पं० जवाहरलाल नेहरू से विरोध लिया था, उसी प्रदेश में एक बार पुनः उर्दू को द्वितीय राजभाषा बनाने का संकल्प सत्ताधारियों द्वारा लिया जा रहा है और वह भी उसी वर्ष में जब राजर्षि टण्डन की जन्मशती मनायी जा रही है। इससे घृणित और स्वार्थी मनो-वृत्ति और क्या हो सकती है?

आज हिन्दी के समक्ष अनेक संकट हैं। अहिन्दीभाषी राज्य, जो संविधान की रचना के समय भाषा के प्रश्न पर मौन थे, अब क्षेत्रीय आधार पर भाषा को प्रस्तुत करना चाहते हैं तथा उसे 'सत्ता' का आधार मान बैठे हैं। उत्तर भारत में उर्दू समर्थकों को उकसाया जा रहा है तथा अंग्रेजी का वर्चस्व यथावत् है। ऐसी स्थिति में राजर्षि टण्डन की सच्ची श्रद्धां-जलि हिन्दी की गरिमा के लिए स्वार्थपरता से उठ कर कुछ करने की है। यदि हिन्दी-प्रेमी अपनी मिथ्या अहंवादिता और सुविधाजीवी राजनीति में लगे रहेंगे तो वह दिन दूर नहीं जब हिन्दुस्तान जैसे महासागर के अनेक महामत्स्य युग-पुरुष टण्डन द्वारा पोषित इस मीन को निगलने में सफलता प्राप्त कर लेंगे। यह सत्य है कि स्वतंत्रता के पश्चात् मौलाना आजाद

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ने शिक्षा मंत्रालय के माध्यम से हिन्दी के विकास की ऐसी योजना बनायी, जिससे हिन्दी पन्द्रह वर्षों तक क्या शताब्दियों तक अंग्रेजी के प्रभुत्व को समाप्त करने में सक्षम रहे किन्तु आज भी केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय उसी अंग्रेजी तंत्र का अनुकर्ता और अभिशप्त हिन्दी का अश्रु-प्रक्षालक मात्र बना हुआ है। यदि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जिसने राजर्षि टण्डन और सेठ गोविन्ददास जैसे अग्रणी नेताओं के नेतृत्व में हिन्दी के लिए संघर्ष-सातत्य में कीर्तिमान स्थापित किया था, एक बार पुनः निःस्पृह कार्यकर्त्ताओं के साथ आगे आएँ तो वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी व्यावहारिक राष्ट्रभाषा भी बन जायेगी। किन्तु इसके लिए जिस आत्म-त्याग की आवश्यकता है, उसका आज हिन्दी-जगत् में नितांत अभाव है। वस्तुतः तुच्छ बुद्धि में तो यही आता है कि राजर्षि की सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी कि वर्तमान उर्दू-व्यामोह को समूल उच्छेदित किया जाय और राष्ट्रभाषा के रूप में केन्द्र सरकार की आश्वासनवादी नीति का विरोध करते हुए हिन्दी को उसके समग्र संवैधानिक अधिकार दिलाने के लिए बाध्य किया जाय। यही युग-पुरुष की सच्ची श्रद्धांजलि होगी और सम्मेलन को प्राणों में समोये रहने वाले महापुरुष का महानतम अनुकरण भी।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री प्रेमलाल ठाकुर

⊙⊙

भारतवर्ष में अनेक महापुरुषों का योगदान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में रहा है, उन्हीं महापुरुषों में से राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी भी एक हैं। टण्डन जी का जन्म १८८२ ई० में प्रयाग में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर एम० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षा भी उन्होंने प्रयाग में ही प्राप्त की। टण्डन जी ने इलाहाबाद में ही वकालत प्रारम्भ की। मेधावी और परिश्रमशील होने के कारण थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत बहुत अच्छी चल पड़ी और नगर के गण्यमान्य वकीलों में उनकी गणना की जाने लगी। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के बाद महामना मालवीय जी ने टण्डन जी को १९०९ ई० में "अभ्युदय" का सम्पादक बनाया और सम्मेलन का समस्त कार्यभार उनके अधीन कर दिया और उन्होंने इस दायित्व को ऐसी विनम्रता से निभाया है कि टण्डन जी अब "सम्मेलन" के प्राण विख्यात हैं। आरम्भ से अन्त तक वे अपने सुविचारित सिद्धान्तों पर अडिग रहे हैं और इसके लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े नेताओं और संस्थाओं का मुकाबला किया तथा हँसी-खुशी से वैयक्तिक त्याग भी किया। टण्डन जी का कार्यक्षेत्र अधिकतर इलाहाबाद रहा है। असाधारण रूप से सफल और अत्यधिक व्यस्त वकील होते हुए भी सार्वजनिक कार्यों के लिए समय निकालना उनके लिए कठिन न था। इसी कारण शीघ्र ही उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नेताओं में उनकी गणना होने लगी। हिन्दी साहित्य के तो वे सूत्रधार थे ही, कांग्रेस में भी उनका स्थान प्रथम पंक्ति में आ गया।

टण्डन जी आस्थावान् पुरुष थे; परन्तु वे अपने धार्मिक विश्वासों का प्रदर्शन करना पसन्द नहीं करते थे। अतः कम लोग ही उनके बारे में यह जानते हैं कि वे राधास्वामी मत के अनुयायी थे और प्रायः सर्वप्रथम गुरु की समाधि के समीप बैठकर ध्यानमग्न होना उन्हें पसन्द था। राधास्वामी मत से सम्बन्ध भी इस बात का कारण हो सकता है कि उन्हे सन्तवाणी विशेषकर कबीर, दादू और रैदास की वाणी से विशेष मोह था और इन सन्तों की शिक्षा का टण्डन जी के जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ा था।

गण्यमान्य वकीलों में जब टण्डन जी को माना जाने लगा था तो उसी समय बीच में जब लाला लाजपत राय ने लोक सेवक मण्डल के स्वयंसेवकों की भर्ती आरम्भ की तो टण्डन जी अपना सब कुछ छोड़कर उसमें भर्ती हो गये। वे एक अच्छे वकील से देशभक्त स्वयंसेवक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बन गये। लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित लोक सेवक मण्डल के सदस्य बन जाने से टण्डन जी का कार्यक्षेत्र पंजाब भी बन गया। १९२६ ई० में मण्डल के सदस्य बन जाने तथा वकालत को तिलांजलि देकर टण्डन जी ने अपना समस्त जीवन सार्वजनिक कार्यों के लिए अर्पित कर दिया। मण्डल का प्रधान कार्यालय लाहौर में था, अतः उन्हें अधिकतर वहीं रहना पड़ा। इस स्थिति से पंजाब के हिन्दी आन्दोलन को अधिक प्रेरणा मिली और टण्डन जी के पथ-प्रदर्शन में प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन और आर्य समाज, सनातन-धर्म सभा, देव समाज आदि द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी के लिए अधिकाधिक स्थान देने की भावना को बल मिला। हिन्दी के सभी केन्द्रों से उनका निकट सम्पर्क रहा। लाहौर, अमृतसर, जालन्धर और अबोहर ये हिन्दी के केन्द्र थे और इन सभी को टण्डन जी से यथासमय परामर्श और सहायता मिलती रही।

लाला लाजपत राय की मृत्यु के पश्चात् लोक सेवक मण्डल के अध्यक्ष का पद रिक्त हुआ। गांधी जी ने इस पद के लिए टण्डन जी को सुझाया। बापू जी के संकेत पर वे लोक सेवक मण्डल के अध्यक्ष बने तथा इस पद पर वे अन्तिम समय तक रहे।

किसानों की दुर्दशा से टण्डन जी दुःखी थे और इस दुर्दशा का मूल कारण वह जमींदारी प्रथा को मानते थे। उनका मत था कि जितनी जल्दी जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो जाय राष्ट्रहित में उतना ही अच्छा है। किसानों की आर्थिक व्यवस्था सुधारने और उनके अधिकार सुलभ कराने के उद्देश्यों से उन्होंने १९३० ई० में "केन्द्रीय किसान संघ" की स्थापना की थी। १९३१ ई० में उत्तर प्रदेश में लगान के सम्बन्ध में छूट दी गयी थी; परन्तु फिर भी उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे लगान चुका सकें। अतः उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी ने निश्चय किया कि किसानों के लगान देने के प्रश्न पर कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी को भी समझाया जाय तथा इस कार्य के लिए श्री सदूक अहमद खाँ शेरवानी एवं राजर्षि टण्डन को नियुक्त किया गया। कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी के सामने टण्डन जी ने किसानों के पक्ष का जोरदार समर्थन किया तथा इसके कुछ दिन बाद ही राजर्षि टण्डन जी गिरफ्तार कर लिये गये।

१९३२ के सत्याग्रह में टण्डन जी ने पुनः भाग लिया। जेल से मुक्त होने पर उन्होंने अस्पृश्यता निवारण और हरिजनोत्थान के कार्यों में अपने को लगा दिया।

१९३६-३७ ई० में जब स्वायत्त शासन की प्राप्ति के पश्चात् प्रदेशों में जनप्रिय सरकारें बनीं तो टण्डन जी उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। १९३९ ई० में जब कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, तब टण्डन जी भी विधान सभा की अध्यक्षता से पृथक् हो गये। १९४० ई० में उन्हें फिर एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। १९४१ ई० में जेल से छूटे ही थे कि गांधी जी ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन की घोषणा कर दी। यद्यपि टण्डन जी इन दिनों कुछ अस्वस्थ थे, फिर भी वे स्वतन्त्रता की लड़ाई में कूद पड़े। ८ अगस्त, १९४२ ई० में उन्हें नजरबन्द कर लिया गया तथा दो वर्ष पश्चात् १९४४ ई० में रिहा किया गया। १९४६ ई० में टण्डन जी दूसरी बार उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष बने—१९४८ ई० में उन्होंने उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस अध्यक्ष का पद-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भार सँभाला तथा १९५० ई० में वे अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गये। इसी समय कांग्रेस में नीतिनिर्धारण के प्रश्न पर पं० जवाहरलाल नेहरू से उनका मतभेद हो गया। अंततोगत्वा श्री टण्डन जी ने देशहित की दृष्टि से कांग्रेस अध्यक्ष पद का परित्याग कर दिया। टण्डन जी विचार स्वातंत्र्य के बड़े हिमायती थे। दूसरों के विचारों से मतसाम्य न होने पर किसी कटुता और दुर्भाव के बिना अपने विचारों पर अडिग बने रहना उनका स्वभाव था। पं० नेहरू और उनके मध्य हुए मतभेद के पूर्व भी अनेक ऐसे अवसर आये जहाँ टण्डन जी अकेले रहने पर भी अपने विचारों से तिलमात्र भी नहीं डिगे। गांधी जी से भाषा के विषय में उनका मतभेद हुआ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए राजेन्द्र बाबू खड़े हुए तो टण्डन जी ने अमरनाथ झा को खड़ा करके राजेन्द्र बाबू को पराजित कराया। अखिल भारतीय कांग्रेस ने १४ जून १९४७ ई० को जब देश के विभाजन का निर्णय लिया तो एकमात्र टण्डन जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने किसी के मतामत की जरा भी परवाह किये बिना भारत विभाजन का विरोध किया था।

१९५२ ई० में टण्डन जी लोकसभा के सदस्य चुने गये और १९५७ ई० में राज्य सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। वे प्रायः अस्वस्थ रहने लगे तथा स्वास्थ्य की अनुकूलता न होने के कारण दिल्ली से प्रयाग वापस आ गये। कुछ समय बाद उन्होंने राज्य सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के व्यक्तित्व में लोकमान्य तिलक के आदर्श, गांधी जी का नेतृत्व और महामना मदनमोहन मालवीय के सिद्धान्त मूर्तिमान हुए थे। उनके सार्वजनिक जीवन के सूत्र भी ये ही थे।

अपने सार्वजनिक जीवन के ३४-३५ वर्षों में जहाँ एक ओर भारतीय स्वाधीनता के नवजागरण काल में महात्मा गांधी के अन्यतम अनुयायी के रूप में उन्होंने अपनी सेवाएँ दीं वहाँ राष्ट्र के नवनिर्माण-काल में देश की पुरातन संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए अपना शेष जीवन अर्पित कर दिया।

यह सर्वविदित है कि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जन्मदाताओं में से हैं। टण्डन जी की दूसरी हिन्दी-सेवा सम्मेलन के तत्त्वावधान में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना है। १९३० ई० में इसे सम्मेलन से पृथक् करके स्वतन्त्र रूप दे दिया गया। हिन्दी शिक्षण और प्रचार में विद्यापीठ आज बहुमूल्य कार्य कर रहा है। उच्चकोटि के नेता और व्यवस्थापक की हैसियत से ही टण्डन जी ने हिन्दी की सेवा नहीं की; परन्तु वे स्वयं ऊँचे साहित्यिक और साहित्य के पारखी थे। जिन्होंने टण्डन जी को साहित्यिक गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में भाग लेते देखा है, वे जानते हैं कि वे कितने काव्य-प्रेमी और रसिक थे। यदा-कदा वे स्वयं भी कविता करते थे। कबीर और रहीम के वे विशेष प्रशंसकों में से एक थे। उन्हीं की प्रेरणा से दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन रहीम खानखाना के मकबरे पर प्रतिवर्ष इस महान् कवि की बरसी मनाने लगा है और मकबरे की इमारत में सरकार द्वारा सुधार का काम भी उन्हीं के सुझाव से होना आरम्भ हुआ है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी १९२२ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कानपुर अधिवेशन के सभापति हुए थे और अनेक बार प्रान्तीय सम्मेलनों का सभापतित्व कर चुके थे। टण्डन जी सदा हिन्दी के पक्ष में रहे और महात्मा गांधी की "हिन्दुस्तानी" के विरोधी। अतः १९४५ ई० में हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर मतभेद के कारण गांधी जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने टण्डन जी के नाम पत्र लिखा—"जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ, तब मुझे सम्मेलन से हट जाना चाहिए, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है।" टण्डन जी ने इस पत्र के उत्तर में कहा कि गांधी जी और सम्मेलन के दृष्टिकोण में कोई मौलिक मतभेद नहीं; परन्तु गांधी जी इस बात से सहमत नहीं हों तो उनके निर्णय को सम्मेलन को दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। बात सिद्धान्त की थी। टण्डन जी का कहना था कि देवनागरी अक्षर ही हिन्दी के लिए सबसे उपयुक्त हैं तथा हिन्दी के लिए दो लिपियाँ निर्धारित करना भाषा और उसके व्यापक प्रचार के लिए घातक होगा। टण्डन जी का विचार युक्ति-संगत था। १९४९ ई० में देश की संविधान परिषद् ने भी हिन्दी और देवनागरी लिपि को ही मान्यता दी।

१९२२ ई० में तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से भाषण देते हुए टण्डन जी ने जो उद्‌गार प्रकट किये और जिस प्रकार अपने विचारों को सजाकर रखा, वह कोई साहित्यिक ही कर सकता है। इस भाषण में उन्होंने कहा—"यह समय भारतवर्ष के लिए महान् परिवर्तन और बड़े महत्त्व का है। यही एक ऐसा अवसर है, जबकि वह अपने विचारों और कृत्यों से संसार का सारा मानसिक प्रवाह बदल दें।...कृत्रिमता छोड़िए, भावुकता संग्रह कीजिए। सूर्य की नैसर्गिक ज्योति का सौन्दर्य पहाड़ों और जंगलों में स्वतः दिखलायी पड़ता है ...आभूषणों की आवश्यकता, कवियों के पलने के अनुसार भी, परकीया नायिका को अधिक होती है। स्वकीया सती का शृंगार आभूषणों पर न निर्भर ही है और न उससे बढ़ता ही है।...वाणी की सार्थकता इसी में है कि वह आकाश में सीढ़ी बाँधकर मनुष्य को उस स्थान पर चढ़ा दे, जहाँ से वाणी का उद्‌गार हुआ है...आप अपनी वाणी का ऊँचा आदर्श रखें। वह पवित्र कुल की पुत्री है, उसका शृंगार नैसर्गिक मालती और मल्लिका से ही कर उसका पूजन करें।...निस्सार नीचे गिराने वाले रसों और उन्हीं के समान संचारी भावों, विभावों और अनुभावों को छोड़कर दिव्य नये रसों का प्रादुर्भाव कीजिए। उनके उपयुक्त संचारी भावों से उन्हें संचारित कीजिए और तब उनके लिए परिणामस्वरूप महत् अनुभावों का दर्शन कर कृतार्थ होइए।" इस प्रकार सुन्दर और साहित्यिक विचारों द्वारा टण्डन जी सम्मेलन तथा अन्य हिन्दी-सेवी संस्थाओं में सतत प्राण भरते रहे। टण्डन जी इस शती के प्रथम दशक से इस समस्त आन्दोलन के प्रवर्तकों में से हैं। रंगमंच के सूत्रधार की भाँति उन्हें इस साहित्यिक मंच के स्थायित्व को बनाये रखने के लिए उन्हें बराबर सतर्क और सचेष्ट रहना पड़ा। टण्डन जी हिन्दी के ऐसे संरक्षक और प्रहरी थे, जिसने केवल मंच की ही चिन्ता नहीं की; परन्तु समय-समय पर स्वयं उस पर आकर साहित्य भाण्डार को समृद्ध

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

करने का भी यत्न किया। इसका प्रमाण टण्डन जी की रचनाएँ हैं, जो भाषणों, लेखों, पत्रों आदि के रूप में बिखरी पड़ी हैं और सौभाग्य से संकलित अथवा फुटकर हमें उपलब्ध हैं। उनकी संयत, परन्तु सजीव तथा ओजपूर्ण शैली ने हिन्दी की साहित्य-श्री को समृद्ध किया है। वे गत ५० वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा हिन्दी संस्थाओं के अटल प्रहरी और साहित्यिकों के अमोघ प्रेरणादायक मार्ग-दर्शक रहे।

टण्डन जी देश की स्वाधीनता, स्वावलम्बन और उनके स्वत्वों को सुलभ कराने के लिए, राष्ट्र की भावनात्मक, सांस्कृतिक और राजनैतिक एकता बनाये रखने के लिए एक भाषा और एक लिपि राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कराने के पक्षपाती थे। उनके मत से हिन्दी ही यह भाषा थी और देवनागरी लिपि राष्ट्रलिपि।

राजर्षि टण्डन का समग्र जीवन त्याग और तपश्चर्या का जीवन रहा है, देश की स्वाधीनता के लिए उन्होंने त्याग किये और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए कठोर तपश्चर्या। राजर्षि टण्डन के लिए देश की स्वाधीनता एक साधन थी और उसकी समृद्धि का सूत्र और साध्य तो था ही। यही कारण है कि उन्होंने राजनीतिक उपलब्धियों की अपेक्षा सदा ऊँचे आदर्शों के लिए काम किया। उनके द्वारा संस्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनके इसी आदर्श का एक प्राणवंत प्रमाण है। सम्मेलन की स्थापना और उसके बाद संसद् में उनके हिन्दी सम्बन्धी विचार और कार्य देख अनायास यह भान हो जाता है कि संसद् में वे हिन्दी के हित के लिए ही गये थे।

टण्डन जी देश के अग्रगण्य नेताओं में एक थे। उन्होंने तपश्चर्या द्वारा अपने व्यक्तित्व और विचारों में जिस उदात्त चरित्र का सृजन किया था उसके कारण उनकी यह ख्याति थी। वे भारतीय संत परम्परा के प्रतिनिधि थे और इन्हीं अर्थों में राजर्षि के सम्बोधन से जाने जाते थे। महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा, साध्य और साधन की पवित्रता वाले आदर्श को गांधी जी के निकटतम जिन अनुयायियों ने अपने आचरण में उतारा था उनमें सर्वप्रधान आचार्य विनोबा भावे, देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ये तीन ही व्यक्ति थे।

राजर्षि टण्डन को भारतरत्न की उपाधि से विभूषित करने तथा उनका अभिनन्दन करने भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी स्वयं प्रयाग गये थे। प्रथम जुलाई, १९६२ को टण्डन जी का निधन हो गया।

—संस्कृत विभाग
हिमांचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला-५ (हिमांचल प्रदेश)

⊙

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ऐसा था-राजर्षि का प्रभाव

श्री रामगोपाल सण्ड

⊙ ⊙

अतुलनीय त्यागमूर्ति टण्डन जी का जितना सम्मान किया जाना चाहिए था वह नहीं हुआ। वे हिन्दी को अपने शरीर से ज्यादा प्यार करते थे।

राजर्षि टण्डन जी से मेरा परिचय आज से पचास वर्ष पूर्व हुआ था। उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि उन्होंने सदा के लिए मुझे अपनी ओर खींच लिया। मेरा जीवन उनके उपकारों से भरा पड़ा है। उनका जीवन सद्‌गुणों का समुद्र था।

एक बार राजर्षि टण्डन सरदार पटेल की जयन्ती के अवसर पर कल्याणी देवी विकास परिषद् के उत्सव में आये। मैंने उनसे प्रयाग विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह को हिन्दी में सम्पन्न कराने के लिए मार्गदर्शन करने की प्रार्थना की। उन्होंने मुझे कल्याणी देवी स्थित अपने पुत्र के निवास पर बुलाया। उस समय वे कुछ अस्वस्थ थे। उन्होंने एक पत्र श्री चन्द्रभानु गुप्त, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री के नाम दिया था जो इस प्रकार है—

प्रिय चन्द्रभान जी,

८-१२-६०

नमस्कार

यहाँ की राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति ने यह निर्णय किया है कि प्रयाग विश्वविद्यालय का जो समावर्तन संस्कार दिनांक २४ को होनेवाला है उसका कार्य हिन्दी में कराने का प्रयत्न किया जाय। उसके कुछ सदस्य मेरे पास आये। विश्वविद्यालय के उपकुलपति से भी मिले। आज वे लखनऊ तुम्हारे पास डेपुटेशन लेकर जा रहे हैं। वह राज्यपाल महोदय से यह प्रार्थना करना चाहते हैं कि तुम प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति महोदय को सलाह दो कि वह अब हिन्दी में समावर्तन संस्कार आरम्भ करें।

मेरी अभिलाषा है कि तुम इस काम में सहायता दो। तुम्हारे मुख्य-मन्त्रित्व के आरम्भ काल में इस कार्य का प्रारम्भ सब दृष्टि से शुभ और शोभनीय होगा।

मेरा विश्वास है कि राज्यपाल महोदय, हिन्दी बोल सकते हैं और उन्हें हिन्दी बोलने के लिए तत्पर करने में विशेष कठिनता न होगी। मैं स्वयं उनको लिखता परन्तु मुझे यह अधिक उचित लगता है कि उनके पास मेरा यह सुझाव तुम्हारे द्वारा ही जाय।

राज्यपाल जी के पास इन भाइयों को उपस्थित कराने का प्रबन्ध करा देना।

सस्नेह,

पुरुषोत्तमदास टण्डन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उन्होंने श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव—जो उस समय इलाहाबाद के दैनिक भारत के मुख्य सम्पादक थे—तथा मुझे एवम् श्री हरिमोहन मालवीय को अधिकार दिया कि हम तीनों वह पत्र लेकर श्री गुप्त से लखनऊ में मिलें।

उन्होंने हमें आने-जाने का मार्ग-व्यय भी दिया।

हम लखनऊ गये। स्टेशन से हम सीधे पानदरीबा स्थित श्री चन्द्रभानु गुप्त के घर गये। श्री गुप्त मुख्यमंत्री बनने पर भी अपने घर पर ही रहते थे। वे सरकारी बँगले में नहीं गये थे।

श्री गुप्त को जैसे ही हम लोगों ने राजर्षि का पत्र दिया—उन्होंने उसे पढ़कर फोन पर तत्काल उस समय के राज्यपाल श्री रामकृष्ण राव से बातें कीं तथा हम लोगों को राज-भवन राज्यपाल से मिलने भेज दिया। राजभवन में स्वर्गीय शंकरदयालु श्रीवास्तव तथा मैंने राजर्षि की इच्छा से राज्यपाल महोदय को अवगत कराया।

राज्यपाल प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति थे। राज्यपाल ने अपना फैसला हमें सुना दिया तथा अपना निर्णय उस समय के विश्वविद्यालय के कुलपति के नाम से रवाना कर दिया।

राज्यपाल का निर्णय उसी वर्ष दीक्षान्त समारोह का सारा कार्य—हिन्दी में सम्पन्न कराने के लिए था। स्मरण रहे कि दीक्षान्त समारोह होने में मात्र एक सप्ताह से भी कम का समय शेष था। युद्धस्तर पर कार्य हुआ।

मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गप्त ने राजर्षि टण्डन को उक्त पत्र का उत्तर दिनांक १३ दिसंबर' ६० को भेजा। यह पत्र सम्मेलन की राजर्षि टण्डन जन्मशती स्मारिका में प्रकाशित है जिसके अंत में राजर्षि के उक्त पत्र के सन्दर्भ गुप्त जी ने लिखा था—

दूसरे पत्र के सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि मैंने आपकी भावनाओं को राज्यपाल महोदय तथा उपकुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तक पहुँचा दिया है और मैंने इस बात की स्वतः इच्छा प्रकट की है कि वह जैसी आपकी इच्छा है उसे पूरी करने की चेष्टा करें।

आशा है आप स्वस्थ होंगे।

सादर

आपका

चन्द्रभानु गुप्त

हम तीनों दूसरे दिन प्रयाग वापस आये तथा राज्यपाल के निर्णय से राजर्षि को अवगत कर दिया।

उस वर्ष के प्रयाग विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर राजर्षि टण्डन का भव्य व्यक्तित्त्व छाया रहा। राजर्षि टण्डन जी का रहन-सहन सदा सादा रहा। चमड़े से उन्हें घृणा थी। वे जूता भी कपड़े का ही पहिनते थे। उनका शरीर इकहरा, दुबला-पतला था। दिखावे से उन्हें घृणा थी।

कल्याणी देवी स्थित उनके पुत्र का निवास एक अजातशत्रु का मकान था। सभी वहाँ आते थे। राजनेता चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पं० नेहरू जी, आचार्य कृपलानी, श्री माधवराव

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सदाशिव गोलवलकर, श्री दीनदयालु उपाध्याय से लेकर महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, जैसे साहित्यकार, साधारण गरीब छात्र, विधवा-बहनें सभी उनका दर्शन करने आते रहते थे। उनके घर से बाहर आने पर सभी के चेहरों पर एक सन्तोष की चमक रहती थी। अनेक विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर उन्हें परम सन्तोष मिलता था।

उनका सारा जीवन तप और निष्ठा का जीवन था। सत्य और अहिंसा को वे परम धर्म मानते थे। हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के इतिहास में उनका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

पूर्व विधायक,
कल्याणी देवी
प्रयाग

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

डबडबाई आँखें

श्री विश्वनाथ विबोध

⊙ ⊙

उनकी डबडबाई हुई आँखों की ओर मैंने भी निहारा है। उनकी आँखें उनके हृदय के दर्पण थे। मालूम पड़ता था कहीं से करुणा का महासागर उमड़ रहा हो। वे निःस्वार्थ थे। सब कुछ करने को आतुर रहते थे। एकला चलो रे, गरीबों, दीन-दुखियों के मसीहा एवं दधीचि, अपनी परवाह न करते हुए, दूसरों की चिन्ता में लीन, मानवता की सेवा में अपना सब कुछ होम देने वाले, नियम के कट्टर, सत्य एवं साहित्य के धनी, त्याग तप के महान् मूर्ति अब्राहम, मोरध्वज की तरह दो-दो पुत्रों की धर्म पर बलि चढ़ाने को तत्पर, भ्रष्टाचार के घोर विरोधी, न्याय के एकमात्र पुजारी, मातृभूमि के अनन्य सेवक थे राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन जिनकी वर्तमान परिवेश में जन्मशती समारोह मनाना सर्वथा उपयुक्त ही नहीं एक विशेष अभिपूर्ति है।

प्रयाग में सम्मेलन मार्ग के उनके निवास के बाहरी कक्ष में जहाँ एक दरी बिछी होती थी, मसनद रखे होते वहाँ एक काली सफेद दाढ़ी में पैबन्द लगे कुरते व शेरवानी में जिसके साथ में एक पतली छड़ी होती थी एक वियोगी दिव्य पुरुष बैठा साधना में लीन मिलता था। उसके चारों ओर कार्यकर्त्ताओं की भीड़ बनी रहती थी और जाने क्यों सब लोग उनकी ओर ताकते ही निहाल हो जाते थे, अपने कानों एवं नेत्रों को लगाये रहते थे तथा उनके कठोर-से-कठोर आदेशों का पालन करने को तत्पर दिखायी पड़ते थे।

उनके एक-एक विचार, एक-एक शब्द और एक-एक कर्म को समझना ही मुश्किल होता था फिर उनका वर्णन करना कितना कठिन है। उनके जीवन का एक-एक क्षण और एक-एक सदाचरण सीख एवं सत्य से पूर्ण भरपूर होते थे--यहाँ तक कि उनकी वाणी और कर्म में आज तक कोई अन्तर पाया ही नहीं गया। ऐसे थे विश्वास एवं हिन्दी साहित्य के महान् संगठक हमारे राजर्षि जी। उन्होंने जिस काम को उठाया उसको पूरा करके ही छोड़ा, जो शब्द बोले सत्य होकर ही रहे, चाहे उनको कितनी भी बाधाएँ मिली हों वे उनको चरितार्थ करके ही रहे इसीलिए वे हमारे महान् आदर्श थे और उनके छड़ी उठाकर चलते ही लोग उनके पीछे-पीछे अपने आप ही दौड़ने लगते थे और शाम तक साथ छोड़ते ही नहीं थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

मैंने धरातल पर ऐसा दिव्य पुरुष आज तक पाया ही नहीं जिसने मुझे इतना अधिक प्रभावित किया हो। वे सत्य रूप थे, ज्ञान थे एवं सेवा कर्म को स्वयं के तन-मन-धन में समोये हुए थे। उन्होंने कभी भी अपने लिये, अपने परिवार के लिए या उसके किसी भी सदस्य के लिए कितने-कितने ही संकटों एवं विपत्तियों में भी जीवनपर्यन्त कभी भी किसी से एक भी सेवा के अवसर नहीं लिये और न कभी मित्र के एवं परिवार के किसी भी सदस्य के पक्ष में किसी से एक भी तृण स्वीकारा हो चाहे कुछ भी हुआ हो। इसीलिए सभी लोग उनके दिखाये हुए आदर्शों के प्रति सब कुछ न्यौछावर करने को अपना सौभाग्य एवं आध्यात्मिक कर्त्तव्य मानते रहे। यद्यपि वे अपने विपत्ति की घड़ियों में भूखे रहे, चने चबाये तथा भूँजे आलू खाकर अपने शरीर को कृश किये एवं रक्षा किये किन्तु अपने प्रति या अपने परिवार के प्रति उन्होंने किसी का एक पैसा या एक दाना भी किसी दशा में नहीं स्वीकारा। उसके वे एक उदाहरण ही नहीं थे किन्तु परीक्षा में सफल उतरने वाले महापुरुष थे। यदि उनको किसी ने कोई वस्तु प्रदान किया रहा होगा तो उन्होंने उसकी कीमत चुकता किया होगा या उसे ज्यों-का-त्यों लौटा दिया होगा। क्या कोई ऐसा दूसरा आदर्श है भारतभूमि पर। यद्यपि आज उनकी गणना सादगी के कारण हरिश्चन्द्र, दधीचि, राम, कृष्ण, बुद्ध, मसीह, मूसा, मुहम्मद की श्रेणी में नहीं करते हैं किन्तु त्याग, न्याय एवं तपस्या के तराजू में किसी से कम भी नहीं रहे हैं।

सन् १९४२ में महात्मा गांधी का व्यक्तिगत सत्याग्रह खत्म हो चुका था। सब जेल के बाहर आ गये थे। बाबू जी घोर असंतुष्ट थे। उनका कहना था कि शस्त्र के बिना शास्त्र निरर्थक है। अतः वे राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने की चिन्ता में लीन हो गये। उनका अभीष्ट था भारतीय युवकों को शस्त्रों का शिक्षण देना। उस समय लेखक अपने ग्राम सैदाबाद व आस-पास में देश-प्रेमी मण्डल संस्था के माध्यम से गाँवों में सेवा का काम बड़े जोर-शोर से उठाये हुए था। बाबू जी को ठा० शिवमूर्ति सिंह के माध्यम से उक्त संस्था की जानकारी हुई। अतः लेखक को बुलाकर बाबू जी ने आदेश दिया कि सैदाबाद में उपर्युक्त संस्था के माध्यम से लाठी प्रशिक्षण कैम्प चलाना है। एक सप्ताह में दो सौ युवकों ने उक्त शिविर में भाग लिया तथा लाठियों की गड़गड़ाहट से सारा सैदाबाद का दशहरा-मैदान गनगनाने लगा और दर्शकों की कतारों की कतारें देखने को लालायित रही और पूरा वातावरण बदलता नजर आया। उस समय बाबू जी ने मण्डल के पुस्तकालय, वाचनालय, चर्खा, सेवादल आदि भी कार्य देखे और समापन समारोह पर लेखक को पुरस्कार भी दिये तथा तलवार का प्रशिक्षण देने के लिए घर भी बुलाये तथा आगे के अनेक कार्यक्रम बनाये। इस प्रशिक्षण की सी० आई० डी० रिपोर्ट की खबरें लन्दन तक गयीं और अंग्रेजों के कान खड़े हो गये। उपर्युक्त प्रशिक्षण समाप्ति समारोह में भाग लेने वालों में प्रमुख थे पूर्व प्रधानमंत्री शास्त्री जी, स्वर्गीय सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह, बाबू सालिगराम जी जायसवाल (मंत्री जी), तथा कुशल गुरु एवं जिले और शहर के सम्पूर्ण कांग्रेस कार्यकर्त्तागण। तब तक अगस्त सन् १९४२ में भारत छोड़ो आन्दोलन का बिगुल बज गया तथा सभी जेलों में ठूँस दिये गये। इस

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

प्रशिक्षण की सी० आई० डी० रिपोर्ट पर लन्दन पार्लियामेण्ट में बड़ी प्रतिक्रिया हुई और ब्रिटिश शासन थर्रा गया आखिर उन्हें भारत को सम्पूर्ण आजादी देने को बाध्य होना पड़ा।

—स्वतंत्रता सेनानी, (सैदाबादवाले)
६७१ डी० करेली आवास, इलाहाबाद।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : 'कवि और लेखक के रूप में'

श्रीमती जयाशिव शुक्ल

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हमारे देश के अमर स्वतंत्रता सेनानी, सिद्धान्त के लिए दृढ़ निश्चयी, व्यक्तिगत जीवन में आदर्शों की जीती-जागती मूर्ति और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के लिए सतत यत्नशील इन सभी व्यक्तित्वों से समन्वित भारत-माता के अमर पुत्र हैं। आज वे क्षर-शरीर के रूप में हमारे बीच में नहीं हैं, किन्तु अपने अक्षर शरीर से भाषा, साहित्य और कतिपय मुक्तक कविताओं की जो सामग्री दे गये हैं,—उसके कारण वे अक्षर और अमर हैं।

यह सर्वविदित है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का महान् कार्य राजर्षि टण्डन जी के सहयोग का ही परिणाम है। यह वह समय था जब हमारे राज्य की बागडोर विदेशी सत्ता के हाथ में थी। टण्डन जी को राष्ट्रभाषा का समर्थन करते हुए अनेक विरोधों का सामना भी करना पड़ा था। किन्तु अपने आत्मविश्वास और आत्मबल के कारण उनको अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो गयी। दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार के लिए 'राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति', वर्धा की स्थापना की गयी थी, जिसके साथ इनका अत्यन्त लगाव था। हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' के रूप में प्रतिष्ठित करने के पीछे उनका विचार यह था कि भारत की विविध भाषाओं में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसे देश की अधिकांश जनता समझ सकती है। इस भाषा में सभी देशी भाषाओं के शब्दों को पचा लेने की शक्ति है। इसका देशी भाषाओं के साथ निकटता का संबंध है, अतः अपने में हीन-भावना-ग्रंथि को विकसित करके दूसरे की भाषा को अपनाने की अपेक्षा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारी भाषा में सभी प्रांतों—मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु के शब्द प्रयुक्त हों। ऐसा करने से भाषा प्रौढ़ बनेगी, उसकी भाषा-शैली बढ़ेगी, सांप्रदायिकता की भावना से मुक्त होकर राष्ट्रीयता की भावना का विकास होगा। उनका विश्वास था कि मानसिक स्वतंत्रता और स्वाधीनता विचार-बाह्य स्वतंत्रता से कहीं बेहतर है। उनकी यह चेतना उनकी रचनाओं—कविताओं, निबंधों, लेखों में अन्तर्ध्वनित हुई है। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा भी है कि "मनुष्य का मनोविकास, उसकी मानसिक वृत्तियों का प्रसार मातृभाषा के द्वारा ही सम्भव है। किसी राष्ट्र की सांसारिकता, सामाजिक व्यवस्था बहुत अंशों में राष्ट्र की मानसिक तथा आत्मिक अवस्था पर ही निर्भर

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

रहा करती है। सामाजिक सुधार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज अपनी भाषा का ज्ञान सम्पादन करे, जिसके द्वारा उसे अपने राष्ट्रीय इतिहास और परंपरा का ज्ञान हो, उसमें राष्ट्रीय विचार और राष्ट्रीय गौरव का उदय हो, और लोग अपने धर्मपालन पर कटिबद्ध हों। तभी उनकी आत्मा पवित्र देशभक्ति, आत्मगौरव और आत्मसम्मान के भावों से भरकर उच्च बनेगी।"[1]

उपर्युक्त राष्ट्रीय चेतना के व्यक्तित्व के अतिरिक्त उनका एक अन्य रूप भी हमारे सामने दृष्टिगत होता है—वह है उनका सहृदय व्यक्तित्व। यह हमें दो रूपों में प्राप्त होता है—प्रथम—कवि रूप में, द्वितीय—लेखक रूप में। इन दोनों रूपों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

राजर्षि टण्डन जी कवि के रूप में—टण्डन जी ने राष्ट्रीय चेतना, स्वतंत्रता, इत्यादि को लेकर अनेक कविताएँ लिखीं, जो हमें पं० बालकृष्ण भट्ट जी द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रदीप' में उपलब्ध हो जाती हैं। सन् १९०५ में जब देश गुलामी की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था अंग्रेजों के विरोध में प्रतीकात्मक शैली में 'बन्दर सभा महाकाव्य' नामक व्यंग्य कविता 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित करायी। इस कविता द्वारा उन्होंने अंग्रेजों की करतूतों का, भारतीयों के साथ उनके दुर्व्यवहारों का, उनके न्याय की नीति का तथा उनकी धन-लोलुपता का पर्दाफाश प्रतीकात्मक शैली में किया है। नीचे कुछेक पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

"ऊपर से यह परगट करहीं, सगरी परजा बड़ी अमीर।
लीन लँगोटी छीन-छीन कै, हम जानहिं वे फिरै फकीर।
मरैं भूख से जाड़े से वा, हम से येहि से कछु नहिं काम।
हमका खाली मिलै रुपैया, हम घर बैठ करैं आराम।"

उन्होंने 'स्वतन्त्रता' नामक कविता भी सन् १९०५ ई० में 'हिन्दी-प्रदीप' में लिखी और उसके द्वारा राष्ट्रीय-जागरण, राष्ट्रीय चेतना को मुखरित करने का, जागृत करने का प्रयास किया। उन्होंने उसमें बताया है कि बिना आजादी के विद्या, बुद्धि, शिल्प सभी बेकार हैं। जिस प्रकार एक छोटा पौधा दबकर उभरता नहीं है, उसका विकास अवगुण्ठित हो जाता है, उसी प्रकार पराधीनता की शृंखलाओं से आबद्ध मनुष्य का चित्त विकसित नहीं हो पाता। उसे उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता है। देश को अपने पूर्वजों की स्मृति दिलाते हुए वे कहते हैं कि एक समय ऐसा था कि जब हमारे देश में महान् विभूति, महर्षि वास करते थे उनके कारण यह भारत देश महान् समझा जाता था, किन्तु आज अपने ही देश में अधीन रहकर देशवासियों की कैसी हीन दशा हो गयी है—

---

१. सं० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'—टण्डन निबंधावली, पृष्ठ ११८।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

"जहाँ भरत, गौतम शंकर ने अद्भुत छटा दिखाई,
जहाँ भोज विक्रम के यश से रही सम्पदा छाई,
हुई दशा है उसी भूमि की हाय आज कैसी न्यारी,
विद्या गुण तो घटते जाते पर अभिमान रहा भारी।"

लेखक के रूप में टण्डन जी—कवि रूप के अतिरिक्त एक अन्य रूप 'लेखक' का भी प्राप्त होता है। इनके लेखों व भाषणों का संकलन 'शासन पथ निदर्शन' तथा 'टण्डन निबंधावलि' में मिलता है। इनके लेखों में भी अधिकांशतः ऐसे ही विषयों पर लिखे लेख प्राप्त होते हैं जिनका संबंध राष्ट्रीय चेतना, स्वतंत्रता से है। स्वामी विवेकानन्द और वल्लभभाई पटेल जैसी महान् विभूतियों के जीवन-चरित्र को समाज के सामने प्रस्तुत करके समाज को प्रकाश दिया है। समाज को उनके महान कार्यों से अवगत कराया है। इसी प्रकार राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर लेख लिखे। राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' ने हिन्दी भाषा का समर्थन ऐसे काल में किया था जिस समय अंग्रेजों ने मुसलमानों से शासन-भार अपने हाथ में लिया था। उस समय हिन्दी में पुस्तकें नहीं थीं। राज्य कार्यों में फारसी मिश्रित उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रचार था। शासन के कर्मचारी प्रायः फारसी तथा अरबी जानते थे। सरकारी दफ्तरों में फारसी चलती थी। ऐसी स्थिति में इनका हिन्दी के प्रति समर्थन का कार्य ही साहस-की-बात थी। फिर भी उन्होंने यह नारा लगाया कि साहित्य की भाषा शुद्ध हिन्दी हो, किन्तु बोलचाल की भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी हो सकती है जिसे सब समझ सकते हैं। राजा जी ने भाषा के इतिहास में लिखा था कि हमें ऐसे शब्दों का चुनाव करना चाहिए जिसे अधिक व्यक्ति समझ सकें। अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी के उन सभी प्रचलित शब्दों को हिन्दी को अपना लेना चाहिए जो प्रतिदिन की बोलचाल में आते हैं। इसी प्रकार से शुद्ध खड़ी बोली में निबन्ध साहित्य का सृजन करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विषय में उन्होंने अपने लेख में लिखा है कि शुद्ध खड़ी बोली में निबंध साहित्य का सृजन करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही प्रथम व्यक्ति थे। इन्होंने (भारतेन्दु) जीवनी, धार्मिक, सामाजिक तथा अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे। टण्डन जी ने 'देवनागरी लिपि और अंक' पर एक भाषण दिया था जो हमारे पास 'टण्डन निबंधावलि' में लेख रूप में प्राप्य है। उसमें उन्होंने देवनागरी लिपि के साथ नागरी अंक को भी प्रयुक्त करने का समर्थन किया है। उनका कहना था कि अंकों का ज्ञान निश्चय ही हमारे देश से अरब द्वारा यूरोप पहुँचा। हमें इस पर गर्व है। किन्तु यह बिल्कुल अनुचित बात है कि जो चीज हमारे बीच विकसित हुई है उसे हम छोड़ दें और जो मूलरूप से यहाँ से ली गयी है, उसके परिवर्तित स्वरूप को पुनः ग्रहण कर लें। टण्डन जी ने हिन्दी भाषा से सम्बन्धित अनेक लेख लिखे हैं। कविता, दर्शन, साहित्य जैसे विषयों पर भी उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनका विचार था कि 'कविता' वही उच्च होती है जो आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर सकती है, लोकमंगलकारी होती है और समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने में सहायक

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

होती है। इस दृष्टि से स्वयं टण्डन जी कवि एवं लेखक के रूप में एक महान् व्यक्ति थे जिनकी रचनाओं में सामाजिक चेतना की धारा प्रवाहित हो रही थी और जो लोकमंगलकारी गुणों से युक्त थी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन भारतीय स्वतंत्रता के अमर गायक, सेनानी, कवि, लेखक थे। राष्ट्रीय जागरण, राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से उनका कार्य महान् था।

२८, मंगल मन्दिर सोसायटी,
सुभानपुरा, वडोदरा (बड़ौदा)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी के अनन्य प्रेमी

डॉ० नरेश कुमार

⊙ ⊙

भारतीय संस्कृति के प्रबल पक्षधर, लोक-सेवी एवं त्यागमूर्ति टण्डन जी का सम्पूर्ण जीवन आदर्शवाद से प्रेरित रहा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए भौतिक दृष्टि से सम्पन्न वकालत के व्यवसाय को छोड़कर सत्याग्रह-आन्दोलन में सम्मिलित होना तथा पंजाब नेशनल बैंक में नियुक्त जनरल मैनेजर के पद को छोड़कर लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित 'पीपुल्स सर्वेन्ट्स सोसाइटी' का उनके निधन के पश्चात् अध्यक्ष बनकर राष्ट्र की सेवा करना आदि से सम्बन्धित टण्डन जी के जीवन की घटनाएँ यह प्रदर्शित करती हैं कि उन्होंने आजीवन त्याग को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया। वे चाहे प्रयाग की नगर-पालिका के अध्यक्ष रहे हों अथवा किसी अन्य स्थान पर उन्होंने अपनी ईमानदारी एवं कर्मठता की छाप सर्वत्र छोड़ी। वस्तुतः वे आज के भौतिकवादी युग की प्रवंचना से बहुत दूर थे। उनका जीवन राष्ट्र की सेवा में समर्पित रहा। ग्रामों की दयनीय दशा का चित्रण एवं ग्रामोत्थान के लिए दिये गये उनके सुझाव पठनीय हैं।[1]

हिन्दी भाषा के प्रति उनका अनन्य प्रेम एवं योगदान अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सेवा में हिन्दी के उन्नयन को उन्होंने सबसे अधिक प्राथमिकता दी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस कथन—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' में उनकी अडिग आस्था जीवन पर्यन्त बनी रही। स्वास्थ्य की उपेक्षा करते हुए भी यह कर्मयोगी हिन्दी के उत्थान के लिए निरन्तर संघर्षरत रहा।

हिन्दी के उत्थान के साथ-साथ उनका अन्य भाषाओं के प्रति उदार दृष्टिकोण रहा। वे उर्दू के विरोधी नहीं थे। यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने उर्दू को हिन्दी की एक शैली के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः टण्डन जी हिन्दी और उर्दू का परस्पर समन्वय चाहते थे।[2]

---

१. द्रष्टव्य : 'शासन पथ निदर्शन' नामक उनकी पुस्तक।

द्रष्टव्य : टण्डन जी द्वारा महात्मा गांधी जी को लिखा दिनांक ८-६-४५ का पत्र।

२. द्रष्टव्य : टण्डन जी द्वारा महात्मा गांधी जी को लिखा दिनांक ११-७-४५ का पत्र।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी के प्रभुत्व का जहाँ तक प्रश्न है, अंग्रेजियत की दासता उन्हें चुभती थी और वे इस समस्या को लेकर जूझते रहे। संविधान परिषद में जब नागरी अंकों के स्थान पर रोमन अंक अपनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। वे राज-काज में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को अपनाने के प्रबल समर्थक थे। यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं की कदापि अवहेलना नहीं की, अपितु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में दक्षिण भारत में हिन्दी भाषा का प्रचार करने का बीड़ा उठाया।

टण्डन जी हिन्दी को जनसाधारण की भाषा के रूप में देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि 'संस्कृत के अपरिमित कोश में से हिन्दी शब्दों की सब समस्यायें सरलता से हल हो जायेंगी; परन्तु इस कथन से उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि प्रचलित विदेशी शब्दों का पूर्णरूपेण बहिष्कार करके हिन्दी-लेखन में संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया जाए। उनके विरोधियों ने उन्हें 'हिन्दी-साम्राज्यवाद का प्रवर्त्तक' कहकर अपने एकांगी दृष्टिकोण का परिचय दिया था। वास्तव में, वे अन्य भाषाओं की समृद्धि के भी समर्थक थे।

राजर्षि टण्डन ने हिन्दी भाषा की अपार शक्ति को समझाने का प्रयत्न किया। उनके शब्दों में—'जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में हिन्दी अपना उत्तर-दायित्व निभाने में समर्थ है।' उनका दृढ़ विश्वास था कि हिन्दी ही सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में पिरोने की शक्ति रखती है।

हिन्दी के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा एवं प्रेम की चरम सीमा के दर्शन हमें उनके तथा महात्मा गांधी के बीच हुए मतभेद में दृष्टिगोचर होते हैं। महात्मा गांधी जी जहाँ दो लिपियों वाली मिली-जुली हिन्दुस्तानी के पक्षपाती थे, वहाँ टण्डन जी हिन्दी के विशुद्ध रूप के प्रबल समर्थक थे। उनका अभिप्रेत था—'हिन्दी राष्ट्रभाषा हो और नागरी राष्ट्रलिपि हो', परन्तु उनकी विशुद्धतावादी दृष्टि इतनी अति पर नहीं पहुँच गयी थी कि हिन्दी में संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली का ही प्रयोग किया जाए। वे अनुवाद के क्षेत्र में प्रचलित शब्दावली को अप-नाने पर बल देते थे—यथा, 'रिबेट' के लिए 'घटौती', 'कटमोशन' के लिए 'कटौती प्रस्ताव' आदि। वस्तुतः वे लोक-प्रचलित शब्दावली को हिन्दी में अपनाकर उसे व्यावहारिक एवं व्यापक रूप प्रदान करना चाहते थे।

टण्डन जी आन्दोलनकारी नेता ही नहीं थे, अपितु उन्होंने हिन्दी के संवर्द्धन के लिए रचनात्मक कार्य भी किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना करके एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के योजनाबद्ध विकास का दिशा-निर्देशन कर अपने संकल्पों को पूरा किया और हिन्दी-कल्पवृक्ष को पल्लवित एवं पुष्पित करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

संस्कृति एवं भाषा विषयक उनकी सेवाएँ निश्चय ही सम्माननीय हैं। कुशल राजनीतिज्ञ, विद्वान्, गम्भीर चिन्तक एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप में टण्डन जी चिर स्मरणीय हैं। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा-स्रोत है।

जे २३५ पटेलनगर प्रथम, गाजियाबाद

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भारतीय संस्कृति की मूर्ति : हिन्दी के अनन्य सेवी राजर्षि टण्डन

डॉ० रामनारायण सिंह 'मधुर'

अपने लक्ष्य के प्रति सद्निष्ठा एवं ईमानदारी रखने के कारण ही देशवासियों ने पुरुषोत्तमदास टण्डन को 'राजर्षि की उपाधि दी थी। उन्होंने अपने जीवन में संयम, त्याग और तपस्या को जो स्थान दिया था, उसके कारण यह राजर्षि की उपाधि स्वतः अलंकृत हो गयी थी। वे कांग्रेस के अध्यक्ष, स्वतंत्रता संग्राम के उद्भट योद्धा, उच्च चरित्र, सिद्धांत के दृढ़, निर्भीक वक्ता, आर्य संस्कृति के उपासक, महान देशभक्त और हिन्दी के अनन्य सेवक थे। उनका कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक और वैविध्यपूर्ण रहा है कि छोटे से लेख में उनकी एक झलक दिखाना भी संभव नहीं। टण्डन जी के हृदय में करुणा की त्रिवेणी बहती थी। वे कभी भी करुणा, दया और ममता से शून्य नहीं रहे। जब जेब खाली रही, तब भी उन्हें कोई स्वाधीनता की दुन्दुभी बजाने से विचलित नहीं कर सका। एक ओर देश की चिंता और दूसरी ओर विदेशी सभ्यता-संस्कृति में दबायी जा रही राष्ट्रभाषा की वेदना ने उन्हें कभी भी एक क्षण को कोई दूसरा मार्ग खोजने का अवसर नहीं दिया।

तीर्थराज प्रयाग ने जहाँ मोती और जवाहर जैसे रत्न देश को दिये, वहीं देश-गौरव महामना मदनमोहन मालवीय को जन्म देने का सौभाग्य भी उसे मिला। उन महामना के प्रमुख सहकर्मी के रूप में टण्डन जी ने राजनीति में प्रवेश किया। यद्यपि टण्डन जी गांधी जी के सिद्धान्तों के सच्चे अनुयायी थे, तथापि तिलक और गोखले की राजनीति ने उन्हें प्रभावित किया। पंजाब केशरी लाला लाजपतराय का भी प्रभाव उन पर अदृश्य था। लाला जी द्वारा सम्पादित लोक सेवक मंडल को टण्डन जी ने जीवन पर्यन्त चलाया। टण्डन जी का राजनीतिक जीवन १९०५ में प्रारम्भ हुआ। महात्मा गांधी की अपेक्षा मदनमोहन मालवीय जी के विचारों को उन्होंने अधिक अपनाया। साम्प्रदायिक दंगों और देश के विभाजन से टण्डन जी बहुत दुखी रहे और अंत तक उन्होंने अकेले ही देश के विभाजन का विरोध किया।

आचरण की शुद्धता टण्डन जी की दृष्टि में सर्वोपरि थी। जब उन्हें २५००० रुपये की थैली भेंट की गयी तब उन्होंने अपनी एकांत कामना व्यक्त करते हुए कहा था—"मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरे पास जो भी थोड़ा-बहुत धन शेष है, वह सार्वजनिक हित के कार्यों

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

में यथाशीघ्र खर्च हो जाय। मेरे पास अंतिम समय में एक पाई भी न बचे। मेरे लिये सबसे बड़ा सुख यही होगा।"

भारतीय संस्कृति को वह हिन्दू संस्कृति का व्यापक रूप मानते थे। हिन्दी के बाद गोवध निषेध उनके निष्ठा का दूसरा विषय था। दोनों प्रश्नों पर उन्होंने अनेक बार कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद करने तक की बातें कही थीं। टण्डन जी उन राष्ट्रनायकों में से थे, जिन्होंने नेतृत्व कामना और पद से सर्वदा दूर रहने की चेष्टा की। कांग्रेस के अध्यक्ष पद का चुनाव उन्होंने इसलिए लड़ा था कि उनके प्रशंसक और सहयोगी उन्हें इस पद पर देखना चाहते थे और उस पद का त्याग भी इसलिए किया कि अपने विचारों के अनुसार कार्य करना उन्हें संभव प्रतीत नहीं हुआ था।

टण्डन जी ने राजनीतिक आंदोलनों में सदैव सक्रिय भाग लिया। वस्तुतः अपने जीवन काल में उन्होंने बहुत बड़ा महान कार्य जो किया, वह है हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा देश के कोने-कोने में हिन्दी का संदेश तो पहुँचा ही, साथ ही सुदूर विदेशों में भी हिन्दी के प्रचार में सम्मेलन का बहुत बड़ा योग रहा, जिसका श्रेय टण्डन जी को है। टण्डन जी जब उत्तरप्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष थे, उस समय उन्होंने विधान सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही हिन्दी में ही आरम्भ की।

देश की स्वतन्त्रता के बाद जो संविधान परिषद् १९४८ में बनी, टण्डन जी उसके सदस्य थे। उस समय हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए जो प्रयत्न उनके द्वारा हुआ, उसी का फल है कि हिन्दी आज की राष्ट्रभाषा है। जब देश का संविधान तैयार किया जा रहा था तो उस समय हिन्दी के विरोध में कई तरह की बातें उठीं। परन्तु टण्डन जी ने विरोधियों को अपनी तर्कपूर्ण दलीलों से प्रभावित किया। फलस्वरूप सबको इस बात के लिए सहमत होना पड़ा कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा होने योग्य है। इसके बाद जब वे लोक सभा के सदस्य थे, उन्होंने अनेकानेक बार अपने व्याख्यानों से राजकाज में हिन्दी को व्यवहार की भाषा बनाने के लिए जोरदार अपील की थी। उन्हीं की प्रेरणा से केन्द्रीय सरकार का गजट हिन्दी में निकलने लगा और केन्द्रीय सरकार का हिन्दी निदेशालय हिन्दी के सम्वर्द्धन में जुट गया।

हिन्दी की सेवा करने के कारण वे हिन्दी के प्राण बन गये थे। कहना यूँ चाहिए कि टण्डन जी हिन्दी के पर्याय बन गये थे। जब-जब हिन्दी पर संकट के बादल घिरते दिखायी दिये, तब-तब टण्डन जी ने उसकी प्राणप्रण से रक्षा की। प्रयाग में जिन दिनों सम्मेलन का कार्य प्रारम्भ किया गया था, उस समय टण्डन जी के घर का एक कमरा सम्मेलन का कमरा कहलाता था। अब वह कमरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक विशाल भवन बन गया है। हिन्दी आन्दोलन के पचास वर्ष का इतिहास टण्डन जी के साहित्यिक जीवन का इतिहास है। हिन्दी का प्रश्न किसी के लिए सरकारी भाषा का प्रश्न है, किसी के लिए लोकतंत्र का प्रश्न है, परन्तु टण्डन जी के लिए वह राष्ट्र के जीवन और मरण का प्रश्न था। राज्यसभा में उन्होंने एक बार कहा था—"चारों ओर अंग्रेजी भाषा का व्यवहार मुझे न स्वतन्त्रता के और न अपने मन के अनुकूल दिखायी देता है 'हमें ऐसा लगता है कि हम उसे खो बैठे हैं।" उन्हें साहित्यिक दल-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

बंदियों से सख्त चिढ़ थी—"यदि सम्मेलन में इस प्रकार के विचार आये तो मैं उसमें आग लगा दूँगा।"

हिन्दी के प्रसार और उन्नयन के लिए वे आत्मसमर्पित थे। हिन्दी-आन्दोलन के मशाल को उन्होंने पं० मदनमोहन मालवीय जी महाराज के हाथों से ग्रहण किया था और आजीवन उस प्रज्वलित मशाल के प्रकाश को कभी मंद नहीं पड़ने दिया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद तक पहुँचाने का श्रेय टण्डन जी को ही है। तथाकथित हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर तो राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू का भी उन्होंने खुलकर विरोध किया था। दिल्ली में राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों, समाजसेवियों की एक सभा में अध्यक्ष-पद से बोलते हुए दिनकर जी ने ठीक ही कहा था—"टण्डन जी हिन्दी के लिए शहीद हो गये, नवीन जी ने भी हिन्दी के लिए ही अपनी बलि चढ़ा दी। हिन्दी सदैव विरोधों में ही आगे बढ़ी है, कानून का सहारा उसे कम ही मिला है। उसे आगे भी भक्तों के बलिदान का सहारा मिलना चाहिए।" उसी अवसर पर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन ने कहा—"उनके आदर्श के अनुसार हमें हिन्दी की प्रगति के लिए सब कुछ न्यौछावर कर देना चाहिए।

सचमुच वे पुरुषोत्तम थे। वे टूटे लेकिन झुके नहीं। "हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी अपने उचित आसन पर प्रतिष्ठित हो।" यदि हम टण्डन जी की यह इच्छा पूर्ण कर सकें तो वह हमारी उनके प्रति सबसे बड़ी एवं सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—शासकीय महाविद्यालय, सिवनी
(मध्यप्रदेश)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी के लिए समर्पित व्यक्तित्व : राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

डॉ० पवनकुमार जैन

⊙ ⊙

सन् १९७० में श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन के सम्बन्ध में लिखा था—"बड़े खेद और दुःख का विषय है कि राष्ट्रभाषा के इस युग प्रवर्तक, उन्नायक सम्बन्धी अभी तक ऐसी कोई व्यवस्थित सामग्री तथा रचनायें उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व, कृतित्व, भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा राजनैतिक विचारों के विविध पक्षों का समग्र रूप से अध्ययन, मनन और अन्वेषण किया जा सके। हां, कुछ संस्मरण ग्रन्थ अन्य लेखकों के लिए अवश्य उपलब्ध हैं, किन्तु वे एकांगी हैं। टण्डन जी ने जीवन के गत साठ-सत्तर वर्षों में राजनैतिक मंचों, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों, सांस्कृतिक सम्मेलनों, साहित्य गोष्ठियों, परिषदों, सामाजिक क्षेत्रों तथा सार्वजनिक सभाओं के माध्यम से अधिकांश ऐसे भाषण तथा व्याख्यान जिनकी साहित्य, भाषा, चिन्तन और मनन की दृष्टि से अपनी एक महत्ता और विशेषता है और जो पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। किन्तु उनका समीकरण और एकीकरण किस प्रकार हो, यह विचारणीय प्रश्न है। कार्य बड़ी लगन, परिश्रम और अनुसंधान का है इसकी पूर्ति कब और कैसे हो सकती है? इसका उत्तरदायित्व हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी जनता पर ही निर्भर है।"[1]

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का जन्म एक अगस्त, १८८२ में राधा स्वामी सम्प्रदाय के श्री शालिग राम के यहाँ प्रयाग में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा एक मौलवी द्वारा सम्पन्न हुई। सन् १९०४ में स्नातक उपाधि प्राप्त कर विधि परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त सन् १९०७ इतिहास में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। केवल पन्द्रह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह चन्द्रमुखी से हुआ। टण्डन जी ने सन् १९०८ में सर तेज बहादुर सप्रू के संरक्षण में हाईकोर्ट में वकालत की। सन् १९०६ में आपको इलाहाबाद कांग्रेस का प्रतिनिधि चुनकर सम्मानित किया गया। सन् १९२१ में महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण जेल गये। सन् १९२३ में कांग्रेस अधिवेशन गोरखपुर में सभापति चुने गये। सन् १९३० में आपने किसान आन्दोलन प्रारम्भ किया।

---

१. टण्डन निबन्धावली : सम्पादक—ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'—पृ० सं० २।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सन् १९१० में आपने नागरी प्रचारिणी सभा काशी में साहित्यकारों का एक सम्मेलन कराने में सक्रिय योगदान किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आप प्रथम प्रधानमंत्री चुने गये। सन् १९२३ में आप सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के सभापति बने। सन् १९३७ में आप उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। भारतीय संविधान सभा की बैठक में आपने हिन्दी का जोरदार समर्थन किया।

पंजाब नेशनल बैंक के जनरल मैनेजर का पद भी उनका मार्ग नहीं रोक सका और सन् १९२८ में त्यागपत्र दे दिया। सन् १९५० में आप नासिक में कांग्रेस के अध्यक्ष बने। एक जुलाई १९६३ को आप भारत सरकार के 'भारतरत्न' और सम्मेलन के साहित्य वाचस्पति जैसे पदों को छोड़कर संसार से विदा हो गये।

टण्डन जी का जीवन किसी संत से कम नहीं था। एक सोने का ताज का बादशाह था जो अपने हाथ से चटाई बुनता था। टण्डन जी हिन्दी प्रेमी जनता के हृदय के बेताज के बादशाह थे। जो अपने पुराने कपड़े अपने हाथ से सिलाई करके पहनते थे। "जीवन के प्रारम्भिक काल से जीवन पर्यन्त वे संघर्षरत रहे, किन्तु अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति एक चट्टान की भाँति अडिग रहकर वे कभी विचलित नहीं हुए। जहाँ उनकी गणना एक ओर स्वतन्त्र भारत के निर्माता के रूप में होती है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रभाषा हिन्दी को साकार रूप देने के निमित्त हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसे अखिल भारतीय संस्था के सफल संचालन और सम्वर्द्धन का स्नेह भी उनको प्राप्त है।"[१]

टण्डन जी का साहित्य पत्र-पत्रिकाओं तथा भाषाओं में बिखरा पड़ा है। किन्तु खेद है कि अभी तक न तो उसका समुचित संकलन हुआ है और न ही उनका मूल्यांकन हो पाया है। मुख्य रूप से उनके साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—काव्य, निबन्ध, अनुवाद तथा भाषण।

काव्य—टण्डन जी ने 'बन्दर सभा' नाम से एक लघु महाकाव्य सन् १९०५ में लिखा जो हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित हुआ। इसमें तीन चुटकियाँ हैं। दिल्ली दरबार पर इसमें टण्डन जी ने करारे व्यंग किये हैं—

'ये ही बात विदित संसारै, एक जात रहती यहि ठौर।
जिनके दुम उन तन को नाहीं, हमरा लाल रंग उन और॥
ये ही ते दुइ न्याय धर्म दुइ, दुहरी समरी बात हमार।
मुंह कुछ धरे पेट कुछ धारे, दगा कूट को करै अहार॥'[२]

'कुटीर का पुष्प' और 'स्वतन्त्रता' शीर्षक से उनके कुछ मुक्तक भी प्रकाशित हुए हैं। टण्डन जी का जो भी काव्य प्रकाश में आया है, उसमें देश भक्ति की प्रधानता है। भारत की स्वतन्त्रता और देश में व्याप्त स्वार्थ प्रवृत्ति के प्रति टण्डन जी के मन में गहरी टीस है—

---

१. टण्डन निबन्धावली—पृ० सं० १
२. वही—पृ० सं० १६

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

'ऐसी भूमि में हे स्वतन्त्रते हो नहीं सकता तेरा वास।
जहां कुटिल अरु नीच प्रकृति हो बने सभी स्वारथ के दास।
तेरे रहने को प्यारी उज्ज्वल हृदय भवन चाहिए,
तो भी दशा देख भारत की अब दया दृष्टि करिए।'[1]

निबन्ध—टण्डन जी के निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

निबन्ध

हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी	धर्म और संस्कृत सम्बन्धी	विविध
१. कविता २. दर्शन और साहित्य	१. भारतीय संस्कृति और कुम्भ मेला	१. वाटिका ग्रहग्राम योजना
३. भाषा की उत्पत्ति का रहस्य		२. सरदार वल्लभभाई पटेल
४. हिन्दी साहित्य कानन	२. भारवि कौन थे	३. स्वामी विवेकानन्द
५. भाषा का सवाल	३. भारतीय संस्कृति सन्देश	४. लोक कल्याणकारी राज्य
६. गौरवशालिनी हिन्दी		
७. कवि और दार्शनिक	४. भगवान श्रीकृष्ण कसौटी पर	५. धन और उसका उपयोग
८. जातीय साहित्य		
९. हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों		
१०. मातृभाषा की महत्ता		
११. आधुनिक हिन्दी के दो निर्माता		
१२. देवनागरी लिपि और अंक		

टण्डन जी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता है काव्यात्मकता और सरल अभिव्यक्ति निबन्ध चाहे साहित्यिक हो या सांस्कृतिक उक्त विशेषताएँ सभी में विद्यमान हैं। टण्डन जी के अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी तथा अरबी ज्ञान का परिचय उनके निबन्धों से प्राप्त होता है। उन्होंने अपने निबन्धों में इन सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है।

'हिन्दी-साहित्य कानन' निबन्ध में टण्डन जी ने कानन के रूपक द्वारा हिन्दी साहित्य का सरस एवं काव्यात्मक परिचय दिया है। शिवसिंह सेंगर आदि का परिचय वे इस प्रकार देते हैं—

'किन्तु वाह! इस वन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया। यहाँ तो गान करने वालों के अतिरिक्त गम्भीर विचारों में तीन अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देनेवाले अपना ब्रह्माण्ड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करनेवाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ

---

१. टण्डन निबन्धावली—पृ० सं० १६७

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य-वन के गान का आनन्द उठाते हुए इसकी कथा औरों को सुना रहे हैं। यहाँ शिवसिंह सेंगर, लल्लूलाल जी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गम्भीर किन्तु आनन्दपूर्ण भाव से उपस्थित हैं।[1]

टण्डन जी का हिन्दी-प्रेम इससे और भी अधिक स्पष्ट होता है कि उन्होंने संस्कृत में लिखित विवाह पद्धति का हिन्दी में अनुवाद किया और इतना ही नहीं हिन्दी में अनूदित कृति से ही अपनी पुत्री का विवाह भी कराया। उन्होंने ही अपने उर्दू लेख को हिन्दी लिपि में रूपान्तर किया। यह लेख उनके उर्दू ज्ञान का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। चन्द पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'हर मुल्क और हर सभ्यता का उसकी भाषा से उतना ही गहरा तआल्लुक है जितना उसकी आब-व-हवा से।...अब तक जितने लोग अंग्रेजी जबान जानते हैं उनकी तादाद हिन्दुस्तान की आबादी का लिहाज करते हुए बहुत-ही थोड़ी है। जिस रफ्तार से अंग्रेजी जबान जाननेवालों की तादाद अब तक बढ़ी है, अगर उसी हिसाब से बढ़ती जाये तो पाँच सौ बरस से ज्यादा अरसा इस बात के लिए चाहिए कि हिन्दुस्तान की आबादी की एक माकूल तादाद अंग्रेजी जान सके।...मैं हिन्दी और उर्दू में फर्क नहीं करता। मेरा पुख्ता यकीन है कि उर्दू और हिन्दी में जो थोड़े अल्फाज का फर्क है, वह आसानी से हल हो सकता है।'[2]

भाषण :—टण्डन जी के विचार उनके समय-समय पर दिये गये भाषणों में बिखरे पड़े हैं। भाषणों को संकलित करने की नितान्त आवश्यकता है। सन् १९३७ में टण्डन जी स्पीकर चुने गये। उनके सामने असेम्बली में सदस्यों के विचार अभिव्यक्ति की भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय टण्डन जी ने कहा था—

'स्वतन्त्र देशों में इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि किसी प्रतिनिधि सभा की कार्यवाही विदेशी भाषा के द्वारा हो। इस देश की राजनैतिक अवस्था ऐसी अवश्य है, जिसमें कि अंग्रेजी का प्रयोग आवश्यक समझा जाता हो, किन्तु इस अस्वाभाविक अवस्था के समर्थन के लिए नियमों का गलत अर्थ लगाने का प्रयत्न किया जाये, तो इससे अराजनीतिकता की बात और कोई नहीं हो सकती।'[3] अपने भाषण के अन्त में उन्होंने कहा कि—

'जो सदस्य अंग्रेजी जानते हैं उन्हें भी हिन्दुस्तानी में बोलने की अनुमति देते वक्त मेरे मस्तिष्क में जो विचार उठे हैं, उन्हें मैंने आपके सामने रख दिया है। परन्तु मैंने अभी तक किसी सदस्य को किसी विशेष भाषा में बोलने के लिये कहा नहीं है। भाषा सुनने की बात मैंने सदा सदस्यों पर ही छोड़ दी है। मैंने यही किया है कि माननीय सदस्यों को, यदि उन्होंने हिन्दुस्तानी में बोलने की इच्छा प्रकट की है तो रोका नहीं है।'[4]

---

१. टण्डन निबन्धावली—पृ० सं० ४४

२. भाषा का सवाल (ट० नि०)—पृ० सं० ४९, ५२, ५३

३. राष्ट्रभाषा का इतिहास—किशोरीदास बाजपेयी—पृ० सं० ७१

४. वही—पृ० सं० ७३

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी का पत्र साहित्य भी बड़े महत्त्व का है। समय-समय पर उनका देश के नेताओं से जो पत्र व्यवहार हुआ है, उसका अभी तक समुचित संकलन नहीं हो पाया है। स्वर्गीय श्री किशोरीदास बाजपेयी ने अपनी पुस्तक राष्ट्रभाषा के इतिहास में गांधी जी और टण्डन जी के मध्य हुए पत्र व्यवहार को प्रकाशित कराया है। इससे पूर्व हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मंत्री श्री मन्नारायण अग्रवाल भी इन्हें प्रकाशित करा सके थे। गांधी जी के एक पत्र के उत्तर में टण्डन जी ने लिखा था—

'आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है। जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है। सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है,। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।'[१]

टण्डन जी ने अपने ११-७-४५ के पत्र में गांधी जी को स्पष्ट शब्दों में लिखा—

'मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू सीखें, सहमत नहीं हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है।... हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो, इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूँ। किन्तु यह समन्वय,...तभी सम्भव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न में श्रद्धा दिखायें।'[२]

काव्य शास्त्री : टण्डन जी :—स्वतन्त्र रूप से टण्डन जी ने किसी काव्यशास्त्र की रचना नहीं की। किन्तु कविता, कवि, साहित्य, आदि की परिभाषाएँ उनके निबन्धों में उपलब्ध हो जाती हैं।

टण्डन जी के अनुसार...'कविता सृष्टि का सौन्दर्य है।'[३] सृष्टि में चारों ओर कविता है। कवि कौन? इसका उत्तर वे इन शब्दों में देते हैं—'जिसने अमृत प्रवाह में डूब-डूबकर दो चार कलश भरकर प्यासे थके हुए रोगी व मृत्यु प्राय यात्रियों को कुछ घूँट पिलाकर उन्हें शक्ति दी और पुनर्जीवित किया वही कवि है।'[४]

'कवि के काम को कविता या काव्य कहते हैं। और कविता या काव्य बनानेवाला कवि कहा जाता है पर ऐसा कहने से कवि के स्वरूप का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता इसलिए कवि कौन है इस बात को जानने के लिये मुझे दूसरे मार्ग का अवलम्बन करना पड़ेगा। अच्छा तो अब सुनिये, शब्दों द्वारा भावों को प्रकाशित-करनेवाला-कवि है। कवि शब्दों द्वारा भाव का रूप गठित कर देता है। वह उसे एक सुन्दर रूप दे देता है और जन समाज में उसे उपस्थित करता है—यही है कविता का काम और यही काम करनेवाला कवि है।'

---

१. राष्ट्रभाषा का इतिहास किशोरीदास बाजपेयी—पृ० सं० २०८
२. वही—पृ० सं० २१३
३. कविता—(ट० नि०), पृ० सं० १
४. वही—पृ० सं० १

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

उक्त विचार टण्डन जी ने 'कवि और दार्शनिक' निबन्ध में व्यक्त किये।

साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए टण्डन जी ने लिखा है—'साहित्य मनुष्य के भावों का शाब्दिक चित्र है। ईश्वरी शक्ति की सबसे अनूठी रचना, जो हमें दिखायी पड़ती है, स्वयं मनुष्य है। मनुष्य में सबसे उत्तम और विचित्र वस्तु उसके भाव हैं। भावों को व्यंजित करने के कई मार्ग हैं। किन्तु उनके लिये सबसे श्रेष्ठ दर्पण शब्द ही हैं।'[1] एक अन्य निबन्ध में वे लिखते हैं—'साहित्य कोई व्यापार की चीज नहीं है। क्या लोगों का यही धर्म है कि वह साहित्य को व्यापार का एक साधन बना लें? नहीं! इससे भी ऊँचा कोई उद्देश्य है।'[2]

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में टण्डन जी का मत है—'हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में प्रायः साधारण जनों की यह धारणा-सी जान पड़ती है कि जो भाषा 'खुमान रासो अथवा 'पृथ्वीराजरासो' में पायी जाती है, वहीं से हिन्दी का प्रारम्भ समझना चाहिए और वही हिन्दी का आदि स्वरूप है, उसी से ब्रजभाषा निकली और ब्रजभाषा से धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ।[3] किन्तु टण्डन जी का कहना है कि यह क्रम उचित नहीं है। 'हमें हिन्दी के जो विभिन्न रूप अपने पुराने ग्रन्थों में दिखायी पड़ते हैं, वह इस विचार का सर्वथा विपरीत प्रमाण है। चन्द की भाषा में प्रान्तीय भाषा का मिश्रण है। यह भी नहीं जान पड़ता है कि खड़ी बोली ब्रजभाषा से ही सीधे निकली है। जहाँ ब्रज-भाषा का साम्राज्य है, वहाँ खड़ी बोली साधारण जनता की भाषा नहीं है। इन भाषाओं का क्रम विकास अपभ्रंश भाषा से पृथक्-पृथक् हुआ है।'[4]

मातृभाषा क्या है? इसके उत्तर में उन्होंने लिखा है कि—'यह सजीव शब्दों का कोष है, यह सुहावने चिन्तनों का भण्डार है, यह राष्ट्रीय जीवन की साक्षात्कार मूर्ति है, यह राष्ट्रीय शक्ति की वह प्रतिमा है जो राष्ट्र के विचारों और उसके हृदय-स्थित भावों को सुरक्षित रखकर उन्हें दूसरों पर प्रकट करती है। हमारा भावी साहित्यिक और मानसिक गौरव किसी मातृभाषा के भविष्य पर निर्भर है।'[5]

टण्डन जी के मतानुसार 'फारसी और संस्कृत एक ही भाषा से निकली है, दोनों का स्रोत एक ही है, फारसी और संस्कृत का कोई झगड़ा हिन्दी व उर्दू में न होना चाहिए, क्योंकि फारसी और संस्कृत शब्दों का बड़ी आसानी से समन्वय हमारी भाषा में किया जा सकता है। फारसी का नाम ईरानी है, ईरानी आर्य भाषा है।'[6] टण्डन जी ने तो यहाँ तक कहा है,—मैं तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों शब्दों को मिटाने के लिये तैयार हूँ, अगर सब अपने को

---

१. हिन्दी साहित्य कानन (ट० नि०)—पृ० सं० ४०
२. गौरव शालिनी हिन्दी—(ट० नि०)—पृ० सं० ५७
३. भारत की उत्पत्ति का रहस्य—(ट० नि०)—पृ० सं० ३५
४. वही—पृ० सं० ३६
५. मातृभाषा की महत्ता—(ट० नि०)—पृ० सं० ११६
६. हिन्दी राष्ट्रभाषा ही क्यों—(ट० नि०)—पृ० सं० ८३

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

केवल हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहने लगें तो मैं राष्ट्रीयता के नाम पर उसे स्वीकार करूँगा और उसे उचित समझूँगा।"[१]

अंकों के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि 'मैं इस आग्रह को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं कि सदा-सर्वदा के लिये देवनागरी अंकों के स्थान में अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का ही प्रयोग होना चाहिए। हमारे नागरिक अंक अधिक कलापूर्ण और अक्षरों के स्वरूप के अनुकूल हैं।'[२]

'अभ्युदय'* के सहसम्पादक के रूप में आपने कई वर्ष तक कार्य किया। सन् १९४४ के लगभग 'पत्र और पत्रकार' एक पुस्तक का प्रकाशन हुआ जिसमें पण्डित कमलापति शास्त्री के साथ सहयोगी लेखक के रूप में टण्डन जी ने कार्य किया पुस्तक की भूमिका में श्री कमलापति त्रिपाठी जी ने लिखा है कि—

'मैंने देखा है कि बैठे-बैठे इसी भाँति पत्रकार कला की उपासना भी कर सकूँगा मेरे इस विचार को मेरे परम मित्र पुरुषोत्तमदास टण्डन से असाधारण पुष्टि, स्फूर्ति और उत्तेजना मिली। कभी-कभी कष्ट जनक और खेदजनक परिस्थितियाँ भी सौभाग्य का कारण हो सकती हैं। श्री टण्डन और मैं दोनों, सहबन्दी की हैसियत में एक दूसरे के सम्पर्क में आये और महीनों तक अहोरात्रि का हमारा सह-निवास हम दोनों को परस्पर निकट लाने का कारण हुआ। मैंने देखा कि श्री टण्डन उन युवकों में हैं जो जन्मजात पत्रकार होते हैं। उनके लिये पत्रकार-कला इष्ट देवी की भाँति है जिसकी स्मृति, कीर्तन और पूजन में वह उठते-बैठते, सोते-जागते संलग्न रहते हैं। गिरफ्तार किये जाने के पूर्व वे 'नेशनल हैराल्ड' तथा अन्य कतिपय प्रमुख पत्रों के यशस्वी तथा सफल संवाददाता रहे हैं। सक्रिय और देशभक्त पत्रकार होने का मूल्य चुकाने के लिये ही उन्हें सोलह महीनों तक विदेशी सरकार की कारा का निवास भी करना पड़ा। उन्होंने अपने अनुभव से, अपनी 'कटिंग' और फाइलों से अपने पुस्तकालय की पत्रकार कला सम्बन्धी पुस्तकों से भी मेरी सहायता करने का वचन दिया यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक वाक्य मेरा लिखा हुआ है। फिर भी श्री टण्डन जी से जो सहायता मिली उसे देखते हुए मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में मेरे साथ कृपा करके अपना नाम जोड़ देने की अनुमति भी मुझे प्रदान करें। मुझे हर्ष है कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।"[३]

'पत्र और पत्रकार' पुस्तक के सम्बन्ध में डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र ने अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है कि इसमें पत्रकारिता के विभिन्न पहलुओं पर काफी विस्तार से विचार किया गया है किन्तु इसमें हिन्दी-पत्रकारिता के विकास क्रम की ऐतिहासिक प्रस्तुति दिखायी

---

१. हिन्दी राष्ट्रभाषा ही क्यों (ट० नि०)—पृ० सं० ८४
२. देवनागरी लिपि और अंक (ट० नि०)—पृ० सं० १३८
३. पत्र और पत्रकार—पृ० घ, ङ
४. हिन्दी पत्रकारिता—पृ० १०

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नहीं पड़ती। इतना ही नहीं कि पत्रकारिता के साहित्यिक और भाषा पक्ष की ओर भी लेखक का ध्यान नहीं गया।'[1] इस पुस्तक की उपलब्धि स्वीकार करते हुए डॉ० मिश्र ने लिखा है कि—'पत्रकारिता का स्वरूप विवेचन ही इस पुस्तक का उद्देश्य और उपलब्धि है।'[2]

डॉ० वेद प्रताप वैदिक ने ९७४ पृष्ठ के विशाल ग्रन्थ 'हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम' में प्राचीन और अर्वाचीन ३८० पत्रकारों का सचित्र परिचय दिया है किन्तु सोलह महीने तक पत्रकारिता के कारण जेल काटनेवाले सक्रिय पत्रकार भारतरत्न श्री टण्डन जी के लिये इस ग्रन्थ में दो पंक्तियाँ भी नहीं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जिये तो हिन्दी के लिये और मरे तो हिन्दी के लिये।

प्रवक्ता : हिन्दी विभाग
पत्रकार नवभारत टाइम्स
के० के० जैन डिग्री कालेज, खतौली

---

१. हिन्दी पत्रकारिता—पृ० सं० १०

२. पत्रकारिता के विविध आयाम—डा० वेदप्रताप वैदिक

*सन् १९०६ में अभ्युदय का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। उस समय इसके सम्पादक महामना मालवीय जी थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : सांस्कृतिक विचार बिन्दु

डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री

⊙ ⊙

१ अगस्त; १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का प्रभाव देश में गर्म वातावरण को जन्म देकर दूर जाकर खड़ा हो गया था। ५ अक्टूबर, १९४५ की संध्यावेला में लाहौर के कपूरथला हाउस के मैदान में पं० जवाहरलाल नेहरू के ओजस्वी भाषण ने देश को पुनः आन्दोलित कर दिया था। इसी के साथ ही देश में अंग्रेजी सरकार की साम्प्रदायिक चालें आरम्भ हो गयी थीं। पाकिस्तान पक्षपाती कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्ना के मनसूबों को अंग्रेज सरकार निरन्तर उत्साहित कर रही थी। गांधी जी का मनोबल ऊँचा था परन्तु उनके कई साथी नेता पाकिस्तान की बात पर विचार करने लगे थे। तभी १९४६ के दिसम्बर में कराची नगर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के वार्षिक अधिवेशन की घोषणा हो गयी। देश भर से प्रतिनिधियों को कराची पहुँचने का आवाहन मिला था।

यह सम्मेलन प्रख्यात गांधीवादी विचारक साहित्यकार श्री वियोगी हरि जी के सभापतित्व में होना निश्चित हुआ था। मैं लायलपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने के लिए चल पड़ा। प्रो० हंसराज अग्रवाल हमारे सम्मेलन के अध्यक्ष थे वे किन्हीं आवश्यक कार्यों के कारण नहीं जा सके थे। इसलिए मैंने अपने एक मित्र अम्बिकादत्त शास्त्री को साथ ले लिया। दोनों गाड़ी में सवार होकर निश्चित भाव से कराची सम्मेलन में पहुँचने के उत्साह से वार्तालाप में व्यस्त थे कि नींद ने आ घेरा और झरिया रोड स्टेशन पर गलती से लायलपुर के प्रशासन के दो अधिकारी हमारे बिस्तर बदल कर अपने साथ उतरते हुए ले गए। अगले स्टेशन से वापस झरिया रोड आये। बस पकड़ कर बसवाले से ही पता पाकर उस गाँव में जा पहुँचे, जहां वे अधिकारी गये थे। बिस्तर लेकर पुनः कराची पहुँचे। सम्मेलन के आरम्भ होने से एक दिन पूर्व ही कराची नगर देख लिया।

हमें कराची में एक व्यापारिक संस्थान में ठहरने की सुविधा प्राप्त हो गयी थी। सम्मेलन स्थल भी वहाँ से निकट ही था। अतः कराची नगर के चारों खूँट देख लिये। कराची की अपनी शान है।

दूसरे दिन सम्मेलन स्थल पर कार्यकर्त्ताओं के साथ साथ प्रतिनिधियों के पट्ट लगाये कार्यवाही में सम्मिलित होने के लिए आगे से आगे बैठने में सफल हो गए। तब तक मैंने समा-

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

चारपत्रों में ही राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का चित्र टोपी पहने देखा था। भाषण भी पढ़े थे। वियोगी हरि जी की सतसई के कुछ दोहे पाठ्यपुस्तक में पढ़े थे। परन्तु इस सम्मेलन में दोनों महानुभावों को साथ-साथ बैठे देखा तो मन श्रद्धा और उत्साह से भर गया। वह युग ही इस मनःस्थिति का था। टण्डन जी का किंचित् झुक कर चलने और प्रेम से बात करने का ढंग अत्यन्त सहज था। उनमें कहीं बनावट नहीं थी। प्रशस्त ललाट और चुभती-खोजती आँखें और युवकों को उत्साह देती बातें एक मोहक वातावरण बना रही थीं। वियोगी हरि जी का बलिष्ठ शरीर किसी कसरती किसान का आभास दे रहा था। खादी के कुर्ते, धोती, जाकेट और गर्म चादरें सब मिलाकर दोनों के भव्य व्यक्तित्व का परिचय दे रहे थे। इसी दिन ही बड़े लोगों की चर्चाओं में चलते-फिरते पं० किशोरीदास वाजपेयी के प्रखर पाण्डित्य व्यक्तित्व को देखा। पण्डिताऊ रोबीला चेहरा अपना परिचय आप ही दे रहा था। भदन्त आनन्द कौसल्यायन का नाम सुना था। परन्तु बौद्धवेश में लिपटी साम्य पर तीखी आकृति के दर्शन भी वहीं प्रथम बार प्राप्त करने का सुअवसर मिला था।

दूसरे दिन सन्ध्या समय नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक (अजातशत्रु) स्कंद-गुप्त के एक अंक का अभिनय होना था। विशाल रंगमंच बनाया गया था। सभी प्रतिनिधि एवं अन्य नागरिक नाटक देखने के लिए उत्सुक होकर इधर-उधर घूम रहे थे कि तभी टण्डन जी और वियोगी हरि जी आते हुए दिखायी दिये। मैंने आगे बढ़कर दोनों के चरणों को स्पर्श किया। टण्डन जी ने अपना दुबला-हल्का पर सुदृढ़ हाथ पीठ पर रखा और वियोगी हरि जी का बलिष्ठ पंजा कन्धे पर टिक गया। टण्डन जी ने केवल इतना ही पूछा कि "कहाँ से आये हो?' उत्तर में मैंने लायलपुर से आने की बात कही तो बोले 'पंजाब में हिन्दी के प्रति अगाध अनु-राग है। यहाँ लोग 'हिन्दी' को 'शास्त्री' कहते हैं। शायद शास्त्रों की भाषा-लिपि एक होने के कारण 'हिन्दी' शास्त्री कहलाती है। बात ठीक ही है। आज भी पंजाब के गाँवों में संस्कृत-हिन्दी पढ़े-लिखे को शास्त्री कहते हैं। बस इतनी ही बात आजतक मेरे स्मृतिपटल पर अंकित है। सम्मेलन की समाप्ति के पश्चात् हम दोनों लायलपुर लौट आये। देश के विभाजन का वाता-वरण और अधिक गर्मी पकड़ रहा था।

१५ अगस्त सन् १९४७ को देशविभाजन हो गया। विभाजन के समय लायलपुर के खालसा कालेज में ग्रीष्मावकाश होने के कारण मैं वहाँ से बाहर था। किसी प्रकार दिल्ली आ पहुँचा। देश की राजधानी में विधान-निर्मातृ सभा का कार्य चल पड़ा था। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रश्न गर्म था। राजर्षि टण्डन जी जैसे राष्ट्रसेवी, त्यागी इस कार्य में तल्लीन थे। हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी तो परन्तु कई प्रश्नों के साथ बनी। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद एवं टण्डन जी जैसे दृढ़निश्चयी नेताओं की यह एक अमोघ विजय थी जो भारतीय राजनीतिक इतिहास का एक स्वर्णीय अमिट पृष्ठ में अंकित हो गयी है।

परन्तु वह दिन और तिथि अब याद नहीं। सन् १९५० के बाद ही राजर्षि टण्डन कांग्रेस अध्यक्ष बने तो दिल्ली में कुछ समय पश्चात् ही एक कांग्रेस-सम्मेलन हुआ जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू ने प्रधानमंत्री पद के साथ ही कांग्रेस अध्यक्ष का पद भी संभाला था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नयी दिल्ली के उस विशाल सम्मेलन में देशभर के नेता आये थे। मंच पर नेहरू जी विराजमान थे। मैं दैनिक "नेताजी" के सहायक सम्पादक के नाते एक अन्य उपसम्पादक श्री भारद्वाज (पूरा नाम अब याद नहीं) के साथ उस सभा में गया था। श्री वैशम्पायन उन दिनों "नेताजी" के प्रधान सम्पादक थे। टण्डन जी को कांग्रेस के अध्यक्ष पद से हटाया जा रहा था। उनके चेहरे पर गम्भीरता और शालीनता थी। उनका दोष केवल हिन्दी-प्रेमी होना ही था। चाहे और राजनीतिक कारण भी कोई होंगे परन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्षपाती नेता यही समझते थे कि टण्डन जी को केवल इसीलिए हटाया जा रहा है कि वे हिन्दी-प्रेमी हैं। उस सभागार की एक विशेष स्थिति यह दर्शनीय थी कि पं० नेहरू जी जब क्रोध से नथुने फुलाये हुए पीछे मंच की ओर मुड़कर देखते तो मंच पर बैठ सभी नेता हाथ उठा देते और उनके प्रस्ताव का समर्थन करते और उनके पीठ फेरते ही राजर्षि टण्डन जी से हो रहे अन्याय की ध्वनि फुस-फुसाहट में भी सुनायी पड़ती। मैंने राजनीतिक सत्ता के सामने त्याग को अपने पाँव निर्विकार भाव से पीछे हटाते पहली बार देखा था। स्वार्थी पद-लोलुप राजनीतिक नेताओं का चेहरा तभी देखा था। जिनको मैं जानता था उनको फटकार भी दिया था। उनमें से तीन तो अभी जीवित हैं जिनसे मैंने उस दिन के बाद आज तक बात नहीं की। वे ऊँचे राजनीतिक पदों पर भी रहे परन्तु उन के बुलाने पर भी उनके सामने नहीं गया।

मैं आज भी निर्भय होकर कह सकता हूँ कि यदि पं० जवाहरलाल नेहरू ने १ जनवरी, १९४९ के दिन पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री नाजिमुद्दीन से कश्मीर में युद्ध-विराम की घोषणा का समझौता न किया होता तो कश्मीर क्षेत्र की यह स्थिति न होती जो आज बनी हुई है। करोड़ों रुपये व्यय करके भी हम आज तक अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त राष्ट्र संघ से न्याय नहीं पा सके हैं। सन् १९४९ में तो कुछ ही दिनों में पाकिस्तान कश्मीर की सीमाओं से बाहर निकाल दिया जाता और हम सगौरव निश्चिन्त होकर जीते और विकाश करते और राजर्षि टण्डन को हटा कर स्वयं कांग्रेसाध्यक्ष न बनते तो यह दो पदों पर आरूढ़ रहने की कुरीति देश की राजनीति में न चल निकलती। एक तो राष्ट्रभाषा हिन्दी देश के प्रशासन की भाषा बन जाती और इस पर करोड़ों रुपये इसलिए व्यय न होते। हिन्दी विरोधी लोग उसे राजभाषा-राष्ट्रभाषा के पद से उतार कर सम्पर्क भाषा के पद तक न घसीट लाते। पं० नेहरू जैसे जनतंत्रवादी उच्चाशय महान नेता भी ये दो भूलें देश के इतिहास में सदा कसकती कचोटती रहेंगी।

तीसरी बार मैंने राजर्षि टण्डन जी को दिल्ली के करीलबाग क्षेत्र के रामजस स्कूल के गोलचक्कर पर भाषण देते हुए देखा था। तब वे अस्वस्थ थे। खाँसते-खाँसते भाषण दे रहे थे। बलगम के लिए एक लम्बे गले का पात्र भी पास रखा हुआ था। बैठकर ही बोल रहे थे। राष्ट्रभाषा का महारथी अस्वस्थ होते हुए भी राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए जूझ रहा था। मैं मंच पर उनके पीछे ही बैठा था। उनके स्वर की दृढ़ता तेज खाँसी में डूब नहीं पाती थी। उनके हृदय में हिन्दी के साथ किये जा रहे व्यवहार के प्रति विक्षोभ

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

था परन्तु सहज शालीनता भी अपना प्रभाव प्रकट कर रही थी। उन का भाषण समाप्त हुआ तो अन्य लोगों की भाँति राजर्षि के आगे नतमस्तक होकर मैं भी चला आया।

इसके पश्चात् मैंने राजर्षि टण्डन जी को इतने निकट से फिर नहीं देखा। राजर्षि होते हुए भी महर्षि से भी अधिक सौम्य था वह भव्य आकार जो देह से तो नश्वर सिद्ध हो गया परन्तु उस राजर्षि की चुभती आँखें और प्रेम से बात करने की रीति-नीति में उन्हें अपनी आँखों से देख पानेवालों के लिए विस्मृत कर पाना कदाचित् संभव नहीं है।

राजर्षि टण्डन जी की जन्म-शताब्दी के इस पुण्यावसर पर मैं अंकिचित्कर हिन्दी सेवी उनके प्रति अपनी करवद्ध श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ परन्तु मेरा अडिग विश्वास है कि राजनीतिक दुरभिसंधियों के घोर-से-घोर झंझावात भी उनके द्वारा प्रज्ज्वलित राष्ट्रभाषा प्रेम की अग्निज्वाला को नहीं बुझा पाएँगे। नहीं बुझा पाएँगे। नहीं बुझा पाएँगे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि का बहुमुखी व्यक्तित्व : नैतिक या राजनैतिक

डॉ० सन्तकुमार शर्मा

⊙ ⊙

चाहे जीवन सामाजिक हो या राजनीतिक, आध्यात्मिक या प्राकृतिक—वह विषमताओं का पुंज होता है। इसमें समता लाने का प्रयत्न जिस व्यक्तित्व ने किया, उसे निश्चित ही संघर्षों से जूझना पड़ता है, विरोधी प्रहार सहन करने पड़ते हैं। उस प्रकार भयंकर झंझावातों के बीच जो अपना अस्तित्व रख पाता है, वह फूलता है फलता है तथा जीवन सौन्दर्य को एक दिशा प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में आचार्य टण्डन का जीवन भी अनुकरणीय, श्लाघ्य एवं स्तुत्य है।

राजर्षि बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। राजनैतिक परिवेश को आधार मानकर नैतिकता की रक्षा करना उनका लक्ष्य था। युक्तियुक्त तथ्यों को स्वीकारोक्ति तथा सदाचरण उनके जीवन का अंग बन गया था। टण्डन जी का जीवन दीर्घकाल तक राजनीति से सम्बद्ध रहा, किन्तु निर्लिप्त पद्मपत्रवत् वे अपने अस्तित्व के प्रति सदा सजग रहे। जिस प्रकार किसी मंजिल की प्राप्ति में साधन सहाय्य होता है उसी प्रकार नैतिकता एवं राजनीति का उनके जीवन में सम्बन्ध था। एक साध्य है तो दूसरा साधन। साध्य की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार साधक स्व को समर्पित कर देता है, उसी प्रकार आचार्य का जीवन भारतीय संस्कृति की एवं नैतिकता की रक्षा करने में समर्पित हो गया। वे स्वयं कहा करते थे—

युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।
युक्तिहीनं वचो त्याज्यम्॥[1]

केवल शास्त्रों का आश्रय कर्त्तव्य बोध नहीं कराता, जबकि उसका प्रयोग युक्तिपूर्ण न हो—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः[2]

यही नहीं, युक्तिहीन विचार से धर्म की हानि भी होती है—

युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते[2]

---

१. १ मई १९५६ हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक पर भाषण से उद्धृत।

२. २२ फरवरी १९५४ कुम्भ दुर्घटना पर दिये गये भाषण से उद्धृत। इन्हीं पंक्तियों को ४ मई १९५५ को हिन्दू तलाक बिल पर बोलते हुए दोहराया गया। इससे नीति के प्रति आस्था व्यक्त होती है।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

क्या संसद में क्या बाहर, वे मानव के नैतिक जीवन को उभारने हेतु सदैव नीतिपूर्ण, युक्ति खोजने में लगे रहते थे। राजनेता की तरह उनकी कथनी और करनी में भेद दृष्टि-गोचर नहीं होता। राजनेता बाह्य घोषणा करते हैं, क्रियात्मक पक्ष उनका शून्य है। आचार्य का अन्तर्पक्ष क्रियाशील रहने में विश्वास रखता था। गरीबों का शोषण, हरिजनों एवं गाँवों की बिगड़ी हालत, संस्कृति, हिन्दी भाषा, सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार मूल्य-वृद्धि आदि उनके मुख्य विचार बिन्दु थे, जिसके लिए वे शासन से सदैव जूझते रहे।

सामाजिक पक्ष में सामान्य मानव उनके लिए चिन्तनीय विषय था। उनका यह मानव ग्रामवासी है, हरिजन है, गरीब है तथा विवश है। भारतीय संस्कृति के पक्षधर आचार्य नारी के लिए पतिव्रत धर्म को मौलिक धर्म मानते थे तथा उत्तराधिकार में लड़की के स्थान पर माता एवं पत्नी का स्थान उनकी दृष्टि में प्रथम था।

शिक्षा के संदर्भ में प्राचीन परम्परा के गुरुओं के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी। 'सत्यम् वद धर्मम् चर' की शिक्षा देने वाला गुरु स्वयं आदर्श बनकर विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करता था। निम्न पंक्ति पर तो वे भाषण देते भावविभोर हो गये हैं—

['यान्यधास्माकं सुचरितानि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि'[1]]

उन्हीं के शब्दों में—'कैसा ऊँचा वाक्य है, इच्छा होती है कि संसार भर के गुरु इसको रट लेते।'[2] इस संदर्भ में शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने का मन्तव्य उनका प्रकट होता है। जब तक भारत-वासियों को अपने पूर्वजों का गर्व है, तब तक गुरुओं का त्याग एवं बलिदान हमारे इतिहास की अमूल्य निधि है। वे स्वयं भी ऐसे जीवन को बनाना चाहते थे। गुरु नानक की वाणी में उनके जीवन का लक्ष्य परिलक्षित है—

जो प्राणी ममता तजे, लोभ, मोह, अहंकार।
कह नानक आपै तरै, औरन लेइ उतार॥[3]

जिसके जीवन का लक्ष्य परोपकार है, उसके लिए इससे बढ़िया सन्देह अन्य क्या हो सकता है? ऐसे त्यागमय जीवन को जिन्होंने स्वीकार किया, वे समाज को आलोकित करनेवाले ज्योति-पुंज बने।

स्वदेशी भाषा, स्वदेशी संस्कृति तथा स्वदेशी जीवन के प्रति जो उनका लगाव था, वह उनके नैतिक जीवन में सन्निविष्ट है। भाषा के क्षेत्र में वे हिन्दी के प्रबल समर्थक थे तथा संस्कृत के अनन्य प्रेमी। सांस्कृतिक एकता की उनकी अभिलाषा थी तथा गाँवों में उनके प्राण बसते थे।

---

१. २७ मार्च, १९५४ को शिक्षा मन्त्रालय के अनुदान पर दिये गये भाषण से उद्धृत।

२. २२ दिसम्बर, १९५५ राज्यों के पुनः संघटन पर बोलते हुए उन्होंने इस पंक्ति को बड़े जोर से दोहराया था।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

ऐसे राजर्षि को राजनैतिक न मानकर नैतिकपुरुष, युगपुरुष मानना उचित होगा। राजनैतिक शब्द अनैतिक का पर्याय बनकर सामने आ रहा है, किन्तु आचार्य टण्डन राजनीति जीवन में भी नैतिकता के प्रेमी थे। अनैतिकता पर उनका हृदय रो उठता था। उन्हीं के शब्दों में—"आज आवश्यकता यह है कि देश में जो अनैतिकता फैली हुई है, उसको बन्द किया जाय मैंने अपने भाषण में कहा था कि हमको नैतिकता की आवश्यकता अधिक है, भलमंसाहत की आवश्यकता अधिक है, केवल पैसे की उतनी आवश्यकता नहीं।...यदि हमारी संस्कृति का कुछ अर्थ है, जिसके कारण हमारे लोगों का आज तक नाम चला आ रहा है, तो वह यह है कि हमारे जीवन का मुख्य आदर्श नैतिकता है। लेकिन आज जितने काम हैं, क्या व्यापार, क्या सरकारी नौकरी क्या इंजीनियरिंग और उसके साथ ठेकेदारी, क्या वकालत, सब जगह आज अनैतिकता बढ़ी हुई है।...[१]

आज से २७ वर्ष पूर्व जो तथ्य अनुभव किये जा चुके थे, वे आज भी परिस्थिति में कितने खरे उतरते हैं? यह खुला पृष्ठ है। समग्रतया आचार्य टण्डन का चरित्र एक व्यावहारिक व्यक्ति (महापुरुष) का चरित्र है। वे मानवतावादी विचारों से ओतप्रोत एक आदर्श व्यक्ति थे। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या भाषा, क्या शिक्षा, क्या अर्थतन्त्र—सभी क्षेत्रों में उनके विचार सुलझे हुए थे। आवश्यकता है उनके विचारों पर अमल कर व्यावहारिक प्रयोग की। हिन्दी जगत तो उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

यहाँ हिन्दी के सन्दर्भ में राजर्षि का योगदान भी अंकित करना अप्रासंगिक न होगा। "यदि राजर्षि टण्डन, देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद, कविवर दिनकर, सेठ गोविन्ददास, अनन्तगोपाल शेवड़े आदि ने यदि हिन्दी का प्रबल समर्थन न किया होता तो संविधान में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कराना आज भी दुरूह बना रहता। अपनी भाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करना आचार्य टण्डन का राजनैतिक नहीं, नैतिक कर्त्तव्य था। जब संविधान के प्रारम्भ में आयंगर ने १५ वर्ष के लिए अंग्रेजी चलते रहने की स्वीकृति चाही तो आचार्य टण्डन ने इसका विरोध किया।"[२] उनके स्पष्ट शब्द थे—'हिन्दी को सहारा देना केन्द्र का कर्त्तव्य है।...जितना संविधान के अन्दर आवश्यक है, उतना ही अंग्रेजी का बचाव कीजिए।'[३] जब केन्द्र द्वारा बनायी गयी सरकारी हिन्दी शिक्षा समिति ने अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करने में विलम्ब किया तथा हिन्दी कोश बनाने का कार्य हिन्दी रक्षक संस्थाओं (नागरी प्रचारिणी सभा, साहित्य सम्मेलन) को नहीं दिया गया तो उनका आक्रोश प्रकट हुए बिना नहीं रह सका। जो सच्चा, काम हिन्दी का करने वाले हैं, उनको आप पकड़िये। जो हिन्दी का विरोध करके हिन्दुस्तानी नाम से काम कर रहे हैं, उनको सहारा न दीजिए।'[४]

---

१. १९ मार्च, १९५५ वित्त विधेयक पर बोलते हुए भाषण से उद्धृत।
२. राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर सितम्बर १९४९ को दिया गया भाषण।
३. १६ फरवरी, १९५४ में राज्य शासन विधेयक पर हिन्दी के सम्बन्ध में भाषण।
४. २७ मार्च, १९५४ शिक्षा मंत्रालय के अनुदान पर दिया गया भाषण

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

हिन्दी की उन्नति, प्रगति हो तथा राष्ट्रभाषा उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होकर जन-जन की आकांक्षाओं तथा भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे। लेकिन कौन-कौन से साधन इस दिशा में प्रयुक्त हैं? इन साधनों के लिए आचार्य ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' एवं 'साहित्य सम्मेलन' को आधार बनाया। सम्मेलन द्वारा देश के कोने-कोने में हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु परीक्षाएँ आयोजित की गयी थीं। वस्तुतः इनके माध्यम से राजर्षि की कल्पना साकार होना कोई बड़ी बात नहीं थी। हिन्दी पर्याय समिति के अध्यक्ष के रूप में ११३ बैठकों में 'डी' से 'जेड' तक के अक्षरों हेतु लगभग २१००० शब्दों के पर्याय ढूँढ़कर उन्होंने प्रस्तुत किया। इन शब्दों का आधार संस्कृत थी।

निष्कर्ष रूप में राजर्षि टण्डन बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे पूर्णतः भारतीय संस्कृति के न केवल अनुयायी थे बल्कि उसका व्यावहारिक पक्ष उभारने को समुत्सुक भी रहे गरीब वर्ग से लगाव, हिन्दी की समृद्धि, नैतिक पक्षधर, दृढ़ निश्चयी, मानवतावादी, धर्मानुयायी एवं कर्मवीर के रूप में राजर्षि टण्डन स्मरणीय हैं। राजनीति उनके जीवन का अंग होते हुए भी उनके नैतिक विचारों की पुष्टि का साधन बनी। वस्तुतः उनका सम्पूर्ण जीवन राजनैतिक कम, नैतिक अधिक है? इस रूप में उनके कार्य सदैव शलाध्य एवं स्तुत्य हैं।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टण्डन : एक मनीषी, एक संत

श्री जयंत्री प्रसाद

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का जन्म प्रयाग निवासी श्री शालिग्राम टण्डन के घर १ अगस्त, सन् १८८२ ई० को मंगलवार को हुआ था। उन दिनों श्रावण का पुरुषोत्तम मास अधिकमास था। अतः ये पुरुषोत्तमदास के नाम से अभिहित किये गये। इनके पिता श्री शालिग्राम टण्डन राधास्वामी-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ये अपने पिता की चिरप्रतीक्षित औलाद थे। अतः इनका लालन-पालन बड़े प्यार और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में हुआ। आगे चलकर इनके महान संत जीवन से प्रभावित हो देश के समाज सेवियों और विद्वानों ने इन्हें 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। इनकी आदर्श-सेवा के निमित्त भारत सरकार ने इन्हें 'भारत-रत्न' की तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से अलंकृत किया। टण्डन जी इन अलंकरणों के सर्वथा योग्य थे। सच तो यह है कि ये अलंकरण भी इन्हें पाकर सार्थक और महार्घ बन गये।

चौधरी महादेव प्रसाद के आवास के सामने एक विशाल बोधिवृक्ष (अश्वत्थ पीपल का पेड़) था। वही इसका आरंभिक विद्यालय बना। उसी की शीतल-सुखद छाया में एक मौलवी साहब ने सर्वप्रथम इन्हें हिन्दी वर्णमाला एवं अंकों से अवगत कराया। सन् १८९७ ई० में इन्होंने इन्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तीर्ण की, और इनकी शादी चन्द्रमुखी देवी के साथ सम्पन्न हो गयी। चन्द्रमुखी देवी एक धार्मिक और सादगी पसन्द महिला थीं।

स॒ १८९९ ई० में ये इण्टर की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और म्योर सेण्ट्रल कालेज से सन् १९०४ ई० में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इसके अनन्तर ये कानून के छात्र बने और दो वर्ष में विधि स्नातक बन गये। श्री कैलाशनाथ काटजू इनके सहकर्मी थे।

सन् १९०७ ई० में इन्होंने इतिहास में एम० ए० किया। अपने छात्र जीवन में ये क्रिकेट के एक अच्छे खिलाड़ी रहे। अध्ययन के दौरान ये दो विभूतियों के सम्पर्क में आये-महामना पं० मदनमोहन मालवीय और पं० बालकृष्ण भट्ट। एक से इनके भारतीय संस्कृति के प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास को बल मिला, तो दूसरे से इनकी साहित्यिक अभिरुचि और प्रतिभा को उद्‌बोधन। फलतः ये भारतीय संस्कृति और हिन्दी के अनन्य भक्त बन गये। हिन्दी को टण्डन जी भारतीय संस्कृति का प्रतीक मानते थे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टण्डन जी भाषा, साहित्य और संस्कृति के एक सफल वैयाकरण और ओजस्वी वक्ता थे। इनकी वक्तृता भावप्रवण और सारगर्भित हुआ करती थी। श्रोताओं पर उसका जादुई असर होता था।

टण्डन जी अंग्रेजी , अरबी, फारसी, हिन्दी, उर्दू, बंगला आदि कई विदेशी और देशी भाषाओं के एक अच्छे अध्येता और विद्वान थे। ये उच्चकोटि के साहित्यकार और ऊँचे दर्जे के लेखक भी थे। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इनकी युवाकाल में प्रकाशित रचनाओं से इनकी बहुमुखी प्रतिभा, लेखन कला, विद्वत्ता और विचारशैली का अन्दाज सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। इनकी रचनाएँ 'हिन्दी प्रदीप' और 'अभ्युदय' में बराबर छपती रही हैं। कुछ दिनों तक इन्होंने 'अभ्युदय' के सम्पादन में भी सहयोग किया था। इनकी साहित्यिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रभाषा सम्बन्धी तथा अन्य उपयोगी निबन्धों का एक संग्रह 'टण्डन निबन्धावलि' के रूप में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने १९७० ई० में प्रकाशित किया है।

सन् १९०८ ई० में टण्डन जी ने सर तेजबहादुर सप्रू के जूनियर के रूप में वकालत आरम्भ की। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने अक्टूबर, १९१० ई० में हिन्दी प्रेमियों और साहित्यकारों का एक सम्मेलन आहूत किया। उस हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का निर्णय लिया गया। मालवीय जी के सुझाव पर टण्डन जी उसके प्रथम प्रधानमंत्री चुने गये और कई वर्षों तक लगातार प्रधान मंत्री के पद पर बने रहे। इन्होंने बड़ी योग्यता एवं कुशलता-पूर्वक पद की गारिमा का निर्वाह किया। इनके सत्प्रयत्नों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन का विकास अखिल भारतीय स्तर की संस्था के रूप में हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रति टण्डन जी की सेवाएँ अनुपम एवं अकूत हैं। सम्मेलन इनके जीवन का पर्याय बन गया था।

टण्डन जी के नेतृत्व में सम्मेलन ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए अनेक नूतन संकल्प लिये। टण्डन जी को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देना अभीष्ट था। अतः स्थापना के ३ वर्ष बाद ही सम्मेलन ने हिन्दी के माध्यम से परीक्षाएँ लेना आरम्भ कर दिया। हिन्दी और सम्मेलन के प्रति टण्डन जी एक समर्पित व्यक्तित्व थे।

सन् १९२३ ई० में सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर में हुआ। सम्मेलन के स्वागता-ध्यक्ष आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी थे। हिन्दी-प्रेमियों और सम्मेलन के सदस्यों ने सर्वसम्मति से टण्डन जी को सभापति चुना। अनिच्छा होने पर भी इन्हें उनके अनुरोध की कदर करनी पडी थी। इसके अनन्तर टण्डन जी सम्मेलन की सेवा में प्राणप्रण से जुट गये।

राष्ट्रीय कांग्रेस में सन् १९१४ ई० में मोहनदास कर्मचंद गाँधी का प्रवेश हुआ। गांधी जी के कांग्रेस में आने से पूर्व कांग्रेस महासभा की सारी कार्यवाही अंग्रेजी में लिखी जाती थी १९१४ में ही लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। अनगिन विरोधी के बावजूद, गांधी जी ने कांग्रेस मंच से प्रथम बार अपना भाषण हिन्दी में दिया। हिन्दी के प्रति गाँधी जी के प्रेम और सत्साहस ने सम्मेलन का ध्यान उनकी ओर खींचा। सम्मेलन का जब

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

लाहौर में अधिवेशन हुआ तो टण्डन जी ने उसका सभापति गांधी जी को ही बनाया। सम्मेलन के उस अधिवेशन में हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर अधिष्ठित करने का संकल्प लिया गया। साथ ही उसमें यह भी निर्णय लिया गया कि हिन्दी का प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत में भी किया जाए तथा दक्षिण भारत की भाषाएँ उत्तर भारत में भी पढ़ाई जाएँ। हिन्दी के प्रचार का शुभारंभ निर्णय के तुरंत बाद कर दिया गया और बाद में इसके लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की स्थापना कर दी गयी।

हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार को और तेज करने के लिए सन् १९३६ ई० में राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना हुई। मद्रास की सभा ने दक्षिण भारत के सभी प्रदेशों तथा वर्धा की समिति ने पश्चिम, पूर्व और उत्तर के सभी अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार का योजनाबद्ध कार्यक्रम चलाया। पहले ये दोनों संस्थाएँ सम्मेलन का अभिन्न अंग थीं किन्तु अब मद्रास की सभा केन्द्रीय सरकार द्वारा एक स्वतंत्र एवं राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित कर दी गई है।

टंडन जी की वर्धा समिति से भी बड़ी आत्मीयता रही है। उसके कल्याण सम्बर्द्धन और कार्यक्रमों में इनकी गहरी दिलचस्पी थी। श्री मो० सत्यनारायण, श्री श्रीमन्नारायण, भदन्त आनन्द कौशल्यायन और श्री मोहनलाल भट्ट टंडन जी के बड़े निकट के सहयोगी थे। वर्धा समिति के मंत्री के रूप में इन लोगों ने अपनी सेवा अर्पित कर टंडन जी के पथ का अनु-धावन किया था और अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी।

सन् १९६२ ई० में टंडन जी के सत्प्रयत्नों से केन्द्रीय सरकार ने सम्मेलन को राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित कर दिया। और उसके लड़खड़ाते संचालन को एक शासन निकाय बना कर सम्हाल लिया।

टंडन जी ने बड़ी निष्ठा एवं सच्चाई के साथ महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। सन् १९२१ ई० में जेल गए। जेल से छूटते ही कांग्रेस संगठन में जुट गए। सन् १९२३ ई० में गोरखपुर में प्रान्तीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। टंडन जी उसके सभा-पति बनाए गए। वह इनकी कांग्रेस सेवा का ही पारितोषिक था।

स्वराज्य आन्दोलन को और अधिक असरदार बनाने के लिए इन्होंने किसान आन्दो-लन का सूत्रपात किया। उससे किसानों में जागृति आई और स्वराज्य आन्दोलन के प्रति उनकी दिलचस्पी तीव्र हो गई। वे स्वराज्य आन्दोलन के सहभागी बने। सन् १९३० और १९३२ ई० में इनके नेतृत्व में किसानों ने सरकार को लगान देना बन्द कर दिया। टंडन जी एक सच्चे जननेता थे और इनमें संगठन और सृजन की अपार क्षमता थी।

मार्च सन् १९३७ ई० में टंडन जी उत्तर प्रदेश विधान सभा के सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए। ३ नवम्बर १९३९ ई० तक ये अध्यक्ष के पद को गौरवान्वित करते रहे। सन् १९४७ ई० में जब देश आजाद हुआ, तो टंडन जी इलाहाबाद से विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और उसके अध्यक्ष भी चुने गए। विधान सभा अध्यक्ष के रूप में भी इनका व्यक्तित्व बाद के विधान सभा अध्यक्षों के लिए अनुकरणीय बन गया।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

सन् १९४९ ई० में भारतीय संविधान सभा की बैठक हुई। उसमें अंग्रेजी परस्तों के कारण राष्ट्रभाषा का प्रश्न काफी उलझ गया। स्वयं पं० जवाहर लाल नेहरू और महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानी के पक्ष में थे। ऐसी विकट परिस्थिति में टंडन जी ने हिन्दी की जोरदार वकालत की और संविधान सभा ने सर्वसम्मति से हिन्दी के पक्ष में फैसला दिया। यदि टंडन जी जैसा सपूत उस समय न रहा होता, तो हिन्दी को कदापि राष्ट्रभाषा का दर्जा न मिलता।

टंडन जी किसी भाषा के विरोधी कभी नहीं रहे। किन्तु हिन्दी के प्रति इनकी वही श्रद्धा थी जो माँ के प्रति किसी सपूत में हुआ करती है। भारतीय साहित्य का ग्यारहवाँ अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। उसमें बंग भाषा के प्रसिद्ध विद्वान श्री देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने हिन्दी की तीव्र भर्त्सना की। टंडन जी ने अपने भाषण में बंगला और हिन्दी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया और इन्होंने बंगला की चमचमाते हुए कांच के अनेक टुकड़ों से तुलना की तथा हिन्दी को 'एक बहुमूल्य रत्न' साबित किया सर्वाधिकारी इनकी बात मानने के लिए मजबूर थे। उपस्थित विद्वानों में से कोई भी इनके तर्कों को काट सकने का साहस और सामर्थ्य नहीं जुटा पाया था। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी का सुझाव देने वाले नेहरू और गाँधी से भी ये सहमत नहीं थे। सम्मेलन के लखनऊ अधिवेशन (सन् १९१४ ई०) में टंडन जी ने उर्दू को हिन्दी की एक विशिष्ट शैली कह कर संबोधित किया था और इस तरह उर्दू को हिन्दी का अभिन्न अंग माना था। भाषा शास्त्रीय दृष्टि से उर्दू हिन्दी की अरबी-फारसी बहुल साहित्यिक शैली अथवा त्रिभाषा है ही। उस अधिवेशन में इनका समन्वयमूलक व्याख्यान उर्दू के दिग्गजों द्वारा भी सराहा गया था। हिन्दी के प्रश्न पर ये सदा दृढ़ रहे, न कभी डिगे न झुके। कभी किसी से समझौता भी नहीं किए। हिन्दी के इस संत पुरोधा ने इस क्षेत्र में सदैव अपनी बात रखी और विरोधों के बावजूद हिन्दी के प्रचलित रूप को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया।

टंडन जी का सार्वजनिक जीवन सन् १९२६ ई० में लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लोक सेवा मंडल के सदस्य के रूप में आरम्भ हुआ। लाला जी सन् १९२८ ई० में दिवंगत हो गए। गांधी जी की सलाह से सेवा मंडल का टंडन जी ने सम्यक्‌रूपेण संचालन किया। उसके अध्यक्ष बने और बैंक की नौकरी छोड़ दी तथा उसकी सेवा में समर्पित हो गए। टंडन जी अपनी सारी आमदनी सेवा मंडल को अर्पित कर देते थे और उससे सिर्फ निर्वाह के लिए एक छोटी सी रकम लिया करते थे। ये आजीवन उसके सदस्य रहे। सचमुच इनका जीवन त्याग और सेवा का एक खुला दस्तावेज था।

सन् १९५० ई० में नासिक में आखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। टंडन जी उसके अध्यक्ष चुने गए किन्तु ये अपने आदर्श पर अड़े रहे। देश में व्यर्थ का राजनीतिक संघर्ष न उठ खड़ा हो, अतः ये नेहरू जी के पक्ष में अध्यक्ष पद से स्वयं हट गए। यह घटना जहाँ इनकी दृढ़ता का एक भव्य स्तूप है, वहीं इनकी दूरदर्शिता का मार्त्तंड भी।

पौष-मार्गशीर्ष : शक १९०१-२]

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

टंडन जी भारतीय संस्कृति के सजग प्रहरी थे, भारतीय संस्कृति के मनीषी पुरोधा थे। छुआछूत, ऊँचनीच और जातिभेद के ये कत्तई समर्थक नहीं थे। ये मूल भारतीय संस्कृति अभेदमूलक के वैयाकरण थे। इस दृष्टि से ये बुद्ध, कबीर और गाँधी के अतिनिकट थे इनकी सांस्कृतिक विचारधारा पं० नेहरू से कुछ भिन्न थी। ये हिन्दी के माध्यम से भारतीय संस्कृति और संस्कार का प्रचार चाहते थे। विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार को भी इन्होंने हिन्दी के माध्यम से सम्पन्न कराया था और इसके लिए 'हिन्दी विवाह पद्धति' तैयार की थी।

हिन्दी जगत की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली ने टंडन जी को अभिनन्दित करने की योजना बनायी। टंडन जी उन दिनों अस्वस्थ थे। अतः समर्पण समारोह प्रयाग में ही सम्पन्न हुआ। देशभर के समाजसेवी, विद्वान और राजनयिक उस भव्य समारोह में सम्मिलित हुए और भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने स्वयं उपस्थित होकर उन सभी के सम्मुख टंडन जी को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट की थी। राजेन्द्र बाबू में टंडन जी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। जब वे राष्ट्रपति पद से विदा लेकर एक विशेष गाड़ी से पटना लौट रहे थे, तब टंडन जी से मिलने के निमित्त ही वे विशेष रूप से प्रयाग में रुके थे। उस समय टंडन जी रोग शैय्या पर थे। भारतरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी उनसे वहीं जाकर मिले थे।

टंडन जी अन्ततः पूर्ण स्वस्थ नहीं हुए और लगातार ३ वर्ष के जीवन संघर्ष के अनन्तर १ जुलाई १९६२ ई० को इन्होंने अपनी इहलोक लीला संवरित कर ली। आज उनकी स्मृति में प्रयाग में वहाँ का सम्मेलन भवन, इनकी आदमकद प्रतिमा, पार्क और साहित्य भवन प्रकाशन लि० जैसी संस्थाएँ कायम हैं।

संक्षेप में, राजर्षि टंडन एक गण्यमान राष्ट्र निर्माता, महान स्वतंत्रता सेनानी, हिन्दी के संत पुरोधा, भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष के पाणिनि, अच्छे लेखक और प्रखर एवं ओजस्वी वक्ता थे। तप, त्याग, संयम, मितव्ययिता, साधना, सेवा, निष्ठा, दृढ़ता, नैतिकता, सादगी, करुणा, विवेक और दूरदर्शिता इनके भूषण थे। ये स्वतंत्र विचारों के प्रतीक थे। ये वर्शी थे, जयी थे, मनीषी थे। संघर्ष इनके जीवन का स्वर था। आजीवन ये संघर्षरत रहें किन्तु उन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों की कदापि बलि नहीं दी। इनका सारा जीवन ८० वर्ष का समर्पित इतिहास है।

टंडन जी के न रहने से आज हिन्दी का पक्ष कमजोर पड़ गया है। इनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर लोकसभा ने सन् १९६५ ई० में विधेयक पास कर अंग्रेजी के चलते रहने की अवधि बढ़ा दी है। यह सीमा आज वामन का डग साबित हो रही है। प्रशासन कभी संस्कृत के प्रति अनावश्यक व्यामोह दर्शाता है और कभी उर्दू के प्रति। शासन की यह प्रवृत्ति हिन्दी के पक्ष में घातक है। इधर उर्दू का उभाड़ राजनीतिक कलर लेने लगा है। राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा की दृष्टि से आज विषम घड़ी उपस्थित हो गई है। आइये हम इनकी जन्मशती पर हिन्दी के प्रति समर्पित होकर इन्हें अपनी श्रद्धांजलि श्री दुर्गाप्रसाद 'मुकुल' के शब्दों में इस प्रकार अर्पित करें :

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

भले छीन ले धन-दौलत,
कुर्बानी ले ले जान की।
छीन नहीं सकता, पर,
कोई हिन्दी हिन्दुस्तान की॥

—प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
नेशनल डिग्री कालेज, बड़हलगंज
गोरखपुर, उ० प्र०

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

आयुर्वेद और टण्डन जी

वैद्यराज पं०. मोहनलाल चतुर्वेदी

⊙ ⊙

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की भावना भारत के उन महापुरुषों में है जिन्होंने विदेशी अंग्रेजी शासन से अपने देश भारत वर्ष को स्वतन्त्र कराने में महान योगदान दिया है। आप का प्रायः सारा जीवन अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में व्यतीत हुआ। आप राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी रहे हैं। आपने अपनी कर्मठता और देश सेवा के प्रति सच्ची लगन के कारण कांग्रेस पार्टी में अपना बहुत महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। उत्तर प्रदेश प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में आपने जिम्मेदारी के कई पदों पर कार्य किया तथा आप वर्षों तक अखिल भारतीय कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सदस्य रहे। कुछ वर्षों तक आप अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी रहे। देश की आजादी के लिये कांग्रेस द्वारा किये गये हरेक आन्दोलन में आपने आगे बढ़कर भाग लिया। इसके फलस्वरूप आपको अनेक बार जेल-यातना सहनी पड़ी जिसके कारण स्वास्थ्य खराब हो जाने से आपको कई बार बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। आप में देशभक्ति के साथ ही भारतीय, संस्कृति और सभ्यता के प्रति भी महान् अनुराग था जो कि बिरले लोगों में पाया जाता है। यद्यपि आप अंग्रेजी भाषा के सुशिक्षित विद्वान् थे परन्तु उससे नफरत करते थे। वे अपनी स्वदेशी भाषा हिन्दी के बड़े अनुरागी थे। वे सदैव हिन्दी में ही भाषण करते थे एवं लिखते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, जो कि आज विश्व भर में हिन्दी का प्रचार-प्रसार तथा शिक्षा-दीक्षा का कार्य करने वाली सर्वांगीण संस्था है, इसको आगे बढ़ाने में राजर्षि टण्डन जी का प्रमुख हाथ रहा है और वे इस संस्था के सर्वाधिक देदीप्यमान प्रकाशस्तम्भ थे। आज भारत में ही नहीं सारे विश्व में इस संस्था को जो महान् गौरव प्राप्त है, वह राजर्षि टण्डन जी के महान् प्रयासों का ही सुपरिणाम है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में भी राजर्षि टण्डन जी का ही प्रमुख हाथ रहा है। इसके लिए उनको तथा उनके साथियों राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर, सेठ गोविन्ददासजी, श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी आदि महानुभावों ने एवं अन्य हिन्दी प्रेमी संसद सदस्यों ने पूरा जोर लगाकर हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाये जाने का प्रस्ताव पास कराया था। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री एवं सुप्रसिद्ध देशभक्त पं० जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने देश को आजाद कराने में बहुत बड़ा त्याग और संघर्ष किया है, इनके जीवन दर्शन

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के जीवनदर्शन का भारतीय संस्कृति और सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक मूल्यांकन करते हैं तो हमें राजर्षि टंडन जी का जीवन दर्शन ही अधिक मूल्यवान् एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। श्री नेहरूजी की शिक्षा-दीक्षा एवं खान-पान तथा रहन-सहन और वेषभूषा (एक गांधी टोपी को छोड़कर) प्रायः सभी बातों पर विदेशी (अंग्रेजी और मुसलमानी) सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव था जबकि श्री टंडन जी की इन सभी बातों पर पूर्णतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव था। यद्यपि श्री नेहरू जी और श्री राजर्षि टंडन जी इन दोनों ही महानुभावों का जन्म इलाहाबाद नगर में हुआ था और ये दोनों ही राजनीति में महात्मा गाँधी के शिष्य थे। जहाँ तक महात्मा गांधी की राजनीति और देशभक्ति की बात है श्री नेहरूजी और राजर्षि टंडन जी पर इन दोनों बातों का समान प्रभाव पड़ा है। किन्तु जहां तक महात्मा गांधी के जीवनदर्शन के प्रभाव की बात है श्री नेहरू जी पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। जबकि राजर्षि टण्डन जी का समग्र जीवनदर्शन महात्मा गांधीजी के जीवनदर्शन से पूर्ण प्रभावित है। राजर्षि टंडनजी के खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन, बोल-चाल आदि सभी बातों में विशुद्ध भारतीयता थी। यद्यपि राजर्षि टण्डन जी का जन्म खत्री जाति में हुआ था और उनकी जाति में मांस-मदिरा का सेवन वर्जित नहीं है किन्तु राजर्षि टण्डन जी इन दोनों चीजों से बहुत परहेज करते थे यही नहीं बल्कि वे तो शान-शौकत की प्रायः सभी चीजों से भी बहुत दूर रहते थे। उनका जीवन बहुत सादा था। उनकी बढ़ी हुयी जटायें और दाढ़ी-मूँछों को देखकर दर्शक के हृदय में उनके प्रति ऋषि-मुनियों जैसी कल्पना सहज ही उत्पन्न हो जाती थी। अतः उनको 'राजर्षि' यह गौरवपूर्ण पदवी प्रदान कर जनता ने उनका तदनुरूप ही सत्कार किया है। यदि महात्मा गांधी के सादगी-पूर्ण भारतीय जीवन दर्शन का पूर्ण प्रभाव जैसा राजर्षि टण्डन जी पर पड़ा है वैसा ही पूर्ण प्रभाव राष्ट्रनायक श्री नेहरू जी पर भी पड़ जाता तो भारत से अंग्रेजी राज्य बिदा होते ही उनकी भाषा, संस्कृति और सभ्यता की छाप भी भारतीय जन-मानस से विदा हो जाती। यथा राजा तथा प्रजा के आचरण वाली बात हमारे देश पर पूर्णरूप से लागू होती है और इसी कारण से अंग्रेजी शासन से मुक्ति मिल जाने के इतने वर्षों बाद भी हमें अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति से मुक्ति नहीं मिली है। जब तक इन अंग्रेजियत की बातों से हमें मुक्ति नहीं मिलेगी हमारी आजादी की जड़ें मजबूत नहीं होंगी। अतः हमें अपनी आजादी की जड़ों को मजबूत करने के लिये आज राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के जीवनदर्शन को अपनाने की बड़ी सख्त आवश्यकता है।

लगभग ३० वर्ष पूर्व श्री लक्ष्मी व्यायामशाला झांसी में स्वतन्त्रता संग्राम की अमर ज्योति महारानी लक्ष्मीबाई के जयन्ती समारोह की अध्यक्षता राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने की थी उस समय उनके दर्शन करने और भाषण सुनने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था तभी से मैं उनके भारतीय परम्परा युक्त जीवनदर्शन और राष्ट्रोत्थान के हेतु कर्तव्य पालन के दिशानिर्देशयुक्त ओजपूर्ण वाणी से दिये गये भाषण को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ हूँ और मुझे विश्वास है कि मेरे जैसे हजारों दर्शक एवं श्रोता लोग भी मेरी तरह ही अवश्य प्रभावित हुए होंगे।

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

राजर्षि टंडन जी को विदेशी सभ्यता और संस्कृति की तरह ही विदेशी चिकित्सा एलोपैथी से भी नफरत थी वे ऐलोपैथी में रोगी के उत्पादक कारण कीटाणुओं को नहीं मानते थे उनका कहना था कि ये कीटाणु रोगोत्पादक नहीं हैं बल्कि रोगों के परिणाम स्वरूप ये कीटाणु उत्पन्न होते हैं। वे जब भी मामूली अस्वस्थ होते महात्मा गांधी की अनुभूत प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग कर अथवा सोंठ, कालीमिर्च, अजवायन, लवण, अदरख, तुलसी के पत्ते, शहद आदि का आवश्यकतानुसार सेवन कर स्वस्थ हो जाते थे। जब किसी विशेष रोग से पीड़ित हो जाते तब वे आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन करते थे। इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध स्व० वैद्यराज पं० जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल उनके बड़े अच्छे मित्र एवं सहयोगी थे। प्रायः इन्हीं वैद्यजी से वे अपनी चिकित्सा कराते थे। इन वैद्यराज शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों में भी बहुत बड़ा योगदान दिया है। सम्मेलन की परीक्षाओं में आयुर्वेद की परीक्षाओं को सम्मिलित कराना उनका पाठ्यक्रम तैयार कराना आदि कार्यों में इनका बड़ा सहयोग रहा है। इनके द्वारा लिखे गये कई आयुर्वेदिक ग्रन्थ भी सम्मेलन की आयुर्वेद परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन का भारतीय चिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा और अनुराग था। वे विदेशी चिकित्सा पद्धति एलोपैथी के बजाय आयुर्वेद को भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति बनवाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे उनकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि भारत सरकार और राज्य सरकारों द्वारा आयुर्वेद विज्ञान का उच्चस्तर पर सर्वांगीण विकास कराया जाये ताकि भारतीय जनता आयुर्वेद चिकित्सा से अधिकाधिक लाभ उठाकर अपने रोगों से छुटकारा प्राप्त कर सके एवं आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का पालन कर अपने स्वास्थ्य को समृद्ध रख सके। यदि भारत का प्रथम स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अमृतकौर की जगह राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टंडन को बनाया जाता तो निश्चय ही आयुर्वेद विज्ञान को उनसे बहुत बड़ा सम्बल प्राप्त होता और वह उत्कर्ष को प्राप्त होता।

राजर्षि टंडन जी के आयुर्वेद के प्रति अनुराग की बात वैद्य समाज को भी भलीभांति ज्ञात थी। इसी कारण से सुप्रसिद्ध औषध निर्माता प्रतिष्ठान श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० कलकत्ता के द्वारा निखिल भारतीय शास्त्रचर्चा परिषद् का द्वितीय अधिवेशन ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार में मई सन् १९५२ में आयोजित किया गया तब इसके उद्घाटन का कार्य श्री राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन से ही कराया जाये ऐसा विचार परिषद् के आयोजक वैद्यों ने एकमत होकर किया। यद्यपि उस समय राजर्षि टंडन जी का स्वास्थ्य कमजोर होने से वे इलाहाबाद से हरिद्वार की यात्रा करने में असमर्थ थे परन्तु परिषद् के आयोजकों ने जब हिन्दी के प्रख्यात व्याकरणाचार्य आचार्य किशोरीदास जी बाजपेयी तथा वैद्यराज पं० जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल को परिषद् के अधिवेशन का उद्घाटन करने हेतु हरिद्वार पधारने हेतु राजर्षि टंडन जी को तैयार करने का काम सौंपा तो उन्होंने सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी और निश्चित तिथि पर हरिद्वार पधार कर परिषद् के अधिवेशन का उद्घाटन किया। उस अवसर पर राजर्षि टंडन जी ने वैद्य समाज के समक्ष जो भाषण दिया उसे हम सार रूप में

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

नीचे उद्धृत कर रहे हैं। पाठकवृन्द इसे पढ़कर श्री राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टंडन के आयुर्वेदानुराग का सही मूल्यांकन करने में समर्थ होंगे ऐसी आशा है।

"मैं आयुर्वेद में किंवा उसके कुछ अंगों में विशेष रुचि रखता हूँ। इतना समय मुझे जीवन में मिला नहीं कि मैं विशेषरूप से आयुर्वेद का अध्ययन करता, किन्तु इसका उपयोग करने का ही काम मैंने किया है। इससे भी अधिक आयुर्वेद की संहिताओं में प्राकृतिक नियमों को देखकर उनका अपने ऊपर प्रयोग करने का काम भी मैंने किया है। शास्त्रीय चर्चा बुद्धि और सद्भावना से चलती है। क्या उचित और क्या अनुचित है, क्या स्वीकार्य और क्या अस्वीकार्य है? आप अपनी पैनी दृष्टि से इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। आज हमारे देश में यह उठता रहता है कि पश्चिमी चिकित्सा पद्धति के सामने आयुर्वेद को कौन-सा स्थान दिया जाये।"

आयुर्वेद के विद्वानों को सम्बोधित करते हुये श्री टंडन जी ने कहा कि आप अपने विचारों को संकुचित न रखकर विशाल बनायें। समय-समय पर आप अपने सिद्धान्तों का अन्वेषण और परीक्षण करें और साथ-साथ पश्चिमी चिकित्सा के विद्वानों के निश्चित किये हुये सिद्धान्तों का भी समीक्षण करें, जिससे हमारी आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति सम्यक रूप से विकसित हो सके।

७० गान्धी मार्ग,
दतिया (म० प्र०)

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

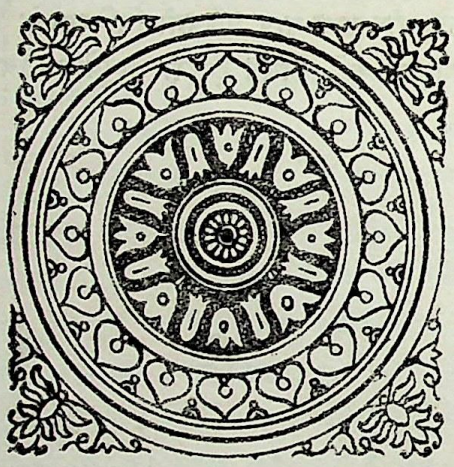

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri

CC-0. Vimlesh Kanti Verma Collection at Sarai(CSDS). Digitized by eGangotri